महामतिश्रीमाधवकरप्रणीतं

माधवनिदानम्

महामहोपाध्याय-श्रीविजयरक्षित-श्रीकण्ठदत्ताभ्यां
विरचितया मधुकोशाख्यव्याख्यया समुल्लसितम्

पूर्वार्द्धम्

तज्ञदिवाकरश्रीपण्डितदेवीचन्द्रात्मजेन आयुर्वेदाचार्यकविराजपण्डित-
श्रीदीनानाथशर्मशास्त्रिवैद्यवाचस्पतिना लवपुरीयश्रीमद्दयानन्दायुर्वैदिक-
महाविद्यालयस्य निदान-शारीर-कल्प-शल्याद्यध्यापकेन विरचितया
यशोवतीटिप्पणीसहितया समूलमधुकोशविकासिन्याख्यया
हिन्दीव्याख्यया समलङ्कृतम्

तच्चेदम्

युर्वेदाचार्यकविराजप्रभृत्युपाधिविभूषितेन पन्तोपाह्वश्रीपण्डितपूर्णानन्द-
शर्मवैद्यशास्त्रिणा हरिद्वारस्थ-ऋषिकुलीयायुर्वैदिकमहाविद्यालयस्थभूत-
पूर्वायुर्वेदप्रधानाध्यापकेन तथा लवपुरीयश्रीमद्दयानन्दायुर्वैदिकमहा-
विद्यालयस्य वर्तमानमधुकोशाद्यध्यापकेन सुसंशोधितम्

प्रकाशक

मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास

संस्कृत हिन्दी पुस्तक विक्रेता

सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर

प्रथमावृत्तिः] संवत् १९९४ विक्रमी [...म् २)

भूमिका

चिकित्साशास्त्र में रोगपरीक्षा का विशेष महत्त्व है। इसी लिए चरक ने कहा है कि—'रोगमादौ परीक्षेत' (चरकः)। रोग परीक्षा को बताने के लिए आचार्यों ने अनेक ग्रन्थ वा स्थान बनाए हैं, जो कि सभी उत्तमोत्तम हैं। किन्तु उनमें से भी माधव जी विशेष महत्त्व रखते हैं, और इसी लिए इनके विषय में कहा जाता है कि—'निदाने माधवः श्रेष्ठः, माधव जी ने अपनी इसी महत्ता को प्रकट करने के लिए 'रोगविनिश्चय' नामक ग्रन्थ बनाया है, जो कि बाद में उन्हीं के नाम पर (अर्थात् 'माधवनिदान' इस नाम से) प्रसिद्ध होकर आज तक चला आता है। माधव जी ने संग्रह कर माधवनिदान को बनाया है। अतः उन्होंने 'नानामुनीनाम्' इत्यादि श्लोक में स्वयं ही बता दिया है कि मैं संग्रह कर इस ग्रन्थ को बनाने लगा हूं। इसी बात को उन्होंने ग्रन्थसमाप्ति पर 'सुभाषितम्' इत्यादि से भी बताया है।

माधवनिदान पर टीकाएं

माधवनिदान पर विद्वानों ने अनेक संस्कृत तथा हिन्दी की टीकाएं लिखी हैं, जो कि सभी उत्तमोत्तम हैं। उनमें से मधुकोष, आतङ्कदर्पण, शब्दार्थदीपिका आदि तथा हिन्दी की बहुत सी टीकाएं अब भी मिलती हैं, किन्तु इन सब में मधुकोष का स्थान ऊंचा है। महामहोपाध्याय विजयरक्षित तथा श्रीकण्ठदत्त जी ने माधवनिदान पर मधुकोष टीका लिखकर सोने में सुगन्ध का काम किया है। इनमें से आचार्य विजयरक्षित ने अश्मरीनिदानान्त की टीका लिखी है और उसके बाद इनके देवलोक में चले जाने पर शेषभाग की टीका इनके शिष्य श्रीकण्ठदत्त जी ने लिखी है। यही बात श्रीकण्ठदत्त जी ने प्रमेह के प्रारम्भ में 'चन्द्रोदय' इत्यादि श्लोक में स्वयं लिखी है।

परिचय

संभवतः प्राचीन विद्वानों की यह शैली थी कि वे अपना समय आदि नहीं लिखते थे; क्योंकि सभी प्राचीन विद्वानों के कालनिर्णय आदि में प्रायः अनुमान से ही काम लेना पड़ता है। यही बात यहां भी है। आचार्य माधव विद्वद्वर इन्दुकर जी के सुपुत्र थे, यह तो इन्होंने स्वयं अपने ग्रन्थ के अन्त में 'श्रीमाधवेनेन्दुकरात्मजेन' पद से कहा है। इनके देश और काल का निर्णय नहीं मिलता। कविराज गणनाथसेन इन्हें खिस्त की सातवीं शताब्दी में मानते हैं। 'चक्रदत्त' नामक ग्रन्थ के निर्माता

आचार्य चक्रपाणि ने अपने—'यः सिद्धयोगलिखिताधिकसिद्धयोगानत्रैव निक्षिपति केवल-मुद्धरेद्वा । भट्टत्रयत्रिपथवेदविदा जनेन दत्तः पतेत् सपदि मूर्द्धनि तस्य शापः ॥' इस श्लोक में दर्शाया है कि मैंने 'सिद्धयोग' नामक ग्रन्थ से भी अनुभूत योग लिए हैं। एवं इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि 'सिद्धयोग' नामक ग्रन्थ का निर्माता आचार्यवृन्द चक्रपाणि से पूर्व हुआ है। आचार्य चक्रपाणि जी खिस्त की ११वीं शताब्दी में हुए हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि वृन्द जी नवमी वा दसवीं खिस्तशताब्दी में हुए हैं। वृन्द जी ने भी अपने चिकित्सा ग्रन्थ 'सिद्धयोग' का क्रम माधवनिदानोक्त निदानों के अनुसार ही किया है। एवं यह सिद्ध होता है कि माधव जी वृन्द से भी पूर्व हुए हैं। इस प्रकार माधव का समय सातवीं खिस्त शताब्दी ही बनता है। इसमें दूसरी युक्ति यह भी है कि इसी माधवनिदान का अनुवाद अरबी भाषा में 'हरुण उल रसीद' के समय में हुआ था; और यह 'हरुण उल रसीद' आठवीं शताब्दी में हुआ है। अतः यह सिद्ध होता है कि माधव-निदान के कर्ता आचार्य माधव जी सातवीं खिस्त शताब्दी में हुए हैं।

माधवकर जी का देश वङ्गदेश प्रतीत होता है, क्योंकि एक तो 'कर' उपाधि प्रायः वङ्ग में ही प्रचलित है, दूसरा वङ्गप्रदेशीय चक्रपाणि आदिक विद्वानों ने अपने ग्रन्थ माधव जी के क्रम को लेकर बनाए हैं। अतः प्रतीत होता है कि आचार्य माधव ने वङ्गभूमि में ही जन्म लेकर उसे पवित्र किया था।

आचार्य माधव ने इस ग्रन्थ के अतिरिक्त 'रत्नमाला' नामक एक और ग्रन्थ भी बनाया था। जैसे कविराज गोपीमोहन जी ने अपने 'मुक्तावली' नामक ग्रन्थ के उपक्रम में कहा भी है कि—पूर्वं लोकहिताय माधवकरा-भिख्यो भिषक्केवलम् कोपान्वेषणतत्परः प्रविततायुर्वेदरत्नाकरात्। मालां रत्नमयीं चकार स यथालाभं न शोभाधिका साऽस्माभिः कमनीयभक्तिरचनाद्द्वाराऽन्यथा ग्रथ्यते ॥'

यह माधव वेद के भाष्यकर्ता 'सायण' उपनाम वाले माधव से पृथक् है। विजयरक्षित और श्रीकण्ठदत्त जी का समय १२ वीं खिस्त शताब्दी है। इनका और कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। इन्होंने इस रोगविनिश्चय की टीका करते हुए उन सब विषयों का भी निरूपण कर दिया है, जिनका कि इन्हें इसमें अभाव प्रतीत हुआ। इसी बात को व्याख्या के प्रारम्भ में स्वयं ही रक्षित जी ने कहा है कि—'उपयुक्तमिहानुक्तं निदानं माधवेन यत्। ग्रन्थव्याख्याप्रसङ्गेन मया तदपि लिख्यते ॥'

मेरा लक्ष्य

यद्यपि यह टीका सर्वोत्तम है किन्तु इसके लाभ से बहुत से व्यक्ति, जो कि संस्कृत को भली प्रकार नहीं जानते, वञ्चित रह

जाते हैं। यह सब देख मेरे गुरुओं एवं मित्रों ने मुझे आज्ञा दी कि तुम इसकी हिन्दी टीका करो, जिससे कि यह त्रुटि पूर्ण हो जावे और हिन्दी पढ़े लिखे पाठक भी पूर्ण लाभ उठा सकें। उनकी आज्ञा का पालन करते हुए मैंने उन्हीं के लक्ष्य को लक्ष्य बना कर इसकी टीका की है। यद्यपि इसमें बहुत सी विकट आपत्तियां आईं किन्तु मेरी ढिठाई के आगे उनकी एक भी चलती न बनी।

मैंने इसकी टीका को सरल बनाने की पर्याप्त चेष्टा की है तथा विशेष २ विषयों पर वक्तव्य तथा अपनी सम्मति देकर भली प्रकार विशद करने का प्रयत्न किया है। 'समूलमधुकोषविकासिनी' नामक हिन्दी टीका के अतिरिक्त मैंने इस पर एक 'यशोवती' नामक टिप्पणी भी लिखी है, जिसमें कि विशेष विशेष लक्षण, पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या, शङ्का समाधान, पाठान्तर तथा रोगों के यथालभ्य संस्कृत, अरबी, इङ्गलिश और देशी नामों को दिया है। इनके साथ वे विषय, जो कि उपयुक्त होने पर भी मूलग्रन्थ में अदेय थे, इसमें दर्शाए हैं।

समूलमधुकोषविकासिनी टीका को सुगम करने के लिए मैंने यह क्रम रक्खा है कि पहले माधव जी का पाठ तदनु उसकी भाषा और पुनः उस पर वक्तव्य, एवं इसके बाद मधुकोष पुनः उसकी भाषा और तदनु उस पर वक्तव्य दिया है। कहीं कहीं भाव और विशेष विवेचन भी दिये हैं। इसके अतिरिक्त पञ्चनिदान के प्रारम्भिक कठिन श्लोकों का सुख ज्ञानार्थ अन्वय भी दे दिया है, जिससे कि पाठकों को और भी सुभीता हो जावे। माधव जी के सूत्रों की भाषा तो मैंने सर्वत्र कर दी है, किन्तु मधुकोष, जहां कि वह सर्वथा सरल था, की भाषा नहीं की। वक्तव्य भी मैंने समुचित स्थानों पर ही दिए हैं। मधुकोष में वा समूलमधुकोषविकासिनी टीका में जो अन्य प्रसिद्ध प्रमाण आए हैं उनके आगे कोष्ठों में मैंने उस २ ग्रन्थ के अध्याय आदि का भी प्रमाण प्रायः दे दिया है। ग्रन्थ की समाप्ति में मैंने स्वेच्छा से परिशिष्ट भी दे दिया है, जो कि बहुत से नव्य विद्वानों के मत को लेकर लिखा है। उसमें पद्यरचना प्रायः मेरी अपनी ही है, किन्तु कहीं कहीं प्रामाणिकता दर्शाने के लिए अन्य मान्य विद्वानों के पद्य भी रख दिये हैं; और इसके लिये मैं उनका धन्यवाद करता हूं।

सहायता

इस टीका के निर्माण में मुझे समय समय पर गुरुजनों से तथा मित्रवर कविराज लक्ष्मणदत्त जी शास्त्री वै० व० एवं कविराज पं० रघुपतिनाथ जी मिश्र से सहायता मिलती र

अतः इसके लिये मैं इन सब का कृतज्ञ हूं। इसमें मुझे आयुर्वेदाचार्य कविराज पं० पूर्णानन्द जी पन्त वैद्यशास्त्री प्रोफ़ेसर दयानन्दायुर्वैदिक कालेज़ लाहौर से अत्यधिक सहायता मिली है। आप ही ने इसका सुचारु रूप से संशोधन किया है तथा आप ही ने माधवसंगृहीत सूत्रों के आगे ग्रन्थ तथा उसके स्थान एवं अध्याय का सङ्केत किया है। सङ्केत देते हुए अपने पहले ग्रन्थ के आदि का अक्षर लिख बाद में उसके स्थान की संख्या और तदनु उसके अध्याय की संख्या का अङ्क दिया है। इसके आर्डर प्रूफ भी प्रायः आप ही ने देखे हैं। इस सब कार्य के लिये मैं आपका अत्यन्त धन्यवाद करता हूं।

आवेदन

जब ग्रन्थ प्रकाशित होने लगा तो मैं आन्त्रिक ज्वर से ग्रस्त था, साथ ही उस समय मैं अपने घर पर (चूनियां, जिला लाहौर में) था अतः इसका प्रूफ आदि नहीं देख सका तो भी आयुर्वेदाचार्य पण्डित पूर्णानन्द जी पन्त तथा मान्यवर पण्डित विजयानन्द जी खण्डूड़ी शास्त्री ने बड़ी सावधानी से इस कार्य को निभाया है। फिर भी पुस्तक बृहदाकार थी। समय थोड़ा था। अतः शीघ्रता के कारण प्रूफ संशोधन में कहीं २ विकलता हो जाना संभव है। इसलिये त्रुटियाँ दीख पड़ने पर विद्वान् स्वयं प्रकरण देखकर ठीक कर लें तथा मुझे सूचित करने की कृपा करें। अग्रिम संस्करण में आवश्यक सुधार कर दिया जायगा।

श्री आचार्य रक्षित जी ने मधुकोष के प्रारम्भ में लिखा है कि—

'तन्त्रान्तराण्यपि विलोक्य ममैष यत्नः सद्भिर्विधेय इह दोषविधौ समाधिः।
मर्त्यैरसर्वविदुरैर्विहिते क्व नाम ग्रन्थेऽस्ति दोषविरहः सुचिरन्तनेऽपि॥'

मान्य विद्वानों से नम्र निवेदन है कि वे इस पद्य को मेरे विषय में भी समझ लें। मैं भी मनुष्य हूं और मनुष्यों का ज्ञान सीमित होता है। अतः सम्भव है कि कहीं मुझ से त्रुटि हो गई हो। इसलिए मैं विद्वानों से प्रार्थना करता हूं कि वे स्वयं शोध कर हमें सूचित कर गुणग्राहिता का परिचय दें।

अन्त में मैं श्रीमान् मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास प्राचीन संस्कृत पुस्तकालयाध्यक्ष लाहौर का धन्यवाद करता हूं, जिन्होंने इसे प्रकाशित कर मेरे परिश्रम को सर्वसाधारण जनता के समक्ष रक्खा। इति शम्।

विदुषामनुचरः—

दीनानाथशास्त्री

मधुकोशव्याख्या में प्रमाण रूप से दिये हुए ग्रन्थों वा ग्रन्थकर्ताओं के नामों का विवरण

नेदानोक्त रोगों के विभिन्न भाषाओं में नामों का निर्देश

पूर्वार्द्ध

संस्कृतनाम	अरवी नाम	इंग्लिश नाम	देशी नाम
ज्वर	हुम्मा	Pyrexia Fever पायरेक्सिआ फीवर	बुखार; ताप,
वातज्वर	तपे सोदावी; हुम्मा रुब्बा		वाई दा ताप
पित्तज्वर	ग़िब लाज़िम		गरमी दा ताप
कफज्वर	हुम्मा बलग़मिया		बलगमी ताप
वातपित्तज्वर	हुम्मा मुरक्कब		
पित्तकफज्वर	शतुरलग़िब		
सान्निपातिकज्वर		Typhoid State टाईफॉइड स्टेट,	सिरसाम,
आगन्तुकज्वर	हुम्मा वरमिया		
औषधिगन्धजज्वर		Hay fever हे फीवर	
काम-भय-क्रोध-शोक ज्वर	हुम्मायोमिया	Pyrexia of emotions पायरेक्सि-या ऑफ इमोशन्स्	
भूताभिषङ्गज्वर		Fever of evil spirits फीवर ऑफ ईविल स्पिरिट्स	भूतना ताप
विषमज्वर	हुम्माखिलतिया	Malarial fever मैलेरियल फीवर; Malaria fever मलेरिया फीवर	काम्बूताप
सन्ततज्वर	हुम्मायोमी; हुम्मादायमी,	Malarial,-Remittent fever मॅलेरिअल रिमिटन्ट फीवर; Continuous fever कन्टीन्यूअस् फीवर	
सततज्वर	जिलती तप	Double Quotidian fever डबल कॉटिडियन् फीवर	
अन्येद्युष्कज्वर		Quotidian fever कॉटिडियन् फीवर	वारी दा ताप
तृतीयकज्वर	हुम्मा गिब खालिस दायरा	Benign tertian fever बीनिङ्ग टार्शियन फीवर	
चतुर्थकज्वर	हुम्मा रावेआ (रिब्बा)	Quarton fever कार्टन् फीवर	चौथिया ताप
तृतीयकविपर्यय ज्वर		Malignant tertian	
चतुर्थकविपर्यय		Double Quartan fever डबल कार्टन फीवर.	
वातबलासक ज्वर	तपे लसिका		
प्रलेपकज्वर	तपे मुवाज़बा	Hectic fever हेक्टिक फीवर	

अभिघातज्वर	हुम्मा जरबी	Traumatic fever ट्रॉमॅटिक फीवर	
विदाहज्वर	हुम्मा वरमी	Inflammatory fever इन्फ्लॅ-मेटरी फीवर	
सूतिकाज्वर	हुम्मा भ्फचगी	Puerperal fever प्युएर पेरल फीवर	प्रसूत ज्वर
स्तन्योत्थज्वर		Milk fever मिल्क फीवर Fever of lactation फीवर ऑफ लेक्टेशन्.	
रक्तगतज्वर	हुम्मी दमवी		
जीर्णज्वर	तपे कुहना	Chronic fever क्रानिक फीवर	पुराना बुखार
अतिसार	इसहाल	Diarrhoea डायरिया.	दस्त
वातातीसार	सौदावी इसहाल		
पित्तातीसार	सफरावी इसहाल		
कफातीसार	बलग़मी इसहाल		
रक्तातीसार	इसहाल उलदम्		
आमातीसार	ज़हीर	Mucous-colitis म्युकस् कोलायटिस.	
प्रवाहिका	सुहुज	Dysentery डाईसेन्ट्री	मरोड़, पेचिश
ग्रहणी	ज़रब	Chronic Diarrhaea, sprue क्रॉनिक डायरिया, स्प्रू.	संग्रहणी
अर्श	बवासीर	Piles पाईल्स Haemorrhoids हैमेराइड्स	बवासीर
शुष्कार्श; वाता-र्श	रियाई बवासीर	Non-bleeding Piles नौन ब्लीडिङ्ग पाईल्स्	सुक्की बवासीर
रक्तार्श	खूनी बवासीर वा बवासीर उलदम्	Bleeding Piles ब्लीडिङ्ग पाईल्स्	
अग्निमान्द्य	ज़ोफेहज़म, जोफ उलमेअदा.	Anorexia एनोरैक्सिया, Hypochlorhydrea हाइपोक्लोर-हाइड्रिया, Achylis dyspepsia ऐकॉलिस डिस्पैप्सिया, तथा-ऐटोनिक डिस्पेप्सिया	
भस्मक			
अजीर्ण	तुख्मा	Dyspepsia, डिस्पैप्सिआ; वा Indigestion इन्डिजेशन	बदहज्मी
विसूचिका	हैज़ा	Cholera कॉलेरा	हैज़ा
कृमि	दीदान उल अमआ	Worms वर्म्स	किरम

पाण्डुरोग	यरकान	Anaemia अनिमिया	
कामला	यरकान अस्फर	Jaundice जाँन्डिस.	कामला
हलीमक	यरकान असवद	Chlorosis क्लोरासिस	
रक्तपित्त	उलदम	Haemorrhagic diseases Sourvy हिमाँ हेजिक डिसीजेस् स्कर्वी	
मौखिकरक्तपित्त	नफस उलदम	Haimoptysis	
मेढ्रगत रक्तपित्त	बौल उलदम		
रोमकूपज रक्त- पित्त	अर्क उलदम		
नासागत रक्तपित्त	रआफ		नकसीर
उर्ध्वग रक्तपित्त		Hematemesis, Hemoptysis, Epestaxis.	
अधोग रक्तपित्त		Melcna	
राजयक्ष्मा	हुम्मादिक; तपेदिक	Phthisis Consumption थाईसिस, कन्ज़म्पशन्, Pulmonary tuberculosis पल्मोनरी ट्यूबर क्लोसिस	तपदिक्
उरःक्षत	सिल	Pulmonary Cavitation पल्मोनरी कॅविटेशन.	
कासरोग	सोआल	Cough कॉफ	खांसी
हिक्का	फुवाक	Hiccup हिकप्	हिचकी, हिड़की
श्वासरोग	रिबु, जीक उल नफस्	Dyspnoea डिस्निया.	साँ, दमा, दमकशी
तमकश्वास		Asthma अएथ्मा	
क्षुद्रश्वास		Breathlessness ब्रेथलेसनेस्	
महाश्वास		Dyspnoea of failing heart or respiration डिस्निआ ऑफ फेलिङ्ग हार्ट ऑर रेस्पिरेशन.	
स्वरभङ्ग	फसाद उल सोत	Hoarseness होर्सनेस	आवाज़ बैठना
छर्दि	कै	Vomiting व्होमिटिङ्ग	कै, उल्टी, [illegible],
तृष्णा	अतशमुफरत	Thirst थर्स्ट	
मूर्च्छा	गशी	Cyncope सिंकपी, Fainting फेन्टिङ्, वा Sensel[illegible]	बेहोशी
भ्रमरोग	सदर, दुवार	Giddi[illegible] [illegible]	[illegible]
निद्राव्याधि		Sle[illegible] [illegible]	
तन्द्रा	सुवात	D[illegible]	
संन्यास	सक्ता	[illegible] [illegible], [illegible]	

मदात्यय	खुम्र	Alcoholism ॲल्कॉहोलिझम्	
उन्माद	मालेखौलिया, जनून सानिपा	Insanity इन्सॅनिटी	पागल
अपस्मार	सरआ	Epilepsy एपिलेप्सी	
कोष्ठवात	हसार		
गुदाश्रितवात	रयहीबवासीर		
आमाशयगवात	दरद दियाहीमेदा		
पक्काशयगवात	रियाहीकौलञ्ज		
आक्षेपक	तशन्नुज	Convulsions कन्व्हल्शन्स्	
धनुस्तम्भ		Tetanus टिटनस्.	
बाह्यायाम		Opisthotonos ओपिस्थोटोनस	
अन्तरायाम		Emprosthotonos एम्प्रोस्थोटोनस.	
दण्डापतानक		Plenosthotonos प्लेनोस्थोटोनस	
पक्षाघात	इस्ति रखा, फालीज	Hemiplegia हेमिप्लेजिया	पास्सा मरना
सर्वाङ्गवात		Diplegia डायप्लेजिआ	
अर्दित	लकवा	Facial paralysis पेसिअल परलसिस	लकवा
हनुग्रह	खिलाफक	Trismus, Lock Jaw. ट्रिसमस् लॉक् जॉ.	हनुकी जकडाहट
मन्यास्तम्भ	कुज़ाज़ इस्तिरखा वा-इस्तिरखाय उचलम्भर	Stiffneck, स्टिफनेक Tarticolis टॉर्टिकालेस, Wryneck रायनेक्	
जिह्वास्तम्भ	सकल उललिसान; हस्तिरखाय उललसान	Paralysis of the Tongue, glossal palsy, परलिसिस आफ़ दी टङ्ग, ग्लासल पल्सी	जवान बन्दी
गृध्रसी	अरकुन्निशा	Sciatica सायाटिका	दर्दशी
विश्वाची	इस्तिरखाय् उलयद	Radio-ulnar Paralysis रेडियो-अल्नर पॅरॅलिसिस	
क्रोष्टुकशीर्ष		Inflamed knee इन्फ्लेम्ड नी.	
खञ्ज		Limp लिम्प.	लंगडापन
पंगु		Paraplegia पॅरॅप्लेजिआ	लूलापन
कलायखञ्ज		Lathirism लेथिरिज्म	लंगडाना
वातकण्टक	वजाउल अकब	Sprain Ankle स्प्रेनऍंक्ल	मचकोड
पादहर्ष	खदर पाड	Numbness of feet नेम्नेस ऑफ फीट	पैरों में झनकार या पैरोंका सोन
अंसशोष		Osteoarthritis of the shoulder joint ऑस्टिओआर्थ्रिटिस ऑफ़ दी शोल्डर जॉइन्ट.	

मूकत्व	बुकम	Aphasia ॲफेजिया	गूँगापन
आध्मान	नफख	Tympanitis टिम्पॅनाइटिस Metiarism मीटिअॅरिज्म	अफारा
वाताष्ठीला		Typhlitis टायफ़्लायटिस्	
प्रत्यष्ठीला		Ovaritis ओवेरायटिस	
मूत्रावरोध	इहतवासुल बौल		मूत्रकी रुकावट
खल्ली		Muscular spasm of Hand and feet मस्क्युलर स्पॅझ्म आफ हैन्ड ऐन्ड फीट.	खल्ली
ऊर्ध्ववात	आरोग़		
प्रलाप	हिज़यान	Delirium डिलिरियम्	बकवास
रसाज्ञान	बुतलान ज़ौक	Loss of sensibility to taste लास आफ सेन्सिबिलिटी टु टेस्ट.	
कम्पवात	राअशा	Paralysis Agitans पॅरॅलिसिस ॲजिटन्स.	कम्बन वा
अपतन्त्रक	इखतनाक-उल रहम	Hysteria हिस्टेरिआ	
ओष्ठभेद	शकउल शिफतेन	Cracks of lip क्रॅक्स आफ लिप्	होठ फटना
दन्तभेद	शकउल असनान		दाँत फटना
नखभेद	शकउल अज़फार	Onychia आनिकिया	नॅऊं फटना
घ्राणनाश		Loss of smell लास आफ स्मेल्ल	
जृम्भा	तशाऊब	Yawning यानिंग	जम्भाई; उबासी
निद्रानाश	सहर	Insomnia इन्सम्निया	नींद न आना
वातरक्त		Gout गाऊट.	
आमवात	वजअ ऊलमुफासील	Rheumatism रुमटिझम्.	
शूल	वजअ उलमेदा	Colic कॉलिक	सूल
परिणामशूल		Gastralgokenosis Hungerpain गेस्टॅल्गोकेनोसिस हंगरपेन.	
उदावर्त	कौलअसफली		
गुल्म	गोला	Abdominal tumour ॲबडामिनल ट्यूमर	हवागोला
रक्तगुल्म	खूनीगोला	Ovarian or uterine tumour ऑवेरियन् ऑर युटेराइन ट्यूमर	
हृद्रोग	वजअउलकल्ब	Diseases of the Heart डिसीजेस् आफ दी हार्ट, Angina Pectoris ॲन्जाइना पेक्टोरिस्.	दिल दी बीमारी

मूत्रकृच्छ्र	तकसीर उलबौल	Dysuria डिस्यूरिया, Stranguary स्ट्रंग्युअरी, Painful micturition पेनफुलल् मिक्च्यूरिशन.	पेशाब दा लग के आना
मूत्राघात	एहतेबास उलबौल	Obstructed micturition ऑब्स्ट्रक्टेड् मिक्च्यूरिशन्.	मूतर बन्द हो जाना
वातकुण्डलिका		Spasmodic stricture स्पॅस्मॉडिक स्टिक्चर.	
अष्ठीला		Enlargement of prostate इन्लार्जमैन्ट आफ प्रास्टेट.	
वातवस्ति		Retention of urine रिटेशन आफ यूरिन	
मूत्रातीत	इस्तिरखाय उलमसाना	Incontinence इन्कोन्टिनन्स.	
मूत्रजठर	हन्तिफाख उल मसाना	Distended bladder डिस्टेन्डेड ब्लॅडर.	
मूत्रोत्सङ्ग		Stricture of urethra स्ट्रिक्चर ऑफ यूरेथ्रा	
मूत्रक्षय		Supression of urine सप्रेशन आफ यूरिन	
मूत्रग्रन्थि		Tumour of the bladder ट्यूमर ऑफ दी बल्डर	
मूत्रसाद		Cystitis सिस्टायरिस्.	
विड्विघात		Vesico-intestinal fistula वेसायकोइन्टेस्टायनल्ल् फिश्चुला.	
वस्तिकुण्डल		Atony of bladder एटनी ऑफ़ ब्लॅडर	
अश्मरी	हीसआत	Calculus क्वॅल्क्युकस, stone in bladder स्टोन इन् बल्डर	पथरी
वाताश्मरी		Uricacid calculus युरिकएसिड कॉल्क्युलस (यूरिकाम्लीयाश्मरी)	
पित्ताश्मरी		Mixed calculus मिक्स्ड् कक्ल्युलस.	
श्लैष्मिकाश्मरी		Stone of phosphotes स्टोन ऑफ फास्फेट्स	
शुक्राश्मरी		Seminal colclus सेमिनल कँ	
शर्करा	रमल	Gravel ग्रवल	रेत

माधवनिदानान्तर्गतविषयाणामनुक्रमणिका ।

पूर्वार्द्धम् ।

२३ वातरक्तनिदानम्

२४ ऊरुस्तम्भनिदानम्

२५ आमवातनिदानम्

२६ शूलपरिणामशूलान्नद्रवशूलनिदानं

२७ उदावर्त्तानाहनिदानम्

२८ गुल्मनिदानम्

२९ हृद्रोगनिदानम्

३० मूत्रकृच्छ्रनिदानम्

३१ मूत्राघातनिदानम्

३२ अश्मरीनिदानम्

ॐ

मधुकोषभाषाटीकाभ्यां सहितं

माधवनिदानम् ।

अथ पञ्चनिदानलक्षणम् ।

ग्रन्थकर्तुः स्वाभीष्टदेवस्य प्रणामनम् ।

प्रणम्य जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारकारणम् ।
स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं त्रैलोक्यशरणं शिवम् ॥१॥

टीकाकर्तुर्मङ्गलाचरणम् ।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत् ॥१॥
चरीकर्ति बरीभर्ति जरीहर्ति जगन्ति यः ।
स जयत्यनिशं श्रीशः कृतकर्मफलप्रदः ॥२॥

अन्वयः—जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारकारणम्, स्वर्गापवर्गयोर्द्वारम्, त्रैलोक्य-
[शर]णम्, शिवं प्रणम्य (अयं रोगविनिश्चयो निबध्यत इति द्वितीयपद्येनान्वयः) ।

भाषार्थ—संसार की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार के कारण, स्वर्ग औ[र]
[म]ोक्ष के द्वार, त्रिलोकी के रक्षक भगवान् शंकर को प्रणाम कर (मैं इस ग्रन्थ [का]
[नि]र्माण करता हूँ) ॥१॥

वक्तव्य—जब कोई आचार्य किसी ग्रन्थ का निर्माण करने लगता है तो वह सर्वप्रथम मङ्गलाचरण करता है । वह मङ्गलाचरण तीन प्रकार का होता है। जैसे—प्रथम आशीर्वादात्मक, द्वितीय नमस्कारात्मक और तृतीय वस्तु-निर्देशात्मक । जैसे कहा है कि—"आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुख- (मङ्गल)म्" । एवं आशीर्वादात्मक मङ्गल में आशीर्वाद दिया जाता है, नमस्कारात्मक मङ्गल में अपने इष्टदेव को नमस्कार किया जाता है और वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गल में अभिधेय (प्रतिपाद्य) वस्तु का निर्देश होता है । इस प्रकार प्रकृत में आचार्य माधव ने संसार की उत्पत्ति, स्थिति और संहृति के कर्ता तथा स्वर्ग (सुख) और मोक्ष के साधन, एवं कल्याणकारी परमात्मा को प्रणाम किया है । आचार्य ने प्रणाम करते हुए अपने उसी एक ही श्लोक में 'जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारकारणम्' और 'स्वर्गापवर्गयोर्द्वारम्' इन वाक्यों को कहकर अति संक्षेप से नास्तिक मत का खण्डन कर ईश्वरसिद्धि भी कर दी है । अब यह बात आती है कि मङ्गलाचरण क्यों किया जाता है ? इसका क्या फल है ? और इसके न करने से हानि क्या है ? इस विषय को समय पर आगे बताया जायगा । इस श्लोक की व्याख्या में उत्तर श्लोक से यह आता है कि—"अयं रोगविनिश्चयो निबध्यते" । यहां यह बात मन में उठती है कि यह "रोगविनिश्चय" क्या वस्तु है, जिसे कि ग्रथित किया जाता है ? "रोगविनिश्चय" इस ग्रन्थ का ही नाम है, जिसकी कि रचना आचार्य करने लगे हैं । परन्तु इसमें निदान का विषय होने के कारण, तथा माधवनिर्मित होने के कारण यह "माधवनिदान" इस नाम से प्रसिद्ध हो गया है । माधवनिदान शब्द का अर्थ—(माधवेन विरचितं निदानमिति माधवनिदानम्) माधव से रचित जो निदान (वह माधवनिदान) है, यह है । यहां शाकपार्थिववत् मध्यमपदलोपी समास है । इस (माधवेन विरचितं निदानमिति माधवनिदानम्) में विरचित रूप मध्यम पद का लोप होकर माधवनिदान शब्द बनता है। "माधव-निदान" यह शब्द दो शब्दों के संयोग से बनता है । इसमें पहला शब्द "माधव" है, जिसका कि अर्थ ग्रन्थ के निर्माण करने वाला व्यक्ति है अर्थात् ग्रन्थ के निर्माता का नाम माधव है । एवं निदान शब्द का सामान्य अर्थ हेतु वा कारण है और वह हेतु दो प्रकार का होता है—प्रथम कारक और द्वितीय ज्ञापक । एवं आयुर्वेद शास्त्र में आने के कारण ये हेतु वा निदानादि शब्द अपने केवल कारण रूप अर्थ में "अजहत्स्वार्था" वृत्ति के अनुसार कार्यरूप व्याधि को भी ले लेते हैं ! इस प्रकार निदान शब्द का अर्थ—"नि निश्चयेन दीयते (प्रतिपाद्यते) व्याधेर्ज्ञानमनेनेति निदानम्" अर्थात् जो निश्चयपूर्वक व्याधि का ज्ञान कराता है वह निदान है, यह होता है । निदान शब्द की इस व्युत्पत्ति में कारक तथा ज्ञापक व्याधि के दोनों ही निदानों का अर्थ घट जाता है । एवं कारक निदान और ज्ञापक निदान के अतिरिक्त उस ग्रन्थ को भी निदान शब्द से पुकारा जा सकता है, जिसमें कि

उक्त निदान का प्रतिपादन हो । इस प्रकार निदान शब्द के तीन वाचक हुए—(१) कारकनिदान (२) ज्ञापकनिदान (३) तदुभयोपपादित ग्रन्थ । संक्षेप से "माधवनिदान" शब्द का अर्थ ग्रन्थ में इस प्रकार अल्पाक्षरों में बतलाया जा सकता है। यथा—रोगोत्पादक तथा रोगज्ञापक वस्तुओं का ज्ञान जिस माधव कृत ग्रन्थ में है, उसे "माधवनिदान" कहा जाता है। इसके "माधवेन विरचितम्" इस विग्रह में विरचित पद पढ़ा है और विरचित पद का अर्थ "निर्मित" है। परन्तु यह ग्रन्थ माधव का स्वनिर्मित नहीं है, प्रत्युत संगृहीत है। एवं इस विग्रह में दोष आता है। इसका समाधान यह है कि यहां विरचित पद लक्षणावृत्ति से संग्रह का ज्ञापक है। इस प्रकार वह दोष नहीं आ सकता।

मधुकोषव्याख्या ।

शशिरुचिरहरार्धव्यक्तसक्तार्धदेहो दिशतु घनघनाभः पद्मनाभः श्रियं वः ।
त्रिदशसरिदशीतद्योतजावारिमध्यभ्रमिभवमिव नाभौ वारिजं यस्य रेजे ॥१॥

अन्वयः—यस्य नाभौ, त्रिदशसरिदशीतद्योतजावारिमध्यभ्रमिभवमिव, वारिजं रेजे, (स) शशिरुचिरहरार्धव्यक्तसक्तार्धदेहः घनघनाभः पद्मनाभः वः श्रियं दिशतु ।

भाषार्थ—इस श्लोक में विजयरक्षित ने नमस्कार करते हुए हरिवंशपुराणोक्त हरिहरात्मक अवतार दर्शाया है। एवं भगवान् विष्णु का शरीर तो श्याम है और शंकर जी भस्मधूसरित होने से श्वेत हैं। इस प्रकार इस पद्य में दोनों के विशेषण हैं। तद्यथा—शशीति। जिसकी नाभि में गङ्गा (त्रिदशसरित्) और यमुना (अशीतद्योतजा) के संगम के ठीक मध्य में होने वाले जल के आवर्त (भँवर) में उत्पन्न कमल की तरह कमल शोभित है, वह चन्द्रमा के समान सुन्दर तथा श्वेत भगवान् शंकर के अर्ध शरीर से संसक्त अर्ध शरीर वाले कर्पूर और मेघ की सी कान्ति वाले वा निबिड कर्पूर की सी कान्ति वाले अथवा निबिड मेघ की सी कान्ति वाले भगवान् पद्मनाभ (विष्णु) तुम्हारा (आप लोगों का) कल्याण करें।

वक्तव्य—भगवान् विष्णु की नाभि (नाभिचक्र) में पङ्कज होता है। परन्तु जब वे भगवान् शंकर के अर्ध शरीर से संसक्त हैं, तब उनका एक सम्पूर्णार्ध शरीर श्वेत तथा दूसरा सम्पूर्णार्ध शरीर श्याम होगा। एवं 'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः' के अनुसार उनकी दुरङ्गी नाभि में होने वाले कमल का भी दुरङ्गा होना आवश्यक है, परन्तु ऐसा हो नहीं सकता। क्योंकि अन्यत्र कहीं ऐसा कमल देखने में नहीं आता। जब अन्यत्र देखने में नहीं आता तो वहाँ भी दुरङ्गा कमल नहीं हो सकता। इस बात का खण्डन करने के लिये रक्षित जी उत्प्रेक्षा द्वारा बतलाते हैं कि—गङ्गा का जल श्वेत होता है और यमुना का श्याम। जहाँ इन दोनों जलधाराओं का संगम होता है, यदि वहां पर किसी कमल की उत्पत्ति हो तो वह कमल ठीक 'कारणगुणाः कार्ये गुणमारभन्ते' के अनुसार दुरङ्गा (दो रङ्ग ही होगा। अतः जब ऐसे स्थान में उस प्रकार के कमल की उत्पत्ति सम्भव है तो असम्भव कैसे हो सकती है। यहां पुनः शङ्का होती है कि एक तो नाभि (
अवश्य गम्भीर होती है, दूसरा कमल आवश्यक नहीं कि सर्वथा

आधा श्याम और दूसरी ओर से सर्वथा आधा श्वेत हो, प्रत्युत वह तो कहीं २ से श्याम औ कहीं २ से श्वेत होगा। एवं गंगायमुनासङ्गम के मध्य में होने वाला कमल एक ओर से श्याम और दूसरी ओर से श्वेत होने पर भी वैसा न होगा। इस पर टीकाकार कहते हैं— भ्रमिभवमिति। अर्थात् गंगायमुनासंगम में होने वाले जलभ्रमि में उत्पन्न कमल चित्र विचित्र हो सकता है। अतः जैसे वहां हो सकता है, उसी प्रकार प्रकृत में भी वैसा कमल असम्भव नहीं। एवं आवर्त भी नाभि की तरह गम्भीर होता है, यह सादृश्य भी मिल जाता है। इस प्रकार के कमल से सुशोभित तथा हरार्ध शरीर वाले एवं नील मेघ की सी द्युति वाले भगवान् विष्णु आपकी रक्षा करें ॥१॥

मधु०—भट्टारजेज्जटगदाधरवाप्यचन्द्रश्रीचक्रपाणिवकुलेश्वरसेनभोजैः।
ईशानकार्तिकसुकीरसुधीरवैद्यैर्मैत्रेयमाधवमुखैर्लिखितं विचिन्त्य ॥२॥
तन्त्रान्तराण्यपि विलोक्य ममैष यत्नः सद्भिर्विधेय इह दोषविधौ समाधिः।
मर्त्यैरसर्वविदुरैर्विहिते क्व नाम ग्रन्थेऽस्ति दोषविरहः सुचिरन्तनेऽपि ॥३॥

अन्वयः—मैत्रेयमाधवमुखैः, भट्टारजेज्जटगदाधरवाप्यचन्द्रश्रीचक्रपाणि वकुलेश्वरसेनभोजैः, ईशानकार्तिकसुकीरसुधीरवैद्यैः, लिखितं विचिन्त्य, (तथा) तन्त्रान्तराणि अपि विलोक्य, मम एष यत्नः, इह दोषविधौ सद्भिः, समाधिः, विधेयः, (यतः हि) असर्वविदुरैः, मर्त्यैः विहिते, सुचिरन्तने, अपि, ग्रन्थे, क्व नाम, दोषविरहः अस्ति।

भावार्थ—प्रधानतया आचार्य मैत्रेय तथा माधव के लेख को एवं भट्टार हरिचन्द्र, जेज्जटाचार्य, गदाधर, वाप्यचन्द्र, श्रीचक्रपाणि, वकुल, ईश्वरसेन, भोज, ईशान कार्तिक और आचार्य सुकीर आदि वैद्यों के लेखों को अर्थात् उनके ग्रन्थों को वा अन्यत्र प्रमाण रूप में दिये हुए लेखों को भली प्रकार विचार कर तथा अन्य सुश्रुत चरकादि शास्त्रों वा दर्शनादि शास्त्रों का भी परामर्श कर मैं इस टीका के निर्माण का प्रयत्न करने लगा हूँ। यदि इतने पर भी इसमें कोई दोष रह जावे तो वहां विद्वान् स्वयं उसका समाधान कर लें अथवा मौन रहें। (समाधि शब्द के दो अर्थ होते हैं—एक समाधान और दूसरा मौन। प्रकृत में दोनों सङ्गत हैं।) क्योंकि स्वभावतः मनुष्य जाति के अल्पज्ञ होने से भली प्रकार प्रयत्नपूर्वक विचार कर लिखने पर भी उनके निर्मित ग्रन्थ में दोष का अभाव नहीं हो सकता।

वक्तव्य—जब कोई मनुष्य किसी ग्रन्थ का निर्माण करने लगता है तो वह अपने ग्रन्थ की प्रामाणिकता बतलाने के लिये यह अवश्य बताता है कि मैं अमुक ऋषि, मुनि वा आचार्य का आश्रय लेकर यह लिख रहा हूँ। प्राचीन काल में यह प्रथा थी कि 'युक्तिप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः' मानते थे। अतएव प्रत्येक आचार्य अपने ग्रन्थ की ओर प्रवृत्ति कराने के लिये उन आचार्यों का पहले ही प्रमाण स्वरूप में नाम निर्देश कर देते थे जिनका कि आश्रय लेकर उन्होंने स्वग्रंथ की रचना करनी होती है। इसी लिये आचार्य विजयरक्षित ने 'भट्टार' इस श्लोक में उन आचार्यों के नाम प्रदर्शित किये हैं, जिनका कि उसने आश्रय लिया है। आचार्य यह मानते हैं कि मनुष्य अल्पज्ञ और ईश्वर सर्वज्ञ है। अतः स्वभाव से अल्पज्ञ मनुष्य की कृति में त्रुटियां अवश्य रह जाती हैं। इसलिए प्रकृत में आचार्य स्वयं निरभिमान होकर, जो कि पाण्डित्य का एक लक्षण है, कहते हैं कि इसमें जहां त्रुटि हो वहां उसको विद्वान् स्वयं ठीक कर लें वा मौन रहें, परन्तु विरुद्ध भाषण का अनादर न करें। क्योंकि मनुष्यकृति निर्दोष नहीं हो सकती ॥२,३॥

मधुकोष इस नामकरण में वीज निर्देश

मधु०—तत्तद्ग्रन्थतरुभ्यो व्याख्याकुसुमरसलेशमाहृत्य ।
भ्रमरेणेव मयाऽयं व्याख्यामधुकोश आरब्धः ॥४॥

अन्वयः—तत् तत्, ग्रन्थतरुभ्यः, व्याख्याकुसुमरसलेशम्, आहृत्य, भ्रमरेण इव, मया, अयं, व्याख्यामधुकोषः, आरब्धः ।

भाषार्थ—उन २ ग्रंथ रूपी वृक्षों के व्याख्यारूपी कुसुम (पुष्प) रस—मकरन्द को ले लेकर मैंने भ्रमर की तरह इस व्याख्या रूप मधुकोष का निर्माण प्रारम्भ किया है ।

वक्तव्य—भ्रमर का यह काम होता है कि वह अनेक वृक्षों के पुष्परस का आहरण कर मधुकोश अर्थात् जिसमें मधु रहता है, उसका निर्माण करता है । आचार्य इस पर कहते हैं कि मैंने भी ठीक भ्रमर की तरह ग्रन्थरूपी वृक्षों के व्याख्या रूप कुसुमरस अर्थात् मकरन्द का आहरण कर यह व्याख्या मधुकोष रचना आरम्भ किया है । इसी से इस व्याख्या का नाम भी आचार्य ने 'मधुकोष' रक्खा है । यही इस नामकरण में बीज है । इस समता से आचार्य ने बता दिया है कि यद्यपि मैंने यह संग्रह किया है परन्तु फिर भी भ्रमर जिस प्रकार से कटु तिक्त कषाय आदि प्रधान पुष्परस का संग्रह कर तदनु उसे मधुर बना मधुकोष में भरता है ठीक उसी प्रकार अन्य ग्रन्थों में बिखरे वा अयुक्त रूप में पड़े हुए विषय को मैं अपनी श्रृङ्खला में बांध बड़ी सावधानी से मधुरता में परिणत कर व्याख्या रूप मधुकोष में भरने लगा हूँ ॥४॥

प्रसङ्गानुसार अधिक निर्देश की प्रतिज्ञा

मधु०—उपयुक्तमिहानुक्तं निदानं माधवेन यत् ।
ग्रन्थव्याख्याप्रसङ्गेन मया तदपि लिख्यते ॥५॥

अन्वयः—माधवेन, यत्, निदानम्, उपयुक्तम् (अपि) इह, अनुक्तम्, तत्—अपि, मया, ग्रन्थव्याख्याप्रसङ्गेन, लिख्यते ।

भाषार्थ—माधवाचार्य ने जो २ निदान इस ग्रन्थ में अपेक्षित होने पर भी नहीं लिखा, उस उस निदान को भी मैं ग्रन्थ की व्याख्याश्रृङ्खला में प्रदर्शित करूंगा ।

वक्तव्य—टीकाकार का यह कर्तव्य होता है कि वह टीका को मूल के अनुसार और उपयुक्त करे । परन्तु आचार्य विजयरक्षित को इस ग्रंथ में उपयुक्त बातों का अभाव दीखा, जिसे वह पूर्ण करना चाहते थे । इस पर कोई यह न कहे कि विजयरक्षित ने मूलानुसार टीका नहीं की वा जो मूल में नहीं है, उसे भी व्यर्थ लिख २ कर गौरव किया है । इस आपत्ति को दूर करने के लिये वे स्वयं ही ग्रंथारम्भ में इस बात को स्पष्ट कर देते हैं कि कई निदान उपयुक्त होने पर भी माधव ने नहीं लिखे, परन्तु मैं उन्हें स्थान स्थान पर व्याख्या की श्रृङ्खला में दर्शाऊंगा, इसमें विद्वान् उद्विग्न न हों ॥५॥

मधु०—अथ प्रथितसर्वायुर्वेदबोधविशुद्धबुद्धिः श्रीमाधवकरो विकारनिकरहेत्वादितत्त्वबुभुत्सोत्सुकचिकित्सकजनानुजिघृक्षया विधित्सितग्रन्थसंदर्भारम्भे तत्प्रत्यूहव्यूहव्यपोहहेतुं परम्परापरिप्राप्तं स्वेष्टदेवताप्रणामं प्राक् प्राणैषीत्; ग्रन्थश्रोतॄणामपि[१] विश्वेश्वरमहेऽऽ-दादमात्रादपि विघ्नोपशमो भवतीत्यभिप्रायेण तं ग्रन्थादौ ।नव५४।

१ ग्रन्थाध्येतॄणामपि.

मङ्गलानन्तर विजयरक्षित कहते हैं कि प्रसिद्ध, सम्पूर्ण आयुर्वेद के अध्ययन से निर्मल बुद्धि वाले श्री माधवकर ने विकारसमूह तथा निदानादि वा विकारसमूह के निदानादि का तत्त्व जानने की उत्कट इच्छा वाले चिकित्सक लोगों की प्रार्थना से विधित्सित ग्रंथ के सन्दर्भ के प्रारम्भ में, उसके (उसमें आने वाले) विघ्नसमूह को नष्ट करने के लिये परम आप्ताचार परम्परा से प्राप्त अपने इष्ट देवता को सर्व प्रथम प्रणाम किया है । ग्रन्थ को पढ़ने वालों के भी जगत् के स्वामी भगवान् शंकर के लिये किये गए प्रणाम के अनुवाद मात्र से विघ्न नष्ट हो जाते हैं, इस अभिप्राय से आचार्य ने उस (मङ्गल) को ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही बांधा है ।

वक्तव्य—यहां 'अथ' शब्द का सम्बन्ध मधुकोपकार से है, मूलकार से नहीं। मूलकार से सम्बन्ध तो 'प्रथित' शब्द से आरम्भ होता है । 'अथ' शब्द लिखकर तो मधुकोषमूलकार यह बताते हैं कि मैं मङ्गलाचरण करने के अनन्तर अब टीका करने लगा हूं । किञ्च 'अथ' शब्द मांगलिक भी है, जैसे कहा भी है—ओंकारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा । कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥ अतएव प्रायः महर्षि लोग भी अपने ग्रन्थ के आदि में 'अथ' शब्द का प्रयोग करते आए हैं। जैसा कि चरक में है—अथातो दीर्घजीवतीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। (च. सू. स्था. अ. १)। एवं अन्यत्र—अथ शब्दानुशासनम्, अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः, आदि वाक्यों में 'अथ' शब्द माङ्गलिक है। इस प्रकार प्रकृत में 'अथ' शब्द टीकाकार का माङ्गलिक शब्द भी हो सकता है । अब यहां यह जिज्ञासा होती है कि मङ्गल क्या है ? और उसका प्रयोजन क्या है ? क्योंकि प्रयोजन के विना मूर्ख भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता, बुद्धिमान् का तो कहना ही क्या । जैसे कहा है—प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते । महाभाष्यकार लिखते हैं कि—शिष्टाशिष्टप्रतिषिद्धेषु यथा लौकिकवैदिकेषु । (म. भा. आ. १)। अर्थात् शिष्टपरम्परा से प्राप्त तथा शास्त्र में अप्रतिषिद्ध कार्य करने से अभ्युदय होता है, एवं शिष्टपरम्परा से अप्राप्त तथा शास्त्र में अप्रतिषिद्ध कार्य करने से न तो अभ्युदय और न दोष ही होता है। परन्तु अशिष्ट तथा शास्त्रप्रतिसिद्ध कार्य करने से दोष होता है । इस प्रकार इन तीनों में से प्रथम कर्म अभ्युदय के लिये होता है । एवं प्रकृत में मङ्गल भी शिष्टपरम्परा से चला आता है तथा इसका शास्त्र में प्रतिषेध नहीं है । प्रत्युत शास्त्र तो इसे मानता है । जैसे कहा है—मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाश्च भवन्तीति। (म. भा. आ. १)। अतः यह (मङ्गल) अभ्युदयकर है । इसके करने से ग्रंथ में आने वाले विघ्न नष्ट होते हैं, जिससे ग्रंथ निर्विघ्न समाप्त होता है । एवं संक्षेप से यह सिद्ध होता है कि जो ग्रंथ के आदि, मध्य वा अन्त में आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक वा वस्तुनिर्देशात्मक अभ्युदयकारी विघ्ननाशक ग्रंथसमाप्तिकर आमुख किया जाता है, वह मङ्गल है और उपर्युक्त इसके प्रयोजन हैं। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से मंगल का स्वरूप आवश्यकता तथा प्रयोजनादि सब स्पष्ट होता है, और रक्षित जी कहते हैं कि इसी लिये आचार्य माधव ने मङ्गलाचरण किया है। अब पुनः यह विचार हृदय में उठता है कि जहाँ विघ्न नहीं होंगे, वहाँ मङ्गल निष्फल होगा । साथ ही मङ्गल तो अपने हृदय में ईश्वर ध्यानादि से हो सकता है और उससे विघ्न आदि भी नष्ट हो सकते हैं, पुनः उसे पुस्तक में बाँधने की क्या आवश्यकता है ? इस पर इतना ही कहना पर्याप्त है कि

विघ्नों के न होने पर भी मङ्गल शिष्यशिक्षार्थ तथा शिष्टाचारार्थ आवश्यक है । निबन्धन में कारण यह है कि यद्यपि मन में प्रभुचिन्तन आदि से मङ्गल हो जाता है और मंगलजन्य फल भी मिल जाता है, परन्तु जो ग्रन्थ में उसका निबन्धन किया जाता है वह शिष्यशृङ्खला (शिष्टाचार) को स्थिर रखने के लिये तथा उस शृङ्खला की शिष्यों को शिक्षा देने के लिये किया जाता है, जिससे कि शिष्य भी यह जान जावें कि ग्रन्थ में मङ्गल अवश्य करना चाहिये । यदि आचार्य मङ्गल मन में ही कर ले तो शिष्यों को उसकी शिक्षा नहीं हो सकती । अन्यथा प्रकारान्तर से इसकी शिक्षा कराने में गौरव भी है । अतएव आचार्य माधव ने भी शिष्यशिक्षार्थ इसका निबन्धन 'रोगविनिश्चय' वा 'माधवनिदान' में किया है । ऊपर मङ्गल के लक्षण में यह कहा जा चुका है कि मङ्गल ग्रंथ के मध्य वा अन्त में भी हो सकता है । यदि यह ठीक है तो आचार्य ने उसे आदि में क्यों रक्खा ? ग्रंथ के मध्य वा अन्त में क्यों नहीं रक्खा ? इस पर विजयरक्षित जी कहते हैं—ग्रंथश्रोतृणामपीति । अर्थात् ग्रंथकर्ता तो आदि, मध्य वा अन्त इनमें से जहां चाहे मङ्गल कर लाभ उठा सकता है । परन्तु फिर भी ग्रंथ के आदि में मङ्गल स्थापना का यह फल है कि ग्रंथ के श्रोता वा अध्येता जब उसे पढ़ने लगेंगे तो पूर्व मङ्गल का अनुवाद भी अवश्य करेंगे । इससे उनकी बुद्धि शुद्ध होगी, उनका ध्यान ईश्वर की ओर अधिक होगा तथा उनके विघ्न भी नष्ट हो जाएंगे और वे सम्पूर्ण ग्रंथ निर्विघ्न सुन वा पढ़ सकेंगे ।

मधु०—अत्र प्रशब्दो भक्त्यतिशयख्यापकः । निबन्धनक्रियापेक्षया प्रणामस्य पूर्वकालभावित्वात् प्रणामेः क्त्वाप्रत्ययः । जगच्छब्देनोत्पत्तिमन्तः क्षित्यादयोऽभिधीयन्ते; तेषामुत्पत्तौ स्वकारणसमवाये, स्थितौ कतिचित्कालावस्थाने, संहारे प्रध्वंसे, कारणं कर्तारम् । स्वर्गः सुखम्, अपवर्गो मोक्ष आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिलक्षणः, तयोर्द्वारमुपायं प्रधानकारणम् । एतेन सकलपुरुषार्थहेतुत्वमुक्तं, सुखावाप्तिदुःखहानिव्यतिरिक्तस्य पुरुषार्थस्याभावात् । अतएव त्रैलोक्यशरणं त्रैलोक्यरक्षितारम् ।

इस श्लोक में पढ़े 'प्रणम्य' शब्द में 'प्र' शब्द ग्रंथकर्ता की स्वाधिष्ठातृ देवता में अतिशय भक्ति का द्योतक है अर्थात् 'नत्वा' आदि शब्दों के होते हुए भी आचार्य ने 'प्रणम्य' ऐसा गौरवयुक्त शब्द क्यों प्रयुक्त किया ? इस पर रक्षित जी कहते हैं कि यद्यपि नत्वादि शब्द भी प्रणाम के वाचक हैं परन्तु जो आचार्य जिस शब्द को प्रयुक्त करता है वह शब्द उसके अन्तस्तल के भावों से अंकित रहता है । प्रकृत में आचार्य ने 'प्रणम्य' शब्द प्रयुक्त किया है । अतः इसमें भी वक्ता का भाव अंकित है । जैसे प्रशब्द प्रकृष्टार्थवाची होने से इसका अर्थ यह होगा कि 'प्रकर्षेण नत्वा' अर्थात् अति श्रद्धा तथा भक्ति से प्रणाम करके मैं इस ग्रंथ को बनाता हूं । यह भाव 'नत्वा' पद से नहीं आ सकते । अतएव आचार्य ने 'नम्' धातु के पूर्व 'प्र' उपसर्ग रक्खा है । अब यह बात आती है कि निबन्धन क्रिया की अपेक्षा 'प्रणाम' धातु के पूर्व होने से 'क्त्वा' प्रत्यय कर यह वाक्य बना है । इसका भाव यह है कि जब एक वाक्य में दो क्रिया आवें तो उनमें से जो क्रिया पहले रक्खी जावे उसमें 'क्त्वा' प्रत्यय होता है और दूसरी क्रिया तिङन्ती रक्खी जाती है । जैसे यदि खाना और जाना ये दोनों क्रियायें एक ही वाक्य में रखनी हों तो पहले जो क्रिया होने वाली होगी उसमें 'क्त्वा' प्रत्यय हो जायगा जैसे यदि खाना रूप क्रिया पहले हो और दूसरी उत्तरकालभावी, तब इस प्रकार वाक्य बनेगा—भुक्त्वा यदि जाना रूप क्रिया पूर्वकालभावी तथा खाना रूप क्रिया उत्तरकालभावी

वाक्य होगा—गत्वा भुङ्क्ते। एवं प्रकृत में मङ्गल के कारण प्रणाम रूप क्रिया के पूर्वभावी तथा निबन्धन रूप क्रिया के उत्तरभावी होने से यहां भी पहली क्रिया 'क्त्वा' प्रत्ययान्त तथा दूसरी क्रिया भावकार्मिक तैङन्ती रक्खी है। इसमें कोई दोष नहीं, यही बताने के लिये विजयरक्षित ने निबन्धनेत्यादि कहा है। जगत् शब्द का अर्थ—'जङ्गम्यते' इति (नित्यं कौटिल्ये गतौ अष्टा०अ०३ पा. १सू० २३५) जगत् (जो नित्य गमनशील हो, वह जगत् है), इस परिभाषा के अनुसार नित्य गमनशील वा नित्य परिवर्तनशील पदार्थ का नाम 'जगत्' है, यह सिद्ध होता है। क्या आचार्य माधव ने अपने पद्य में जगत् शब्द के इसी अभिप्राय को लक्ष्य में रक्खा है वा उसका कोई और लक्ष्य था ? इस पर विजयरक्षित कहते हैं कि जगत् शब्द से उत्पत्तिशील क्षित्यादि (पृथिव्यादि) लिये जाते हैं। उनकी उत्पत्ति अर्थात् अपने कारणसमवाय (समूह) से उत्पन्न होना, स्थिति अर्थात् कुछ समय तक अपनी अवस्था में स्थित रहना तथा संहार अर्थात् नाश, इनके करने में कारण रूप अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति तथा नाश को करने वाले, स्वर्ग अर्थात् सुख के तथा अपवर्ग–सर्वदा दुःख रहित मोक्ष के द्वार अर्थात् उपाय स्वरूप वा मोक्ष प्राप्ति में कारण रूप (भगवान् को प्रणाम कर, यह शेष है)।

वक्तव्य—इस संसार की तीन अवस्थाएं होती हैं—पहली उत्पत्ति, दूसरी स्थिति और तीसरी नाश। इन तीनों अवस्थाओं में कारण अर्थात् इन तीनों अवस्थाओं के करने वाले तथा सुख और मोक्ष के भी देने वाले (भगवान् को प्रणाम कर), इन विशेषणों से यह सिद्ध होता है कि भगवान् शिव धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ के देने वाले हैं। यही बताने के लिये टीकाकार कहते हैं—एतेनेति। अर्थात् स्वर्ग और मोक्ष के द्वार कहने से सम्पूर्ण—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ में भगवान् शिव कारण हैं, ऐसा कहा है। सुख की प्राप्ति तथा दुःख की निवृत्ति से पृथक् कोई पुरुषार्थ नहीं है। स्वर्ग का अर्थ सुख होता है और सुख की प्राप्ति—'धर्मार्थकाममोक्षेभ्यः सुखावाप्तिः। सुखञ्च न विना धर्मात्। धनाद्धर्मः ततः सुखम्—'इस शास्त्रसिद्धान्तानुसार धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति पर ही होती है। एवं भगवान् शिव को सुख की प्राप्ति में प्रधान कारण माना है। जब वह सुख देगा तो यह आवश्यक है कि पहले वह धर्म, अर्थ और काम की ओर भी प्रवृत्ति करेगा, जिसके बाद सुख मिलेगा। इस प्रकार एक सुख शब्द में धर्म, अर्थ और काम तीनों ही आ जाते हैं। केवल मोक्ष ही पुरुषार्थ में से रह जाता है। सो उसकी भी प्राप्ति के लिये पृथक् कह दिया है—अपवर्गः। अपवर्ग मोक्ष को कहते हैं। उसका लक्षण ऐसा कहा है—अत्यन्तदुःखनिवृत्तिलक्षणोऽपवर्गः। इस प्रकार सुख शब्द से धर्म, अर्थ, काम इन तीनों का ग्रहण होता है। इन चारों को ही पुरुषार्थ कहा जाता है। जैसे शास्त्रान्तर में भी कहा है—धर्मार्थकाममोक्षाणि पुरुषार्थः। इसी पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिये ही पुरुष का जन्म होता है। यह चतुर्लक्षण पुरुषार्थ सुखप्राप्ति तथा दुःखनिवृत्ति में ही अन्तर्हित हो जाता है, इनमें पृथक् कोई पुरुषार्थ नहीं है। सारांश यह है कि धर्म कहने से केवल अभ्युदय निःश्रेयस लक्षण धर्म का अथवा 'वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः' इत्यादि लक्षण धर्म का वा 'धृतिः क्षमा' इत्यादि दशक लक्षण धर्म का या चोदनालक्षण धर्म का ग्रहण होता है। एवं अर्थ कहने से स्थावर जङ्गम सम्बन्धी वस्तुजात का ग्रहण होता है और मोक्ष कहने से अत्यन्त दुःखनिवृत्ति का ग्रहण होता है। इस प्रकार ये चारों चार शब्दों से गृहीत होते हैं। यदि इन्हें संक्षेप से कहना हो तो सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्ति इन दो शब्दों में कहा जा सकता है। इससे भी अधिक संक्षेप से कहना हो तो पुरुषार्थ

ाब्द कहने से ये चारों ही आ जाते हैं। एवं सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्ति इन दो शब्दों में त्तुर्लन्नण पुरुषार्थ आ जाता है। अतएव विजयरक्षित ने कहा है—सुखावाप्तिदुःखहानि-यतिरिक्तस्य पुरुषार्थस्याभावात।

मधु०—न चोक्तजगत्स्थितिकारणत्वेन पौनरुक्त्यं, जगच्छब्देनोत्पत्तिमतामेवाभिधानात्। अत्र तु त्रैलोक्यशब्दो भुवनत्रयवर्तिचेतनाचेतनसमूहवाची, लोकशब्दस्य भुवनजनयोरभिधायकत्वात्। तथा चामरः,— लोकस्तु भुवने जने— इति; त्रैलोक्यमिति स्वार्थे ष्यञ्, चातुर्वर्ण्यवत्। हरादिपर्यायान् परित्यज्य शिवपदनिर्देशेन ग्रन्थस्य तदध्येतॄणां च सकलकल्याणमभिलषन् शिवपदं निबद्धवान्; शिवकारित्वेनैव महेश्वरस्य शिवपदाभिधानमिति ॥१॥

पूर्व यह कहा कि 'जगत्स्थितिकारणम्' अर्थात् जगत् की स्थिति करने वाला, और बाद में पुनः 'त्रैलोक्यशरणम्' अर्थात् त्रिलोकी के रक्षक, यह कहा है । अब अन्तिम वाक्य का अर्थ पूर्व वाक्य के समान होने से पुनरुक्ति दोष आता है । इसी के परिहारार्थ 'न चोक्त' इत्यादि कहा है, अर्थात् जगत् की स्थिति में कारण और त्रिलोकी के रक्षक इन दोनों वाक्यों में पुनरुक्त दोष नहीं है। कारण कि जगत् शब्द से केवल उत्पन्न होने वाले अर्थात् चेतन लोक को लिया है, परन्तु 'त्रैलोक्य' शब्द तीनों भुवनों में स्थित चेतन तथा अचेतन दोनों का ग्रहण कराता है। एवं लोकशब्द भुवन तथा जन दोनों का वाचक होने से पौनरुक्त्य दोष नहीं है। लोकशब्द भुवन और जन दोनों का बोधक है। इस विषय पर प्रमाणरूप में अमरसिंह अपने नामलिङ्गानुशासन (अमरकोष) में लिखते हैं—लोकस्तु भुवने जने। अर्थात् लोक शब्द पुंलिङ्गवाची एवं भुवन और जन दोनों का बोधक है। त्रैलोक्य शब्द की सिद्धि 'चातुर्वर्ण्य' शब्द की तरह स्वार्थ में ष्यञ् प्रत्यय होने से होती है। शिव जी के हर आदि पर्यायवाचक शब्दों के होते हुए भी आचार्य ने अपने श्लोक में जो शिव पद का समावेश किया है, वह ग्रंथ तथा ग्रंथ के पाठकों की कल्याण कामना से किया है। कल्याणकर होने से ही महेश्वर (परमात्मा) को 'शिव' इस नाम से पुकारा जाता है।

वक्तव्य—साहित्यशास्त्र में रचना सम्बन्धी अनेकों गुणों तथा दोषों का विवेचन आता है । सामान्यतया दोष का लक्षण तो उन्होंने यह माना है—उद्देश्यप्रतीतिप्रतिबन्धकत्वं दोषत्वम्। अर्थात् जो उद्देश्य की प्रतीति में बाधक वा अरुचिकर हो, वह दोष होता है। वे दोष भेदों द्वारा अनेक हो जाते हैं । उनमें से एक 'पुनरुक्तत्व' दोष भी साहित्यवेत्ताओं ने माना है, जिसका लक्षण है—पुनरुक्तत्वमर्थस्य नूक्तस्य वचनं पुनः। अर्थात् जहां पहले कहे हुए अर्थ को पुनः कह दिया जावे वहां 'पुनरुक्तत्व' दोष होता है। यहां दोष का सामान्य लक्षण भी घट जाता है। क्योंकि एक ही अर्थ को पुनः २ कहने से वक्ता की अनवधानता प्रकट होती है, जिससे दूसरों को अरुचि हो जाती है । वैसे यह अनित्य दोष है। क्योंकि कहीं २ गुण भी हो जाता है। एवं प्रकृत में आचार्य माधव ने पूर्व तो यह कहा कि—जगतः स्थितिकारणम् और बाद में पुनः कह दिया—त्रैलोक्यशरणम्। इन दोनों का अर्थ एक ही है। क्योंकि जो अर्थ 'जगत् के स्थापक' इस वाक्य से निकलता है, वही अर्थ 'त्रिलोकी के रक्षक' इस वाक्य से भी निकलता है। अत: एक ही अर्थ को पुनः २ कहने से अरुचि होती है, जिससे इसमें पौनरुक्त्य दोष इस पर आचार्य कहते हैं कि नहीं, इसमें वह दोष नहीं है। क्योंकि वह द है, जहां एक बात बार २ कही जावे। परन्तु यहां वैसा नहीं है। यहां तो ज

त्रैलोक्य शब्द का अर्थ भिन्न २ है। जगत् शब्द से तो केवल उत्पत्ति वालों (चर सृ
का ही ग्रहण होता है और त्रैलोक्य शब्द से तीनों भुवनों में स्थित चर और अचर दं
का ग्रहण होता है, एवं इनका अर्थ परस्पर भिन्न होने से पौनरुक्त्य दोष नहीं है। लं
शब्द कोष में भी चर और अचर दोनों के लिये ही आता है। एवं जगत् शब्द के
से त्रैलोक्य शब्द के अर्थ में भिन्नता तथा विशिष्टता है। अब यहां पुनः यह प्रश्न उपस्
होता है कि यदि त्रैलोक्य शब्द से चराचर दोनों का ही ग्रहण होता है और जगत् श
से केवल चर सृष्टि का ही ग्रहण होता है तो जगत् शब्द के कहने की कोई आवश्यक
नहीं थी। क्योंकि यह त्रैलोक्य शब्द में व्याप्य होने से उसके कहने पर स्वयं ही आ जा
है। (उत्तर—) ठीक है, परन्तु कभी २ ऐसा भी होता है कि किसी की विशेषताओं में
होकर मनुष्य पहले उसके छोटे वा थोड़े गुणों वा कर्तव्यों का वर्णन करता है और
क्रमशः यथास्मृति उसके व्याप्त गुणों वा कर्तव्यों की भी प्रशंसा करता है। प्रकृत में भी
बात है। पूर्व आचार्य माधवकर ने ईश्वर को जगत्स्थितिकर बताया तदनु उसके इससे
अधिक व्याप्त कर्तव्य त्रैलोक्यरक्षक रूप को बोधित किया। अतः यहां उक्त दोष नहीं
हाँ, यदि आचार्य पहले 'त्रैलोक्यशरणं' यह पद स्थापित कर बाद में 'जगत्स्थितिकारणं' क
तो इसमें 'देहि मे वाजिनं राजन् ! गजेन्द्रं वा मदालसम्' की तरह भग्नप्रक्रमता दोष आ जात
परन्तु आचार्य ने वैसा पदन्यास न कर उस दोष से भी पद्य को मुक्त ही रक्खा है—त्रै
क्यमिति स्वार्थे ष्यञ् चातुर्वर्ण्यवत्। जिस प्रकार 'चत्वारो वर्णाः' में 'चतुर्वर्णादीनां
उपसंख्यानम्' इस वार्तिक से ष्यञ् प्रत्यय होकर चातुर्वर्ण्य रूप बनता है, ठीक उसी प्र
त्रिलोक शब्द का पाठ चतुर्वर्णादि गण में होने से 'त्रयो लोकाः' यहां पर भी उक्त वा
से ष्यञ् प्रत्यय होकर 'त्रैलोक्य' शब्द सिद्ध होता है। इसी बात को लक्ष्य में रखते
विजयरक्षिताचार्य ने 'त्रैलोक्यमिति स्वार्थे ष्यञ्' कहा है। कोषों में भगवान् शंकर के 'हर' आ
अनेक नाम आते हैं, परन्तु उन सब नामों को छोड़कर यहां आचार्य ने शिव पद रख
है। इसमें भी आचार्य का विशेष अभिप्राय भरा है। भगवान् शंकर के सभी नाम क
नामिक (अन्वर्थक) ही हैं, अतः 'शिव' यह नाम भी कार्मनामिक ही है। इसके अ
रिक्त यह नाम माङ्गलिक भी है। अतएव आचार्य ने हर आदि अनेक नामों के होते
भी शिव शब्द का प्रयोग किया है। साथ ही इसके यह भी आचार्य का अभिप्राय
कि शिव अर्थात् कल्याण स्वरूप (भगवान् का) नाम लेने से आरब्धव्य ग्रंथ की निर्वि
समाप्ति तथा उसके अध्ययन करने वालों का भी कल्याण हो, जिससे कि वे भी सुखपू
ग्रंथ समाप्ति कर सकें। यही यहां हर आदि शब्दों के होते हुए भी शिव श
के प्रयोग में कारण है। वस्तुतः देखा भी जाता है कि जब कोई विज्ञ भगवान् का न
लेता है तो वह भगवान् को उसी नाम से सम्बोधित करता है, जिस नाम के अन्वर्थक भ
उसके हृदय में बसे हों। जैसे—द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया 'कपालिनः
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥ इस पद्य में भगवान् शंकर
'कपाली' शब्द से बताया है, जिसका अर्थ है 'नर की खोपड़ी के पात्र वाला' अर्थात् इत
निर्धन तथा असभ्य एवं घृणित है कि वह नर की खोपड़ी से ही अपने जलपान आ
कर्म का निर्वहण करता है। ऐसा पद क्यों दिया ? क्या पिनाकी शब्द नहीं था जो कपा
शब्द कवि ने दे डाला ? पिनाकी शब्द का तो अर्थ भी बहुत अच्छा था, इससे शूरवीर
झलकती है। परन्तु नहीं, यहां तो कवि ने समयानुसार पात्र से भगवान् शंकर के दं
ही दिखाने थे। यदि वह पिनाकी पद देता तो फिर दोषों के स्थान में गुण झलक

गते। परन्तु कवि का अभिप्राय यहां शिव के दोष दिखलाने का था। अतएव उसने पने मन के अभिप्रायानुसार यहां पिनाकी आदि पदों की विद्यमानता में भी कपाली ब्द ही दिया। एवं प्रकृत में हर आदि पदों की विद्यमानता होने पर भी कवि को कल्याण भिप्रेत था। वह इस समय भगवान् का कल्याणमय रूप से ध्यान कर रहा था। अतः सने अपने भाव के अनुसार यहां शिव पद रक्खा है। यही कारण है कि आचार्य ने ावानुसारिणी सिद्धिः' के अनुसार कल्याणकारी भगवान् को प्रणाम किया है।

प्रतिपाद्यशास्त्रस्य मूलभूतमनुबन्धचतुष्टयमवतारयति—

नानामुनीनां वचनैरिदानीं समासतः सद्भिषजां नियोगात्।
सोपद्रवारिष्टनिदानलिङ्गो निबध्यते रोगविनिश्चयोऽयम् ॥२॥

अन्वयः—सद्भिषजां नियोगात् इदानीं (मया) नानामुनीनां वचनैः, समासतः, सोपद्रवारिष्टनिदानलिङ्गः, अयं, रोगविनिश्चयः निबध्यते।

भाषार्थ—श्रेष्ठ वैद्यसमाज की प्रेरणा अथवा आज्ञा से पूर्वज मुनियों के प्रतिपादित वाक्यों के आधार पर उपद्रव, अरिष्ट, निदान तथा लिङ्गादि से युक्त इस रोगविनिश्चय नामक ग्रन्थ का इसी समय संक्षेप से संग्रह मेरे द्वारा किया जाता है (मैं करता हूँ) ॥२॥

सत्यपि प्राचीनसंहितासु निदानभागे, एतत्प्रयोजनं विशिनष्टि—

नानातन्त्रविहीनानां भिषजामल्पमेधसाम्।
सुखं विज्ञातुमातङ्कमयमेव भविष्यति ॥३॥

अन्वयः—अल्पमेधसां, नानातन्त्रविहीनानां, भिषजाम्, आतङ्कं, सुखं (यथा स्यात्तथा), विज्ञातुम्, अयमेव भविष्यति।

भाषार्थ—अल्पबुद्धि वाले तथा अनेक प्रकार के शास्त्रों से अनभिज्ञ वैद्यों को रोग का सुखपूर्वक ज्ञान कराने में यही रोगविनिश्चय नामक ग्रन्थ समर्थ होगा।

वक्तव्य—जो वैद्य अल्पबुद्धि हों तथा जिन्होंने पूर्व आचार्यों से निर्मित अनेक ग्रन्थ नहीं पढ़े, उन्हें सुगमतापूर्वक रोग ज्ञान कराने के लिये यह रोगविनिश्चय सब से बढ़कर होगा। क्योंकि एक तो यह प्राचीन मुनियों की संक्षिप्त उक्तियों को एकत्रित कर सरलतापूर्वक बांधा जायगा, दूसरी इसमें यह विशेषता होगी कि इस एक ही ग्रन्थ के पढ़ने से सभी रोगों का प्रायः ज्ञान हो जायगा। वैसे तो आचार्य चरक के—"न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः" (च० सू० अ० १८) इस कथनानुसार सब रोगों के नाम नहीं हैं, अतः वे सब रोग नामतः इसमें निर्दिष्ट नहीं हैं, परन्तु फिर भी "त एवापरिसंख्येया भिद्यमाना भवन्ति हि। रुजावर्णसमुत्थानस्थानसंस्थाननामभिः॥ व्यवस्थाकरणं तेषां यथा स्थूलेषु संग्रहः॥" (च० सू० स्था० अ० १८) चरक के इस आदेशानुसार उपर्युक्त लक्षण मिलाने की पद्धति यह ग्रन्थ अतिसंक्षेप से बता देगा, जिससे अल्पप्रयास से ही मनुष्य सब रोगों को जान सकेंगे ॥३॥

---

१ विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्। निर्णयश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं मतम्॥

मधु०—अभिधेयसंबन्धप्रयोजनोपदेशमन्तरेण प्रेक्षावतां न प्रवृत्तिः स्यात्, इत्यतस्तदभिधानार्थं श्लोकद्वयमाह—नानेत्यादि।

वक्तव्य (विषय), सम्बन्ध (ग्रन्थ और अभिधेय आदि का), प्रयोजन (ग्रन्थ का फल) और उपदेश इनके विना साधारण जनता की इस ओर प्रवृत्ति न होगी। अतः अभिधेय आदि बताने के लिये आचार्य माधव नानेत्यादि दो श्लोकों को कहते हैं।

वक्तव्य—प्राक्तन आचार्यों की यह सरणि चली आती है कि वे मङ्गलाचरण के अनन्तर अनुबन्धचतुष्टय अवश्य बतलाते हैं। क्योंकि अनुबन्धचतुष्टय को जानकर जनता की उस ओर प्रवृत्ति होती है। वह चतुष्टय अभिधेय, सम्बन्ध, प्रयोजन और अधिकारी इनका ज्ञान रूप है। एतदर्थ आचार्य सायण भी अनुबन्धचतुष्टय का महत्त्व इस प्रकार बताते हैं—विषयप्रयोजनसम्बन्धाधिकारिणामन्तरेण श्रोतृप्रवृत्त्यभावाद्विषयादयो निरूप्यन्ते। वस्तुतः ठीक भी है, उपर्युक्त ज्ञान के विना प्रवृत्ति नहीं होती। उस पर भी इसमें प्रयोजन का तो विशेष महत्त्व है। जैसे कहा भी है—अभिधेयफलज्ञानविरहस्तिमितोद्यमाः। श्रोतुमल्पमपि ग्रंथं नाद्रियन्ते हि साधवः॥ इसी कारण महर्षि चरक ने स्वसंहिता में यथास्थान अनुबन्धचतुष्टय दिखाया है। उसने अभिधेय—हिताहितादि[1] रूप आयु को माना है। जैसे—हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्। मानञ्च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते॥ (च० सू० स्था० अ० १)। प्रयोजन—चरक ने धातुसमता माना है। तद्यथा—धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्। (च० सू० स्था० अ० १)। सम्बन्ध—आयु और तन्त्र का अभिधानाभिधेय है। एवं इसके अधिकारी स्वस्थ तथा आतुर दोनों ही हैं। जैसा चरक ने कहा है—स्वस्थातुरपरायणम्। (च० सू० स्था० अ० १)। इस प्रकार अनुबन्धचतुष्टय अनिवार्य होता है। इसमें यह आशंका नहीं करनी चाहिये कि यह सब प्रमत्तगीतवत् व्यर्थ है। यह आप्तवाक्य[2] होने से माननीय है और इसी कारण इसे बताने के लिये माधव ने नानेत्यादि श्लोक कहे हैं। अन्यथा प्रवृत्त्यभाव का भय है।

मधु०—रोगाणां विशेषेण वातजत्वादि[3]साध्यासाध्यत्वादिरूपेण निश्चयो ज्ञानं येन स रोगविनिश्चयो ग्रन्थो निबध्यतेऽभिधीयते, 'अस्माभिः' इति शेषः। तस्य विशेषणं—सोपद्रवेत्यादि सह उपद्रवादिभिर्वर्तते यः स तथा; एतेन[4] विशेषणद्वारेण उपद्रवारिष्टनिदानलिङ्गस्वरूपमभिधेयमुक्तं भवति, एतद्व्यतिरिक्तस्याभिधेयस्याभावात्[5]। तथा सति[6] उपद्रवादिभिरभिधेयैः सह ग्रन्थस्य वाच्यवाचकलक्षणः संबन्धोऽप्यभिहितः।

रोगों का—विशेषकर, यह वातिक है; यह पैत्तिक है; और यह श्लैष्मिक है तथा यह साध्य है और यह असाध्य है इत्यादि रूप निश्चयात्मक ज्ञान जिससे होता है मैं उस रोगविनिश्चय नामक ग्रन्थ का निर्माण करता हूँ। उस रोगविनिश्चय का ही—'सोपद्रवारिष्टनिदानलिङ्गः' यह विशेषण है। इस प्रकार इसका अर्थ यह होगा कि मैं उपद्रव, अरिष्ट, निदान तथा लिङ्ग से युक्त रोगविनिश्चय नामक ग्रन्थ का निर्माण करता हूं। इसी उपद्रव

---

१ हितायु, अहितायु, सुखायु और दुःखायु, यह आयु चतुष्टय है. २ रजस्तमोभ्यां निर्मुक्ताः सत्यज्ञानबलेन ये। येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा॥ आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते॥ (च. सू. स्था. अ. ११). ३ वातादिजत्वं. ४ एतेनास्य विशेषणद्वारा. ५ एतद्व्यतिरेकेणास्य ग्रन्थस्य. एतद्व्यतिरेकेणाभिधेयाभावात्. ६ 'सति' इति क्वचिन्नास्ति.

ष्ट निदान लिङ्ग (उपद्रव, अरिष्ट, निदान तथा लिङ्ग) रूप विशेषण के कहने से अभिधेय विषय) आ जाता है अर्थात् अभिधेयबोधनार्थ ही आचार्य ने उक्त विशेषण कहा है। इस विशेषण से ही अनुबन्धचतुष्टय के प्रथमाङ्ग की पूर्ति होती है। कारण कि इससे अतिरिक्त और अभिधेय न तो इस ग्रंथ में कहा गया है और न है ही। एवं उपद्रवादि अभिधेय में आ जाने से उनके साथ ग्रंथ का वाच्य (कहने योग्य पदार्थ) वाचक कहने वाला) भाव रूप सम्बन्ध है। इसी वाच्य वाचक सम्बन्ध को प्रतिपाद्य प्रतिपादक, बोध्य बोधक, वा ज्ञाप्य ज्ञापक लक्षण सम्बन्ध भी कहते हैं।

मधु०—तत्र उपद्रवो रोगारम्भकदोषप्रकोपजन्योऽन्यविकारः, उक्तं च चरके (?) 'व्याधेरुपरि यो व्याधिर्भवत्युत्तरकालजः। उपक्रमाविरोधी च स उपद्रव उच्यते॥' इति; नियतमरणख्यापकं लिङ्गमरिष्टं; निदानं रोगोत्पादको हेतुः; लिङ्गं रोगख्यापको हेतुः। तेन 'लिङ्ग्यन्ते ज्ञायन्ते व्याधयोऽनेन' इति व्युत्पत्त्या पूर्वरूपरूपोपशयसंप्राप्तयोऽभिधीयन्ते। यद्यपि निदानमपि रोगविशेषं बोधयति, तथाऽप्युत्पत्तिज्ञप्तिहेतुत्वेन कारणद्वैविध्यप्रतिपादनार्थं तस्य पृथगभिधानम्। एषां चोपद्रवादीनां विस्तराभिधानं यथावसरं करिष्यते।

उनमें से रोगारम्भक दोष के प्रकोप से होने वाला दूसरा विकार उपद्रव कहलाता है। जैसे चरक में कहा भी है कि एक व्याधि के अनन्तर उपक्रमानुसार जो दूसरी व्याधि होती है, वह उपद्रव कहलाती है; अवश्य होने वाली मृत्यु को बताने वाला लक्षण अरिष्ट कहलाता है; रोग को उत्पन्न करने वाला हेतु निदान कहलाता है और रोगख्यापक हेतु लिङ्ग कहलाता है। इसमें 'लिङ्गित अर्थात् ज्ञात होती हैं व्याधियां इससे' इस व्युत्पत्ति के अनुसार पूर्वरूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्ति का अभिधान भी हो जाता है। यद्यपि निदान भी रोगविशेष को ही बताता है तथापि उत्पत्ति ज्ञप्ति हेतु से कारण की द्विविधता बताने के लिये उसका पृथक् वर्णन किया है। इन उपद्रव आदिकों का विन्यास आगे समय समय पर किया जायगा।

वक्तव्य—इसका भाव यह है कि—ऊपर अभिधेय बताया गया है, जिसके कि आचार्य ने उपद्रव आदि ४ अङ्ग बताए हैं। अब क्रमशः उनके तन्त्रान्तरोद्धृत लक्षण आचार्य विजयरक्षित बताते हैं—तत्रेत्यादि। उनमें से उपद्रव का लक्षण यह है कि रोग को उत्पन्न करने वाले दोष के प्रकोप से उत्पन्न अन्य विकार उपद्रव होता है। अर्थात् किसी रोग को उत्पन्न करके यदि वही दोष पुनः प्रकुपित हो वहीं किसी दूसरे विकार को भी उत्पन्न करता है तो वह दूसरा विकार पहले रोग का उपद्रव कहलाता है। जैसे—पित्त प्रकोप से उत्पन्न ज्वर के बाद यदि मूर्च्छा, अतिसार वा तृष्णा आदि उत्पन्न हो जावें तो मूर्च्छा आदि ज्वर के उपद्रव होंगे। उपद्रव का संक्षिप्त लक्षण तथा निर्देश चरक ने इस प्रकार किया है—उपद्रवस्तु खलु रोगोत्तरकालजो रोगाश्रयो रोग एव स्थूलोऽणुर्वा रोगात् पश्चाज्जायत इत्युपद्रवसंज्ञः। (च. चि. स्था. अ. २१)। आचार्य ने व्याधेरुपरि श्लोक से उपद्रव लक्षित किया है अर्थात् वे कहते हैं कि एक व्याधि के बाद उपक्रम के अनुकूल जो दूसरी व्याधि उत्पन्न होती है, वह उपद्रव कहलाती है। रिष्टलक्षण—जो लक्षण अवश्यम्भावी मृत्यु को प्रकट करते हैं, उन्हें अरिष्ट कहा जाता है। अर्थात् जिन लक्षणों को देखकर हमें यह ज्ञान हो जावे कि अब यह रोगी नहीं बच सकता, वे लक्षण अरिष्ट नाम से पुकारे जाते हैं। शास्त्रकारों ने साधारण लक्षणों से इसे पृथक् करने के लिये पारिभाषिक संज्ञा बना [illegible]

१ अयम्भावश्चरकेन तु चिकित्सास्थानीयैकविंशतितमेऽध्याये गद्येन पठ्यते.

क्योंकि प्रत्येक व्याधि के सब से पहले दो प्रकार के लक्षण होते हैं। एक साध्य, दूसरे असाध्य। पुनः साध्य के भी दो भेद हो जाते हैं। एक सुसाध्य, दूसरा दुःसाध्य। तदनु पुनः ये दोनों रोगी के उत्तम, मध्यम और अधम भेद से तीन प्रकार के हो जाते हैं। ये साध्य के भेद हैं। इसी प्रकार असाध्य भी पूर्व दो प्रकार के होते हैं। एक याप्य, दूसरे असाध्य (प्रत्याख्येय)। इनमें से प्रथम पूर्ववत् रोगी के अनुसार तीन प्रकार के होते हैं। दूसरे असाध्य लक्षण दो प्रकार के होते हैं—एक शीघ्रमारक और दूसरे किञ्चित्काल विलम्बी। ये दोनों प्रकार के लक्षण प्रायः अरिष्ट नाम से पुकारे जाते हैं। उदाहरणार्थ—ज्वर वा अतिसार ही यदि लें तो उनमें होने वाले लक्षणों के उपर्युक्तानुसार दो भेद किये जाते हैं। प्रकृत में ज्वर के अरिष्ट लक्षण ये हैं। जब ज्वर में रोगी हिक्का, श्वास और तृषा से युक्त, मूढ़, विभ्रान्तलोचन लगातार उच्छ्वास लेने वाला तथा अतिक्षीण हो जाय तो वह मर ही जाता है। जैसे कहा है—हिक्काश्वासतृषायुक्तं मूढं विभ्रान्तलोचनम्। सन्ततोच्छ्वासिनं क्षीणं नरं क्षपयति ज्वरः॥ यहां ये हिक्कादि लक्षण नियतमरणख्यापक होने से रिष्ट कहलाते हैं। एवं अतिसार में 'गुदे पक्के गतोष्माणमतिसारकिणं त्यजेत्' के अनुसार गुदपाक एवं ऊष्मापगम अरिष्टलक्षण हैं। वस्तुतः अरिष्टलक्षण तब होते हैं जब किसी एक व्याधि में मारक लक्षण उपस्थित हो जावें। यथा ज्वर का सामान्य लक्षण—स्वेदावरोधः सन्तापः सर्वाङ्गग्रहणं तथा। युगपद्यत्र रोगे च स ज्वरो व्यपदिश्यते॥ पुनः वात, पित्त कफ इन तीनों के भिन्न २ लक्षण हैं। एवं इन २ ज्वरों में इनके लक्षण यदि हों तो यह आवश्यक नहीं कि रोगी मर ही जावे, परन्तु यह हो सकता है कि जब सम्पूर्ण लक्षण उसमें आ जावें तो वह असाध्य हो जावे। इस प्रकार सर्वसम्पूर्ण लक्षणता भी रिष्ट लक्षण है जो कि नियतमृत्युपरिचायक होती है। एवं उपद्रव भी रिष्ट हो जाते हैं जब कि नियतमृत्युपरिचायक होते हैं। यथा—हिक्का-श्वास-कास-तृष्णा-छर्दि-अतिसार-मूर्च्छा-अङ्गभेद-अरोचक-कृच्छ्रविट्कता चेति दशोपद्रवा ज्वरमभिद्रवन्ति॥ इस चरकवचनानुसार ये ज्वर के दश उपद्रव हैं। वैसे एकाकीरूप में ये स्वतन्त्र रोग भी हैं। परन्तु जब ये ज्वर में हो जाते हैं तो उसके उपद्रव कहलाते हैं और रोगी की अवस्था दारुण कर देते हैं। तब कहीं ये वा इनके प्रभाव नियतमृत्युबोधक हो जाते हैं तो अरिष्ट कहलाते हैं। एवं उपर्युक्तानुसार अरिष्ट दो प्रकार के हो जाते हैं—एक व्याधि की सर्वसम्पूर्णलक्षणता आदि, दूसरे मारक उपद्रव आदि। परन्तु फिर भी यह आवश्यक नहीं कि सम्पूर्ण लक्षण वा उपद्रव ही स्वयं वा अपने प्रभाव से नियतमृत्युबोधक होकर अरिष्ट कहलावें। कहीं कहीं इनसे भिन्न सहसा विचित्र लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं जिनका व्याधि से, उपद्रवों से वा उनके प्रभाव से कोई सम्बन्ध नहीं होता, परन्तु वे होते नियतमरणख्यापक हैं। जैसे—किसी एक रोगी के मुख से अकारण सुगन्धि का आना वा उसके शरीर में से पुष्पों की सी बास आनी अथवा अन्य विचित्र वस्तुओं का दर्शन आदि लक्षण व्याधि वा उसके उपद्रवों से कोई सम्बन्ध नहीं रखते, परन्तु ये होते नियतमृत्युपरिचायक ही हैं, अतः ये भी अरिष्ट ही हैं। इस प्रकार अरिष्ट के प्रधान तीन भेद होते हैं। जैसे—एक व्याधि की सर्वसम्पूर्णलक्षणता आदि, दूसरा मारक उपद्रव आदि और तीसरा मृत्युपरिचायक विचित्र लक्षणोत्पत्ति। सारतः अरिष्ट का लक्षण नियतमृत्युख्यापकता ही है, चाहे वह व्याधि के लक्षण, उपद्रव वा इनके प्रभाव से सम्बन्धित हो, वा असम्बन्धित लक्षण रूप

१ 'यद्यपि चरकेण 'विकल्पो नत्वसाध्यानां नियतानां विकल्पना' इत्युक्तं परमेतदसाध्याभि-प्रायेणैव द्रष्टव्यम्, इमे भेदाश्च शीघ्रक्षिप्रादिकालाभिप्रायेणैव मन्तव्याः, वस्तुतस्तु चरकोक्त एव पक्षः साधीयान्

। अब यहां यह शंका होती है कि यदि उपद्रव अरिष्ट हो जाते हैं तो उपद्रव का लक्षण रिष्टों में अतिव्याप्त हो जाने से दुष्ट हो जाता है। इसका उत्तर यह है कि नहीं, लक्षण ाने का अभिप्राय ही यह होता है कि वह लक्ष्य में हो और सलक्ष्य में हो, विलक्ष्य में न । एवं ये लक्षण भी ऐसे ही हैं अर्थात् जब कोई रोग के बाद उपक्रमानुसार दूसरा रोग तो वह चाहे मारक हो वा अमारक, उपद्रव ही कहलावेगा। एवं उपद्रव का लक्षण अरिष्ट अतिव्याप्त नहीं होता। साथ ही जिन उपद्रवों में नियतमरणख्यापकरूप रिष्ट लक्षण घट ाता है, वे रिष्ट भी होते हैं। जैसे एक ही मनुष्य कर्मानुसार तक्षक रजक आदि होता है। सरा, जो लक्षण पूर्व उपद्रव रूप में होकर रिष्ट बनते हैं उनमें यदि उपद्रव लक्षण घट जाता है दोष नहीं। कारण कि वहां लक्षण सलक्ष्यवृत्ति है। हाँ, दोष तब है जब दूसरे अरिष्टों में भी टे परन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः दोष नहीं है। तीसरी बात इसमें यह भी है कि जब एक ाधि के बाद उपक्रमानुसार दूसरी व्याधि होती है तो पूर्व वह उपद्रव कहलाती है, न्तु वह मृत्युपरिचायक होने से रिष्ट कहलाती है। इस प्रकार भी 'वृषभ बलीवर्द याय' के अनुसार कोई दोष नहीं आता। अथवा इसका चतुर्थ समाधान यह भी है कि ो मृत्युपरिचायक लक्षण हैं, चाहे वे कोई हों, रिष्ट कहलावेंगे। एवं रोगानन्तर भावी नेयतमरणख्यापक रोग उत्सर्ग अपवाद के अनुसार रिष्ट ही है, न कि उपद्रव। किंवा र्वावस्था में वह रोगोत्तरकालज उपद्रव और दूसरी नियतमरणख्यापकावस्था में ह रिष्ट हो जाता है। एवं अरिष्टावस्था में भी जो उसे उपद्रव कहा जाता है, वह ब्राह्मण-श्रमण न्यायानुसार है। एवं इनके लक्षण परस्पर मिलकर दुष्ट नहीं होते। साथ ही सामान्यतः उपद्रव अरिष्ट भी होते हैं और अनरिष्ट भी। एवं अरिष्ट उपद्रव से भी होते हैं और अनुपद्रव से[१] भी। यही कारण है कि इन दोनों को पृथक् २ स्वीकार किया है। जो वस्तु किसी ोग को उत्पन्न करे वह उसका निदान कहलाती है अर्थात् रोग को उत्पन्न करने वाला कारण नेदान कहलाता है। यथा—मक्षिकाभक्षण से छर्दि और मृद्भक्षण से पाण्डु रोग हो जाता है। यहां इन रोगों की उत्पत्ति में मक्षिकाभक्षण और मृद्भक्षण 'जनक' कारण है। अतः यह कारण इन रोगों के प्रति निदान है। रोग को बोधित कराने वाला कारण लिङ्ग कहलाता है। यथा—ज्वर को बोधित कराने वाले श्रमोऽर्ति प्रभृति सामान्य पूर्वरूप, जृम्भा आदि विशिष्ट पूर्वरूप, स्वेदावरोध आदि सामान्य रूप आदि ज्वर का बोध कराते हैं। अतः ये ज्वर के ख्यापक हेतु हैं; उत्पादक नहीं। इस कारण ये लिङ्गपदवाच्य हैं। वस्तुतः लिङ्ग और निदान दोनों ही निदान, हेतु वा कारण इन शब्दों से व्यवहृत हो सकते हैं। क्योंकि हेतु कारक, ज्ञापक भेदों से दो प्रकार का माना गया है। यहां जिसे निदान कहा है, वह कारक हेतु है और जिसे लिङ्ग कहा है, वह ज्ञापक हेतु है। परन्तु यहां इनका पृथक् २ नामकरण विशेषज्ञानार्थ किया है। जिससे व्याधियां जानी जाती हैं यह लिङ्ग शब्द की व्युत्पत्ति है और इसी कारण इसे लिङ्ग कहा जाता है। इसी व्युत्पत्ति के कारण पूर्वरूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्ति भी लिङ्ग में आ जाती है। कारण कि ये सब रोग को बोधित कराते हैं, न कि उत्पन्न करते हैं। एवं बोधक ही लिङ्ग कहा जाता है। अतः इन (पूर्वरूपादिकों) का अन्तर्भाव यहीं हो जाता है। यही कारण है कि इन्हें पृथक् नहीं कहा। आगे चलकर लक्षण के समय आचार्य माधव ने लिङ्ग को इन्हीं विभागों में विभक्त कर पूर्वरूपादि के लक्षण कहे हैं। व्याधिबोधक कारण लिङ्ग होता है, यह लिंग का लक्षण किया है। इस लक्षण के अनुसार निदान भी व्याधिबोधक है। जैसे—मक्षिकाभक्षण छर्दि रोग को उत्पन्न करता है, वैसे ही यह इस रोग को

१ प्रत्युत बहुत से रिष्ट तो रोग के बिना भी हो जाते हैं। यथा अरुन्धती का अदर्शन आदि।

बोधित भी करता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी निदान व्याधिबोधक होता है। अतः निदान भी लिङ्गान्तर्गत है। एवं जब इस (निदान) का भी ज्ञान लिङ्ग शब्द कहने से ही हो सकता है तो पुनः इसका पृथक् लक्षण क्यों प्रतिपादित किया ? इसी को लक्षित कर आचार्य रक्षित जी कहते हैं—यद्यपीति। यद्यपि निदान भी रोग विशेष का बोध कराता है तथापि उत्पत्ति ज्ञप्ति अर्थात् कारक ज्ञापक भेद से कारण दो प्रकार का होता है। यही बताने के लिये निदान का पृथक् निर्देश किया है। अभिप्राय यह है कि यद्यपि निदान भी रोग विशेष का बोधक होने से लिङ्ग में अन्तर्हित हो सकता है, परन्तु फिर भी इसका पृथक् वर्णन इस कारण आवश्यक था कि बोधक होते हुए भी यह विशेषता रखता है कि यह रोगोत्पादक है। यह विशेषता लिङ्ग में नहीं है। लिङ्ग केवल व्याधिबोधक ही है और निदान उत्पादक तथा बोधक दोनों कार्य कर सकता है। अतः उत्पादक रूप वैधर्म्य को लेकर निदान को लिङ्ग से पृथक् किया है। वस्तुतः भेद न्यायशास्त्र के कथनानुसार होता भी वैधर्म्य से ही है, साधर्म्य से नहीं होता। यहां यह वैधर्म्य उपस्थित है। इस कारण इनको पृथक् कर दिया है। अब यह शंका उपस्थित होती है कि निदान को लिङ्गान्तर्गत न करके लिङ्ग को ही निदानान्तर्गत कर देना चाहिये। निदान शब्द व्यापक है और लिङ्ग शब्द व्याप्य! (उत्तर—) ठीक है, लिङ्ग शब्द निदानान्तर्गत ही है। परन्तु फिर भी इसका पृथक्करण इसलिये किया जाता है कि सभी निदान कारक और ज्ञापक नहीं हो सकते। कोई निदान कारक और ज्ञापक दोनों प्रकार का हो सकता है, कोई केवल कारक और कोई २ केवल ज्ञापक ही होता है (यद्यपि केवल कारक भी व्याधि का बोधक होता अवश्य है, परन्तु सन्देह रह जाने के कारण उसे बोधक न मान कारक माना है। वस्तुतः वह बोधक है सही। इसी कारण निदान के तीन भेद न मान कर दो ही भेद माने हैं)। यदि यह भेद न किया जाता तो यह भ्रम रह सकता था कि ज्ञापक हेतु अर्थात् लिङ्ग व्याधिजनक भी है। इसे दूर करने के लिये ही आचार्य ने लिङ्ग का पृथक् लक्षण केवल व्याधिबोधक ही किया है।

मधु०—ननु, रोगनिदानादितत्त्वमतिसूक्ष्मत्वेनासर्वज्ञस्य न ज्ञानविषयः, तत्कथं तदुपदेशे प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरित्यत आह—नानामुनीनामित्यादि। एतेन ग्रन्थस्य प्रामाण्यं प्रवृत्त्यङ्गत्वमुक्तं भवति, मुनयो हि तपोयोगर्धिबलात् कालिकनिखिलज्ञानशालिनः पुरुषातिशया उच्यन्ते।

अब यहां यह शंका होती है कि रोग के ज्ञान कराने वाले निदानादिकों का यथार्थ ज्ञान अति सूक्ष्म होने से दुर्बोध्य है। साधारण बुद्धिवालों की इतनी शक्ति नहीं कि वे उसे जान सकें। इसलिये इसका ज्ञान वही कर सकता है, जो बहुज्ञ हो। परन्तु साधारण मनुष्य असर्वज्ञ होते हैं। अतः उनका ज्ञान भ्रान्तियुक्त और मिथ्या हो सकता है। इस कारण साधारण बुद्धि वालों से प्रतिपादित निदानादिविषयक उपदेश में जनता की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसी बात का उत्तर देने के लिये आचार्य माधव ने मूल में नानामुनीनामित्यादि पढ़ा है। इससे यह प्रतीत होता है कि माधव जी स्वयं यह बतला रहे हैं कि यह निदानादिकों का उपदेश, जो कि मैं करने लगा हूँ, मेरा निजी नहीं है। मैं तो प्राचीन मुनियों के वाक्यों को संगृहीत कर उन्हीं के अभिप्राय वा उपदेश को संक्षिप्त रूप में बांधने लगा हूं। इसी पद की व्याख्या करते हुए आचार्य रक्षित इस प्रकार उत्थानिका आरम्भ करते हैं—ननु, रोगनिदानादितत्त्वमिति। 'ननु' शब्द संस्कृतसाहित्य में शंका-वाचक होता है। जहां जिस वाक्य के प्रारम्भ में 'ननु' शब्द आ जाता है, वह वाक्य शंका वाक्य कहलाता है। प्रकृत में भी ननु शब्द शङ्का के ही अर्थ में है। एवं यहां यह शंका होती है कि रोग निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्ति का ज्ञान अति सूक्ष्म है।

तसे असर्वज्ञ व्यक्ति नहीं जान सकता। अतः उस (असर्वज्ञ व्यक्ति) के रोग ज्ञानादि ंपयक उपदेश में श्रोताओं की वा तदभिलाषियों की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? उस वृत्ति के लिये ही तो आचार्य ने 'नानामुनीनाम्' लिखा है। इससे ग्रंथ की प्रामाणिकता था उसमें जनता की प्रवृत्ति का होना भी आ जाता है। अर्थात् मुनियों के वाक्यों का ंक्षिप्त संग्रह होने से यह ग्रंथ भ्रमपूर्ण नहीं, जिससे यह प्रामाणिक तथा जनता की वृत्ति का अङ्ग हो सकता है। क्योंकि जिनके वाक्यों का यहां संग्रह है, वे मुनि हैं। और ुनि लोग तप, योग तथा ऋद्धि के बल से भूत भविष्यत् और वर्तमान इन तीनों कालों का सम्पूर्ण ज्ञान रखते हैं। अतः वे पुरुषों से बढ़कर होते हैं। इस कारण उनके वाक्य नेर्भ्रान्त, श्रद्धेय एवं प्रामाणिक हैं।

मधु०—ननु, यद्येवंभूतः कस्यचिद्ग्रन्थोऽन्योऽप्यास्ते तेनैव व्यवहारासिद्धेः कृतकार्यत्वेनास्य निष्प्रयोजनता स्यादित्यत आह—इदानीमित्यादि। इदानीमस्माभिरेव प्राथम्येन नानामुनीनां वचनैरेवंविधो निबन्धः क्रियते। समासत इति संक्षेपतः। एतेनाल्पबुद्धीनामतिविस्तरत्वेनाप्रवृत्त्यङ्गतादोषः परिहृतो भवति।

यदि इसी प्रकार का अन्यनिर्मित कोई और भी ग्रन्थ है, तो उसी से निर्वाह हो जाने से पिष्टपेषण होने से इसकी निष्प्रयोजनता होगी। इस पर आचार्य माधव कहते हैं—इदानीमित्यादि। अर्थात् अभी हम ही सब से प्रथम अनेक मुनियों के वचनों से इस प्रकार का ग्रन्थ बना रहे हैं। समासतः अर्थात् संक्षेप से। इस पद से अति विस्तृत ग्रन्थ में अल्पबुद्धि मनुष्यों की होने वाली अप्रवृत्ति रूप दोष भी दूर हो जाता है।

वक्तव्य—मान लिया कि यह मुनिवचनसंग्रह है, अतः उपादेय तथा प्रवृत्ति के योग्य है। परन्तु यदि इस प्रकार का कोई अन्य ग्रंथ भी पूर्वनिर्मित हो तो वह पूर्वनिर्मित होने से प्रसिद्ध होगा। अतः वहीं सब की प्रवृत्ति होगी और इसे केवल पिष्टपेषण जान कोई नहीं पूछेगा। जब इसे कोई पूछेगा ही नहीं तो पुनः इसमें प्रवृत्ति भी किसी की न होगी। इसी बात को उठाकर रक्षित जी कहते हैं कि सब कुछ होने पर भी यदि इसी प्रकार के ग्रन्थ का इससे पूर्व किसी ने निर्माण किया हो तो उसी से यह कार्य चल सकता है। पुनः यह ग्रंथ केवल पिष्टपेषण होने से निष्प्रयोजन है, इसकी कोई आवश्यकता नहीं और न इस ओर भावुकों की प्रवृत्ति होगी। इसी के उत्तर में आचार्य कहते हैं—इदानीमिति अर्थात् यह आशंका माधव जी को भी थी। अतः उन्होंने अपने पद्य में 'इदानीम्' शब्द देकर इसका खण्डन कर दिया है। इसी को रक्षित जी सविस्तर इस प्रकार वर्णन करते हैं कि 'सब से पूर्व हम ही इस समय विविध मुनियों के वचनों से इस प्रकार के ग्रन्थ का निर्माण करने लगे हैं। इससे पूर्व ऐसा कोई अन्य ग्रंथ नहीं है, जिससे कि इसमें जनता की प्रवृत्ति न हो सके। अब पुनः यह शंका होती है कि आचार्य माधव ने अपना यह ग्रंथ मुनियों के वचनों को संगृहीत कर रचा है। मुनियों के वचन उसे अवश्य ही उन २ के ग्रन्थों से ही मिले होंगे। अन्यथा उनकी प्राप्ति सम्भव नहीं हो सकती। कारण कि जिन मुनियों के वचन इसने स्वग्रन्थ में दर्शाये हैं, ये सब इससे पूर्व हो चुके हैं। साक्षात् तो इसने उनसे उपदेश लिया ही नहीं। इसलिये यही हो सकता है कि उनके ग्रन्थों से ही उनके वचन इसमें संगृहीत किये हों, और है भी ऐसा ही। जब ऐसा ही है तो उ के ग्रन्थों में उन २ के वचन उपस्थित थे ही, वहीं से पढ़कर सभी ज्ञान प्राप्त और कर सकते हैं। पुनः इस ग्रन्थ के निर्माण की आवश्यकता ही क्या है

आचार्य कहते हैं—समासतः । अर्थात् यद्यपि मुनियों के ग्रन्थों में यह सब कुछ उपस्थित है, परन्तु वहां विस्तार बहुत अधिक है जिससे साधारण बुद्धि वाले मनुष्य उसमें पड़कर उलझ जाते हैं। दूसरा, जिनके पास इतना समय नहीं कि उन ग्रन्थों का अध्ययन कर सकें वे इस ज्ञान से वञ्चित रह जाते हैं। साथ ही इस ग्रन्थ के अध्ययन से रोगादिविषयक ज्ञान संक्षिप्त रूप से सभी आ जाता है और समय भी कम लगता है। अतः इसके निर्माण की आवश्यकता थी । एवं संक्षिप्त होने से इसमें सब की प्रवृत्ति होगी, जिससे इसमें अप्रवृत्त्यङ्गता दोष नहीं आता । यही आचार्य रक्षित जी कहते हैं—एतेनेति । अर्थात् समासतः इस शब्द के कहने से अल्पबुद्धि मनुष्यों की अति विस्तृत ग्रन्थ में जो अप्रवृत्ति होती है, उसका परिहार हो जाता है ।

मधु०—ननु, कृतेऽपि ग्रन्थेऽनुपादेयपुरुषप्रणीतत्वेन न कश्चिद्भिषक् प्रवर्तिष्यत इति ग्रन्थस्य वैयर्थ्यं स्यादित्यत आह—सद्भिषजां नियोगादिति । नियोगो नियोजनम् 'अस्मदुपकाराय ग्रन्थः क्रियताम्' इत्येवं प्रार्थनेत्यर्थः; अथवा नियोग आज्ञा, एतेनात्मनः सविनयत्वमुक्तं भवतीत्यर्थः ।

ग्रन्थ निर्माण करने पर भी अयोग्य एवं साधारण पुरुष प्रणीत होने से उसमें कोई वैद्य प्रवृत्त नहीं होगा, अतः ग्रंथनिर्माण व्यर्थ होगा । इस पर कहा है—सद्भिषजां नियोगादिति । अर्थात् श्रेष्ठ वैद्यों के नियोग (प्रार्थना वा आज्ञा) से मैं इसे रचने लगा हूँ। इस वाक्य के कहने से पूर्वोक्त अप्रवृत्त्यङ्गता दोष दूर हो जाता है । भाव यह है कि यद्यपि यह ग्रंथ पूर्वमुनियों का संक्षिप्त संग्रह ही है, परन्तु फिर भी अनुपादेयपुरुषप्रणीत होने से इस ग्रंथ में अप्रवृत्त्यङ्गता दोष आता है, जिसका परिहार 'सद्भिषजां नियोगात्' इस पद से हो जाता है। नियोग शब्द का अर्थ नियोजन अर्थात् हमारे उपकार के लिये कोई ग्रंथ निर्माण कीजिये, इस प्रकार की प्रार्थना है । अथवा नियोग शब्द का अर्थ आज्ञा है। एवं श्रेष्ठ वैद्यों की आज्ञा से मैं इसका निर्माण करने लगा हूं, यह अर्थ स्पष्ट होता है। इसमें आज्ञा शब्द आने से कवि का नम्रताभाव झलकता है, जो कि शिष्टानुकूल है ।

मधु०—नानातन्त्रेत्यादि । सुखं यथा भवति तथा आतङ्कं रोगं विज्ञातुमयमेव ग्रन्थो भविष्यति, 'कारणम्' इति शेषः। एतेन रोगज्ञानं प्रयोजनमित्युक्तं, फलं चास्य चिकित्सितमिति मन्तव्यम्। यदुक्तं चरके,—रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम् । ततः कर्म भिषक् पश्चाज्ज्ञानपूर्वं समाचरेत् ॥ इति (च. सू. स्था. अ. २०) ।

सुखपूर्वक रोग को बतलाने में यह ग्रंथ ही कारण होगा, इस वाक्य के कहने से रोग ज्ञानरूप प्रयोजन भी आ जाता है, जिसका चिकित्सारूप फल मानना चाहिये, जैसा कि चरक में कहा भी है कि सब से पूर्व रोग की परीक्षा करनी चाहिये, उसके पश्चात् औषधि की परीक्षा करनी चाहिये । इन दो परीक्षाओं के हो जाने पर वैद्य ज्ञानपूर्वक चिकित्सारूपी कर्म को आरम्भ करे । एवं प्रकृत में आचार्य चरक के आदेशानुसार भी इस तन्त्र का रोगज्ञानरूप प्रयोजन तथा चिकित्सारूप फल समुचित सिद्ध होता है ।

मधु०—ननु, नानामुनीनां वचनैरेव रोगज्ञानं भविष्यति, किमनेन तदुपजीविना ग्रन्थेनेत्यत आह—अल्पमेधसामिति । अल्पमेधसां अल्पबुद्धीनां; महाबुद्धयो हि अतिविस्तरदुरधिगमनानातन्त्राध्ययनक्षमा भवन्ति न त्वल्पबुद्धय इति । महाधियामप्यालस्यानासादितदुरुपपादाशेषसंहितानामयमेव रोगज्ञानाय भविष्यतीत्याह—नानातन्त्रेत्यादि ॥२,३॥

१ 'ननु, नानामुनिवचनबाहुल्यादल्पमेधसां कथं प्रवृत्तिरित्यत आह' इति क्वचिदधिकः पाठः।

अनेक मुनियों के वाक्यों से ही रोग ज्ञान हो जायेगा पुनः उनके आधार पर निर्मित इस ग्रंथ की क्या आवश्यकता है ? इसी आशंका को दूर करने के लिये ही कहा है—अल्पमेधसामिति । विशालबुद्धि मनुष्य तो अतिविस्तृत और अतिकठिन अनेक तन्त्रों को पढ़ सकते हैं, न कि स्वल्पबुद्धि मनुष्य । विशालबुद्धि मनुष्य भी आलस्य के कारण सम्पूर्ण संहिताओं को नहीं प्राप्त कर सकते । अतः उनके लिये भी यही रोगज्ञापक होगा । इसी को बताने के लिये कहा है—नानातन्त्रेत्यादि ।

वक्तव्य—इसका भाव यह है कि जब मुनियों के वाक्यों से ही रोग ज्ञान हो सकता है तो उन्हीं के वाक्यों पर निर्भर इस ग्रंथ के निर्माण से क्या लाभ है ? इस पर आचार्य कहते हैं कि यद्यपि इस ग्रन्थ में पुरातन मुनियों के ग्रंथ का संग्रह ही है तथापि यह लाभप्रद है । क्योंकि इस ग्रंथ को अल्पबुद्धि मानव भी पढ़कर ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं । केवल मुनिप्रणीत ग्रंथों में उनके वचन अल्पबुद्धि नहीं समझ सकते, विशालबुद्धि मानव ही अतिविस्तर तथा दुर्बोध्य शास्त्रों को पढ़ने की शक्ति रखते हैं । अतः यदि यह न निर्मित किया जावे तो वे अल्पबुद्धि बेचारे इस ज्ञान से वञ्चित रह जायंगे । साथ ही उन विशाल बुद्धि वालों के लिये भी जो कि आलस्यवश सब संहिताओं को उपपदपूर्वक नहीं प्राप्त कर सकते वा अनुपूर्वशः नहीं पढ़ सकते, यही रोगबोधन में कारण होगा । इसी लिये मूल में कहा है—नानातन्त्रेत्यादि । इस सन्दर्भ का सारांश यह है कि नानातन्त्रेत्यादि श्लोक में जो पद दिये हैं, वे सब साभिप्राय ही हैं । इसी बात को स्पष्ट करने के लिये आचार्य रक्षित ने पहले 'अल्पमेधसाम्' इस पद्य का अभिप्राय स्फुट किया है कि मुनिप्रणीत ग्रंथों के होते हुए भी इस ग्रंथ की क्या आवश्यकता है ? उन्हीं ग्रंथों से सब लोग ज्ञान प्राप्त कर लेंगे । इसी का उत्तर यह है कि इसका निर्माण उनके लिये है, जो अल्पबुद्धि होने से अतिविस्तर एवं दुर्बोध्य मुनिवचनों को नहीं समझ सकते । इस पर पुनः यह बात आती है कि यह ग्रंथ केवल अल्पबुद्धिवालों को ही लाभ पहुँचा सकता है; औरों को नहीं । क्योंकि विशालबुद्धि मनुष्य तो संहिताओं से ही ज्ञान प्राप्त कर लेंगे अतः यह अधिक लाभप्रद नहीं है । इस पर कहा है कि नहीं, जो आलस्य के कारण सब संहिताओं को नहीं पढ़ सकते वा जिन्हें अन्य कारणों से सब संहिताएँ नहीं मिल सकतीं, उन विशाल बुद्धि मनुष्यों को भी सुगम तथा सुलभ होने से यही रोग ज्ञान करा सकता है । इसी लिये उक्त पद्य में नानातन्त्रेत्यादि पद दिया गया है ।

व्याधीनां पञ्चविधज्ञानसमष्टिभूतं विज्ञानं निरूपयति—

निदानं पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा ।
संप्राप्तिश्चेति विज्ञानं रोगाणां पञ्चधा स्मृतम् ॥४॥ [वा० ३।१।२]

अन्वयः—निदानम्, पूर्वरूपाणि, रूपाणि, तथा, उपशयः, संप्राप्तिः च, इति, पञ्चधा, रोगाणाम्, विज्ञानम्, स्मृतम् ।

भाषार्थ—पूर्व नानातन्त्रादि श्लोक में यह बतलाया गया है कि इस ग्रंथ का प्रयोजन रोगज्ञान है । अब 'निदानम्' इत्यादि श्लोक में आचार्य यह बतलाते हैं कि वह रोगज्ञान किन २ उपायों से होता है । रोगों का ज्ञा[illegible]
पूर्वरूप, रूप, उपशय तथा सम्प्राप्ति इन पांच प्रकारों से होता है । [illegible]
यह संख्यावाचक पद इस बात का द्योतक है कि यही पांच [illegible]

वक्तव्य—अब यहां यह शंका होती है कि प्राचीन आचार्य दर्शन स्पर्शन आदि से भी परीक्षा करते थे । जैसे आचार्य सुश्रुत ने भी कहा है— "षड्विधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः । तद्यथा—पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति" (सु. सू. स्था. अ. १०); एवं आधुनिक विद्वान् 'दर्शन, स्पर्शन, ठेपण तथा श्रवण से भी परीक्षा करते हैं । जब ऐसा है तो पुनः आचार्य माधव ने केवल निदानपञ्चक को ही क्यों रोगज्ञान में कारण माना ? यदि दर्शनादिकों से भी रोगज्ञान हो सकता है तो उन्हें भी अपने श्लोक में ग्रथित करना उचित था । परन्तु आचार्य ने ऐसा नहीं किया प्रत्युत उन्होंने तो 'पञ्चधा' पद देकर नियम सा कर दिया है कि केवल इन्हीं से रोग ज्ञान होता है । ठीक है, वस्तुतः है भी ऐसा ही । रोगज्ञान इन्हीं पांचों से ही होता है । क्योंकि हमारे आचार्यों ने परीक्षा दो प्रकार की मानी है, एक रोगी की परीक्षा और दूसरी रोग की । जो रोग की परीक्षा है, वह तो इसी निदानपञ्चक से ही होती है । अतएव सुश्रुत ने भी कहा है कि—"पश्येत् स्पृशेत् पृच्छेच ।" (सु. सू. स्था. अ. १०) एवं उपर्युक्त "पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति" यह सुश्रुत प्रमाण रोगिपरीक्षापरक ही है, रोगपरीक्षापरक नहीं है । यदि रोगपरीक्षापरक होता तो आचार्य ने आगे चलकर उत्तरतन्त्र में उपद्रवों का वर्णन करते हुए रोगपरीक्षा में निदानादिपञ्चक का वर्णन क्यों किया ? और उन्हीं के अनुसार सब रोगों की परीक्षा क्यों बतलाई ? इससे ज्ञात होता है कि रोगविज्ञान इन्हीं पांचों से ही होता है । आचार्य चरक ने भी दर्शन, स्पर्शन आदि परीक्षा रोगी-परक तथा निदानपञ्चक परीक्षा रोगपरक मानी है । अतएव उसने भी चिकित्सास्थान में रोग का विषय होने से चिकित्सा का उपक्रम निदानपञ्चक के अनुसार ही किया है । उसने निदानस्थान में रोग वर्णन भी निदानपञ्चक के अनुसार ही किया है । आचार्य वाग्भट ने तो इस विषय को सर्वथा स्पष्ट कर दिया है । वह कहते हैं कि—'दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेताथ रोगिणम् । रोगं निदानप्राग्रूपलक्षणोपशयाप्तिभिः ॥' (वा. सू. स्था. अ. १) । अर्थात् वैद्य दर्शन, स्पर्शन और प्रश्न से रोगी की परीक्षा करे तथा निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्ति से रोग की परीक्षा करे । किञ्च यद्यपि रोगिपरीक्षा भी रोगज्ञान में लाभार्थ वा कुछ न कुछ रोगज्ञानार्थ ही होती है । इसलिये परम्परासम्बन्ध से दर्शनादिकों का उल्लेख वा निर्देश आचार्य को अवश्य करना चाहिये था । परन्तु उसने नहीं किया । इसमें भी कारण है और वह यह है एक तो यह ग्रंथ रोगनिश्चयपरक है । उसमें निदानपञ्चक की ही प्रधानता होने से आचार्य ने केवल उसका ही उल्लेख किया है । संहिताग्रन्थ सर्वाङ्गीण होते हैं । अतः उनमें सब कुछ प्रसङ्गवश आ सकता है । इसलिये उनमें रोगी की परीक्षा के उपाय भी वर्णित हैं । दूसरा यह है कि दर्शनादि निदानादि के ज्ञाप-

है और निदानादि ज्वरादि रोगों के ज्ञापक हैं। एवं प्रकृत ग्रन्थ 'रोगविनिश्चय' है। अतः इसमें रोगविनिश्चयकर हेतुओं का ही वर्णन प्रकरणसङ्गत है। इसलिये आचार्य ने प्रतिज्ञा में ही 'निबध्यते रोगविनिश्चयोऽयम्' कहा है। तीसरी बात इसमें यह भी है कि—निदान, प्राग्रूप, रूपादिकों के ज्ञान में दर्शन, स्पर्शन आदि आ जाते हैं। यथा—जब हमने निदान का ज्ञान करना होगा तो रोगी को पूछना पड़ेगा कि तुमने किस वस्तु का सेवन किया है, जिससे कि यह व्याधि हुई? इसमें प्रश्न आ गया। पाण्डुरोग, कामला, हलीमक आदि में त्वचा, नेत्र आदि का वर्ण देखना होता है। तभी तो व्याधि का रूपज्ञान हो सकता है। इस प्रकार दर्शन का रूपादिकों में अन्तर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार अन्य रोगीपरीक्षापरक सब उपाय भी इन्हीं में अन्तर्हित हो जाते हैं। क्योंकि जैसा रोग होगा उसका निदान, पूर्वरूप, रूप, सम्प्राप्ति और उपशय जानने के लिये वे उपाय तो स्वतः काम में आयेंगे ही, अतः आचार्य ने परस्परासम्बन्ध से रोगबोधक होने के कारण उन्हें अप्रधान और निदानपञ्चक को प्रधान मान उसी में इनका अन्तर्भाव कर दिया है। अस्तु, उपर्युक्त का परिहार तो हो गया। परन्तु कई आचार्य निदानपञ्चक के स्थान में नाड़ी आदि आठ स्थानों को देख कर रोगविषयक ज्ञान करते हैं। जैसे कहा भी है कि—'रोगाक्रान्तशरीरस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत्। नाडीं मूत्रं मलं जिह्वां शब्दं स्पर्शं दृगाकृती॥' अर्थात्—रोग से आक्रान्त शरीर के नाडी, मूत्र, मल, जिह्वा, शब्द, स्पर्श, दृष्टि तथा आकृति इन आठ स्थानों की परीक्षा करे। एवं यदि इनसे भी रोग ज्ञान होता है तो आचार्य को चाहिये था कि वह इनका भी निर्देश करता। परन्तु उसने नहीं किया। इसलिये यह त्रुटि प्रतीत होती है। उत्तर—नहीं, यह त्रुटि नहीं है। इन सब से भी निदानादि की प्रतीति ही होती है, रोग की नहीं। रोग की प्रतीति निदानादि की प्रतीति के अनन्तर होती है। यथा—नाडी की गति यदि मन्दतर हो तो "मन्दाग्नौ क्षीणधातौ च नाडी मन्दतरा भवेत्[1]" इस शास्त्रनिर्देशानुसार रोगी अग्निमान्द्य वा धातुक्षीणता रोग से ग्रस्त होगा। इससे रोगज्ञान तो हो गया, परन्तु यदि यह पूछा जाय कि रोग का क्या ज्ञान हुआ तो यही कहना होगा कि रोग का रूप जाना अर्थात् मन्दतर नाडी अग्निमान्द्य वा धातु क्षीणता की सूचक है। यह अग्निमान्द्य वा धातुक्षीणता का लक्षण हुआ और लक्षण को ही रूप कहते हैं। इस प्रकार नाडीपरीक्षा द्वारा निदानपञ्चकान्तर्गत रूप का ज्ञान हुआ। तदनु रूप से व्याधि का ज्ञान होता है। अतएव नाडीपरीक्षा को आचार्य ने पृथक् नहीं माना। मूत्रपरीक्षा यथा—जिसका मूत्र श्वेत, शीत, निर्गन्ध और मात्रा में अधिक एवं जल के समान हो

१ कणादकृतनाडीविज्ञाने.

उदकमेही होता है[1]। इस मूत्रपरीक्षा से भी उदकमेह के रूपों का ही ज्ञान होता है और वह रूप व्याधिबोधक निदानपञ्चक में से है। अतः मूत्रपरीक्षा भी रूप के अन्तर्गत है, पृथक् नहीं। मल, जिह्वा, शब्द, स्पर्श, दृष्टि तथा आकृति भी रोगों के रूप को ही बताती है। तदनु रूप से ही रोगज्ञान होता है। एवं ये सब निदानपञ्चक में ही आ जाते हैं। अतः इन्हें पृथक् दिखाने की आवश्यकता नहीं थी। इसी कारण आचार्य ने इनका निर्देश नहीं किया। विस्तार भय से इनके पृथक् २ उदाहरण नहीं दिये जाते। ये भिन्न २ वर्णादिकों के भेद से भिन्न २ व्याधियों के रूप को बताते हैं, जिससे रोग ज्ञान होता है। रोग ज्ञान में साक्षात् निदानपञ्चक ही कारण है, नाडी आदि अष्टक नहीं। भगवान् अग्निवेश अपने तन्त्र के विमानस्थान तीसरे त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीय विमान में कहते हैं कि—"त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति। तद्यथा—आप्तोपदेशात् प्रत्यक्षमनुमानञ्चेति ॥" (च० वि० स्था० अ० ३)। जब आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष और अनुमान ये तीन भी रोगज्ञान के उपाय विद्यमान हैं तो आचार्य ने केवल पांच ही रोगज्ञान के उपाय क्यों बताए ? इसका उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तोपदेश से भी निदानपञ्चक का ही पूर्व ज्ञान होता है, तदनु निदानपञ्चक से रोग का ज्ञान होता है। यथा—प्रत्यक्ष से हम रोग के लक्षण ही देखते हैं और उन लक्षणों से व्याधि का ज्ञान होता है। वे लक्षण ही रूप होने से निदानपञ्चकान्तर्गत है। इस प्रकार प्रत्यक्ष साक्षात् कारण नहीं है। अनुमान भी साक्षात् कारण नहीं, वह भी पहले निदानपञ्चक में से ही किसी को बतलाता है, तदनु उस (निदानपंचक में से किसी एक) से रोग का ज्ञान होता है। जैसे—वातव्याधि ऊरुस्तम्भ के सन्देह में अभ्यङ्ग करने से रोग का निश्चय होता है। यह निश्चय उपशय वा अनुपशय से होता है और उपशय तथा अनुपशय का ज्ञान अनुमान से होता है। इस तरह अनुमान भी रोगपञ्चक में से किसी को बतलाता हुआ ही रोगबोधक है, न कि स्वतन्त्र। आप्तोपदेश भी इन्हीं की तरह निदानपञ्चक को ही बताता है, तदनु निदानपञ्चक से रोगज्ञान होता है ॥४॥

मधु०—व्याधेर्ज्ञातव्यस्य पञ्च ज्ञानोपाया भवन्तीति तानाह—निदानमित्यादि। एते पञ्च व्यस्ताः समस्ताश्च व्याधिबोधकाः। न च समस्तपक्षे कृतकरणत्वं वाच्यं, प्रमाणसंप्लवस्यापि दृष्टत्वात्[2]। न यो ह्यनुमानेन प्रतीतो वह्निः स एव प्रत्यक्षागमाभ्यां नोपलभ्यते[3]। न वा निदानादीनि

१ अच्छं बहु सितं शीतं निर्गन्धमुदकोपमम्। मेहत्युदकमेहेन ॥ (मा० नि० प्र० नि०)
२ प्रमाणसंप्लवस्यापि दृष्टत्वादिति यतः प्रमातुः प्रमातव्येऽर्थे प्रमाणानां प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दानां संप्लवः समूहो दृष्टः। अतः समस्तपक्षे कृतकरणत्वं न च वाच्यम्. ३ अनुमानेन प्रतीतो यो वह्निः स किं प्रत्यक्षागमाभ्यां नोपलभ्यते ? नहि, अपि तु उपलभ्यत एव. ४ न च निदानादीनि प्रेक्षावन्ति यालोचयेयुरेकेनैव प्रतिपादितमिति. वयमित्थं ब्रूमहे.

प्रेक्षावन्तो ये नैवमालोचयेयुः; एकेनैव प्रतिपादितो व्याधिरिति वयमिहोदास्महे । किंच, एकेन प्रतिपादितेऽपि व्याधावपरेऽवश्यमभिधातव्याः, भिन्नप्रयोजनत्वात् ।

जानने योग्य व्याधि के पाँच ज्ञानोपाय होते हैं । उनको आचार्य निदानमित्यादि श्लोक से कहते हैं कि ये पाँचों ही उपाय पृथक् २ रूप से तथा मिलकर रोगों का ज्ञान कराते हैं। अब यहां शंका होती है कि जब ये पृथक् २ व्याधिबोधक हैं तो पुनः यह कहना कि ये मिलकर भी व्याधि का ज्ञान कराते हैं, पिष्टपेषण वा पौनरुक्त्य है । इसका उत्तर आचार्य इस प्रकार देते हैं कि यहां यह दोष नहीं है। क्योंकि जो बात किसी एक प्रमाण से जानी जाती है, उसका ज्ञान प्रमाणों का समूह भी करा सकता है । जिस वह्नि के ज्ञान को अनुमान प्रमाणित करता है, वह वह्नि प्रत्यक्ष और आगम से नहीं जानी जाती, ऐसा नहीं होता। प्रत्युत अनुमान प्रमाण से प्रतिपादित वह्नि प्रत्यक्ष और आगम से भी जानी जाती है । इस प्रकार प्रमाणसमूह से प्रतिपादित विषय अधिक स्पष्ट, दृढ एवं निर्भ्रान्त होता है। इसी दृष्टांत के अनुसार रोगज्ञान में निदानादि पांचों मिलकर भी व्याधिबोधक हैं, यह सिद्ध होता है । जो विचारशील विद्वान् निदानादिकों को अनुमानादि की तरह नहीं मानते, उनका मन्तव्य ठीक नहीं है। अर्थात् एक अनुमान से जानी हुई वह्नि प्रत्यक्ष और आगम से भी जानी जाती है। यहां जैसे एक प्रमाणज्ञेय वस्तु अन्य प्रमाणों से भी ज्ञेय है, वैसे प्रकृत में एक निदान से ज्ञेय रोग निदानादि समुदाय से ज्ञेय नहीं है, जो ऐसा स्वीकार करते हैं, उनका मन्तव्य भ्रममूलक है। क्योंकि निदानादिकों में से किसी एक से प्रतिपादित व्याधि तत्समूह से भी ज्ञेय ही है । यदि यह न मानकर यही मान लिया जाय कि निदानादि एक २ से ही व्याधि का ज्ञान होता है तो इसमें आचार्य रक्षित कहते हैं कि हम यहां तटस्थ[1] हैं अर्थात् हम इसमें कोई सम्मति नहीं रखते; अथवा हम एक २ से ही व्याधि का ज्ञान होता है, इस पक्ष में श्रद्धा नहीं रखते । किञ्च यदि व्याधिज्ञान समष्टि से न मान व्यष्टि से ही मान लिया जाय तब भी यदि यह कहा जाय कि जब निदानादि एक २ से व्याधि का बोध होता है, तो पुनः अन्य क्यों कहें ? इसका उत्तर यह है कि निदानादि एक से व्याधि का ज्ञान हो जाने पर भी दूसरों का प्रतिपादन आवश्यक है, क्योंकि उनके प्रयोजन भिन्न २ हैं।

वक्तव्य—उपर्युक्त सन्दर्भ का भावार्थ यह है कि व्याधि निदानादि पाँच उपायों से जानी जाती है। ये पांच पृथक् २ रूप से व्याधिबोधक हैं। (शंका—) जब कि निदानादि पांचों पृथक् २ व्याधि को बताते हैं, तो पुनः यह कहना कि ये सम्मिलित होकर भी व्याधि को बताते हैं, पुनरुक्ति है। (समाधान—) नहीं, यहां पुनरुक्ति दोष नहीं। जो वस्तु एक प्रमाण से जानी जाती है, वही वस्तु प्रमाणसमूह से भी जानी जा सकती है। जैसे अनुमान प्रमाण से जानी हुई वस्तु (अग्नि) प्रत्यक्ष और आगम से तथा इनके समूह से भी जानी जा सकती है, उसी प्रकार प्रकृत में निदान से जाना हुआ रोग पूर्वरूप, रूप, सम्प्राप्ति और उपशय इनमें से किसी एक से वा इनके समुदाय से भी जाना जा सकता है । जो अन्वेषक अनुमानसिद्ध अग्नि में जैसे प्रत्यक्ष और आगम भी कारण हो सकता है, वैसे निदानसिद्ध व्याधि में प्राग्रूपादि समस्त कारण नहीं बन सकते ऐसा मानते हैं, वे ठीक नहीं हैं। हम तो एक से ही व्याधि जानी जाती है, इस

[1] वस्तुतः उदासीन का अर्थ तटस्थ और अश्रद्धा दोनों ही हैं। अतः प्रकृत में दोनों अर्थ प्रकरणसंगत हो सकते हैं।

पक्ष से उदासीन (तटस्थ वा असहमत) हैं। और जब कि किसी एक से व्याधि का ज्ञान हो सकता है तो दूसरे व्यर्थ हैं, यह आशंका भी उचित नहीं है। क्योंकि किसी एक से व्याधि का ज्ञान होने से भी दूसरों का उल्लेख वा अभिधान आवश्यक है। कारण कि उन सब का प्रयोजन भिन्न २ है। यहां मेरे विचार में समस्त और व्यस्त का अर्थ यह है कि कहीं केवल निदान से और कहीं केवल पूर्वरूपादिकों में से किसी एक से व्याधि का निश्चय होता है और कहीं दोनों से, तीनों से, चारों से वा कहीं कहीं सब से ही निश्चय होता है। जहां एक से, दो से, तीनों वा चारों से रोगनिश्चय होता है वहां पूर्व तो उन्हीं से ही रोग ज्ञान होता है, तदनु उसमें मिल सभी सकते हैं, परन्तु पूर्व सभी इसलि नहीं मिलते कि किन्हीं रोगों का निदान, कतिपय का पूर्वरूप किसी का उपशय और कि की सम्प्राप्ति एक ही होती है। यथा—मूत्रग्रंथि और अश्मरी का स्थान वेदना औ कारण सब एक ही होते हैं। अतः इनका परस्पर भेद करना कठिन हो जाता है। पर पूर्वरूप इनका परस्पर भेद करके विशेष ज्ञान कराता है। क्योंकि अश्मरी के पूर्वरूप मूत्रे वस्तसगन्धत्वम्—कहा है, जो कि मूत्रग्रंथि में नहीं होता। इस कारण यहां पहले पूर्वरू से व्याधि का ज्ञान होता है, तदनु शेष मिश्रित लक्षण भी लगा लिये जाते हैं। एवं प्रमे के पूर्वरूप न होने पर जहां मेढ़ू में से हारिद्र वर्ण का रक्त मूत्र आवे, वहां रक्तपित्त मानन पड़ता है। जैसे कहा भी है कि—हारिद्रवर्णमित्यादि। यहां पर भी पूर्वरूप ही विशेष ज्ञापक है तदनु शेष लक्षण बोधक हो जाते हैं। इसी प्रकार वातव्याधि तथा ऊरुस्तम्भ में जहा भेद करना कठिन होता है, तैलाभ्यङ्ग रूप उपशय भेदक होकर पहले ज्ञापक होता है, पश्चात अन्य निदानादि भी बोधक होते हैं। सारांश यह है, कि ये निदानादि एक २ करके भी व्याधिज्ञान के उपाय हैं और समष्टि रूप से भी हैं। जहां कहीं निदानादि कुछ रोगों के समान होंगे वहां पहले उनमें से कोई एक वा कोई दो अथवा कोई तीन या चार व्याधि को ज्ञापित करेंगे परन्तु पश्चात् शेष भी उसी रोग को ज्ञापित करते हुए उनकी पुष्टि करते हैं। एवं पौनरुक्त्य दोष भी नहीं आता। अब यहां शंका होती है कि यदि यही बात है कि कहीं २ पहले निदानादि एक वा निदान पूर्वरूप आदि दो व्याधिबोधक होकर पश्चात सभी व्याधिबोधक हो जाते हैं, तो इसकी पुष्टि में जो आचार्य ने दृष्टान्त दिया है वह अव्याप्त हो जाता है। आचार्य ने इसकी पुष्टि के लिये कहा है—न यो ह्यनुमानेन प्रतीतो वह्निः स एव प्रत्यक्षागमाभ्यां नोपलभ्यते इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि अनुमान से जानी हुई वह्नि प्रत्यक्ष और आगम से भी जानी जा सकती है, परन्तु न यो ह्यनुमानेन प्रतीतः परमात्मात्मपुनर्भवास्त एव प्रत्यक्षेनोपलभ्यन्ते॥ अर्थात् अनुमान प्रमाण से जाना हुआ परमात्मा, आत्मा और पुनर्जन्म तो प्रत्यक्ष से नहीं जाना जाता। अतः यह सिद्ध होता है कि जैसे अनुमानज्ञेय सब वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्ष आदिकों से भी होना आवश्यक नहीं है, वैसे ही निदानादिकों में से किसी एक से हुआ किसी व्याधि का ज्ञान दूसरे पूर्वरूपादिकों से भी होना आवश्यक नहीं है, यदि यहां यह आवश्यक है तो दृष्टान्त दुष्ट होता है। उत्तर—नहीं दृष्टान्त दुष्ट नहीं होता है। क्योंकि जो दृष्टान्त आचार्य ने दिया है, वह प्रकृत में घट जाता है। दूसरा, आचार्य की इच्छा यह बतलाने की है कि जो रोग केवल निदान से जाना जाता है, वह पूर्वरूपादिकों से भी जाना है। इसी कारण उसने 'न यो ह्यनुमानेन' इत्यादि उपर्युक्त दृष्टान्त दिया है। दृष्टान्त में उपमान, उपमेय और साधारण धर्मों का बिम्बप्रतिबिम्ब भाव होता है और वह प्रकृत में घट जाता है। यहां रोग उपमेय है और उसका उपमान वह्नि है। दूसरा निदानादि भी उपमेय हैं और उनके उपमान प्रत्यक्ष आदि हैं। इन दोनों

का व्यष्टि तथा समष्टि रूप से ज्ञान होना साधारण धर्म है, इनका परस्पर बिम्बप्रतिबिम्ब भाव भी है। अतः दृष्टान्त ठीक है, दुष्ट नहीं है। तीसरी बात इसमें यह भी है कि यदि पूछा जावे कि इस दृष्टान्त में क्या दोष है? तो यही कहना होगा कि यह अनैकान्तिक है, परन्तु अनैकान्तिक दोष दृष्टान्त का नहीं हैं, वे तो हेतुओं के हैं। यथा—'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्' में धूमरूप हेतु हेत्वाभास नहीं है, परन्तु यदि यह कहा जावे कि—'पर्वतो धूमवान् वह्नेः' तो इसकी 'यत्र यत्र वह्निस्तज तत्र धूमः' यह व्याप्ति बनेगी, परन्तु यह व्याप्ति सर्वत्र नहीं घटती, क्योंकि यहां हेतु अनैकान्तिक है। यथा—तप्त अयोगोलक में वह्निरूप हेतु के होने पर भी साध्यरूप धूम का अभाव होता है। अतः यहां हेतु अनैकान्तिक है। एवं अनैकान्तिक दोष हेतु के होते हैं, दृष्टान्त के नहीं। इसी लिये आचार्यों ने अनैकान्तिक को हेत्वाभास माना है। इससे सिद्ध होता है कि दृष्टान्त ठीक है, जो 'न ये हि' इत्यादि दृष्टान्त से दुष्टि बताई है, वहां तो दुष्टि होनी ही हुई। क्योंकि बिम्बप्रतिबिम्ब भाव ही नहीं मिलता। चौथा—न ये ह्यनुमानेन प्रतीताः परमात्मातमपुनर्भवास्त एव प्रत्यक्षेणोपलभ्यन्ते यह मानकर उस दृष्टान्त को दुष्ट करें तो भी वह दुष्ट नहीं है। क्योंकि अनुमान भी प्रत्यक्षमूलक ही होता है, जैसे कहा भी है—प्रत्यक्षपूर्वम् (च. सू. स्था. अ. ११) इत्यादि; तथा अनुमान के लिङ्ग का ज्ञान प्रत्यक्ष से ही होता है। अतः उपचार से परमात्मा आदि भी प्रत्यक्षज्ञेय ही हैं। किञ्च, आचार्य चरक पुनर्जन्म पर विचार करते हुए लिखते हैं कि—प्रत्यक्षमपि चोपलभ्यते मातापित्रोर्विसदृशान्यपत्यानि तुल्यसम्भवानां वर्णस्वराकृतिसत्त्वबुद्धिभाग्यविशेषाः प्रवरावरकुलजन्म-दास्यैश्वर्यं सुखासुखमायुषो वैषम्यम्, इह कृतस्यावाप्तिः, अशिक्षितानाञ्च रुदितस्तनपानहासत्रासादीनाञ्च प्रवृत्तिलक्षणोत्पत्तिः, कर्मसादृश्ये फलविशेषः मेधा क्वचित्कर्मण्यमेधा जातिस्मरणम् । इहागमनमित-श्च्युतानाञ्च भूतानां समदर्शने प्रियाप्रियत्वम्। (च. सू. स्था. अ.)। एवं यह सिद्ध होता है कि यदि—न यो ह्यनुमानेन प्रतीतो वह्निः स एव प्रत्यक्षागमाभ्यां नोपलभ्यते के स्थान पर न ये ह्यनुमानेन प्रतीताः परमात्मातमपुनर्भवास्त एव प्रत्यक्षेणोपलभ्यन्ते निदर्शन दिया जावे तब भी दोष नहीं आता। साथ ही परमात्मा प्रभृति भी योगी के प्रत्यक्ष में आते ही हैं, अतः इस प्रकार वे भी प्रत्यक्षज्ञेय हैं।

मधु०—तथाहि—यदि निदानं नोच्यते तदा तत्परिवर्जनं कथं लभ्येत। उक्तं हि सुश्रुते,—संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्—इति (सु. उ. तं. अ. १)। किंच, यथा—मृद्भक्षणात्पाण्डुरोगः, मक्षिकाभक्षणाच्च छर्दिरवसीयते; न च तथा निदानेन सर्वत्र नियतरोगाध्यवसायः, ज्वरगुल्मादीनामेककारणत्वात्। यदाह चरकः,—एको हेतुरनेकस्य तथैकस्यैक एव हि। व्याधेरेकस्य बहवो बहूनां बहवस्तथा॥ इति (च. नि. स्था. अ. ८)। अपि च कदाचित्प्रत्यासन्नं निदानं बाधित्वा विप्रकृष्टनिदानकृतो दोषसंचयो व्याधिं कुर्यात्, तस्मात्केवलान्निदानान्न व्याधिज्ञानं भवतीति पूर्वरूपादीनामुपादानमिति वाप्यचन्द्रः।

उपर्युक्त एक से व्याधि का ज्ञान होने पर भी दूसरों का निर्देश आवश्यक है, कारण कि प्रयोजन भिन्न २ है। इस वाक्य के अनुसार आचार्य रक्षित निदानादि का भिन्न प्रयोजन बतलाते हैं—तथाहीति। यदि निदान न कहा जावे तो उसका निषेध कैसे किया जा सकता है। अमुक व्याधि का अमुक उत्पादकहेतु है। यदि यह न कहा जावे तो चिकित्सा के प्रारम्भ में जो यह निर्देश है कि रोग की चिकित्सा करते समय सब निदान का सेवन नहीं करना चाहिये, यह कैसे हो सकता है। क्योंकि निदान के न किसी भी व्याधि के निदान का ज्ञान तो होगा हीं नहीं, पुनः उसका ८५

सकता है और निदान का त्याग करना तो सुश्रुत में कहा ही है—संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्। (सु. उ. तं. अ. १)। अर्थात् रोग की संक्षिप्त चिकित्सा उस रोग के उत्पादक कारण को छोड़ना है। अतः निदान का निर्देश आवश्यक है। किञ्च यद्यपि मिट्टी के खाने से पाण्डु, मक्षिका के भक्षण से छर्दि रोग हो जाता है। इसी प्रकार ही केवल निदान से सभी स्थानों पर रोगों का निश्चय वा नियत ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि कई रोगों का निदान एक ही होता है। जैसे ज्वर और गुल्म का निदान एक ही है। इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि मिट्टी के खाने से पाण्डुरोग होता है और मक्षिका भक्षण से छर्दि, अतः पाण्डुरोग का निदान मिट्टी, और छर्दि का मक्षिका है। यहां तो निदान का स्पष्ट ज्ञान हो गया, अतः उसका त्याग सुगम है। परन्तु सर्वत्र प्रत्येक रोग का नियत निदान नहीं मिलता। इसलिये निदान सब जगह नियत रोग ज्ञापक नहीं हो सकते। कारण कि अनेक व्याधियों का निदान एक सा होता है, जैसे ज्वर और गुल्म का। इसी को भगवान् चरक ने भी कहा है कि—एको हेतुरनेकस्य। अर्थात् कहीं बहुत सी व्याधियों का एक निदान और कहीं एक व्याधि का एक निदान होता है। कहीं २ एक व्याधि के बहुत निदान होते हैं और कहीं बहुत सी व्याधियों के बहुत से निदान होते हैं। ऐसे स्थलों में जहां कि एक निदान बहुत सी व्याधियों का उत्पादक हो सकता है, वहां न तो निदान से ही रोग ज्ञान होता है और न निदान का परिवर्तन ही किया जा सकता है। ऐसे स्थलों में पहले पूर्वरूपादिकों से रोगनिश्चय कर लेने पर निदान का ज्ञान होता है; और फिर उसका त्याग भी किया जाता है। अतः केवल निदान से रोगज्ञान नहीं हो सकता। इसी पर आचार्य वाप्यचन्द्र का मत प्रकारान्तर से दिखाते हैं—अपि चेति। कभी २ निकटवर्ती निदान को बांधकर दूरवर्ती निदान से किया हुआ दोषसञ्चय व्याधि को कर देता है। यहां निकटवर्ती निदान को लेकर यदि रोग का निश्चय करना चाहें तो नहीं हो सकता। क्योंकि निकटवर्ती निदान ज्वर का हो और दूरवर्ती ऊरुस्तम्भ का तो वहां पर यदि दूरवर्ती निकटवर्ती को बांध ले तो रोगी को ऊरुस्तम्भ हो जावेगा, परन्तु जब हम निकटवर्ती निदान को देखेंगे तो वहां ज्वर का ही दीखेगा, एवं हमें वहां कठिनता पड़ेगी। अतः केवल निदान से रोगज्ञान नहीं हो सकता। इसी को वाप्यचन्द्र कहते हैं—तस्मादिति। अर्थात् इसी लिए केवल निदान रोगनिश्चायक नहीं होता, अतः पूर्वरूपादिकों का निर्देश किया है।

मधु०—असति पूर्वरूपाभिधाने तत्रोक्तः क्रियाविशेषो न संगच्छते। उक्तं हि चरके,—ज्वरस्य पूर्वरूपे लघ्वशनमपतर्पणं वा—इति (च. नि. स्था. अ. १)। तथा च सुश्रुते—वातिकज्वरपूर्वरूपे घृतपानमिति[2]। तथाऽसाध्यत्वं च नोपलभ्येत। उक्तं च चरके,—पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया। यं विशन्ति विशत्येनं मृत्युर्ज्वरपुरःसरः॥ अन्यस्यापि च रोगस्य पूर्वरूपाणि यं नरम्। विशन्त्यनेन कल्पेन तस्यापि मरणं ध्रुवम्॥ इति (च. इं. स्था. अ. ५)। तथा रक्तपित्तप्रमेहयोर्विशेषज्ञानं च न जायते। उक्तं च चरके,—हारिद्रवर्णं रुधिरं च मूत्रं विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपैः। यो मूत्रयेत्तं न वदेत्प्रमेहं रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः॥ इति (च चि. स्था. अ. ६)।

यदि पूर्वरूप न कहा जावे तो पूर्वरूप में विहित चिकित्साक्रम असंगत एवं व्यर्थ होता है। आचार्य चरक ने भी कहा है कि ज्वर के पूर्वरूप में अल्प तथा हल्का भोजन

---

१ तत्र रूपदर्शने ज्वरादौ वा हितं लघ्वशनमपतर्पणं वा. २ 'ज्वरस्य पूर्वरूपेषु [वर्त]मानेषु बुद्धिमान्। पाययेत घृतं स्वच्छं ततः स लभते सुखम्॥' (सु. उ. तं. अ. ३९) इति सुश्रुतः

करना चाहिये अथवा लङ्घन ही करना चाहिये। इसी प्रकार पूर्वरूप में सुश्रुत ने भी चिकित्साक्रम का निर्देश किया है कि 'वायु से होने वाले ज्वर के पूर्वरूप में घृतपान करना चाहिये'। एवं पूर्वरूप के न कहने से न केवल यही आपत्ति आती है, प्रत्युत रोगों की असाध्यता, जो कि पूर्वरूपों से जानी जाती है, का ज्ञान भी नहीं होगा। पूर्वरूप से असाध्यता जानी आती है, इसे चरक ने इस प्रकार स्पष्ट किया है कि 'ज्वराधिकार में कहे हुए सभी पूर्वरूप जिस मनुष्य में तीव्ररूप से प्रविष्ट होते हैं, उस मनुष्य में ज्वर को आगे कर मृत्यु प्रविष्ट होता है अर्थात् जिस मनुष्य में ज्वर के सभी पूर्वरूप उग्रता से होते हैं, वह मनुष्य मर जाता है। यह केवल ज्वर के लिये ही नहीं प्रत्युत 'अन्य रोगों के भी यदि सभी पूर्वरूप जिस मनुष्य में तीव्र रूप से हों, वह मनुष्य भी उस रोग से मर जाता है' यही चरक ने अन्यस्यापीति श्लोक से कहा है। किञ्च, यदि पूर्वरूप का निर्देश न किया जाय तो मेढ्गत रक्तपित्त तथा पित्त प्रमेह का परस्पर भेद ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे चरक ने कहा भी है कि 'जो मनुष्य प्रमेह के पूर्वरूपों से विना ही हल्दी के से वर्ण वाले रक्त रूप मूत्र को त्यागता है, उसे प्रमेह (हारिद्रमेह) है, यह नहीं कहना चाहिये। क्योंकि उसे तो इस प्रकार का मूत्र आना रक्तपित्त के प्रकोप से है। इस प्रकार अश्मरी तथा मूत्र ग्रन्थि में भी पूर्वरूप ही विशेष ज्ञापक है। अतः पूर्वरूप का अभिधान आवश्यक है। अन्यथा उपर्युक्त आपत्तियां आती हैं।

मधु०—असति रूपाभिधाने व्याधेरशेषेण[1] स्वरूपमेव न व्यवच्छिद्यते; किं च साध्यासाध्यत्वं च न ज्ञायते। तथाहि सुखसाध्यलक्षणे चरकः,—"हेतवः पूर्वरूपाणि रूपाण्यल्पानि यस्य वै। न च तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत्"—इति (च, सू. स्था. अ. १०); कष्टसाध्यलक्षणे चरकः,—"निमित्तपूर्वरूपाणां रूपाणां मध्यमे बले" इति (च. सू. स्था. अ. १०); तथा,—"सर्वसंपूर्णलक्षणः। सन्निपातज्वरोऽसाध्यः"—इति (च. चि. स्था. अ. ३)।

मान लिया कि निदान और पूर्वरूप का व्याधिज्ञान के लिये पृथक् प्रयोजन है, अतः उनका अभिधान करना आवश्यक है। परन्तु रूप के अभिधान की क्या आवश्यकता है? इस पर आचार्य कहते हैं कि—रूप का निर्देश न करने से व्याधि का स्वरूप ही पृथक् नहीं हो सकता। अर्थात् रूपनिर्देश के अभाव से व्याधि स्वरूप से नहीं जानी जा सकती और न एक व्याधि से दूसरी व्याधि में भेद का ज्ञान ही हो सकता है। तथाच रूप के निर्देश न करने से रोग की साध्यता और असाध्यता का ज्ञान भी नहीं हो सकता। रूप से रोग की सुखसाध्यता का ज्ञापक चरकवाक्य भी है। यथा—'हेतु पूर्वरूप और रूप जिस रोग के कम होते हैं, तथा जिस रोग में दूष्य के तुल्य गुण वाला दोष न हो और न ही रोगोत्पादक दोष रोगी की प्रकृति में प्रधान हो तो वह रोग सुख साध्य होता है'। एवं सर्व सम्पूर्ण लक्षणों वाला सान्निपातिक ज्वर असाध्य होता है। इस प्रकार रूप का निर्देश भी आवश्यक सिद्ध होता है।

मधु०—असत्युपशयाभिधाने संकीर्णलक्षणेऽनभिव्यक्तलक्षणे वा व्याधौ विशेषबोधो न स्यात्। तदुक्तं चरके,—गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां"—(परीक्षेत) इति (च. वि. स्था. अ. ४)।

---

१ अशेषविशेषेण.

आचार्य रक्षित रूप का भिन्न प्रयोजन बताकर क्रमप्राप्त उपशय का भी भिन्न प्रयोजन बतलाते हैं कि यदि उपशय का निर्देश न किया जाय तो सङ्कीर्ण लक्षण अर्थात् जिसके लक्षण बहुत व्याधियों के लक्षणों से मिलते हों, ऐसी व्याधि का अथवा जिस व्याधि के लक्षण प्रकट नहीं हुए, उसका विशेष ज्ञान नहीं होगा। इसी लिये चरक ने लिखा है कि जिस व्याधि के लक्षण गूढ़ अर्थात् सङ्कीर्ण वा अनभिव्यक्त हों, उसका ज्ञान उपशय वा अनुपशय से करे। एवं उपशय का गूढ़ लिङ्ग व्याधि के विशेष ज्ञान में भिन्न प्रयोजन होने से उसका अभिधान आवश्यक है।

मधु०—असत्यां च संप्राप्तौ पूर्वरूपादिप्रतीतस्यापि व्याधेश्चिकित्सोपयोगिनोऽशांशविकल्पनाबलकालादेरप्रतीतेश्चिकित्साविशेषो न स्यात्। तस्मात्पञ्चापि निदानादयो वक्तव्याः। पञ्चविधमप्येतद्व्याध्युत्पत्तिज्ञप्तिहेतुभूतं निदानशब्देनोच्यते। यदाह सुश्रुतः,—"हेतुलक्षणनिर्देशान्निदानानि"—इति (सु. सू. स्था. अ. ३)।

निदानादि चतुष्टय का भिन्न २ प्रयोजन बतलाने के पश्चात् आचार्य क्रमप्राप्त सम्प्राप्ति का भी भिन्न प्रयोजन दर्शाते हैं—असत्याञ्च सम्प्राप्ताविति। अर्थात् सम्प्राप्ति के अभाव में पूर्वरूपादिकों से व्याधि का ज्ञान हो जाने पर भी चिकित्सा के उपयोगी अंशों के विकल्प तथा बल और काल के ज्ञान न होने से विशेष चिकित्सा नहीं हो सकती। उपर्युक्त सन्दर्भ का भाव यह है कि यद्यपि सम्प्राप्ति के अभाव में पूर्वरूपादिकों से ही रोग का ज्ञान हो जाता है, परन्तु रोगों की संख्या, बल, काल, विकल्प और प्रधानता का ज्ञान नहीं होगा। इससे चिकित्सा में असुविधा होगी और विशेष चिकित्सा न हो सकेगी। जैसे—संख्या रूप सम्प्राप्ति के अभाव से ज्वर में पूर्व यही ज्ञान नहीं होगा कि ज्वर के कितने भेद हैं और उनमें से यहां कौन सा ज्वर भेद है, एवं इस ज्ञान के अभाव से चिकित्सा में बाधा पड़ेगी। कहीं पित्तज्वर में कफज्वर की और कफज्वर में पित्तज्वर की चिकित्सा होगी, जिससे लाभ के स्थान पर हानि की संभावना हो सकती है। इसी प्रकार बलरूप सम्प्राप्ति के अभाव से यह प्रतीत नहीं होगा कि प्रकृत रोगी में कौन सा रोग बलवान् है; वा प्रकृत रोगी में रोग कितना बलशाली है। इस ज्ञान के अभाव से भी विशेष चिकित्सा नहीं हो सकती। एवं कालादि रूप सम्प्राप्ति के विषय में भी जानना। इनका विशेष विवरण सम्प्राप्ति भेदों की व्याख्या में दर्शाया जायगा। इस तरह निदानादिकों के उपर्युक्त भिन्न प्रयोजन होने से इन पांचों का ही निर्देश आवश्यक है। ये पांचों प्रकार ही व्याधि के उत्पादक और ज्ञापक कारण होने से निदान शब्द से कहे जाते हैं। जैसा सुश्रुत ने भी कहा है कि हेतु (उत्पादक कारण) और लक्षण (ज्ञापक कारण) के निर्देश से युक्त कारण निदान कहलाते हैं।

मधु०—तत्रैवं निदानशब्दनिरुक्तिः,—'निर्दिश्यते व्याधिरनेनेति निदानं; "दिशेः पृषोदरादित्वाद्रूपसिद्धिः"—इति गदाधरः; "निश्चित्य दीयते प्रतिपाद्यते व्याधिरनेनेति निदानम्"—इति जेज्जटः। भट्टारहरिचन्द्रेणापि तन्त्रयुक्त्या निदानादिविवरणप्रस्तावे एवैव निरुक्तिरुक्ता। निशब्दो निश्चये। तथाच वररुचेरुपसर्गसूत्रं,—"नि निश्चयनिषेधयोः"—इति। लोकेऽपि 'अद्य ते निदानं करिष्यामि' इत्युक्ते निश्चयं करिष्यामीत्यवगम्यते। निदानमिति करणे ल्युट्; तेन 'व्याधिनिश्चयकरणं निदानम्' इति निदानादिपञ्चकसामान्यलक्षणम्। निदान-ऽयं निदानविशेषे जातौ च वर्तते; यथा—तृणशब्दः तृणविशेषे तृणजातौ च वर्तते।

भट्टारहरिचन्द्रेण निदानस्थाने-"या गौः सुदोहा भवति न तां निददीत"-इति तत्प्रयोगमुपन्यस्य निबन्धार्थो निदानशब्दो व्याख्यातः 'निदीयते निबध्यते हेत्वादिसंबद्धो धिरनेन' इति कृत्वा, तत्तु निदानस्थानरूपग्रन्थाभिप्रायेण, नहि हेत्वादयो हेत्वादिसंबद्धं व्याधिं पादयन्ति ॥४॥

अब आचार्य निदान शब्द की निरुक्ति बताते हैं कि जिससे व्याधि जानी जाय, निदान है। निदान शब्द 'दिश अतिसर्जने' धातु से पृषोदरादि गण से सिद्ध होता है, गदाधर का मन्तव्य है। आचार्य जेज्जट ने कहा है कि 'निश्चयपूर्वक जिससे व्याधि पादित की जावे अर्थात् बतलाई जावे, उसे निदान कहते हैं'। भाव यह है कि गदाधर निपूर्वक दिश धातु से निदान शब्द की सिद्धि मानी है और जेज्जट ने निपूर्वक डुदाञ् से भावकर्म में स्वीकार की है। जेज्जट की पुष्टि के लिये आचार्य हरिचन्द्र का मत दिखाते हैं कि भट्टारहरिचन्द्र ने भी निदानादि का निर्देश करते समय शास्त्र की युक्ति यही निरुक्ति दर्शाई है। निशब्द निश्चय तथा निषेध के लिये शास्त्र में व्यवहृत होता इसका समर्थक वररुचि का 'नि निश्चयनिषेधयोः' यह उपसर्ग सूत्र भी है। लोक में भी आज तेरा निदान करूँगा' ऐसा कहने पर निदान शब्द निश्चय करना ही बताता है। दान' इस शब्द में करण में ल्युट् प्रत्यय होता है। इससे निदान 'रोगनिश्चायक है' यह दानादि पांचों का ही सामान्य लक्षण है। यह निदान विशेष (रोगकारक निदान) तथा ते (निदानादि पांचों) में आता है। जैसे—तृण शब्द एक विशेष तिनके को भी कहा ता है और तिनकों के समूह को भी। जो भट्टारहरिचन्द्र ने निदानस्थान में 'या गौ' गादि व्यास श्लोक में पढ़े बन्धनार्थक 'निददीत' क्रिया का प्रमाण देकर निदान शब्द अर्थ बांधना क्रिया है अर्थात् हेत्वादि सम्बन्ध वाली व्याधि जिससे बांधी जावे वह दान है, ऐसा किया है। यह अर्थ ग्रन्थ के निदानस्थान को लक्ष्य में रख कर कहा है। कि, निदानादि पांचों स्वात्मनि क्रियाविरोध होने से हेत्वादिसम्बन्ध वाली व्याधि नहीं बतलाते। हाँ, ग्रंथ यह सब बतला सकता है। अतः 'निदीयते निबध्यते हेत्वादि-म्बन्धो व्याधिरनेन' यह निरुक्ति निदानस्थानपरक है।

तत्र व्याधिकारणभूतस्य निदानस्य लक्षणमाह—

निमित्तहेत्वायतनप्रत्ययोत्थानकारणैः।
निदानमाहुः पर्यायैः, [वा० ३।१।३]

अन्वयः—निमित्तहेत्वायतनप्रत्ययोत्थानकारणैः, पर्यायैः, निदानम्, आहुः।

भाषार्थ—निमित्त, हेतु, आयतन, प्रत्यय, उत्थान और कारण इन पर्यायों से निदान को कहा जाता है अर्थात् निमित्त आदि से निदान का ज्ञान होता है, क्योंकि वे निदान के पर्याय हैं।

मधु०—एषां निदानादीनां मध्ये समानासमानजातीयव्यावर्तकं कारणरूपनिदानस्य लक्षणमाह—निमित्तेत्यादिना पर्यायैरित्यन्तेन। एतैः शब्दैर्योऽर्थोऽभिधीयते तन्निदानं; "बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्" (न्या. द. प्र. आ. सू. १५)।

आचार्य ने निदान आदि में से समान जाति तथा असमान जाति के व्यावर्तक (पृथक् करने वाले) कारणरूप निदान का लक्षण 'निमित्त' इत्यादि से 'पर्यायैः' यहां तक के पद्य में कहा है। भाव यह है कि निमित्त, हेतु, आयतन, प्रत्यय, उत्थान और कारण इन शब्दों से जो अर्थ कहा जाता है, उसे निदान कहते हैं। यहां निदान का अन्य लक्षण न कर उसके पर्यायों का ज्ञान कराकर ही उस (निदान) का परिचय दिया है। क्योंकि परिचय नाम, रूप, कर्म और बन्धु इन चार प्रकारों से कराया जाता है। निदर्शनार्थ—यदि निदान को ही लें तो इसका नाम से परिचय प्रकृतानुसार निमित्त[1], हेतु, आयतन, प्रत्यय, उत्थान और कारण कहने से होता है। रूप से परिचय—रोगोत्पादको हेतुर्निदानम् अर्थात् रोग को उत्पन्न करने वाला हेतु निदान है, इस प्रकार होता है। कर्म से परिचय—सेतिकर्तव्यताको रोगोत्पादको हेतुर्निदानम् अर्थात् दोष प्रकोपण के अनुकूल व्यापार वाला रोगजनक हेतु निदान है, इस प्रकार होता है। यहां दोषप्रकोपणानुकूल कार्य करना कर्म है। इसी प्रकार बन्धुओं से परिचय—ज्ञापकभिन्नो हेतुर्निदानम् से, वा पूर्वरूपरूपोपशयसम्प्राप्तिभिन्नत्वं निदानलक्षण से; अथवा रोगज्ञापकत्वे सति पूर्वरूपरूपोपशयसम्प्राप्तिभिन्नत्वं जनकत्वधर्मविशिष्टत्वं च निदानलक्षण अर्थात् ज्ञापक हेतु से भिन्न हेतु निदान है, इससे; वा पूर्वरूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्ति इनसे भिन्न हेतु निदान है, इससे; अथवा 'रोगबोधक होने पर भी जो पूर्वरूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्ति से भिन्न है, और रोग उत्पादक धर्म वाला भी है, वह निदान है' इन सब से होता है। इस प्रकार यहां आचार्य ने निदान का बोध पर्यायों से कराया है। यह कोई नई बात नहीं है। आचार्यों की पद्धति ऐसी भी है, यही बताने के लिये आचार्य विजयरक्षित अन्य मान्य आचार्य का निदर्शन देते हैं कि 'बुद्धि उपलब्धि और ज्ञान ये एकार्थवाची हैं (न्यायदर्शन)। अतः यदि कहा जावे कि बुद्धि क्या वस्तु है? तो इसका उत्तर इस प्रकार भी दिया जा सकता है कि 'जिसे ज्ञान और उपलब्धि कहा जाता है, वह बुद्धि है। यही प्रकार आचार्य ने प्रकृत में दिया है।

मधु०—ननु, किं मिलितैरेकैकशो वा? नाद्यः, एकार्थाभिधायिनां शब्दानां मिलितानाम् प्रयोगात्; द्वितीयश्चेत्तदा सव्यभिचारः, निमित्तस्य शकुनादौ, हेतोः प्रयोजके कर्तरि, आयतनस्य स्थाने, प्रत्ययस्य लडादौ, उत्थानस्य उद्गमनोत्सर्गयोश्च दर्शनात्। नैवं, शकुनादीनां निमित्तादिभिः सर्वैरनभिधानात्। अत एवाह—पर्यायैरिति। नहि तेषां ते पर्यायाः, यतः क्रमेणैकार्थवाचकाः शब्दाः परस्परं पर्याया उच्यन्ते। तस्मान्निमित्तादिशब्दैः पर्यायैरभिधीयमानत्वं निदानत्वम्। एतच्च पर्यायकथनं शास्त्रे व्यवहारार्थम्। इदं तु संक्षेपतो लक्षणम्—'सेतिकर्तव्यताको रोगोत्पादकहेतुर्निदानम्' इति। यन्मते दोषेतिकर्तव्यतारूपा संप्राप्तिरिष्यते तन्मते संप्राप्तिव्युदासार्थं 'सेतिकर्तव्यताक' इति पदम्, तस्या दोषेतिकर्तव्यतारूपायां इतिकर्तव्यतान्तराभावात्। यन्मते व्याधिजन्म संप्राप्तिः, तन्मते 'व्याध्युत्पत्तिहेतुर्निदानम्' इति लक्षणम्। उभयत्रापि 'उत्पत्ति' पदं ज्ञप्तिहेतुपूर्वरूपादिव्यवच्छेदार्थम्।

यदि उपर्युक्त निमित्त आदि निदान के पर्यायवाचक हैं तो जो अर्थ निदान का

१ निमित्तहेत्वायतनप्रत्ययोत्थानकारणैरिति पर्यायशब्दैरभिधीयमानत्वं निदानत्वम्. २ धूमवत्त्वादित्यादिवचने. ३ उद्गमनोत्सवयोः. ४ पर्यायेण. ५ तस्यां दोषेतिकर्तव्यतारूपायाम्. ६ अत्र इतिकर्तव्यता व्यापारः इतिकर्तव्यतान्तरस्य व्यापारान्तरस्याभावात्, व्यापारो न तिष्ठतीति भावः.

, उसी को वे सब बतलाएंगे। यदि ऐसा ही है तो क्या निमित्तादि मिलकर उस अर्थ
बतलाते हैं वा पृथक् पृथक्? यदि पहली बात कि निमित्तादि मिलकर निदान के समान अर्थ
बताते हैं तो एक अर्थ को कहने वाले शब्दों का एकत्र प्रयोग नहीं होता। अतः यह
भी नहीं होता कि वे (निदानादि) मिलकर निदान के समान अर्थ को बताते हैं
दूसरी बात कि निमित्तादि पृथक् २ निदान के समान अर्थ को बताते हैं तो [1]व्यभि
दोष आता है। कारण कि निमित्त शब्द शकुनादि में, हेतु शब्द प्रयोजक कर्ता अथ
ो वह्निमान धूमवत्त्वात्' आदि वाक्यीय 'धूमात्' आदि लिङ्ग में, आयतन शब्द स्थान
य शब्द व्याकरणोक्त लट् लिट् आदि में और उत्थान शब्द उद्गमन वा उत्सर्ग
ा है, अतः व्यभिचार दोष है। आचार्य इस पर कहते हैं कि, यहां यह व्यभिचार द
है, क्योंकि शकुनादि निमित्तादिकों के समुदाय से सब नहीं कहे जाते। इसी कार
ग्रन्थकर ने मूल में 'पर्यायैः' यह शब्द दिया है। इसका स्पष्ट भाव यह है कि—शकु
दि निमित्त आदिकों के पर्यायवाचक नहीं हैं। क्योंकि पर्याय तो क्रम से एक ही अर्थ
लाने वाले शब्द होते हैं। और यहां निमित्त आदि सब से शकुन का बोध नहीं हो
र उन सब से प्रयोजक कर्ता आदि का पृथक् २ ज्ञान भी नहीं होता है। अतः वे (शकु
दि) उनके (निमित्त आदि के) पर्यायवाचक नहीं हैं। परन्तु निदान शब्द के अर्थ
मित्तादि सभी क्रमशः बताते हैं। अतः वे (निमित्तादि) सब निदान के पर्यायवाच
इसलिए जो निमित्तादि पर्यायवाचक शब्दों से कहा जावे वह निदान है' यह निदान
ण है। पर्यायों का कहना शास्त्र में व्यवहार के लिये है, जिससे कि श्लोकादि निम
ते समय, यथासमय, यथाछन्द उनका प्रयोग किया जा सके। वस्तुतः निदान
लक्षण 'दोषों को प्रकुपित कर रोग को उत्पन्न करने वाला निदान है' यह है। जिन
में प्रकुपित दोषों का व्यापार रूप सम्प्राप्ति है, उनके मत में सम्प्राप्ति से भेद क
लिये ही उपर्युक्त निदान के लक्षण में 'दोषप्रकोपणपूर्वक' यह पद दिया है। कारण
दोषेतिकर्तव्यता रूप सम्प्राप्ति में दूसरी इतिकर्तव्यता (व्यापार) नहीं है। इस
व यह है कि निदान का लक्षण 'दोषप्रकोपणपूर्वक व्याधि को उत्पन्न करने वाला कार
दान' है। यहां दो इतिकर्तव्यताएं अर्थात् क्रियाएं हैं। पहली दोषों को प्रकुपित कर
र दूसरी रोगों को उत्पन्न करना। परन्तु जो 'दोषेतिकर्तव्यतारूप सम्प्राप्ति' मानते
के इस (सम्प्राप्ति) लक्षण में निदान का लक्षण न घट जाए इसलिये निदान
लक्षण में 'सेतिकर्तव्यताक' पद दिया है। सम्प्राप्ति में 'दोषेतिकर्तव्यता' अर्थात् प्रकु
षों का रोग उत्पन्न करना तो आ जाता है परन्तु दोषों को प्रकुपित करना रूप क्रिया न
ाती, यही निदान में सम्प्राप्ति से विशेषता है और इसी कारण निदान का 'सेतिकर्तव्यत
गोत्पादकहेतुर्निदानम्' यह लक्षण 'दोषेतिकर्तव्यतारूपा सम्प्राप्तिः' सम्प्राप्ति के इस लक्षण
तिव्याप्त नहीं होता। एवं जिनके मत में 'व्याधिजन्म सम्प्राप्तिः' यह सम्प्राप्ति का लक्ष
उनके मत में 'व्याध्युत्पत्तिहेतुर्निदानम्' अर्थात् व्याधि की उत्पत्ति में जो कारण है
दान है, यह निदान का लक्षण है। ऊपर कहे निदान के दोनों[2] लक्षणों में 'उत्पत्ति'
ारणरूप निदान को पूर्वरूपादिरूप ज्ञापक निदान से पृथक् करने के लिये है।

मधु०—स च हेतुरनेकधा; तत्र प्रथमं चतुर्विधः, यदाह उपकल्पनीयाध्याये हरिचन्द्रः
'सन्निकृष्टविप्रकृष्टव्यभिचारिप्राधानिकभेदाच्चतुर्धा''—इति। सन्निकृष्टो यथा—नक्तंदिनर्तुभुक्तां

---

[1] एकत्रस्यैकत्रनियतस्य लक्षणस्य लक्ष्येतरेऽपि गमनं व्यभिचारः. [2] 'सेति
ोगोत्पादको हेतुर्निदानम्' में तथा 'व्याध्युत्पत्तिहेतुर्निदानम्' में।

दोषप्रकोपस्य हेतवः, न ते चयादिकमपेक्षन्ते। विप्रकृष्टो यथा—"हेमन्ते निचितः श्लेष्मा व कफरोगकृत्"; किंवा सन्निकृष्टो ज्वरस्य रूक्षादिसेवा, विप्रकृष्टो रुद्रकोपः। व्यभिचारी यथा—दुर्बलत्वाद्व्याधिकरणासमर्थः। यदाह चरकः,–(निदानादिविशेषा) अबलीयांसोऽथवाऽनुबध्नन्ति, न तदा विकाराभिनिर्वृत्तिः–इति (च. नि. स्था. अ, ४)। प्राधानिको यथा—विषादिः; त्रिविधो वा, असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगप्रज्ञापराधपरिणामभेदात्। तत्र, असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगोऽयोगातियोगमिथ्यायोगयुक्ता रूपरसादयः, प्रज्ञापराधो मिथ्याज्ञानादिः, परिणामे अयोगादियुक्ता ऋतुस्वभावजाः शीतादयः। "अधर्मस्य च रोगहेतोरत्रैवान्तर्भावः"–इति भट्टारहरिचन्द्रः, तस्यापि कालान्तरपरिणतस्य दुःखकर्तृत्वात्। चक्रस्तु प्रज्ञापराधे तस्यान्तर्भावमाह; मिथ्याज्ञानकृतब्रह्मवधादिजन्मनोऽधर्मस्य प्रज्ञापराध एव मूलं; बलाबलं त्वत्र न निरूप्यते रोगकारणत्वेनाधर्मस्य सर्वथा सिद्धत्वादिति।

वह हेतु अनेक प्रकार का होता है। उनमें से पहले वह चार प्रकार का होता है जैसे—उपकल्पनीय अध्याय में हरिचन्द्र ने कहा भी है—सन्निकृष्ट, विप्रकृष्ट, और प्राधानिक भेद से हेतु चार प्रकार का होता है। उनके उदाहरण क्रमशः निम्न से हैं। १ सन्निकृष्ट हेतु—जैसे दिन रात, ऋतु और भोजन इनके पृथक् २ अंश दोषों प्रकुपित करने में कारण हैं, वे दोष सञ्चय आदि की अपेक्षा नहीं रखते। भाव यह है दिन के पूर्वाह्न में कफ, मध्याह्न में पित्त और सायाह्न में वात प्रकुपित होता है। एवं के पूर्वभाग में कफ, मध्य में पित्त और अन्त में वायु प्रकुपित होता है। यही विधि में घटती है। यथा—भोजन के आदि में अर्थात् भोजन के तत्काल पश्चात् कफ का, अर्थात् पच्यमानावस्था में पित्त का और अन्त अर्थात् भोजन के भली प्रकार पच पर वायु का प्रकोप होता है। ये सन्निकृष्ट हेतु हैं। २ विप्रकृष्ट हेतु—जैसे हेमन्त ऋतु में श्लेष्मा वसन्त में कफज रोगों को करता है। एवं ग्रीष्म और वर्षा में सञ्चित क्रमशः और पित्त क्रमशः वर्षा और शरद् में अपने २ रोगों को करते हैं। ये विप्रकृष्ट हेतु हैं अथवा ज्वर का सन्निकृष्ट हेतु रूक्ष आदि पदार्थों का सेवन, और विप्रकृष्ट हेतु रुद्र क्रोध है। ३ व्यभिचारी हेतु—यथा जो निदानादि विशेष दुर्बल होने से व्याधि को करने में असमर्थ हो, वह व्यभिचारी हेतु कहलाता है। जैसे चरक ने कहा भी है अथवा जब निदानादि विशेष निर्बल होते हैं, वा निर्बल होने से दूष्यों से सम्बद्ध नहीं करते, तब विकार नहीं होते। ४ प्राधानिक हेतु—यथा विष आदि। भाव यह है कि व्यवायि प्रभृति दश[3] गुणों वाला होने से यह शीघ्र लीन होकर विकार को उत्पन्न करता है। अतः यह प्राधानिक हेतु है। अथवा असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम भेद से हेतु तीन प्रकार का होता है। इनमें से असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग रूप रसादि विषयों का अयोग, अतियोग और मिथ्यायोग करने को कहते हैं। इसको और यदि स्पष्ट करना हो तो निम्न प्रकार से किया जा सकता है। यथा—असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग तब होता है, जब कि चक्षु आदि इन्द्रियां अपने रूप आदि विषयों के साथ अनुचित रूप से सम्बन्धित हों। जैसे चक्षु इन्द्रिय का रूप देखना धर्म है, जब उसका रूप के साथ अनुचित सम्बन्ध अर्थात् हीन, अधिक वा मिथ्या सम्बन्ध होगा तो चक्षु का असात्म्येन्द्रियार्थ

१ किं च. २ बलाबलत्वमत्र. ३ लघु रूक्षमाशु विशदं व्यवायि तीक्ष्णं विकासि सूक्ष्मञ्च उष्णमनिर्देश्यरसं दशगुणमुक्तं विषं तज्ज्ञैः॥ (च. चि. स्था. अ. २२)। किञ्च—रूक्षमुष्णं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्ममाशु व्यवायि च। विकाशि विशदं चैव लघ्वपाकि च तत्स्मृतम्॥ (सु. क. स्था. अ. २).

संयोग कहलावेगा। एवं जब घ्राणेन्द्रिय का गन्ध के साथ, श्रोत्रेन्द्रिय का शब्द के साथ, रसनेन्द्रिय का रस के साथ और त्वगिन्द्रिय का स्पर्श के साथ असात्म्य संयोग अर्थात् अयोग, अतियोग वा मिथ्यायोग होता है, तब उन २ इन्द्रियों का असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग कहलाता है। प्रज्ञापराध—मिथ्याज्ञान आदि प्रज्ञापराध कहलाता है अर्थात् तीन २ भेदों वाला तीन प्रकार का कर्म प्रज्ञापराध कहलाता है। जैसे चरक ने कहा भी है कि—त्रिविधविकल्पं त्रिविधमेव कर्म प्रज्ञापराध इति व्यवस्येत्। (च. सू. स्था. अ. ११)। वह तीन प्रकार का कर्म यह है—१ वाचिक कर्म, २ शारीरिक कर्म और ३ मानसिक कर्म। इन्हीं तीनों कर्मों के अयोग, अतियोग और मिथ्यायोग ये तीन भेद हैं। वाणी, शरीर और मन, इनका अपने २ कर्मों में अप्रवृत्त होना अयोग, अति प्रवृत्त होना अतियोग और मिथ्या प्रवृत्त होना मिथ्यायोग है। परिणाम—ऋतुओं के अपने २ स्वभाव से होने वाली शीतता आदि का अयोग, अतियोग और मिथ्यायोग होना परिणाम कहलाता है। 'परिणाम' यह शब्द पारिभाषिक है, जिससे काल का बोध होता है। जैसे कहा है—कालः पुनः परिणाम उच्यते। (च. सू. स्था. अ. ११)। एवं शीत, उष्ण और वर्षारूप काल का अयोग, अतियोग तथा मिथ्यायोग होना परिणाम कहलाता है। अधर्म भी रोग का एक कारण और उसका अन्तर्भाव परिणाम में होता है। क्योंकि अधर्म करने से उसका फल स्वरूप रोग भी कालान्तर[1] में ही होता है। यह मन्तव्य भट्टारहरिचन्द्र का है। परन्तु चक्रपाणि अधर्म को प्रज्ञापराध में लेते हैं। कारण कि मिथ्याज्ञान से किये हुए विप्रवध आदि से उत्पन्न अधर्म का मूल प्रज्ञापराध ही है। यहां कौन प्रबल है और कौन निर्बल, इसका विचार नहीं है। क्योंकि अधर्म रोग का कारण है, यह बात तो सर्वथा सिद्ध ही है।

वक्तव्य—वस्तुतः अधर्म का अन्तर्भाव प्रज्ञापराध में ही होना ठीक है। भगवान् चरक भी जनपदोद्ध्वंसनीय (च. वि. स्था. अ. ३) विमान (अध्याय) में अधर्म का मूल प्रज्ञापराध ही बताते हैं। तद्यथा—सर्वेषामप्यग्निवेश! वाय्वादीनां यद्वैगुण्यमुत्पद्यते तस्य मूलमधर्मः, तन्मूलं वाऽसत्कर्म पूर्वकृतम्। तयोर्योनिः प्रज्ञापराध एव। (च. वि. स्था. अ. ३)। किञ्च अधर्म होता ही तभी है, जब कि मनुष्य बुद्धि, धृति और स्मृति से भ्रष्ट हो जाता है। एवं इनसे भ्रष्ट होकर अशुभ कर्म करना प्रज्ञापराध में ही सम्मिलित है। इसमें आर्ष वाक्य भी है—धीधृतिस्मृतिविभ्रंशः कर्म यत्कुरुतेऽशुभम्। प्रज्ञापराधं तं विद्यात्सर्वदोषप्रकोपणम्॥ (च. शा. अ. १)। यदि 'कर्म किञ्चित्कचित्काले विपाके नियतं भवेत।' (च. चि. स्था. अ. ३) इस चरक सूत्र के अनुसार विपाक अर्थात् परिणाम में कर्म फल (रोगरूप) अवश्य होता है, यह मान अधर्म रूप कर्म को परिणाम में लिया जावे तो ठीक नहीं है। कारण कि इसका अर्थ यह है कि प्रज्ञापराधज अधर्म रूप किसी कर्म का फल अन्त में किसी न किसी समय पर अवश्य होता है। एवं अधर्म की उत्पत्ति सर्वथा प्रज्ञापराध से होने के कारण इस (अधर्म) का अन्तर्भाव प्रज्ञापराध में ही होता है, न कि परिणाम में। क्योंकि वह परिणाम (काल) नहीं है। साथ ही 'अधर्म' शब्द का अर्थ भी प्रज्ञापराध से मिलता है। अतः यह सिद्ध होता है कि अधर्म प्रज्ञापराध में ही अन्तर्हित होता है।

मधु०—दोषव्याध्युभयहेतुभेदाच्च स त्रिविधः। दोषहेतवो यथा—चयप्रकोपप्रशमनिमित्ता यथर्तूत्पन्ना मधुरादयः। व्याधिहेतवो यथा—मृद्भक्षणं पाण्डुरोगस्य कारणम्। यद्यपि मृदपि

---

१ यह भाव 'कर्म किञ्चित्कचित्काले विपाके नियतं भवेत्' (च. वि. स्था. अ. ३) से लेकर कहा है।

दोषं प्रकोपयत्येव; यदुक्तं चरके,–"कषाया मारुतं पित्तमूषरा मधुरा कफम्"–इति (च. चि. स्था. अ. १६), तथाऽपि तज्जैर्दोषैः पाण्डुरोग एवारभ्यते न त्वन्यो विकार इति व्याधिहेतुता भवति । उभयहेतुर्यथा वातरक्ते—"हस्त्यश्वोष्ट्रैर्गच्छतश्चाश्नतश्च"–इत्यादि (सु. नि. स्था. अ. १)। तत्र यद्यपि दोषप्रकोपपूर्वकमेव व्याधिजननं तथाऽपि दोषवद्व्याधावपि तस्य कारणत्वमिति बोधयति। तेन तत्र न व्याधिहरमात्रं भेषजं प्रयोज्यं किंतूभयप्रत्यनीकम्। न च वाच्यं कारणभूतदोषनिवृत्त्यैव कार्यभूतस्य व्याधेर्निवृत्तिरिति; यतः प्रतिनियतशक्तिकानि भेषजद्रव्याणि भवन्ति; कथमन्यथा श्लैष्मिकतिमिरे श्लेष्महरमेव वमनं न प्रयुज्यते । यदुक्तं सुश्रुते,–"न वामयेत्तैमिरिकं न गुल्मिनं न चापि पाण्डूदररोगपीडितम्[१]"–इति (सु. चि. स्था. अ. ३३)।

वही हेतु दोषहेतु, व्याधिहेतु और दोषव्याधिहेतु इन भेदों से तीन प्रकार का होता है । १ दोषहेतु—चय, प्रकोप और प्रशम से करने वाले अपनी २ ऋतु में उत्पन्न हुए मधुर आदि रस दोषहेतु होते हैं । २ व्याधिहेतु—मिट्टी का खाना पाण्डुरोग में कारण है। यद्यपि मिट्टी भी दोष को प्रकुपित करती है; जैसे चरक में कहा भी है कि—'कसैली मिट्टी वायु को, ऊपर वाली (नमकीन) पित्त को और मधुर कफ को प्रकुपित करती है' परं तथापि उन २ मिट्टियों के खाने से प्रकुपित दोष पाण्डुरोग को ही करते हैं, और किसी रोग को नहीं करते, अतः यहां व्याधिहेतुता है। ३ उभयहेतु—वातरक्त में हस्ति, अश्व और ऊष्ट्र आदि वाहनों द्वारा चलने से; तथा विदाहि अन्नादि सेवन से वातरक्त होता है। यहां यद्यपि कारण पहले दोष को प्रकुपित करते हैं तदनु व्याधि उपजाते हैं, परन्तु फिर भी वे हेतु जिस प्रकार दोषों को प्रकुपित करते हैं, उसी प्रकार रोग को भी उत्पन्न करते हैं। यही कारण है कि ऐसे स्थलों पर केवल रोगनाशक औषध नहीं देनी चाहिये, प्रत्युत उभय(हेतुव्याधि)विपरीत-औषध देनी उचित है, जैसे कि वातिक शोथ में दशमूल क्वाथ का प्रयोग। क्योंकि दशमूल वातहर भी है और शोथहर भी। यदि यह शंका उत्पन्न हो कि जो दोष रोगोत्पत्ति में कारण है, उस दोष की ही निवृत्ति कर देनी चाहिये, जिससे कि रोगोत्पादक दोष के शान्त हो जाने पर वह रोग भी शान्त हो जावे। एवं उभयप्रत्यनीक औषध की आवश्यकता ही न पड़े, केवल हेतु प्रत्यनीक से ही काम चल जाय। इसी बात को लक्ष्य में रखकर रक्षित जी कहते हैं कि—'रोग को उत्पन्न करने वाले कारणभूत दोष की शान्ति कर देने से कार्यभूत रोग की स्वयं ही शान्ति हो जाती है, ऐसा नहीं कहना चाहिये। कारण कि औषध द्रव्य रोग को पैदा करने के लिये नियत शक्ति रखते हैं। अतः कोई औषध अपनी शक्ति से केवल दोषप्रत्यनीक होती है, कोई रोगप्रत्यनीक और कोई उभयप्रत्यनीक होती है । यही कारण है कि श्लैष्मिक तिमिर में श्लेष्महर होने पर भी वमन नहीं दिया जाता। क्योंकि वमनकारक द्रव्यों की नियत शक्ति वा वमन का प्रभाव तिमिर में हानिप्रद होता है। इसी लिये ये सुश्रुत ने भी कहा है कि—'तिमिर, गुल्म, पाण्डु और उदरादि रोग वाले रोगी को वमन न दे' । वस्तुतः है भी ठीक। यदि तिमिर में वमन दिया जाय तो वह और भी बढ़ जाता है । यथा—तिमिराणां तिमिरातिवृद्धिः....'तस्मादेते न वाम्याः। (च. सि. स्था. अ. २)।

१ 'न वामयेत्तैमिरिकोर्ध्ववातगुल्मोदरप्लीहकृमिश्रमार्तान्' इति सुश्रुते पाठः । चक्रस्तूपरितनपाठमनुमनुते । तैमिरिकः किमिति नो विरेच्यः ? अत्राह चरकः—'तिमिराणां तिमिरातिवृद्धिः' (च. सि. स्था. अ. २).

मधु०—स एवोत्पादकव्यञ्जकभेदाच्च द्विधा। तत्रोत्पादको यथा—हेमन्तजो मधुररसः कफस्य[1]। व्यञ्जको यथा—तस्यैव कफस्य व्यञ्जको वसन्ते सूर्यसन्तापः–इति भट्टारहरिचन्द्रः। तत्र व्यञ्जकः प्रेरक इत्यर्थः।

वही हेतु फिर उत्पादक (उत्पत्तिकारक) और व्यञ्जक भेद से दो प्रकार का होता है। १ उत्पादक—हेमन्त ऋतु में होने वाला मधुर रस कफ का उत्पादक हेतु है। २ व्यञ्जक—उसी हेमन्तज मधुर रस से उत्पन्न कफ का व्यञ्जक वसन्त ऋतु में सूर्य का सन्ताप होता है। यहां वसन्त का सूर्य-सन्ताप कफ का व्यञ्जक और पीछे कहा हेमन्तज मधुर रस उत्पादक हेतु है। व्यञ्जक का अर्थ प्रेरक है।

मधु०—बाह्याभ्यन्तरभेदाच्च द्विधा। तत्र बाह्या आहाराचारकालादयः। एतदभिप्रायेण तीसटाचार्यः–"व्यायामादपतर्पणात्प्रपतनाद्भङ्गात्क्षयाज्जागराद्वेगानां च विधारणादतिशुचः शैत्यादतित्रासतः। रूक्षक्षोभकषायतिक्तकटुकैरेभिः प्रकोपं व्रजेद्वायुर्वारिधरागमे परिणते चान्नेऽपराह्णेऽपि च॥ कट्वम्लोष्णविदाहितीक्ष्णलवणक्रोधोपवासातपस्त्रीसंपर्कतिलातसीदधिसुराशुक्तारनालादिभिः। भुक्ते जीर्यति भोजने च शरदि ग्रीष्मे सति प्राणिनां मध्याह्ने च तथाऽर्धरात्रिसमये पित्तं प्रकोपं व्रजेत्॥ गुरुमधुररसातिस्निग्धदुग्धेक्षुभक्ष्यद्रवदधिदिननिद्रापूपसर्पिष्प्रपूरैः। तुहिनपतनकाले श्लेष्मणः संप्रकोपः प्रभवति दिवसादौ भुक्तमात्रे वसन्ते॥ (चि. क. श्लो. २६–३१)–इति।

वही हेतु बाह्य और आभ्यन्तरिक भेद से दो प्रकार का होता है। बाह्य हेतु आहार विहार आदि होते हैं। इसी भाव को लेकर तीसटाचार्य कहते हैं कि—व्यायाम, अपतर्पण (लंघन), प्रपतन (गिरना), अङ्गादि के भङ्ग, क्षय, जागरण, वेगधारण, अत्यन्त शोक, शीत, अतिभय, क्षोभ, रूक्ष, कषाय, तिक्त और कटु पदार्थों के सेवन से; तथा क्रोध से, वर्षा ऋतु में, भोजन के पच जाने पर और दिन रात्रि के उत्तर भाग में वायु प्रकुपित होती है। कटु, अम्ल, उष्ण, विदाही, तीक्ष्ण और नमकीन पदार्थों के सेवन से तथा क्रोध, उपवास, धूमसेवन, स्त्रीसेवन, तिल, अतसी, दधि, सुरा (शराब), सिरका तथा काञ्जी आदिकों से; एवं भोजन की पच्यमान अवस्था में, शरद् ऋतु में, गर्मी में, मध्याह्न तथा मध्यरात्रि में पित्त प्रकुपित होता है। भारी, मधुर और अति स्निग्ध पदार्थों के सेवन से; दूध तथा गन्ने की बनी वस्तुओं के सेवन से; द्रव पदार्थों के सेवन से; एवं दधि, पूड़े और घृतप्रपूरों (घेवरों) के सेवन से; दिन में सोने से; हिमपात के समय; दिन तथा रात्रि के पूर्व भाग में; भोजन के तत्काल बाद और वसन्त ऋतु में कफ का प्रकोप होता है।

मधु०—आभ्यन्तरा यथा—दोषा दूष्याश्च। तत्र, दोषोऽपि प्रकुपितः प्राकृतादिभेदादनेकधा। प्राकृतो यथा—वसन्ते श्लेष्मा, शरदि पित्तं, प्रावृषि वायुः। वैकृतस्तु यथा–वसन्ते पित्तं वायुर्वा, वर्षासु कफः पित्तं वा, शरदि कफो वायुर्वा। अस्य प्रयोजनं सुखसाध्यत्वादि। यदुक्तं चरके,–"प्राकृतः सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भवः॥"–इत्यादि (च. चि. स्था. अ. ३)। अनुबन्ध्यानुबन्धभेदाच्च द्विधा। अनुबन्ध्यः प्रधानम्, अनुबन्धोऽप्रधानम्। यदाह चरकः,–"स्वतन्त्रो व्यक्तलिङ्गो यथोक्तसमुत्थानोपशमो भवत्यनुबन्ध्यः, तद्विपरीतलक्षणस्त्वनुबन्धः"–इति (च. चि. स्था. अ. ६)। अस्य प्रयोजनं संसर्गजे व्याधावनुबन्ध्यो विशेषेण

१ कफचयस्य. २ अभिव्यक्तिकारकः.

चिकित्स्योऽनुबन्ध्याविरोधेन । तदुक्तं चरके,–"तत्रोपद्रवस्य प्रायः प्रधानप्रशमात्प्रशमः" इति (च. चि. स्था. अ. २१) । उपद्रवोऽनुबन्धः । प्रकृतिविकृतितो यथा–वातप्रकृते वातरोगः कष्टसाध्यो भवति, कफपित्तप्रकृतेस्तु सुखसाध्यः । यदाह सुखसाध्यलक्षणे चरकः,– "न च तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत्"–इति (च. सू. स्था. अ. १०) ।

(२) आभ्यन्तरिक हेतु दोष और दूष्य होते हैं। इनमें से दोष भी प्रकुपित हो, वातादि भेदों से अनेक प्रकार का होता है । (१) प्राकृत—वसन्त में श्लेष्मा, शरद् में पित्त और प्रावृट् में वायु का प्रकोप प्राकृतिक है । (२) वैकृत—वसन्त में पित्त और वात का, शरद् में वात और कफ का एवं प्रावृट् में पित्त और कफ का प्रकोप होना वैकृत है । इस प्राकृत वैकृत के उपन्यास का लाभ रोगों की सुखसाध्यता आदि है । जैसे चरक ने कहा है कि—'वसन्त और शरद् में होने वाला प्राकृतिक ज्वर सुखसाध्य होता है' । एवं उसने आगे वैकृत के लिये भी लिखा है कि—'इससे भिन्न जो वैकृत ज्वर होता है, वह दुःसाध्य होता है, परन्तु वायु का प्राकृत ज्वर भी दुःसाध्य ही है[२], इत्यादि । वही हेतु अनुबन्ध्य और अनुबन्ध भेद से पुनः दो प्रकार का होता है । उनमें से अनुबन्ध्य प्रधान होता है और अनुबन्ध अप्रधान । जैसे चरक ने कहा है कि—'स्वतन्त्र, स्फुट लक्षण एवं अपने निदान से उत्पन्न तथा अपनी चिकित्सा से शान्त होने वाला अनुबन्ध्य होता है और जो इससे विपरीत हो उसे अनुबन्ध कहते हैं' । इसका प्रयोजन, संसर्गज व्याधि में अनुबन्ध के अप्रतिकूल क्रिया से अनुबन्ध्य की विशेषतः चिकित्सा करना है । चरक ने भी कहा है कि—'उपद्रव प्रधान रोग के शान्त हो जाने पर प्रायः स्वयं ही शान्त हो जाता है । उपद्रव नाम अनुबन्ध का है । वही हेतु फिर प्रकृति विकृति भेद से दो प्रकार का होता है । प्रकृति विकृति के अनुसार जैसा कि, वातप्रकृति वाले मनुष्य का वातिक रोग कष्टसाध्य होता है और कफ तथा पित्त प्रकृति वाले का (वातिक रोग) सुखसाध्य होता है । जैसे सुखसाध्य लक्षण में चरक ने कहा है कि—दोष दूष्य (के) तुल्य गुणवाला, और रोगी की प्रकृति के तुल्य न हो तो वह सुखसाध्य है ।

मधु०—आशयापकर्षतो यथा—यदा स्वमानस्थितमेव दोषं स्वाशयादाकृष्य वायुः स्थानान्तरं गमयति तदा समानस्थोऽपि स विकारं जनयति । यदाह चरकः–"प्रकृतिस्थं यदा पित्तं मारुतः श्लेष्मणः क्षये । स्थानादादाय गात्रेषु यत्र यत्र विसर्पति ॥ तदा भेदश्च दाहश्च तत्र तत्रानवस्थितः । गात्रदेशे भवत्यस्य श्रमो दौर्बल्यमेव च"–इति (च. सू. स्था. अ. १७) । अस्य प्रयोजनं वातस्यैव तत्र विगुणस्य स्वस्थानानयनं कार्यं, नतु पित्तस्य ह्रासनम्; "ये त्वेनां पित्तस्य स्थानाकृष्टिं न विदन्ति ते दाहोपलम्भेन पित्तवृद्धिं मन्यमानाः पित्तं ह्रासयन्तः पित्तक्षयलक्षणं रोगान्तरमेवोत्पादयन्त आतुरमतिपातयन्ति" इति भट्टारहरिचन्द्रः । अन्ये त्वाहुः–भ्राजकादिभेदेन सर्वदेहस्थिते पित्ते यदा स्वाशयाकृष्टं पित्तमवयवान्तरमनिलेन प्रापितं तदा तदवयवान्तरस्थं पित्तमागन्तुपित्तसंबन्धेनाधिकमेव जातं, ततश्च (पित्त)वृद्धिलक्षणैवेयं दुष्टिर्न दुष्ट्यन्तरम्, अन्यथा दाह एव न स्यात्; नहि समानस्थो दोषो विकारं जनयतीति । भट्टारहरिचन्द्रस्य त्वयमभिप्रायः–यद्यप्येवं तथाऽपि चिकित्साभेदार्थ

१ 'तस्य प्रायः प्रधानप्रशमे प्रशमो भवति' इति च. पाठः. २ वैकृतोऽन्यः स दुःसाध्यः ...तश्चानिलोद्भवात् । (च. चि. अ. ३). ३ स्वानस्थितमेव. ४ स्वमानस्थोऽपि. ५ नतु पित्तस्य ...। स्वाशयापकर्षणं.

क्षयवृद्धित्तयव्यतिरिक्तस्थानान्तरगतिरूपो दुष्टिविशेषोऽवश्यमेवैष्टव्यः, अन्यथा वृद्धं पित्तमिति मत्वा विरेचनं पित्तह्रासनं वा कार्यं, न च तत्तत्र योग्यं, किं तु स्वस्थानानयनम् । यच्चोक्तं चरकेण,–"क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च विज्ञेया त्रिविधा गतिः"–(च. सू. स्था. अ. १७) इत्यादि, तत्प्रायिकमिति ।

(१) आशयापकर्षक हेतु यथा—जब वायु अपनी उचित मात्रा में स्थित दोष को उसके स्थान से निकालकर दूसरे स्थान पर ले जाता है, तब वह उचित मात्रा में होने पर भी रोग को उत्पन्न करता है। जैसे कहा है कि—'कफ के क्षीण हो जाने पर जब वायु अपने परिमाण में स्थित पित्त को भी उसके स्थान से खींचकर शरीर के जिस २ गात्र में ले जाता है, तब वहीं भेद दाह आदि उत्पन्न करता है, एवं श्रम और दुर्बलता का भी उत्पादक होता है'। इस कथन का प्रयोजन यह है कि वहां वायु ही विगुण होता है, अतः उसे ही अपने स्थान में लाना चाहिये। भ्रम से पित्तवृद्धि जान उसका (पित्त का) ह्रास करना उचित नहीं है। इसी विषय पर भट्टारहरिचन्द्र जी कहते हैं कि 'जो वैद्य वायु द्वारा पित्त का स्थानान्तर में गमन न जानकर दाह, भेद आदि लक्षणों को देखकर यह समझें कि इसका पित्त बढ़ गया है और तदनुसार पित्तशामक चिकित्सा कर पित्त का ह्रास कर देते हैं, वे पित्तक्षय से होने वाले किन्हीं रोगरूप लक्षणों को उत्पन्न कर रोगी को और भी रुग्ण कर देते हैं वा मार देते हैं'। इस पर दूसरे आचार्य कहते हैं कि 'पित्त भ्राजक आदि भेदों से सम्पूर्ण देह में व्याप्त है। पुनः जब वायु किसी स्थान के पित्त को खींचकर दूसरे स्थान में ले जाता है, तब उस स्थान का पित्त आगन्तुक पित्त से मिलकर अधिक हो जाता है। एवं बढ़ा हुआ होने के कारण उक्त दुष्टि (पित्त) वृद्धि के कारण ही है। अन्यथा उसमें दाह आदि नहीं होने चाहिये। क्योंकि समान अवस्था में स्थित दोष विकार को उत्पन्न नहीं करते'। यद्यपि उक्त बहुसम्मत मत ठीक है परन्तु हरिचन्द्र का उपर्युक्त वचन से यह अभिप्राय है कि चिकित्सा करने के लिये दोषों की वृद्धि और क्षय से भिन्न स्थानान्तर गमन रूप विकार अवश्य स्वीकार करना चाहिये। अन्यथा पित्त को बढ़ा हुआ जान 'विरेचनं पित्तहराणाम्' (च. सू. स्था. अ. २५) चरक के इस वचनानुसार विरेचन अथवा पित्त का ह्रास करना चाहिये। परन्तु यह चिकित्सा वहां उपयुक्त नहीं । क्योंकि वहां पित्त के स्थानान्तर में जाने पर तथा तत्स्थानीय पित्त के मिलने के कारण पित्त वृद्धि हुई है। अतः वहां गये हुए पित्त को अपने स्थान में लाने की चिकित्सा करनी चाहिये । जैसे चरक ने कहा भी है कि—क्षय, स्थान और वृद्धि यह दोषों की तीन प्रकार की गति है, परन्तु यह प्रायिक है।

मधु०—गतितो यथा—गतिर्दोषाणां क्षीणवृद्धत्वादयः । यदुक्तं चरके,–"क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः । ऊर्ध्वं चाधश्च तिर्यक्च विज्ञेया त्रिविधा परा ॥ त्रिविधा चापरा कोष्ठशाखामर्मास्थिसन्धिषु"–इति (च. सू. स्था. अ. १७) । अत्र स्थानमिति समत्वम् । तत्र क्षयादिलक्षणं यथा,–"दोषाः प्रवृद्धाः स्वं लिङ्गं दर्शयन्ति यथाबलम् । क्षीणा जहति स्वं लिङ्गं, समाः स्वं कर्म कुर्वते"–इति (च. सू. स्था. अ. १७) । स्वं लिङ्गमिति कुपितस्य वायो रौक्ष्यादयो[1] धर्माः, कर्माणि च स्रंसशूला[2]दीनि । यदाह

१ तद्यथा—रौक्ष्यं लाघवं वैशद्यं शैत्यं गतिरमूर्तत्वञ्चेति...चरकः. २ 'स्रंसभ्रंसव्यासभेदसादहर्षतर्षकम्पवर्तचालतोदव्यथाचेष्टादयस्तथा खरपरुषविशदसुशिराऽरुणवर्णकषायाविरसमुखशोषशूलसुप्तिसंकुचनस्तम्भनखञ्जतादीनि वायोः कर्माणि' इति चरकः. ३ चरकानुसारमत्र स्रंसभ्रंसादीनीति पाठो युज्यते.

चरकपाठसंवादी सुदान्तसेन,–"आध्मानस्तम्भरौक्ष्यस्फुटनविमथनक्षोभकम्पप्रतोदाः कण्ठध्वंसावसादौ श्रमकविलपनं स्रंसशूलप्रभेदाः। पारुष्यं कर्णनादो [illegible] भ्रंशदृष्टिप्रमोहा, विस्पन्दोद्घट्टनानि ग्लपनमशयनं ताडनं पीडनं च ॥ नामोन्नामौ विषादो भ्रमपरिपतनं जृम्भणं रोमहर्षो, विक्षेपाक्षेपशोषग्रहणाशुषिरताच्छेदनं वेष्टं च। वर्णः श्यावोऽरुणो वा तृडपि च महती स्वापविश्लेषसङ्गा, विद्यात्कर्माण्यमूनि प्रकुपितमरुतः स्यात्कषायो रसश्च ॥ विस्फोटाम्लकधूमकाः प्रलपनं स्वेदस्रुतिर्मूर्च्छनं दौर्गन्ध्यं दरणं मदो विसरणं पाकोऽरतिस्तृड्भ्रमौ । ऊष्माऽतृप्तितमःप्रवेशदहनं कट्वम्लतिक्ता रसा, वर्णः पाण्डुविवर्जितः क्वथितता कर्माणि पित्तस्य वै ॥ तृप्तिस्तन्द्रा गुरुता स्तैमित्यं कठिनता मलाधिक्यम्। स्नेहापक्त्युपलेपाः शैत्यं कण्डूः प्रसेकश्च ॥ चिरकर्तृत्वं शोथो निद्राधिक्यं रसौ पटुस्वादू । वर्णः श्वेतोऽलसता कर्माणि कफस्य जानीयात् ॥ द्विदोषलिङ्गः संसर्गः सन्निपातस्त्रिलिङ्गकः"–इति । लिङ्गज्ञानप्रयोजनं चिकित्साभेदार्थम्। यदाह सुश्रुतः,–"क्षीणा वर्धयितव्याः, वृद्धा ह्रासयितव्याः, समाः पालयितव्या"–इति (सु. चि. स्था. अ. ३३) ।

गति से जैसे—क्षीण वृद्ध आदि दोषों की गति है । जैसे चरक ने कहा है कि क्षय, स्थान और वृद्धि यह त्रिविध दोषों की गति है तथा ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक् यह भी दोषों की गति है। एवं कोष्ठ, शाखा और मर्मास्थिसन्धियों में गमनरूप त्रिविध गति भी दोषों की है। यहां 'क्षयः स्थानम्' में स्थान शब्द का अर्थ दोषों की सम अवस्था है। क्षय आदि का लक्षण जैसे चरक ने भी कहा है कि बढ़े हुए दोष अपने बल के अनुसार अपने २ लक्षण दिखलाते हैं, और घटे हुए दोष अपने २ लक्षणों को ह्रासानुसार छोड़ते हैं। एवं समदोष अपने २ कार्य को ठीक रूप से करते हैं। उक्त पद्य में 'स्वलिङ्ग' का अर्थ प्रकुपित वायु के अपने रौक्ष्य[५] आदि, पित्त के औष्ण्य[६] आदि तथा कफ के स्नेहादि[७] धर्म; और वायु के अपने स्रंस शूलभ्रंस आदि,[८] पित्त के दाहौष्ण्य[९] आदि तथा कफ के श्वैत्य शैत्य[१०] आदि कर्म हैं। जैसे कि चरक के साथ अनुमति रखने वाले आचार्य सुदान्तसेन ने कहा भी है कि आध्मान (पक्वाशय का फूलना), जकड़ाहट, रूक्षता, अङ्गों का स्फुटन, मथनी से मथने की सी व्यथा, क्षुब्धता, कम्पन, सुइयों की सी चुभान, कण्ठध्वंस (विशीर्णवागादि होना), गात्रों में अवसन्नता, थकावट, विलाप, सन्धियों का शिथिल होना, शूल, अङ्गों का फटना, परुषता (खरखरापन), कर्णनाद[११], भोजन का न्यूनाधिक पाक वा विषमपाक, सन्धियों का पृथक् होना, दृष्टिविह्वलता, शरीर में स्पंदन, उद्घट्टन, हर्षक्षय, निद्रानाश,[१२]

१ सुदत्तसेनः. २ तमकविलयनं. ३ परिसदनं. ४ विशरणं. ५ इदं प्राङ् निर्दिष्टम्. ६ 'औष्ण्यं तैक्ष्ण्यं लाघवमनतिस्नेहो वर्णश्च शुक्लारुणवर्जो गन्धश्च विस्रो रसौ च कटुकाम्लौ' इति चरकः. ७ 'स्नेहशैत्यशौक्ल्यगौरवमाधुर्यमात्स्न्यानि' इति चरकः. ८ इदं प्राङ्निर्दिष्टम्. ९ 'दाहौष्ण्यपाकस्वेदक्लेदकोथकण्डूस्रावरागाः यथास्वं च गन्धवर्णरसाभिनिर्वर्तनं पित्तस्य कर्माणि' इति चरकः. १० श्वैत्यशैत्यकण्डूस्थैर्यगौरवस्नेहस्तम्भसुप्तिक्लेदोपदेहवन्धमाधुर्यचिरकारित्वानि श्लेष्मणः कर्माणि' इति चरकः. ११ यदा तु नाडीषु विमार्गमागतः स एव शब्दाभिवहासु तिष्ठति । शृणोति शब्दान् विविधांस्तदा नरः प्रणादमेनं कथयन्ति चामयम् ॥ (सु. उ. तं. अ. २०). १२ यद्यपि 'निद्रानाशोऽनिलात् पित्तात् मनस्तापात् क्षयादपि' इति शास्त्रवचनेन पित्तादिभिरपि निद्रानाशोत्पत्तिर्दृश्यते परं तथापि वायोरेवात्र (निद्रानाशे) प्राधान्यम् । किञ्च, पित्तेन शोषितेऽप्यनिलप्रकोपस्तदनु च निद्रानाशोत्पत्तिः [illegible] वायोः प्रकोपस्तदनु च निद्रानाशः, इदमग्रे स्पष्टयिष्यते.

ाडन, पीडन, अङ्गों का नीचे नमना वा ऊपर उठना, विषाद, भ्रम[1], बार २ गिरना, जृम्भा[2], रोमहर्ष, चित्त की विक्षिप्तता, आक्षेप[3], शोष, सुषिरता, अङ्गों में छेदन, अवयवों का वेष्टन, श्याव (यकृताभ वा शाकाभ) वा अरुणवर्ण, पिपासातिशय[4], सुप्तिवात, ग्रन्थियों का विश्लेषण, मलों का सङ्ग होना तथा मुख कषाय रस वाला होना—ये कुपित वात के लक्षण हैं । विस्फोट, अम्लमुखता, मुख से धूम्र वमन सा प्रतीत होना, प्रलपन, पसीना आना, मूर्च्छा,[5] दुर्गन्धता, दरण, मद, विशरण, पाक, अरति (अरुचिरिति यावत्), पिपासा, भ्रम,[6] ऊष्मा, अतृप्तता, अन्धकार में प्रविष्ट होने का सा ज्ञान, दहन, कटु अम्ल-वा तिक्तरसता[7] होनी, पाण्डुविवर्जितवर्ण (?) और क्वथितता ये प्रकुपित पित्त के कर्म हैं । तृप्ति, तन्द्रा, गुरुता,[8] स्तिमितता, कठिनता, मलाधिकता, स्निग्धता, अपाक, उपलेप, शीतता, कण्डु, प्रसेक,[9] चिरकर्तृत्व, शोथ, निद्रातिशय, लवणरसता, मधुररसता, श्वेत-वर्णता और आलस्य—ये कफ के लक्षण हैं । जहां दो दोषों के लक्षण मिलें वहां द्विदोषता और जहां तीनों दोषों के लक्षण मिलें वहां सन्निपातता जाननी चाहिये । उपर्युक्त लिंग ज्ञान का प्रयोजन चिकित्सा का भेद करना है । जैसे सुश्रुत ने कहा है कि 'क्षीण दोषों को बढ़ाना, बढ़े दोषों को घटाना और समान अवस्था में स्थित दोषों को स्थिर रखना चाहिये' ।

मधु०—ऊर्ध्वादिगतिर्यथा-ऊर्ध्वगं रक्तपित्तमित्यादि । अस्य प्रयोजनं रक्तपित्तस्योर्ध्वगस्य विरेचनम्, अधोगस्य वमनम् । यथोक्तं चरके,—"प्रतिमार्गं च हरणं रक्तपित्ते विधीयते"—इति (च. नि. स्था. अ. २) । यस्तु गतिभेदानभिज्ञः स "विरेकः पित्तहराणाम्"—इति (च. सू. स्था. अ. २५) वचनादधोगे रक्तपित्ते विरेकं प्रयुञ्जान आतुरस्यानर्थमेवोत्पादयति; ज्वरादिषु तिर्यग्दोषगतिषु यथोक्तं चिकित्सितमिति । वृद्धा दोषाः कदाचित्कोष्ठं कदाचिच्छाखाः कदाचिन्मर्मास्थिसन्धीनाश्रित्य रुजन्ति; मर्मास्थिसन्धिषु गतिः कृच्छ्रसाध्यत्वापादकत्वादेकत्वेन निर्दिष्टा । कोष्ठ आमाशयादिः, शाखा रक्तादयो धातवस्त्वक्चेति, चरककृतैवेयं संज्ञा । कोष्ठा-द्यभिधानप्रयोजनं चिकित्साभेदार्थम् । यथोक्तं चरके,—"आमाशयगते वाते कफे पक्वाशया-श्रिते । रूक्षपूर्वो हितः स्वेदः स्नेहपूर्वस्तथैव च ॥" (च. सू. स्था. अ. १४); तथा,—"सन्ततं[11] रसरक्तस्थः सोऽन्येद्युः पिशिताश्रितः ॥"—(सु. उ. तं. अ. ३९) इत्यादि तथा,—"नाग्निकर्मोपदेष्टव्यं स्नायुमर्मव्रणेषु च"—इति । एते च दोषाः सामत्वनिरामत्वाभ्या-मपि ज्ञातव्याः । यदुक्तं,—"ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम् । दुष्टमामाशयगतं

---

१ चक्रवद्भ्रमतो गात्रं भ्रम इत्यभिधीयते । यद्यपि 'रजःपित्ताऽनिलाद्भ्रमः' इति सुश्रुतनिर्देशेन पित्तादिभिरपि भ्रमो जायते परमत्रापि पित्तस्याप्राधान्यम्, अन्यथाऽयं वातस्य नानात्मजो न भविष्यति, इयं प्रणालिरग्रे निर्देक्ष्यते. २ पीत्वैकमनिलोच्छ्वासमुद्वेष्टन् विवृताननः । यं मुञ्चति सनेत्रास्रं स जृम्भ इति संज्ञितः ॥ (सु. शा. अ. ४). ३ 'मुहुर्मुहुश्चाक्षेपणादाक्षेपक इति स्मृतः' इति. ४ यद्यपि 'नाग्नेर्विना तर्षः पवनाद्वा तौ हि शोषणे हेतू' इति शास्त्रोदिते नास्य पित्तजन्यत्वमप्यस्ति तथापि वायोरेवाधिक्येन शोष्यते, अतो वायुना तृष्णाऽतिरोते. ५ 'मूर्च्छापित्ततमःप्रायः' इति सुश्रुतनिर्देशोऽपि. ६ उपर्युक्तमेव, किन्न वातजभ्रमे उपर्युक्तत्वम्, अत्र चान्यथाप्रतीतिभ्रमः. ७ अत्र मुखस्य, पूर्वत्र च तनोः. ८ आर्द्र-चर्मावनद्धं वा यो गात्रमभिमन्यते । तथा गुरुशिरोऽत्यर्थं गौरवं तद्विनिर्दिशेत् ॥ ९ 'उक्लिश्यान्नं न निर्गच्छेत् प्रसेकः ष्ठीवनेरितम्' सु. १० अनर्थं मरणम् । यथोक्तमपि—अधोभागरक्तपित्तिनां च [illegible] (मुखनासिकदतिप्रवृत्त्या हन्यादित्यर्थः) (च. सि. स्था. अ. २). ११ सततं.

रसमामं प्रचक्षते ॥ आमेन तेन संयुक्ता दोषा दूष्याश्च दूषिताः । सामा इत्यु... ये च रोगास्तदुद्भवाः ॥ स्रोतोरोधबलभ्रंशगौरवानिलमूढताः । आलस्यापक्तिनिष्ठीवमलभेदारुचिक्लमाः ॥ लिङ्गं मलानां सामानां निरामाणां विपर्ययः ।" (वा. सू. स्था. अ. १३)। वायुः सामो विबन्धाग्निसादतन्द्रान्त्रकूजनैः ॥ वेदनाशोथनिस्तोदैः क्रमशोऽङ्गानि पीडयेत् । विचरेद्युगपच्चापि गृह्णाति कुपितो भृशम् । स्नेहाद्यैर्वृद्धिमाप्नोति सूर्यमेघोदये निशि । निरामो विशदो रूक्षो निर्विबन्धोऽल्पवेदनः ॥ विपरीतगुणैः शान्तिं स्निग्धैर्याति विशेषतः । दुर्गन्धं हरितं श्यावं पित्तमम्लं स्थिरं गुरु॥ अम्लिकाकण्ठहृद्दाहकरं सामं विनिर्दिशेत् । आताम्रं पीतमत्युष्णं रसे कटुकमस्थिरम्॥ पक्वं विगन्धं विज्ञेयं रुचिपक्तृबलप्रदम् । आविलस्तन्तुलः स्त्यानः कण्ठदेशेऽवतिष्ठते सामो बलासो दुर्गन्धः क्षुदुद्गारविघातकृत् ॥ फेनवान्पिण्डितः पाण्डुर्निःसारोऽगन्ध एव च । पक्वः स एव विज्ञेयश्छेदवान्वक्त्रशुद्धिकृत् ॥"—इति । अस्य प्रयोजनं सामे पाचनं निरामे शमनमिति । एते च दोषाः परस्परसंबद्धास्तरतमादिभेदेन द्विषष्टिधा भवन्ति । तदुदाहरणानि विस्तरत्वापत्तेरत्र न लिख्यन्ते, सौश्रुतदोषभेदविकल्पाध्याये द्रष्टव्यानि । उक्तहेतुदोषभेदयोः संग्रहश्लोकौ—'चत्वारो व्यभिचारिदूरनिकटप्राधानिकत्वात्पुनस्तेऽसात्म्येन्द्रियकार्ययुक्परिणतिप्रज्ञापराधात्त्रिधा । रुग्दोषोभयकारणादपि तथा, द्वौ व्यञ्जकोत्पादकौ, बाह्याभ्यन्तरभेदतोऽपि कथिता हेतोः प्रभेदा अमी ॥ दोषस्य च प्राकृतवैकृताभ्यां, भेदोऽनुबन्ध्यादपि चानुबन्धात् । तथा प्रकृत्यप्रकृतित्वयोगात्तथाऽऽशयाकर्षवशाद्गतेश्च ॥' इति निदानम् ॥—

ऊपर ऊर्ध्वादि तीन भेद भी गति के कहे हैं । उनके उदाहरण, जैसे—ऊर्ध्वगति रक्तपित्त इत्यादि में है । इसका प्रयोजन, ऊर्ध्वग रक्तपित्त में विरेचन तथा अधोग में वमन देना है । जैसे कि चरक ने कहा है—'रक्तपित्त में दोषों को प्रतिलोम मार्ग से निकालना चाहिये' अर्थात् यदि रक्तपित्त मुखद्वारा होता हो तो विरेचन और यदि गुदद्वारा होता हो तो वमन देना चाहिये । इसका भाव यह है कि—वैद्यक तन्त्रों में, ऊर्ध्वग रक्त पित्त में वमन, तथा अधोग में विरेचन निषिद्ध है । क्योंकि इसमें उक्त प्रकार अर्थात् ऊर्ध्वग में वमन, और अधोग में विरेचन कराने से[७] हानि होती है । इसी कारण इसमें दोष प्रतिलोम मार्ग द्वारा निकाले जाते हैं । इसी को टीकाकार आगे 'यस्तु' इत्यादि पाठ से विशद करता है कि जो गति के भेदों को नहीं जानता 'वह विरेचन पित्तहरों में श्रेष्ठ है' इस वचन के अनुसार अधोग रक्तपित्त में विरेचन देकर रोगी को मार डालता है । ज्वरादिकों में दोषों की तिर्यक्

१ संयुक्ताः. २ मलसङ्गः. ३ सामत्वादेव वायुः स्नेहाद्यैर्वृद्धिमाप्नोति. ४ ह्यल्पैकोल्बणैः षट् स्युर्हीनमध्याधिकैश्च षट् । समैश्चैको, विकारास्ते सन्निपातास्त्रयोदश । संसर्गे नव षट् तेभ्य एकवृद्ध्या, समैस्त्रयः । पृथक् त्रयः स्युस्तैर्वृद्धैर्व्याधयः पञ्चविंशतिः । यथावृद्धैस्तथा क्षीणैर्दोषैः स्युः पञ्चविंशतिः । वृद्धिक्षयकृतश्चान्यो विकल्प उपदेक्ष्यते । वृद्धिरेकस्य समता चैकस्यैकस्य संक्षयः । द्वन्द्ववृद्धिः क्षयश्चैकवृद्धिर्द्वयोः क्षयः; (च. सू. अ. १७). ५ अच्छर्दनीयास्तावत्...ऊर्ध्वरक्तपित्तप्रसक्तच्छर्दीत्यादि (च. सि. अ. २)। ६ अविरेच्यास्तु...अधोभागरक्तपित्तेत्यादि (च. नि. अ. १)। ७ अधोगानां पूर्वमुपदिष्टा, ऊर्ध्वगानान्तु—ऊर्ध्वरक्तपित्तस्योदानमुत्क्षिप्य प्राणान् हरेत्, रक्तञ्चातियोगः, (च. वि. अ. २).

गति होने पर भी यथोचित चिकित्सा करनी चाहिये, यह तिर्यक् गति ज्ञान का फल है। अब तीसरे गतिभेद को विशद करते हुए टीकाकार कहते हैं कि बढ़े हुए दोष कभी कोष्ठ (आमाशय आदि में), कभी शाखा और कभी मर्म अस्थि एवं सन्धियों में आश्रित होकर पीड़ा करते हैं। इनमें तीसरे गतिभेद के तीसरे भेद की कष्टसाध्यावस्था बताने के लिये मर्म, अस्थि और सन्धि इन तीनों को एक भेद में गिना है। कोष्ठ शब्द से आमाशय आदि लिये जाते हैं, और 'शाखा' शब्द से रक्तादि धातु तथा त्वचा का ग्रहण होता है, यह चरक की पारिभाषिक संज्ञा है। कोष्ठ आदि चिकित्साभेदार्थ कहे हैं। जैसे चरक ने कहा है कि—जब वायु आमाशय में आश्रित हो और कफ पक्वाशय में, तब यथाक्रम रूक्षपूर्वक तथा स्नेहपूर्वक स्वेद देना चाहिये। किञ्च—सन्तत[1] रस धातु में, सतत रक्त धातु में, और अन्येद्युष्क मांस धातु में स्थित रहता है। इसका प्रयोजन भी चिकित्सासौकर्य ही है। अर्थात् सन्ततादिकों के साथ २ उनके आश्रयभूत धातुओं का ज्ञान हो जाने पर दोषों के साथ २ धातुओं के अनुरूप चिकित्सा करने से शीघ्र लाभ होता है। एवं स्नायु मर्म तथा व्रणों में अग्निकर्म अर्थात् दाह नहीं करना चाहिये। यहां भी चिकिसाभेद ही है। यह दोष साम और निराम इन दो भेदों से भी जानने चाहिएँ। जैसे कहा भी है कि—अन्तराग्नि के निर्बल होने से प्रथम रस नामक धातु अपक्व रहकर तथा दुष्ट होकर जब आमाशय में जाती है, तब उसे 'आमरस' कहते हैं। उसी आमरस से संयुक्त होने के कारण दूषित हुए दोष और दूष्य साम कहलाते हैं तथा उनसे उत्पन्न रोग भी साम होते हैं। स्रोतों का अवरोध, बल की हानि, शरीर में गुरुता, वायु की मूढ़ता (निश्चलता), आलस्य, अन्न का न पचना, थूकों का आना (विशेषतः प्रातःकाल), मल का भेद (पतला होना), अरुचि और क्लम होना आदि साम मलों के लक्षण हैं। निराम मलों के लक्षण इनसे विपरीत होते हैं। साम वायु के लक्षण—सामवायु विबन्ध, अग्निमान्द्य, तन्द्रा[2], अन्नकूजन, पीड़ा, शोथ और निस्तोद (सुइयों की सी चुभान) आदि से अङ्गों को पीडित करता है। एवं एकदम चलता हुआ कुपित होकर बार २ (वेगों से) अंगग्रह भी कर देता है। वह (सामवायु) स्नेहादि[3] से, सूर्योदय के समय (प्रातःकाल), मेघोदय के समय (वा वर्षाऋतु में), और रात को बढ़ जाता है, और निराम वायु विशद, रूक्ष, विबन्धरहित, स्वल्प पीड़ा वाला, एवं (वह) अपने गुणों के विपरीत गुणों से और विशेषतः स्निग्ध गुणों से शान्त हो जाता है। साम पित्त के लक्षण—साम पित्त दुर्गन्धयुक्त श्याववर्ण वा हरितवर्ण अम्ल स्थिर एवं गुरु होता है और वह अम्लपित्त कण्ठदाह एवं हृदयदाह कर देता है। निराम पित्त के लक्षण—वही (साम) पित्त जब निराम हो जाता है, तो ताम्र वा पीत वर्ण वाला हो जाता है। एवं अत्युष्ण, रस में कटु, अस्थिर, पका हुआ, गन्ध रहित, रुचिकर तथा अग्निवर्धक

---

१ यह सब प्रायिक है, अन्यथा तन्त्रों में विरोध आता है। यथा—यहां संतत रसस्थ माना है। परन्तु चरक में—यथा धातुं तथा मूत्रं पुरीषं चानिलादयः। युगपच्चानुपपद्यन्ते नियमात् सन्तते ज्वरे॥ (च. चि. अ. ३) में धातु शब्द से ७ धातुओं का ग्रहण होता है। इसके 'द्वादशैते समुद्दिष्टाः सन्ततस्याश्रयास्तदा' (च. चि. अ. ३) इस वचनानुसार उक्त १२ आश्रय नहीं बनते। एवं सतत भी प्रायः रक्तधात्वाश्रित है। यथाह चरकः—रक्तधात्वाश्रयः प्रायो दोषः सततकं ज्वरम्। (च. चि. अ. ३) इति। अन्येद्युष्क भी प्रायः मांसाश्रित है। अन्यथा 'दोषोमेदोवहा रुद्ध्वा नाडीरन्येद्युष्कं ज्वरम्'। (च. चि. अ. ३) से विरोध होगा। एवं तृतीयक आदि में जानना। विशेष विवरण चरकादि में देखना। यहां विस्तार भय से नहीं लिखा जाता. २ इन्द्रियार्थेष्वसंवित्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः। निद्रार्तस्यैव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत्॥ (सु. शा. अ. ४). ३ स्नेहस्वेदादिभिरित्यर्थः.

होता है। साम कफ के लक्षण—साम कफ गदला (अशुद्ध), तन्तुओं वाला, दुर्गन्ध युक्त, क्षुधा तथा उद्गार नाशक होता है। इसका स्थान कण्ठदेश है। निराम कफ के लक्षण—वही (साम) कफ जब निराम वा पक्व हो जाता है तो फेनयुक्त, घन, पाण्डु, सर तथा गन्धरहित होता है, साथ ही वह (मुखद्वारा) निकलना आरम्भ हो जाता है और मुख को भी शुद्ध करता है। इस साम तथा निराम कथन का प्रयोजन साम में पाचन और निराम में शमन चिकित्सा करना है। परस्पर मिले हुए इन दोषों के सूक्ष्म भेद ६२ होते हैं। विस्तारभय से इनके उदाहरण यहां नहीं दिये जाते। वे सुश्रुत के दोषभेदीय[1] अध्याय में से देख लेने चाहिएँ। उक्त हेतुभेद तथा दोषभेद को बोधित कराने के लिये दो संग्रहश्लोक भी हैं। यथा—हेतु व्यभिचारी, दूर, निकट और प्राधानिक भेद से चार प्रकार का होता है, तदनु वह असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, परिणाम और प्रज्ञापराध भेद से तीन प्रकार का होता है। वही हेतु पुनः दोषहेतु, व्याधिहेतु और उभयहेतु भेद से तीन प्रकार का, व्यञ्जक और उत्पादक भेद से दो प्रकार का, एवं बाह्य तथा आभ्यन्तरिक भेद से दो प्रकार का होता है। एवं दोष प्राकृत, वैकृत भेद से दो प्रकार का; अनुबन्ध्य, अनुबन्ध भेद से दो प्रकार का; तथा प्रकृति, विकृति भेद से दो प्रकार का होता है। तदनु वही दोष आशयापकर्षी तथा त्रिविध गति भेद वाला भी होता है। ये दोष के भेद हैं। निदान का प्रपञ्च इस प्रकार है।

पूर्वरूपस्य स्वरूपं निरूपयति—

प्राग्रूपं येन लक्ष्यते ॥५॥ [वा० ३।१।३]
उत्पित्सुरामयो दोषविशेषेणानधिष्ठितः।
लिङ्गमव्यक्तमल्पत्वाद् व्याधीनां तद्यथायथम् ॥६॥ [वा० ३।१।४]

अन्वयः—दोषविशेषेण, अनधिष्ठितः, उत्पित्सुः, आमयः, येन, लक्ष्यते, तत् (सामान्यम्) प्राग्रूपम्। अल्पत्वात्, व्याधीनाम्, यथायथम्, अव्यक्तम्, लिङ्गम् (यत् लक्ष्यते तत् विशिष्टं प्राग्रूपम्)।

भावार्थ—किसी दोषविशेष के अधिष्ठान (सम्बन्ध) से रहित उत्पन्न होने वाली व्याधि जिससे जानी जावे उसे सामान्य पूर्वरूप कहते हैं। पूर्वरूपावस्था में अत्यल्प होने से व्याधियों के अपने २ अव्यक्त[2] लक्षण लक्षित हों (दीखें) उन्हें विशिष्ट पूर्वरूप कहा जाता है।

वक्तव्य—वस्तुतः पूर्वरूप दो प्रकार का होता है—एक सामान्य पूर्वरूप दूसरा विशिष्ट पूर्वरूप। सामान्य पूर्वरूप से केवल यही मालूम होता है कि रोग अथवा अमुक रोग होने वाला है। उससे यह मालूम नहीं होता कि यह रोग किस दोष से होगा। जैसे—श्रम, अरति, विवर्णादि को देख हमें यह तो ज्ञात हो जाता है कि ज्वर होने वाला है, परन्तु उसमें यह ज्ञान नहीं होता कि यह ज्व

१ 'त्रय एव पृथक् दोषा द्विशो नव समाधिकैः। त्रयो दशाधिकैकद्विसममध्योल्बणैस्त्रिशः पञ्चाशदेवं तु सह भवन्ति क्षयमागतैः। क्षीणमध्याधिकक्षीणक्षीणवृद्धैस्तथाऽपरैः॥ द्वादशैवं समाख्यातास्त्रयो दोषा द्विषष्टिधा॥' (सु. उ. तं. अ. ६२). २ यहां नञ् 'अलवणा यवागू' की तरह अल्पार्थवाची है, अतः इसका अर्थ ईषत् स्फुट लक्षण है.

ात से होगा, पित्त से होगा वा कफ से । कुछ पूर्वरूप ऐसे भी हैं, जिनमें कि ोष का ज्ञान भी हो जाता है। उन्हें विशिष्ट पूर्वरूप कहते हैं । इसमें भी यह तो ान हो जाता है कि वातज अमुक व्याधि वा पित्तज अमुक व्याधि अथवा कफज अमुक व्याधि होने वाली है। परन्तु यह ज्ञान इसमें भी नहीं होता कि वे ातादि दोष किन भावों से प्रकुपित हुए हैं । जैसे—जृम्भाबाहुल्य भावी वातिक वर, नयनदाह भावी पैत्तिक ज्वर और अन्न में अरुचि भावी श्लैष्मिक ज्वर की ोधक तो हैं, परन्तु वहां वात, पित्त और कफ किन २ रूक्षादि भावों से प्रकुपित हुए ैं, यह ज्ञान नहीं होता। यही इस में अव्यक्तता है और यही इसका रूप से भेद ै। कारण कि रूप में इन सब का ज्ञान हो जाता है ॥६॥

मधु०—निदानानन्तरीयकत्वात्पूर्वरूपादीनां तदनन्तरं प्राग्रूपमाह—प्राग्रूपमित्यादि द्विविधं हि पूर्वरूपं भवति, सामान्यं विशिष्टं च । तत्र सामान्यं येन दोषदूष्यसंमूर्च्छनावस्थाजनितेन भाविज्वरादिव्याधिमात्रं प्रतीयते, न तु वातादिजनितत्वादिविशेषः । यथा—'श्रमोऽरतिर्विवर्णत्वम्' इत्यादि (मा. ज्व. नि. श्लो. ४) तथा देवगुरुविप्रद्वेषादि । सामान्याभिप्रायेणैव तन्त्रान्तरम्—"व्याधेर्जातिर्बुभूषा च पूर्वरूपेण लक्ष्यते । भावः किमात्मकत्वं च लक्ष्यते लक्षणेन हि ॥" इति । तथाऽऽह पराशरः—'पूर्वरूपं नाम येन भाविव्याधिविशेषो लक्ष्यते न तु दोषविशेषः'—इति । विशिष्टं यथा-उरःक्षतादौ लिङ्गान्येव वातादिजान्यव्यक्तानि । यदुक्तं तत्रैव—"अव्यक्तं लक्षणं तस्य पूर्वरूपमिति स्मृतम्'—इति । तथा सुश्रुतः,—'सामान्यतो, विशेषात्तु जृम्भाऽत्यर्थं समीरणात् । पित्तान्नयनयोर्दाहः कफादन्नारुचिस्तथा"—इति (सु. उ. तं. अ. ३९) । हारीतेऽप्युक्तम्,—"इति पूर्वरूपमष्टानां ज्वराणां सामान्यतः, विशेषतस्तु जृम्भाङ्गमर्दभूयिष्ठं हृदयोद्वेगि वातजम्"—इत्यादि ।

पूर्वरूपादि निदान के बाद में होते हैं। अतः प्रकृत में भी निदान के पश्चात् पूर्वरूपादिकों में से पहले प्राग्रूपमित्यादि से पूर्वरूप को कहते हैं। पूर्वरूप दो प्रकार का होता है—एक सामान्य, दूसरा विशिष्ट। सामान्य पूर्वरूप दोष दूष्य की सम्मूर्च्छनावस्था से उत्पन्न जिन लिङ्गों से, उत्पन्न होने वाली व्याधिमात्र का ज्ञान हो; वह है; न कि वातादि दोषजन्य व्याधि का भी जिससे ज्ञान हो, वह सामान्य पूर्वरूप है। इसका उदाहरण—'श्रमोऽरतिविवर्णत्वादि तथा देवगुरुविप्रद्वेष' आदि (सामान्य पूर्वरूप) है। इनसे सामान्यतः भावी ज्वरमात्र का ही ज्ञान होता है, न कि वातादिजन्य ज्वर का। सामान्य अभिप्राय को लेकर ही दूसरे शास्त्र में भी कहा है कि 'व्याधि के उत्पन्न होने की इच्छा अर्थात् भावी व्याधि पूर्वरूप से जानी जाती है, परन्तु उस व्याधि में भाव अर्थात् वायु आदि के प्रकोपक रूक्षादि भावों में से कौन हैं, यह लक्षण से ही जाना जाता है'। उक्त श्लोक का भाव यह है कि सामान्य पूर्वरूप से केवल भावी व्याधिविशेष का ज्ञान हो जाय, परन्तु उसमें कौन सा दोष है, यह प्रतीत न हो। विशिष्ट पूर्वरूप जैसे—उरःक्षत आदि में वात आदि के अव्यक्त रूप ही पूर्वरूप (विशिष्ट पूर्वरूप) होते हैं। जैसे कि वहीं कहा भी है कि 'उसी उरःक्षत का अस्फुट लक्षण पूर्वरूप होता है। इसी प्रकार आचार्य सुश्रुत भी विशिष्ट पूर्वरूप के विषय में कहते हैं कि—'उपर्युक्त सामान्य पूर्वरूप हैं, विशेष पूर्वरूप तो वात ज्वर का जृम्भाबाहुल्य, पित्तज्वर का नयनों में दाह और कफ ज्वर का अन्न में अरुचि है'। हारीत

होता है । साम कफ के लक्षण—साम कफ गदला (अशुद्ध), तन्तुओं वाला, दुर्गन्ध युक्त, क्षुधा तथा उद्गार नाशक होता है । इसका स्थान कण्ठदेश है । निराम कफ के लक्षण—वही (साम) कफ जब निराम वा पक्व हो जाता है तो फेनयुक्त, घन, पाण्डु, सर तथा गन्धरहित होता है, साथ ही वह (मुखद्वारा) निकलना आरम्भ हो जाता है और मुख को भी शुद्ध करता है । इस साम तथा निराम कथन का प्रयोजन साम में पाचन और निराम में शमन चिकित्सा करना है । परस्पर मिले हुए इन दोषों के सूक्ष्म भेद ६२ होते हैं । विस्तारभय से इनके उदाहरण यहां नहीं दिये जाते । वे सुश्रुत के दोषभेदीय[1] अध्याय में से देख लेने चाहिएँ । उक्त हेतुभेद तथा दोषभेद को बोधित कराने के लिये दो संग्रहश्लोक भी हैं । यथा—हेतु व्यभिचारी, दूर, निकट और प्राधानिक भेद से चार प्रकार का होता है, तदनु वह असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, परिणाम और प्रज्ञापराध भेद से तीन प्रकार का होता है । वही हेतु पुनः दोषहेतु, व्याधिहेतु और उभयहेतु भेद से तीन प्रकार का, व्यञ्जक और उत्पादक भेद से दो प्रकार का, एवं बाह्य तथा आभ्यन्तरिक भेद से दो प्रकार का होता है । एवं दोष प्राकृत, वैकृत भेद से दो प्रकार का; अनुबन्ध्य, अनुबन्ध भेद से दो प्रकार का; तथा प्रकृति, विकृति भेद से दो प्रकार का होता है । तदनु वही दोष आशयापकर्षी तथा त्रिविध गति भेद वाला भी होता है । ये दोष के भेद हैं । निदान का प्रपञ्च इस प्रकार है ।

पूर्वरूपस्य स्वरूपं निरूपयति—

प्राग्रूपं येन लक्ष्यते ॥५॥ [वा० ३।१।३]

उत्पित्सुरामयो दोषविशेषेणानधिष्ठितः ।

लिङ्गमव्यक्तमल्पत्वाद् व्याधीनां तद्यथायथम् ॥६॥ [वा० ३।१।४]

अन्वयः—दोषविशेषेण, अनधिष्ठितः, उत्पित्सुः, आमयः, येन, लक्ष्यते, तत् (सामान्यम्) प्राग्रूपम् । अल्पत्वात्, व्याधीनाम्, यथायथम्, अव्यक्तम्, लिङ्गम् (यत् लक्ष्यते तत् विशिष्टं प्राग्रूपम्) ।

भावार्थ—किसी दोषविशेष के अधिष्ठान (सम्बन्ध) से रहित उत्पन्न होने वाली व्याधि जिससे जानी जावे उसे सामान्य पूर्वरूप कहते हैं । पूर्वरूपावस्था में अत्यल्प होने से व्याधियों के अपने २ अव्यक्त[2] लक्षण लक्षित हों (दीखें), उन्हें विशिष्ट पूर्वरूप कहा जाता है ।

वक्तव्य—वस्तुतः पूर्वरूप दो प्रकार का होता है—एक सामान्य पूर्वरूप, दूसरा विशिष्ट पूर्वरूप । सामान्य पूर्वरूप से केवल यही मालूम होता है कि रोग अथवा अमुक रोग होने वाला है । उससे यह मालूम नहीं होता कि यह रोग किस दोष से होगा । जैसे—श्रम, अरति, विवर्णादि को देख हमें यह तो ज्ञात हो जाता है कि ज्वर होने वाला है, परन्तु उसमें यह ज्ञान नहीं होता कि यह ज्वर

१ 'त्रय एव पृथक् दोषा द्विशो नव समाधिकैः । त्रयो दशाधिकैकद्विसममध्योल्बणैस्त्रिशः ॥ पञ्चाशदेवं तु सह भवन्ति क्षयमागतैः । क्षीणमध्याधिकक्षीणक्षीणवृद्धैस्तथाऽपरैः ॥ द्वादशैवं समाख्यातास्त्रयो दोषा द्विषष्टिधा ॥' (सु. उ. तं. अ. ६२). २ यहां नञ् 'अलवणा यवागू' की तरह ईषदर्थवाची है, अतः इसका अर्थ ईषत् स्फुट लक्षण है.

वात से होगा, पित्त से होगा वा कफ से । कुछ पूर्वरूप ऐसे भी हैं, जिनमें कि दोष का ज्ञान भी हो जाता है। उन्हें विशिष्ट पूर्वरूप कहते हैं । इसमें भी यह तो ज्ञान हो जाता है कि वातज अमुक व्याधि वा पित्तज अमुक व्याधि अथवा कफज अमुक व्याधि होने वाली है। परन्तु यह ज्ञान इसमें भी नहीं होता कि वे वातादि दोष किन भावों से प्रकुपित हुए हैं । जैसे—जृम्भाबाहुल्य भावी वातिक ज्वर, नयनदाह भावी पैत्तिक ज्वर और अन्न में अरुचि भावी श्लैष्मिक ज्वर की बोधक तो हैं, परन्तु वहां वात, पित्त और कफ किन २ रूक्षादि भावों से प्रकुपित हुए हैं, यह ज्ञान नहीं होता। यही इस में अव्यक्तता है और यही इसका रूप से भेद है। कारण कि रूप में इन सब का ज्ञान हो जाता है ॥६॥

मधु०—निदानानन्तरीयकत्वात्पूर्वरूपादीनां तदनन्तरं प्राग्रूपमाह—प्राग्रूपमित्यादि द्विविधं हि पूर्वरूपं भवति, सामान्यं विशिष्टं च। तत्र सामान्यं येन दोषदूष्यसंमूर्च्छनावस्थाजनितेन भाविज्वरादिव्याधिमात्रं प्रतीयते, न तु वातादिजनितत्वादिविशेषः । यथा—'श्रमोऽरतिर्विवर्णत्वम्' इत्यादि (मा. ज्व. नि. श्लो. ४) तथा देवगुरुविप्रद्वेषादि । सामान्याभिप्रायेणैव तन्त्रान्तरम्— "व्याधेर्जातिर्बुभूषा च पूर्वरूपेण लक्ष्यते । भावः किमात्मकत्वं च लक्ष्यते लक्षणेन ॥" इति । तथाऽऽह पराशरः—'पूर्वरूपं नाम येन भाविव्याधिविशेषो लक्ष्यते न तु षविशेषः'—इति । विशिष्टं यथा-उरःक्षतादौ लिङ्गान्येव वातादिजान्यव्यक्तानि । यदुक्तं त्रैव—"अव्यक्तं लक्षणं तस्य पूर्वरूपमिति स्मृतम्'—इति। तथा सुश्रुतः,—'सामान्यतो, विशेषात्तु जृम्भाऽत्यर्थं समीरणात् । पित्तान्नयनयोर्दाहः कफादन्नारुचिस्तथा"—इति सु. उ. तं. अ. ३९) । हारीतेऽप्युक्तम्,—"इति पूर्वरूपमष्टानां ज्वराणां सामान्यतः, विशेषतस्तु जृम्भाङ्गमर्दभूयिष्ठं हृदयोद्वेगि वातजम्"—इत्यादि ।

पूर्वरूपादि निदान के बाद में होते हैं। अतः प्रकृत में भी निदान के पश्चात् पूर्वरूपादिकों में से पहले प्राग्रूपमित्यादि से पूर्वरूप को कहते हैं। पूर्वरूप दो प्रकार का होता है—एक सामान्य, दूसरा विशिष्ट। सामान्य पूर्वरूप दोष दूष्य की सम्मूर्च्छनावस्था से उत्पन्न जिन लिङ्गों से, उत्पन्न होने वाली व्याधिमात्र का ज्ञान हो, वह है; न कि वातादि दोषजन्य व्याधि का भी जिससे ज्ञान हो, वह सामान्य पूर्वरूप है। इसका उदाहरण—'श्रमोऽरतिविवर्णत्वादि तथा देवगुरुविप्रद्वेष' आदि (सामान्य पूर्वरूप) है। इनसे सामान्यतः भावी ज्वरमात्र का ही ज्ञान होता है, न कि वातादिजन्य ज्वर का। सामान्य अभिप्राय को लेकर ही दूसरे शास्त्र में भी कहा है कि 'व्याधि के उत्पन्न होने की इच्छा अर्थात् भावी व्याधि पूर्वरूप से जानी जाती है, परन्तु उस व्याधि में भाव अर्थात् वायु आदि के प्रकोपक रूक्षादि भावों में से कौन हैं, यह लक्षण से ही जाना जाता है'। उक्त श्लोक का भाव यह है कि सामान्य पूर्वरूप से केवल भावी व्याधिविशेष का ज्ञान हो जाय, परन्तु उसमें कौन सा दोष है, यह प्रतीत न हो। विशिष्ट पूर्वरूप जैसे—उरःक्षत आदि में वात आदि के अव्यक्त रूप ही पूर्वरुप (विशिष्ट पूर्वरूप) होते हैं। जैसे कि वहीं कहा भी है कि 'उसी उरःक्षत का अस्फुट लक्षण पूर्वरूप होता है। इसी प्रकार आचार्य सुश्रुत भी विशिष्ट पूर्वरूप के विषय में कहते हैं कि—'उपर्युक्त सामान्य पूर्वरूप हैं, विशेष पूर्वरूप तो वात ज्वर का जृम्भाबाहुल्य, पित्तज्वर का नयनों में दाह और कफ ज्वर का अन्न में अरुचि है' । हारीत

भी कहते हैं कि—'यह पूर्वरूप आठों ही ज्वरों का सामान्य पूर्वरूप है। विशेष पूर्वरू तो वातिक ज्वर का जृम्भा और अङ्गमर्द का आधिक्य तथा हृदय में उद्वेग होना है। ए पित्त आदि का भी विशिष्ट पूर्वरूप पृथक् ही होता है।

मधु०—ननु, चात्यर्थं व्यक्तत्वं ततश्च जृम्भादेरपि रूपत्वं प्रसज्येत; यद्वक्ष्यति-"तदे व्यक्ततां यातं रूपमित्यभिधीयते"-इति। उच्यते, यथा श्रमादय इतररोगव्यतिरिक्तं भावि ज्वरमात्रं बोधयन्ति न तु वातजत्वादिविशेषमित्यतस्तेषामव्यक्तत्वम्, तथा पित्तादिज्वरव्यतिरि भविष्यद्वातज्वरमात्रं बोधयन्ति जृम्भादयः, न तु वातस्य रूक्षशीतधातुक्षयावरणादिजन्यत्वरूपविशे बोधयन्ति; इत्यतोऽव्यक्तवातज्वरबोधकत्वादव्यक्तत्वमेव जृम्भादीनामिति जेज्जटवाप्यचन्द्रमाधवक कार्तिककुण्डादयो व्याचक्षते। अन्ये त्वाहुः—प्रभूताव्यक्तपूर्वरूपसहचरितव्यक्तस्यापि जृम्भा पूर्वरूपव्यपदेशः; यथा—माषराशिः; छत्रिणो गच्छन्त्येवमादि। न च व्यक्तत्वेन रूपादभेद नियमेन पूर्वरूपरूपयोर्भाविवर्तमानव्याधिबोधकत्वादिति। तत्र विशिष्टपूर्वरूपं रूपावस्थायामनुवर्त एव, तस्यैवाभिव्यक्तस्य रूपत्वात्; न तु दोषदूष्यसंमूर्च्छनावस्थाजनितंरोमहर्षबालप्रद्वेषादिकं नियां नानुवर्तते, यद्यनुवर्तेत, तदा सर्वज्वराणामसाध्यत्वं प्रसज्येत। एतदभिप्रायेण, "पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया। यं विशन्ति विशत्येनं मृत्युर्ज्वरपुरःसरः"—इति (च. स्था. अ. ५) चरकवचनमित्याहुः तदेवं द्विविधे पूर्वरूपे व्यवस्थिते सामान्यपूर्वरूपमाह—प्राग्रूपमित्यादि

सामान्य पूर्वरूप के अनन्तर विशेष पूर्वरूप होते हैं। तदनु वही पूर्वरूप जब व्य हो जाते हैं, तब रूप कहलाते हैं। एवं जब कि रूप अत्यर्थ व्यक्त होता है तो 'जृम्भा' आदि के भी अत्यर्थ व्यक्त होने से वे (जृम्भादिक) भी रूप कहलायेंगे। इसी शंका का उत्था आचार्य रक्षित 'ननु' शब्द से उठाते हैं कि अत्यर्थ (अत्यन्त) व्यक्त पूर्वरूप रूप कहला हैं। यदि यह ठीक है तो जृम्भादिकों के भी अतिव्यक्त होने से वे भी रूप कहलाएंगे। जै कहा भी है कि वही (पूर्वरूप) व्यक्त हुआ रूप कहलाता है, इत्यादि। इसका उ यह है कि जिस प्रकार श्रम आदि और रोगों को न बोधित कराते हुए केवल भावी ज्वर बोध कराते हैं, न कि वातादि ज्वर का। अतः उनमें अव्यक्तता है, यह मानना पड़ता है; ठी उसी प्रकार जृम्भा आदि पित्त ज्वरादिकों से भिन्न केवल भावी वातिक ज्वर का ही बोध कराते हैं, न कि वात की रूक्ष, शीत, धातुक्षय, आवरण से उत्पत्ति रूप विशेषता को। एवं अव्यक्त वातिक ज्वर आदि बोधक होने से जृम्भादि भी अव्यक्त ही हैं, व्यक्त नहीं, यह मानना चाहिये। जब वे व्यक्त नहीं है तो रूप भी नहीं कहला सकते। इस प्रकार जेज्जट वाप्यचन्द्र माधवकर कार्तिक कुण्ड आदि उपर्युक्त शंका का निवारण करते हैं। इसका दूसरे आचार्य इस प्रकार समाधान करते हैं कि व्यक्त होने पर भी जृम्भा आदि बहुत से अव्यक्त पूर्वरूपों के सहचारी होने से (वे भी) पूर्वरूप कहलाते हैं। इसका भाव यह है जिस प्रकार 'माषराशि' कहने से, माष के ढेर में मिश्रित कुछ एक मुद्ग आदि भी माष-राशि में लिये जाते हैं; तथा 'छत्रिणो गच्छन्ति' कहने से उनमें से कुछ एक बिना छत्रवालों का भी उसी सङ्घ में ग्रहण हो जाता है, ठीक उसी प्रकार बहुत से अव्यक्त पूर्वरूपों के साथ हो जाने से व्यक्त जृम्भा आदि भी पूर्वरूप ही हैं, यह माना जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त दोष नहीं आता। इस पर यदि, जब कि रूप की तरह जृम्भा आदि भी व्यक्त ही हैं, तो पुनः इनका (जृम्भा आदि का) उस (रूप) से भेद क्या होगा? यह शंका आवे तो उसका । यह है कि पूर्वरूप नियम से (नित्य ही) भावी व्याधि का बोधक होता है

और रूप वर्तमान व्याधि का। अतः जृम्भा आदि पूर्वरूप का रूप से यह भेद है। साथ ही विशिष्ट पूर्वरूप रूपावस्था में आता ही है। क्योंकि उसी पूर्वरूप का व्यक्त होना ही तो रूप है। दोष दूष्य सम्मूर्च्छनावस्था से उत्पन्न रोमहर्ष बालप्रद्वेष आदि नियमपूर्वक रूपावस्था में परिणत नहीं होते और यदि ये परिणत हो भी जावें तो सभी ज्वरों में असाध्यता आ जाएगी। इसी अभिप्राय को लक्षित कर आचार्य 'ज्वर में कहे हुए सम्पूर्ण पूर्वरूप बलिष्ठ रूप से जिसमें प्रविष्ट होते हैं, उस रोगी में ज्वरपुरस्सर मृत्यु प्रविष्ट हो जाती है। अर्थात् वह ज्वरित होकर मर जाता है' इस चरक वाक्य का उपन्यास करते हैं। इस प्रकार पूर्वरूप दो प्रकार के होते हैं, यह व्यवस्था होने पर आचार्य माधव पहले सामान्य पूर्वरूप को "प्राग्रूपम्" इत्यादि से कहते हैं।

मधु०—येन श्रमादिना, उत्पित्सुः सामग्रीसाकल्यादुत्पादेच्छुः, आमयो रोगः, दोषविशेषेण वातादिजन्यासाधारणवेपथ्वादिना, अनधिष्ठितोऽसंवद्धो, लक्ष्यते ज्ञायते, तत्प्राग्रूपमिति। विशिष्टप्राग्रूपमाह—लिङ्गमव्यक्तमल्पत्वाद्व्याधीनां तद्यथायथमिति।—प्राग्रूपमित्यनेन पूर्वोक्तेन संवन्धः; लिङ्गं लक्षणम्, अव्यक्तं नात्यभिव्यक्तम्, अत्र हेतुरल्पत्वादणुत्वात्, नत्वावरणादियोगादव्यक्तमित्यर्थः; यथायथं यस्य व्याधेर्यद्रूपं तदेवाव्यक्तं तस्य पूर्वरूपमित्यर्थः। अन्ये तु पूर्वरूपलक्षणमाहुः—"स्थानसंश्रयिणः क्रुद्धा भाविव्याधिप्रबोधकम्। दोषाः कुर्वन्ति यल्लिङ्गं पूर्वरूपं तदुच्यते॥"—इति तन्नातियुक्तं; राजयक्ष्मणः पूर्वरूपस्य तृणकेशनिपातादेरदृष्टजन्यस्याव्यापकत्वात्। यदाह चरकः,—"यक्ष्मिणां घुणकेशानां तृणानां पतनानि च। प्रायोऽन्नपाने, केशानां नखानां चाभिवर्धनम्"—इति (च. चि. स्था. अ. ८)। न च तदपि दोषजम्, दोषाणां तृणादिभिरसंवन्धात्; असंबद्धस्य च भावस्य कारणत्वेनादृष्टत्वात्, परम्परया तु संवन्धकल्पनयाऽतिप्रसङ्गात्, सर्वं सर्वस्य कारणं स्यात्। एतद्दोषपरिजिहीर्षयैव परमकुशलेन वाग्भटेनादृष्टदोषजसर्वपूर्वरूपोपसंग्राहकं येनेति पदं निवद्धमिति मत्वा तदीयपूर्वरूपलक्षणमेव माधवकरो लिखितवान्।

जिस श्रम आदि से, उत्पित्सुः अर्थात् अनुकूल सामग्रीजात के होने से उत्पन्न होने वाला आमय अर्थात् रोग, वातादिजन्य असाधारण वेपथु आदि दोषविशेष से, अनधिष्ठित अर्थात् असम्बन्धित लक्षित अर्थात् ज्ञात होता है, वह पूर्वरूप है। आचार्य विशिष्ट प्राग्रूप को कहते हैं कि अल्प होने से अस्फुट लक्षण व्याधियों के यथायथ पूर्वरूप होते हैं। लिङ्ग शब्द का अर्थ लक्षण है। अव्यक्त से नात्यभिव्यक्त लेना चाहिये। इसमें कारण अल्प अर्थात् अणु होने से है, न कि आवरण आदि के साथ संवन्ध होने से अव्यक्त है। यथायथ[1] शब्द का अर्थ यह है कि जिस व्याधि का जो रूप होता है, वही (रूप) अव्यक्तावस्था में उस व्याधि का पूर्वरूप होता है। दूसरे आचार्य पूर्वरूप का लक्षण यह मानते हैं कि स्थान को आश्रित कर कुपित हुए दोष जिस भावी व्याधिबोधक लक्षण को उत्पन्न करते हैं, वह पूर्वरूप कहलाता है। यह लक्षण दोषगर्भित होने से ठीक नहीं है।

---

१ अत्र वाग्भटटीकायामरुणदत्तस्त्वित्थं व्याचष्टे, यत् 'यथायथं यद्यस्य व्याधेर्ज्वराद्यन्यतमस्य आत्मीयमात्मीयम्; अतश्च प्राग्रूपं त्रिधा दृश्यते—किञ्चिच्छारीरं, किञ्चिन्मानसं, किञ्चिच्छारीरमानसं चेति। तत्र शारीरं यथा—ज्वरस्यालस्यास्यवैरस्यगात्रगौरवजृम्भासास्राकुलाक्षतेत्येवं प्रायम्; मानसं च अरतिर्हितोपदेशेष्वक्षान्तिरित्येवं प्रायम्, किञ्चिच्छारीरमानसं यथा प्रीतिरम्ले पट्टूपणे, द्वेषः स्वादुषु भक्ष्येष्वित्येवं प्रायम्, शारीरमानसदोषजनितत्वात्' इति (वा. नि. स्था. अ. १).

कारण कि अन्नपान में तृण केशपातादि राजयक्ष्मा के अदृष्टजन्य पूर्वरूपों का ग्रहण लक्षण से नहीं हो सकता। इसका भाव यह है कि उपर्युक्त लक्षण में '... भावी व्याधिबोधक लक्षण पूर्वरूप होते हैं' यह कहा है। परन्तु राजयक्ष्मा में अदृष्ट से भी पूर्वरूप होते हैं, जिनका दोषों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता, यह देखा जाता है। एवं यदि उपर्युक्त पूर्वरूप लक्षण माना जावे तो वे पूर्वरूप नहीं हो सकते, परन्तु आचार्य उन्हें भी पूर्वरूपों की पंक्ति में गिनते हैं। जैसे चरक ने कहा भी है कि 'यक्ष्मियों के अन्नपान में केश और तृणों आदि का गिरना, तथा केश और नखों का बढ़ना राजयक्ष्मा के पूर्वरूप हैं'। यहां यह कहना कि, वे भी दोषजन्य ही हैं, उचित नहीं। कारण कि दोषों का तृणों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है और असम्बन्धित भाव किसी के कारण नहीं हो सकते। यदि परम्परा से यहाँ सम्बन्ध माना जावे तो अतिप्रसङ्ग दोष आता है। साथ ही इस प्रकार स्वीकार करने से सब भाव सब भावों के कारण हो जावेंगे। इसी दोष का परिहार करने के लिये ही अतिकुशल वाग्भट ने अदृष्ट दोषों से होने वाले सम्पूर्ण पूर्वरूपों का ग्राहक 'येन' यह पद दिया है और इसी को उचित जान माधवकर ने भी उसी का लक्षण यहां लिखा है।

वक्तव्य—संक्षेप से इसका भावार्थ यह है कि 'दोषप्रकोपज भाविव्याधिबोधक लिङ्ग पूर्वरूप हैं' यह लक्षण ठीक नहीं। कारण कि सब पूर्वरूप दोषजन्य नहीं होते। जैसे राजयक्ष्मा में तृणादिकों का अन्नपानादि में गिरना दोषजन्य नहीं है। यदि परम्परा से सम्बन्ध मान यह स्वीकार भी किया जावे तो अतिव्याप्ति दोष आता है। यह दोष न आवे, इसलिये वाग्भट ने 'येन' पद दिया है। इस पद से दोषजन्य तथा अदृष्टजन्य दोनों प्रकार के पूर्वरूपों का ग्रहण हो जाता है। अतः माधव ने भी यही लक्षण स्वग्रन्थ में लिखा है।

मधु०—संक्षेपतस्तु लक्षणं-'भाविव्याधिबोधकमेव लिङ्गं पूर्वरूपम्' इति। एवकारेण निदानोपशययोः संप्राप्तेश्च दोषेतिकर्तव्यतारूपाया व्यवच्छेदः, तेषां तज्जातीयानामुत्पन्नानुत्पन्नव्याधिबोधकत्वात्। तथा हि—निदानं मृद्भक्षणरूपं भाविपाण्डुरोगमनुपशयरूपं च वर्तमानविशिष्टव्याधिं बोधयति; उपशयोऽपि पूर्वरूपावस्थाप्रयुक्तो भाविविशिष्टव्याधिं ज्ञापयति, रूपावस्थाप्रयुक्तश्च वर्तमानविशिष्टव्याधिं ज्ञापयति; संप्राप्तिश्च पूर्वरूपस्य मध्याह्नादावुत्पत्तिप्रकोपाभ्यां भविष्यद्विशिष्टव्याधिं, रूपस्य च मध्याह्नप्रकोपादिना वर्तमानविशिष्टव्याधिं ज्ञापयति; इत्येषामुत्पन्नानुत्पन्नव्याधिबोधकत्वम्। ननु, यदा पूर्वरूपविशेषं स्मृत्वोत्पन्नव्याधेर्विशेषावधारणं तदा पूर्वरूपमपि वर्तमानव्याधिबोधकं, यथोक्तं रक्तपित्तप्रमेहरूपसंदेहे चरकेण—'हारिद्रवर्णं रुधिरं च मूत्रं विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपैः' (च. चि. स्था. अ. ६)—इत्यादि। अत्रोच्यते, किं व्याधिजन्मनः पूर्वं पूर्वरूपं गृहीतं न वा? आद्ये भाविव्याधिबोधकत्वमेव; द्वितीये स्मरणोत्पत्तिरेव न स्यात्, अनुभवाभावात्। अथोच्यते—पूर्वरूपं दन्तादीनां मलाढ्यत्वादिरूपं स्वरूपेणानुभूतमेव किंतु प्रमेहपूर्वरूपतया न प्रतिभातम्; उत्पन्ने तु व्याधौ तत्स्मृतं प्रमेहविशेषमवधारयति। एवं तर्हि पूर्वरूपस्मरणं कारणं न तु पूर्वरूपं, रूपावस्थायां व्यपगतत्वात्। स्मरणं न प्रमाणमिति चेत्, सत्यं; किंतु (पूर्वानुभवजनितसंस्कारोपस्थित)स्मरणसहकृतं पूर्वरूपं व्याधिविशेषबोधकं, न तु केवलं स्मरणं; यथा संस्कारोपस्थापितस्मरणसहकृतं चक्षुः प्रत्यभिज्ञायां प्रागवस्थाविशिष्टघटावबोधकं—सोऽयं घट इति।

---

१ रूपं रूपे. २ प्रमेहलिङ्गतया. ३ रूपम्.

पूर्वरूप का संक्षिप्त लक्षण 'भाविव्याधिबोधक लिङ्ग ही पूर्वरूप है' यह है। यहां 'एव'[1] शब्द से निदान, उपशय और दोषेतिकर्तव्यता। रूप सम्प्राप्ति का व्यवच्छेद होता है। क्योंकि वे तथा उनके जाति वाले उत्पन्न और अनुत्पन्न व्याधि के बोधक होते हैं। जैसे मृद्भक्षणरूप निदान भावी पाण्डुरोग को तथा अनुपशय[2] रूप निदान वर्तमान व्याधि विशेष को बताता है। अतः यह उत्पन्नानुत्पन्न व्याधिबोधक है। एवं उपशय भी यदि पूर्वरूपावस्था में प्रयुक्त किया जावे तो होने वाली विशिष्ट व्याधि को बताता है और यदि रूपावस्था में प्रयुक्त किया जावे तो वर्तमान विशिष्ट व्याधि को बताता है। इसी प्रकार पूर्वरूपावस्था में सायं वा मध्याह्नादिकों में सम्प्राप्ति की उत्पत्ति वा प्रकोप होने से संप्राप्ति, होने वाली विशिष्ट व्याधि को तथा रूपावस्था में सायं वा मध्याह्नादिकों में सम्प्राप्ति की उत्पत्ति वा प्रकोप से, सम्प्राप्ति वर्तमान विशिष्ट व्याधि को बताती है। यह इनका उत्पन्नानुत्पन्न व्याधिबोधकपन है। अब यहां शंका होती है कि जब पूर्वरूप विशेष का स्मरण कर उत्पन्न व्याधि की विशेषता का निश्चय किया जाता है तब पूर्वरूप भी वर्तमान व्याधिबोधक हो जाता है। जैसे रक्तपित्त के सन्देह में चरक ने कहा भी है कि—'प्रमेह के पूर्वरूपों के विना जो मनुष्य हल्दी जैसे रङ्गवाला वा रक्तवर्ण मूत्र करता है, उसे प्रमेह नहीं कहना चाहिये। क्योंकि वह तो रक्तपित्त का प्रकोप है'। इसका उत्तर यह है कि क्या व्याधि की उत्पत्ति से पूर्व पूर्वरूप का ग्रहण होना मानते हो या नहीं? यदि मानते हो तो पूर्वरूप भावि व्याधिबोधक ही सिद्ध होता है। यदि नहीं मानते तो पूर्व अनुभव के न होने से बाद में उसका स्मरण ही नहीं हो सकता। यदि कहें कि दन्तादिकों का मल युक्त होना आदि पूर्वरूप स्वरूप से तो जान लिया परन्तु यह नहीं जाना कि यह प्रमेह का पूर्वरूप है, पुनः जब व्याधि उत्पन्न हो गई तो उसका (पूर्वरूप का) स्मरण आ जाने पर प्रमेह रोग का निश्चयात्मक ज्ञान हो जाता है। इस पर पुनः यह बात आ जाती है कि यदि ऐसी बात है तो ऐसी अवस्था में 'पूर्वरूप का स्मरण' व्याधिबोधक सिद्ध होता है, न कि पूर्वरूप। कारण कि रूपावस्था में तो पूर्व रहते ही नहीं। यदि कहो कि स्मरण प्रमाण नहीं है, तो ठीक है। स्मरण प्रमाण नहीं होता, परन्तु (पहले अनुभव से उत्पन्न संस्कार द्वारा उपस्थित) स्मरण के साथ किया हुआ चक्षु प्रत्यभिज्ञा में (जैसे) प्राक् अवस्था युक्त घट को बताता है कि—"यह, वह घट है" (ठीक उसी प्रकार स्मरण के साथ किया हुआ पूर्वरूपों का ज्ञान प्रत्यभिज्ञा में पूर्वरूपावस्थायुक्त रोग को बताता है कि 'यह' वह रोग है')। उपर्युक्त सन्दर्भ का संक्षिप्त भाव यह है कि 'भाविव्याधिबोधक ही लिङ्ग पूर्वरूप है' यह पूर्वरूप का लक्षण है। इसमें ही ('एव') शब्द निदान, उपशय तथा सम्प्राप्ति का व्यवच्छेद करता है। उनसे इसे पृथक् इसलिए किया जाता है कि वे वर्तमान तथा भावी दोनों प्रकार की व्याधियों को बताते हैं। उदाहरण—जनक निदान भाविव्याधिबोधक तथा अनुपशय रूप निदान वर्तमानव्याधिबोधक होता है। एवं पूर्वरूपावस्था में प्रयुक्त उपशय वर्तमानविशिष्ट व्याधि का बोधक होता है। इसी प्रकार सम्प्राप्ति भी पूर्वरूपावस्था में होने से भावी विशिष्ट व्याधिबोधक ही होता है। अतः उनसे इसे 'एव' शब्द देकर पृथक् किया है।

---

१ भाव यह है कि—अयोगमन्ययोगञ्च ह्यत्यन्तायोगमेव च। व्यवच्छिनत्ति शब्दस्य ह्येवकारस्त्रिधा मतः॥ इस शास्त्र के अनुसार एव शब्द के, अयोगव्यवच्छेद, अन्ययोगव्यवच्छेद और अत्यन्तायोगव्यवच्छेदरूप तीन अर्थ होते हैं। उनमें से प्रकृत में 'एव' शब्द निदान, उपशय और सम्प्राप्ति रूप अन्य पदार्थ के साथ होने वाले योग का व्यवच्छेदक अर्थात् अन्ययोग व्यवच्छेदक है. २ 'निदानोक्तोऽनुपशयः' इस शास्त्रवचनानुसार निदान अनुपशय शब्द से भी व्यवहृत होता है.

वक्तव्य—(शंका-) पूर्वरूप भी वर्तमान व्याधिबोधक है। जैसे मूत्रमार्ग द्वारा हल्दी के से वा रक्तवर्ण मूत्र के आने से यह सन्देह होता है कि रोगी को प्रमेह है, वा रक्त पित्त, और है यह रूपावस्था। यहां विशिष्ट व्याधि को बताने के लिये यह देखना होता है कि रोगी को प्रमेह के पूर्वरूप हुए थे कि नहीं। यदि हुए थे तो वह प्रमेह का रोगी है, अन्यथा रक्त पित्त का। यहां विशिष्ट वर्तमान व्याधिबोधक पूर्वरूप हैं, अतः पूर्वरूप भी वर्तमान व्याधिबोधक हैं, यह सिद्ध होता है। परन्तु वह होता तब है, जब कि उत्पन्न हुई व्याधि के पूर्वरूपों को स्मरण कर उस (व्याधि) का निर्धारण किया जाता है। इसका उत्तर यह है कि क्या व्याधि के उत्पन्न होने से पूर्व पूर्वरूपों का ज्ञान हुआ था वा नहीं? यदि हुआ था तो स्वयं ही यह सिद्ध होता है कि पूर्वरूप भाविव्याधिबोधक है। यदि नहीं हुआ तो अनुभव के न होने से उनका स्मरण ही नहीं हो सकता। यदि कहा जावे कि पूर्वरूप हुए तो थे परन्तु यह ज्ञान नहीं हुआ कि ये प्रमेह के पूर्वरूप हैं, परन्तु बाद में व्याधि के उत्पन्न हो जाने पर उनका स्मरण आ जाने से वे प्रमेह विशेष का निश्चय कराते हैं, जिससे वे वर्तमान विशिष्ट व्याधिबोधक हैं; तो फिर भी पूर्वरूप वर्तमान व्याधिबोधक नहीं हैं। यहां तो इनका स्मरण कारण है। क्योंकि वे तो रूपावस्था तक रहते ही नहीं। इस पर यदि यह कहा जावे कि स्मरण प्रमाणित नहीं है, तो ठीक है। स्मरण तो प्रमाणित नहीं है। परन्तु यहां केवल स्मरण ही नहीं प्रत्युत स्मरण के साथ किया हुआ पूर्वरूपों का ज्ञान भी है। एवं स्मरण के साथ किया हुआ पूर्वरूप का ज्ञान प्रत्यभिज्ञा होने पर पूर्वरूपों के साथ ही वर्तमान व्याधि का ज्ञापक होता है। इस प्रकार केवल पूर्वरूप तो भाविव्याधिबोधक ही है, न कि वर्तमानव्याधिबोधक, यह सिद्ध होता है। हाँ, उपर्युक्तानुसार स्मरण युक्त किया हुआ पूर्वरूपों का ज्ञान प्रत्यभिज्ञा होने पर वर्तमान व्याधिबोधक होता है, साक्षात् नहीं होता। इस जटिल पंक्ति को इस प्रकार भी विशद किया जाता है कि जैसे पहले अनुभव से उत्पन्न संस्कार से उपस्थापित स्मरण के साथ किया हुआ चक्षु (चाक्षुष ज्ञान) प्रत्यभिज्ञा होने पर पूर्व अवस्था युक्त घट का ज्ञान कराता है कि 'यह, वह घट है' वैसे ही प्रकृत में स्मरण के साथ किया हुआ पूर्वरूप का ज्ञान प्रत्यभिज्ञा में पूर्वरूप सहित व्याधि का बोध कराता है कि—'यह, वह व्याधि है'। परन्तु जैसे वर्तमान घट ज्ञान में घट की प्रागवस्था उत्तर अवस्था के समय नहीं होती, केवल प्रत्यभिज्ञा से ही ज्ञान होता है; और नहीं प्रागवस्था रूपावस्था (वर्तमान घट) का ज्ञान कराती है, वैसे ही वर्तमान व्याधिज्ञान में व्याधि की पूर्वावस्था (पूर्वरूप) रूपावस्था के समय नहीं होती, केवल प्रत्यभिज्ञा से ही ज्ञान होता है; और नहीं पूर्वावस्था वर्तमान व्याधि का ज्ञान कराती है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि पूर्वरूप अनुत्पन्न व्याधिबोधक हैं, उत्पन्न व्याधिबोधक नहीं हैं।

मधु०—एवं स्मरणवदाप्तोपदेशेऽपि वाच्यं, तस्य च लिङ्गपदेन व्युदासः, भाविपदेन रूपस्य; लिङ्गपदेन चक्षुरादेः, तस्य घटज्ञानादिसाधारणत्वेनालिङ्गत्वात्; असाधारणं हि लिङ्गं भवति। एतच्च पूर्वरूपमविद्यमानस्यापि व्याधेर्लिङ्गं भवत्येव यथा-विशिष्टमेघोदयो वृष्टेः। इति पूर्वरूपम् ॥५॥६॥

आप्तोपदेश में भी स्मरण की तरह ही कहना चाहिये। अर्थात् जिस प्रकार केवल स्मरण व्याधिबोध में कारण वा प्रमाणित नहीं है, उसी प्रकार आप्तोपदेश जानना चाहिये। इसको आचार्य ने लिङ्ग पद देकर पृथक् कर दिया है। भाव यह है कि पूर्वरूप के लक्षण लिङ्गपद इसलिये दिया है जिससे कि पूर्वरूप का लक्षण आप्तोपदेश में अतिव्याप्त न। कारण कि आप्त उपदेश भी भावी व्याधि का बोधक होता है, परन्तु वह लक्षण

हीं होता, अतः वह पूर्वरूप नहीं है। लक्षण में भावी पद, रूप से इसे पृथक् करने के लिये या है। रोग के ज्ञान में चक्षु आदि इन्द्रियाँ भी कारण होती हैं। उनसे भी भावी व्याधि का ज्ञान होता है। अतः वे भी पूर्वरूप में आ जाएंगी वा पूर्वरूप का लक्षण उनमें अतिव्याप्त हो जायगा। इसी दोष को दूर करने के लिये लक्षण में 'लिङ्ग' पद दिया है। कारण कि चक्षु आदि इन्द्रियाँ घट पट आदि के ज्ञान में भी प्रयुक्त होती हैं। अतः वे साधारण हैं; और साधारण होने से वे लिङ्ग भी नहीं हैं। क्योंकि लिङ्ग असाधारण होता है। इसका भाव यह है कि चक्षु आदि इन्द्रियां जैसे घटबोधक हैं, वैसे पटादि बोधक भी हैं। इस कारण सब के ज्ञान में सामान्य हैं। अतएव वे पूर्वरूप में नहीं आ सकतीं। साथ ही चक्षु आदि भी स्वतन्त्र रूप से बोधक नहीं हैं। क्योंकि वे भी आलोक संयोग आदि की अपेक्षा रखती हैं। अतः इनका निरास करने के लिये लक्षण में लिङ्ग पद दिया है। लिङ्ग साधारण नहीं होता। लिङ्ग का लक्षण भी 'लिङ्गं विशेषकं चिह्नम्' इस शास्त्रवचन के अनुसार असाधारणत्व-व्यापक ही है। अतः चक्षु आदि इसमें नहीं आ सकते। क्योंकि वे साधारण हैं। एवं जिस प्रकार विशेष मेघों का उदित होना वृष्टि का बोधक है, उसी प्रकार यह पूर्वरूप अविद्यमान व्याधि का ही बोधक है।

उत्पन्नव्याधिलिङ्गसमवायभूतस्य रूपस्य स्वरूपं निरूपयति—

तदेव व्यक्ततां यातं रूपमित्यभिधीयते।
संस्थानं व्यञ्जनं लिङ्गं लक्षणं चिह्नमाकृतिः ॥७॥ [वा० ३।१।५]

अन्वयः—तत्, एव, व्यक्तताम्, यातम्, रूपम्, संस्थानम्, व्यञ्जनम्, लिङ्गम्, लक्षणम्, चिह्नम्, आकृतिः, इति अभिधीयते।

भाषार्थ—वही अति सूक्ष्म होने से अव्यक्त पूर्वरूप जब व्यक्त हो जाता है, तब रूप कहलाता है; और उसी रूप के ही संस्थान, व्यञ्जन, लिङ्ग, लक्षण चिह्न और आकृति ये पर्याय हैं ॥७॥

मधु०—यद्यपि पूर्वरूपानन्तरं संप्राप्तिर्भवति, तथाऽपि व्याधिस्वरूपज्ञानार्थं रूपमाह—तदेवेत्यादि। तदेव पूर्वरूपमेव; व्यक्ततामुद्भूततामिति। ननु व्यक्तत्वं पूर्वरूपस्य किं कार्त्स्न्येन, एकदेशेन वा? आद्ये सर्वज्वराणामसाध्यत्वं स्यात्, यदुक्तं चरके,—'पूर्वरूपाणि सर्वाणि' (च. इं. स्था. अ. ५)—इत्यादि; द्वितीये हि 'जृम्भाऽत्यर्थं समीरणात्। पित्तान्नयनयोर्दाहः' (मा. ज्व. नि. श्लो. ६)—इत्यादेरपि पूर्वरूपस्य रूपत्वप्रसङ्गः। नैवम्, अनभ्युपगमान्न कृत्स्नस्य नाप्येकदेशस्य, किंत्वनिर्धारितैकत्वानेकत्वविशेषस्य पूर्वरूपमात्रस्य व्यक्तस्य व्याधिलिङ्गत्वं; यथा—तार्णपार्णादिविशेषविरहेण धूममात्रस्य वह्निबोधकत्वम्। एवं व्यवस्थिते यदा सर्वस्याभिव्यक्तिस्तदा

---

१ अत्र वाग्भटटीकायामरुणदत्तस्त्वित्थमाह—यत्—"तदेवेत्येवशब्देनैतत् द्योतयति—यदेव शारीरं प्रायः पूर्वोपवर्णितं तदेवेह ग्रहीतव्यं स्थायित्वात्; तद्धयामयानुबन्धि। मानसं शारीरमानसं वाऽस्थायित्वान्न ग्रहीतव्यं, तद्धि द्रयमुत्पित्सुव्याधिसमनन्तरं प्रायेण नश्यतीति तद्व्यक्ततां न याति। अतः शारीरमेवोत्पित्सुव्याधिप्राग्रूपमिह तदा परामृष्टुं युक्तम्॥" (वा. नि. स्था. अ. १) । एवम् असम्बद्धानि आकस्मिकानि राजयक्ष्मादिषु भवानि पानात्रिषु तृणपातादीन्यनरूपमनु[illegible] रूपात् प्रागेव विलीयन्ते.

न साध्यत्वम्, अन्यथा तु साध्यत्वम् । न च जृम्भादे रूपत्वप्रसङ्गः; तस्य प्रागेव व्यक्तत्वात्; अव्यक्तं सद्व्यक्ततां यातं तस्य रूपत्वेनाभिधानात्, अपरप्रभूताव्यक्तलिङ्गसहचरितत्वेन पूर्वरूपरूपयोरसमानकालत्वेन च रूपत्वायोगादिति ।

यद्यपि पूर्वरूप के अनन्तर सम्प्राप्ति होती है, तथापि व्याधि के स्वरूप का ज्ञान कराने के लिये पूर्व 'तदेव' इत्यादि श्लोक से आचार्य रूप को बताते हैं। वही पूर्वरूप व्यक्त होने पर रूप होता है। यहां शंका होती है कि क्या पूर्वरूप का व्यक्त होना सर्वाङ्गीण भाव से होता है, वा एकाङ्गीण भाव से? यदि सर्वाङ्गीण भाव से स्वीकार किया जावे तो सभी रोग असाध्य हो जायँगे। जैसे चरक ने कहा है कि पूर्वरूपाणीति। यदि दूसरा पक्ष (एकाङ्गीणवाला) स्वीकार किया जावे तो 'वायु से जृम्भावाहुल्य, पित्त से नयनों में दाह और कफ से अन्न में अरुचि होती है' ये पूर्वरूप भी रूप कहलाने लगेंगे। कारण कि यह भी एकदेश से ही व्यक्ति है। इस पर आचार्य कहते हैं कि नहीं, प्रतीति न होने के कारण न तो सर्वाङ्गीण व्यक्तता को और नहीं एकाङ्गीण व्यक्तता को नियत रूप से लिया जाता है। किन्तु एकत्व अनेकत्व विशेष की निर्धारणा के विना ही पूर्वरूपमात्र का व्यक्तपन ही लिङ्ग (रूप) है। जिस प्रकार 'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्' में यह धूम तिनकों का है वा पत्तों का इस विशेष ज्ञान के विना केवल धूम ही वह्नि का बोध करा देता है, ठीक उसी प्रकार पूर्वरूप एक देश से व्यक्त है, वा सर्वदेश से, इस विशेष ज्ञान के विना ही पूर्वरूप मात्र व्यक्त होकर लिङ्ग ज्ञान करा देता है अर्थात् स्वयं लिङ्ग बन जाता है। ऐसी व्यवस्था होने पर जब सम्पूर्ण पूर्वरूप की अभिव्यक्ति होगी तब वह रोग साध्य नहीं होगा, अन्यथा साध्य होगा। (शंका—) यदि व्यक्त होना ही रूप है, तो जृम्भा आदि भी व्यक्त होने से रूप कहलावेंगे? ऐसा कहना ठीक नहीं है। कारण कि जृम्भादि पहले से ही व्यक्त हैं और रूप वह होता है, जो कि पहले अव्यक्त होकर पुनः व्यक्त होवे। यहां पुनः यह शंका होती है कि पूर्वरूप तो अव्यक्त होते हैं, परन्तु जृम्भा व्यक्त है। जब वह व्यक्त है तो उसे पूर्वरूप क्यों कहा जाता है? इसका उत्तर यह है कि बहुत से अव्यक्त लक्षणों के साथ होने से सहचरित न्यायानुसार व्यक्त जृम्भा का भी अव्यक्त में ही ग्रहण हो जाता है। दूसरा पूर्वरूप का एक यह भी चिह्न है कि—वह रूपावस्था में नहीं रहता, यह चिह्न जृम्भा में घट जाता है। क्योंकि वह भी रूपावस्था में नहीं रहती, अतः यह पूर्वरूप ही है। यही आचार्य भी कहते हैं कि पूर्वरूप और रूप दोनों एक काल में नहीं हो सकते। अतः जृम्भा रूप नहीं हो सकती।

मधु०—ईश्वरसेनस्त्वाह–'व्याधेः स्वरूपं यद्व्यक्तं तद्रूपम्'–इति । तन्न, विकल्पासहत्वात् । तथा हि–स्वरूपमिति किं स्वं रूपं स्वरूपम्? आहोस्वित्स्वीयं रूपम्? स्वीयोऽपि धर्मः, स्वीयं कार्यं वा? न तावत्स्वरूपम्, स्वात्मनि क्रियाविरोधात्; रूपं हि व्याधिप्रतिपत्तिनिमित्तमुक्तम्, तच्चेत् व्याधिस्वभाव एव तर्हि व्याधिस्वभावादेव व्याधिस्वभावः प्रतीयत इति व्यक्तः स्वात्मनि क्रियाविरोधः । नापि धर्मः; चरकोक्तकृष्णत्वङ्नखविण्मूत्रत्वादेरर्शोरूपत्वानुपपत्तेः । नहि कृष्णत्वङ्नखादिकमर्शोधर्मः, अतन्निष्ठत्वात्; धर्माणां च धर्मिनिष्ठत्वात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । नापि कार्यम्, उपद्रवादेरपि रूपत्वप्रसङ्गात् । तदपि कृच्छ्रसाध्यासाध्यव्याधेर्लिङ्गमिति चेत् । नैवम्, असाध्यत्वादेरेव तल्लिङ्गम्, न तु व्याधेः; तस्य पूर्वमेव ज्ञातत्वाद्भेदेनोपादानाच्च । तदुक्तम्–'सोपद्रवारिष्टनिदानलिङ्गो निबध्यते रोगविनिश्चयोऽयम्'–इति ।

१ रूपाभिधानत्वाभ्युपगमात्.

ईश्वरसेन कहते हैं कि व्याधि का जो व्यक्त स्वरूप है, वह रूप है । परन्तु विकल्पना न सह सकने के कारण यह लक्षण ठीक नहीं । विकल्पना क्या है ? और यह लक्षण उसे कैसे नहीं सह सकता ? इसका स्पष्टीकरण आचार्य पुनः 'तथाहि' से करते हैं । तद्यथा—'स्वरूप' यह शब्द क्या है ? क्या यह 'स्वं रूपं स्वरूपम्' है ? वा 'स्वीयं रूपं स्वरूपम्' है ? यदि 'स्वीयं रूपं स्वरूपं' है तो स्वीय (अपना) भी धर्म स्वरूप है ? वा कार्य ? यदि प्रथम, अर्थात् 'स्वं रूपं स्वरूपं' यह स्वीकार किया जाय तो स्वात्मनि क्रियाविरोध दोष आता है । क्योंकि रूप व्याधि के ज्ञान में कारण कहा है और यदि वह व्याधि का स्वभाव ही है तो व्याधि के स्वभाव से ही व्याधि के स्वभाव का ज्ञान होता है, यह भाव स्पष्ट होता है और यही भाव स्वात्मनि क्रियाविरोध दोष युक्त है ।

वक्तव्य—उपर्युक्त सन्दर्भ का भाव यह है कि यदि स्वरूप शब्द का अर्थ 'स्वं रूपं स्वरूपं' यह लिया जावे तो जैसे 'रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव' में स्वात्मनिक्रियाविरोध है, वैसे प्रकृत में भी आ जाता है । कारण कि किसी ने पूछा कि राम और रावण का युद्ध कैसा हुआ था ? तो उत्तरदाता यह कह दे कि जैसे राम और रावण का युद्ध हुआ था वैसा ही राम रावण का युद्ध हुआ था । अब यहां राम रावण के युद्ध ज्ञान में राम रावण का युद्ध कारण है । यह स्वात्मनि क्रियाविरोधात्मक भाव निकलता है । प्रकृत में यदि 'स्वं रूपं स्वरूपम्' यह स्वरूप शब्द से लिया जावे तो रूप का अर्थ व्याधिबोधक है और वही व्याधिबोधक (रूप) ही यदि व्याधि का स्वभाव स्वीकार कर लिया जावे तो यह भाव निकलता है कि व्याधि (बोधक रूप) स्वभाव से ही व्याधि (बोधक रूप) स्वभाव प्रतीत होता है । यह स्वात्मनि क्रियाविरोध दोप है । यदि स्वरूप शब्द का अर्थ 'स्वीयं रूपम्' यह स्वीकार कर 'स्वीय' शब्द का अर्थ धर्म लें तो भी उचित प्रतीत नहीं होता । क्योंकि ऐसा स्वीकार करने से चरकोक्त त्वचा नख नयन विष्ठा मूत्रादिकों का कृष्ण होना आदि अर्श के रूप नहीं बन सकेंगे । कारण कि ये अर्श के धर्म नहीं हैं; और न ही ये उसमें रहते हैं । ये तो वायु आदि के धर्म हैं और उनमें ही रहते हैं । क्योंकि धर्मों का धर्मी में रहना आवश्यक है, अन्यथा अतिप्रसङ्ग होता है । एवं 'स्वीय' शब्द का अर्थ कार्य भी नहीं हो सकता । यदि कार्य स्वीकार किया जाय तो उपद्रव भी रूप में आ जायेंगे । यदि वे भी कृच्छ्रसाध्य और असाध्य व्याधि के बोधक हैं, अतः उनके आ जाने पर कोई आपत्ति नहीं प्रत्युत इष्टापत्ति है, यह कहा जावे तो उस पर आचार्य कहते हैं कि नहीं, वे कृच्छ्रसाध्यता वा असाध्यता के रूप हैं, व्याधि के नहीं । क्योंकि व्याधि तो उनकी उत्पत्ति से पूर्व ही ज्ञात हो जाती है । दूसरी बात यह है कि यदि रूप और उपद्रव एक ही वस्तु है तो उनका पृथक् २ कथन क्यों किया ? वह पृथक् २ कथन यह बोधित कराता है कि ये एक नहीं प्रत्युत भिन्न २ हैं । जैसे कि श्लोक में कहा भी है ।

मधु०—ननु, उपद्रवो न व्याधेः कार्यं किंतु व्याध्यारम्भकदोषस्य; यदुक्तं सुश्रुते,—'स तन्मूलमूल एवोपद्रवसंज्ञकः'–इति (सु. सू. स्था. अ. ३५); व्याचक्षते च टीकाकृतः–'तन्मूलं तस्य व्याधेर्मूलं दोषरूपं मूलं यस्य स तन्मूलमूलः' इति । नैवम्, उपचारेण मूलभूतदोषोपबृंहणलब्धबलश्चेद्व्याधिरुपद्रवं करोति तेन 'तन्मूलमूल' इत्युक्तवान् । अत एवाह चरकः,–'कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति' (च. नि. स्था. अ. इत्यादि, सर्वमेवैतत्स्वरूपशब्दस्य वाच्यं कश्चित्किंचिदिति; तथा च सति न व्या

केचित् । तथाऽपि व्यवस्थामात्रं स्यान्न तु लक्षणम्, एकस्य सकलरूपसंग्राहकस्य धर्मस्याभावा- दुपद्रवस्यापि व्याधिस्वरूपत्वापत्तेश्चेति । तस्मात् 'उत्पन्नव्याधिबोधकमेव लिङ्गं रूपम्' इति लक्षणम् 'उत्पन्न' इति पदं पूर्वरूपव्यवच्छेदार्थम्; एवकारेण निदानसंप्राप्त्युपशया व्यवच्छिद्यन्ते, तेषामुत्पन्ना- नुत्पन्नव्याधिबोधकत्वात्, तच्च दर्शितमेव; लिङ्गपदेन चक्षुरादेर्व्युदासः, यन्मते व्याधिजन्मरूप संप्राप्तिस्तन्मते तस्या लिङ्गपदेन व्यवच्छेदः, न हि सा व्याधिज्ञाने लिङ्गं, किन्तु कारणमात्रम् ।

ऊपर कहा गया है कि यदि स्वरूप शब्द का अर्थ व्याधि का कार्य लिया जावे तं उपद्रव भी उसमें आ जाएंगे । यदि इसमें भी इष्टापत्ति मानें तो ठीक नहीं । क्योंकि वह तं असाध्यादि का लक्षण है; न कि व्याधि के रूप का । व्याधि का रूप तो उपद्रव के उत्प होने से पूर्व ही ज्ञात हो जाता है तथा स्वरूप और उपद्रव का पृथक् २ कथन भी परस्प भेदबोधक है । इस पर पुनः यह शंका होती है कि उपद्रव व्याधि का कार्य नहीं है, कि वह तो व्याधि के आरम्भक दोष का कार्य है । जैसे सुश्रुत में कहा भी है—स तन्मूलमूल इति इसी की व्याख्याकारों ने इस प्रकार व्याख्या की है कि 'उस व्याधि का मूल अर्थात् दोषरु मूल है । मूल जिसका वह उपद्रव कहलाता है' । अतः वह व्याधि का कार्य नहीं है । इस पर कहा है कि नहीं, मिथ्या आहारादि के कारण मूलभूत दोष के प्रकोप से बल को प्राप्त कर रोग उपद्रव को करता है । इस भाव को लेकर आचार्य ने 'तन्मूलमूलम्' कहा है । उसका यह भाव लेना कि—वह मूलभूत दोष से होता है, ठीक नहीं । इसी लिये चरक भी कहते हैं कि 'कोई कोई रोग किसी किसी रोग का कारण होकर शान्त होजाता है' इत्यादि । अथवा जो कुछ भी ऊपर कहा गया है, वह सब स्वरूप शब्द का वाच्यार्थ ही है । अतः आवश्यकता- नुसार कहीं कुछ और कहीं कुछ लेना चाहिये । यदि ऐसा स्वीकार किया जावे तो कोई व्यभिचार (दोष) नहीं है, कई ऐसा मानते हैं । परन्तु फिर भी इस कथन से केवल व्यवस्था ही बनती है, लक्षण नहीं बनता । क्योंकि एक ही धर्म सम्पूर्ण रूपों का संग्राहक नहीं हो सकता और यदि ऐसा स्वीकार भी करें तो उपद्रव भी व्याधि के रूप में आ जायेंगे । इसलिये 'उत्पन्न व्याधिबोधक लिङ्ग ही रूप है' यह लक्षण उचित है । इसमें उत्पन्न पद पूर्वरूप को इस (रूप) से पृथक् करने के लिये दिया है । 'एव' शब्द से निदान, सम्प्राप्ति और उपशय पृथक् हो जाते हैं । क्योंकि वे उत्पन्न तथा अनुत्पन्न व्याधिबोधक हैं । जैसा कि पूर्व दिखाया जा चुका है । लिङ्ग शब्द के कहने से चक्षु आदि का निरास हो जाता है । जिनके मत में सम्प्राप्ति का लक्षण 'व्याधि का जन्मरूप' है । उनके मत में उसका पृथक् करण लिङ्गपद से हो जाता है । क्योंकि व्याधिजन्मरूप सम्प्राप्ति व्याधि के ज्ञान में लिङ्ग नहीं है, वह तो केवल कारण है ।

मधु०—शास्त्रे व्यवहारार्थं निदानवल्लक्षणार्थं च रूपपर्यायानाह—संस्थानमित्यादि । ननु, रूपेण व्याधिर्ज्ञायते, न च रूपव्यतिरेकेण व्याधिरुपलभ्यते; यतो मिलिता अरुच्यादय एव ज्वरः, कासाद्येकादशरूपाण्येव राजयक्ष्मा । उच्यते—नैवं, तथाविधदोषदूष्यसंमूर्च्छनाविशेषो ज्वरादिरूपो व्याधिः, तत्कार्याश्चारुच्यादयः; किंवा (किंच) अरुच्यादय एव प्रत्येकशो रूपाणि तत्समुदायो व्याधिः, यतः समुदायिभ्योऽन्य एव समुदायः, यथा—खदिरतरूणां वनमिति; अन्ये तु राहोः शिरः, शिलापुत्रस्य शरीरमितिवदसत्यपि भेदे भेदविवक्षया समर्थयन्ति; नैयायिकास्तु ऽपि भेदमापादयन्ति । ननु, 'विकारो दुःखमेव च ।' इति (च. सू. स्था. अ. ६) ।दुःखस्यात्मगुणस्य कथमरुच्यादिसमुदायत्वम् ? नैवं, दुःखयतीति दुःखमिति व्युत्पत्त्या

दुःखहेतोर्धातुवैषम्यादेर्व्याधित्वस्वीकारात्। अरुच्यादयस्तु स्वरूपेण विकारा एव, यदाऽन्यप्रतिपादकास्तदा लिङ्गान्युच्यन्ते। यदाह चरकः—'ज्ञानार्थं यानि चोक्तानि व्याधिलिङ्गानि संग्रहे। व्याधयस्ते तदात्वे तु लिङ्गानीष्टानि नामयाः'[1] ॥ इति (च. नि. स्था. अ. ८)। इति रूपलक्षणम् ॥७॥

शास्त्र में व्यवहार के लिये तथा निदान की तरह लक्षण के लिये आचार्य 'संस्थानम्' इत्यादि से रूप के पर्याय कहते हैं। (शंका—) व्याधि का ज्ञान तो रूप से होता है, क्योंकि रूप के विना तो वह मिलती ही नहीं। देखने में भी आता है कि मिले हुए अरुच्यादि लक्षण ही ज्वर होते हैं; और कासादि एकादश[2] रूप ही राजयक्ष्मा होते हैं। एवं जब ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं तो यही सिद्ध होता है कि मिले हुए लक्षण ही व्याधि कहलाते हैं। इसका उत्तर यह है कि नहीं, मिलित लक्षण व्याधि नहीं है, प्रत्युत उस प्रकार का दोषों[3] और दूष्यों[4] का संयोग विशेष ज्वरादि रूप ही व्याधि होती है; और अरुच्यादि उसके कार्य होते हैं। अथवा—अरुच्यादि एक २ तो रूप हैं, परन्तु उनका समूह व्याधि है। क्योंकि समुदाय समुदायियों से पृथक् होता है। यथा—'खदिरतरूणां वनम्' में खदिर तरु रूप समुदायी से वन रूप समुदाय पृथक् है। एवं प्रकृत में भी अरुच्यादि समुदायी से व्याधि रूप समुदाय पृथक् ही है। अन्य आचार्य तो जैसे राहु के शिर और केतु के शरीर में अभेद होने पर भी भेद माना जाता है, वैसे ही प्रकृत में अरुच्यादि रूपों और ज्वरादि व्याधि में भेद न होने पर भी भेद माना जाता है, वैसे ही प्रकृत में अरुच्यादि रूपों और ज्वरादि व्याधि में भेद न होने पर भी भेद स्वीकार करते हैं। परन्तु तार्किक[5] आचार्य तो उक्त राहु और केतु के दृष्टान्त में भी भेद ही मानते हैं। एवं जब वहां भेद माना जाता है तो प्रकृत में भी भेद[6] ही है। एवं अरुच्यादि समुदायियों से ज्वरादि व्याधिरूप समुदाय पृथक् है। आचार्य चरक कहते हैं कि 'विकार दुःख कहलाता है'। जब ऐसा है तो आत्मा के गुण दुःख का[7] अरुच्यादि समुदाय से होना कैसे सम्भव है? इसका भाव यह है कि 'व्याधि' दुःख होती है अर्थात् व्याधि और दुःख पर्यायवाचक हैं, और दुःख आत्मा का गुण है, तथा व्याधि अरुच्यादि समुदाय है। जब ऐसा है तो दुःख और विकार

---

१ लिङ्गानीष्टानि नामयाः. २ स्वरभेदोऽनिलाच्छूलं संकोचश्चांसपार्श्वयोः। ज्वरो दाहोऽतिसारश्च पित्तादुक्तस्य चागमः ॥ शिरसः परिपूर्णत्वमभक्तच्छन्द एव च। कासः कण्ठस्य चोद्ध्वंसो विज्ञेयः कफकोपतः (सु. उ. तं. अ. ४१) इति दोषभेदेनैकादशरूपाणि यक्ष्मणः. ३ वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः ॥ (च. सू. अ. १). ४ रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः। सप्त दूष्याः...' (वा. सू. स्था. अ. १) इति. ५ नैयायिक (न्यायशास्त्र के) आचार्य. ६ राहुशिलापुत्रयोर्मिथो भेदः भिन्नशक्यतावच्छेदक(जाति)त्वाद्, अन्यथा तुल्यत्वात् घटकलशयोरिवावयोः—न जातिद्वयं स्यात्। यथोक्तमपि तन्त्रान्तरे—'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः। रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः' इति। न च तथापि व्यक्तेरभेदत्वाद्व्योमवदत्रापि राहुत्वं केतुत्वं न जातिरिति वाच्यम्, नृसिंहत्ववदत्रापि कल्पभेदेन राहुशिलापुत्रयोर्नानात्वाद्राहुत्वकेतुत्वञ्चास्ति जातिरिति। परन्तु मन्यत इदं यत्तुल्यव्यक्तिकत्वाच्छिलापुत्रत्वं केतुत्वञ्च न जातिद्वयं इति शङ्का, परम् अभेदे अभेद आसीत्, भेदे च भेद एवेति तार्किकसिद्धान्तः। इत्यस्ति नैयायिकास्तु तत्रापि भेदमापादयन्तीत्यस्याभिप्रायः. ७ दुःखं हि-ह्यात्मनो गुणम्, अत्रास्ति तन्त्रान्तरमतमपि। तथा—"बुद्ध्यादिषट्कं संख्यादिपञ्चकं भावना तथा। धर्माधर्मौ गुणावेते ह्यात्मनः स्युश्चतुर्दश" ॥ इति ॥ एवमत्र दुःखं बुद्ध्यादिपञ्चकेऽस्ति, तत्पञ्चकञ्च 'बुद्धिः सुखं दुःखमिच्छा द्वेष इति। अतएवात्मत्वजातिरपि सुखदुःखादिसमवायिकारणतावच्छेदकतया सिद्ध्यति।

(व्याधि) पर्यायवाचक कैसे बन सकते हैं ? साथ ही इस प्रकार मानने से दुःख अरुच्यादि समुदाय कैसे हो सकता है ? यदि नहीं हो सकता तो चरक का वचन असत्य सिद्ध होता है; और यदि हो सकता है तो दुःख आत्मा का गुण नहीं रहता । यदि इसमें इष्टापत्ति मानी जावे तो शास्त्र से विरोध आता है तथा चरक ने भी शरीर में दुःख को आत्मा का गुण माना है । एवं उसमें वदतो व्याघात[1] होता है । इसका उत्तर यह है कि नहीं, यहाँ दुःख शब्द का यह अर्थ नहीं है । यहां तो 'दुःखयति इति दुःखम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार दुःखप्रद वा दुःख में कारण धातुओं की विषमता को व्याधि[2] स्वीकार किया है । एवं उपर्युक्त दोष नहीं आता । अरुचि आदि स्वरूप से तो विकार (रोग) ही हैं परन्तु जब ये किसी और रोग का बोध कराते हैं, तो लक्षण बन जाता है एवं तब स्वतन्त्र रोग नहीं रहते ।

उपशयस्य स्वरूपमवतारयति—

हेतुव्याधिविपर्यस्तविपर्यस्तार्थकारिणाम् ।
औषधान्नविहाराणामुपयोगं सुखावहम् ॥८॥
विद्यादुपशयं व्याधेः स हि सात्म्यमिति स्मृतः । [वा० ३।१।६

अन्वयः—हेतुव्याधिविपर्यस्तविपर्यस्तार्थकारिणाम्, औषधान्नविहाराणा सुखावहम्, उपयोगम्, व्याधेः, उपशयम्, विद्यात्, स (उपशयः) हि सात्म्यम्, इति स्मृतः ।

भाषार्थ—हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत और हेतुव्याधिविपरीत-औषध अन्न और विहार का; तथा हेतुविपरीतार्थकारी, व्याधिविपरीतार्थकारी और हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी औषध अन्न और विहार का चिरकाल तक सुख देने वाला उपयोग व्याधि का उपशय कहलाता है और उसी उपशय को सात्म्य भी कहा जाता है ।

वक्तव्य—इसका भाव यह है कि हेतुविपरीत औषध, हेतुविपरीत अन्न और हेतुविपरीत विहार; व्याधिविपरीत औषध, व्याधिविपरीत अन्न और व्याधिविपरीत विहार; तथा उभय (हेतुव्याधि) विपरीत औषध, उभय विपरीत अन्न और उभयविपरीत विहार का चिरकाल तक सुखप्रद उपयोग; अपिच हेतुविपरीतार्थकारी औषध, हेतुविपरीतार्थकारी अन्न और हेतुविपरीतार्थकारी विहार; व्याधिविपरीतार्थकारी औषध, व्याधिविपरीतार्थकारी अन्न और व्याधिविपरीतार्थकारी विहार; तथा उभय (हेतु व्याधि) विपरीतार्थकारी औषध, उभयविपरीतार्थकारी अन्न और उभयविपरीतार्थकारी विहार का चिरकाल तक

[1] 'वदतो व्याघात' का अर्थ स्वोक्तिविरोध है, अर्थात् अपने पूर्व कथन का स्वयं खण्डन वा विरोध करना वदतो व्याघात कहलाता है । [2] व्याधि और रोग अनर्थान्तर हैं । यथोक्तं चरके 'व्याधयश्च रोगशब्दमातङ्कशब्दं यक्ष्मशब्दं दोषप्रकृतिशब्दं विकारशब्दञ्च लभन्ते' (च. वि. अ. ६) इति । एवं रोग को सिद्ध करते हुए आचार्य कहते हैं कि 'रोगस्तु दोषवैषम्यम्' इति । यह भी व्युत्पत्ति के अनुसार ही है ।

सुखप्रद उपयोग व्याधि का उपशय कहलाता है । इसी का दूसरा नाम सात्म्य भी है ।

उपशय का सोदाहरण चित्र

प्रकार नाम	औषध	अन्न	विहार
१ हेतुविपरीत में	कफ ज्वर में शुण्ठी आदि उष्ण औषध का प्रयोग	वातिक ज्वर में वा श्रमज ज्वर में रसौदन	दिन में सोने के कारण बढ़े कफ में रात्रि को जागना
२ व्याधि विपरीत में	अतिसार में स्तम्भक पाठा, इन्द्रयव आदि	अतिसार में स्तम्भक मसूर आदि	उदावर्त में प्रवाहण कराना
३ उभयविपरीत में	वातिक शोथ में दशमूल (यह वातहर भी और शोथहर भी है)	वातिक श्लैष्मिक ग्रहणी में तक्र	दिन में सोने से उत्पन्न स्निग्ध, तन्द्रा में रात्रि का रूक्ष जागरण
४ हे० वि० अर्थकारी में	पैत्तिक व्रण शोथ में पित्तकर उष्ण उपनाह	पच्यमान व्रण शोथ में विदाही अन्न	वातिक उन्माद में डराना (त्रासन)
५ व्या० वि० अर्थकारी में	छर्दि में मदन (मैन) फल	अतिसार में विरेचक दुग्ध	छर्दि में वमन के लिये प्रवाहण करना
६ उभय वि० अर्थकारी में	अग्निप्लुष्ट में उष्ण अगुरु आदि का लेप	मदात्यय में पुनः मद्यपान	ऊरुस्तम्भ से उत्पन्न मूढवात में पुनः जल में तैरना रूप व्यायाम

मधु०—उपशयमाह—हेत्वित्यादि । हेतुर्बाह्य आभ्यन्तरश्च, व्याधिर्ज्वरादिः, एतयोर्हेतुव्याध्योर्व्यस्तसमस्तयोर्विपर्यस्ता विपरीताः, एतयोरेव व्यस्तसमस्तयोर्विपर्यस्तार्थकारिणो निदानसमानधर्मिणोऽपि प्रभावाद्रोगप्रशमकारिणः, एवंविधा ये औषधान्नविहारा भेषजाहाराचारास्तेषामुपयोगमाचरणं सुखावहं सुखकरमुपशयं विद्यादुपशयाख्यं जानीयाद्व्याधेः । तस्य पर्यायमाह—स हि सात्म्यमिति स्मृत इति । चरकेऽप्युक्तं—"सात्म्यार्थो ह्युपशयार्थः" इति (च.नि.स्था. अ. १)। हिशब्दः पादपूरणे। सुखावहमिति सुखं रोगनिवृत्तिलक्षणं; यथा व्यपदिशन्ति लोके—भारापगमे सुखिनः संवृत्ताः स्म इति, तत्सुखमावहति सम्यगायत्याऽनुबन्धेन च करोतीति सुखावहम् । एतेन सदाहतृष्णनवज्वरिणः शीतलजलपानं तत्कालसुखकरमपि नोपशय(करं) इति तात्पर्यार्थः । अत्र, औषधान्नविहाराणामित्युपलक्षणं; तेन देशकालावपि बोद्धव्यौ । अत एव वृद्धवाग्भटेन व्याध्यादिविपरीतमभिधाय "एतेन देशकालावपि व्याख्यातौ ॥" (वृ. वा. नि. स्था. अ. १) इत्याख्यातम् । सुदान्तसेनोऽप्याह[२]—"सुखानुबन्धो यो हेतुर्व्याध्यादिविपरीतकः । देशादिकश्चोपशयो ज्ञेयोऽनुपशयोऽन्यथा ॥" इति । संक्षेपतस्तु लक्षणम्—

१ "रात्रौ जागरणं रूक्षं स्निग्धं प्रस्वप्नं दिवा" इति चरकवचनाद्दिवसे शयनं स्निग्धं, स्निग्धत्वाच्च कफवर्धकम्; रात्रिजागरणञ्च रूक्षं, रूक्षत्वाच्च कफशोषकम् . २ सुदन्तसेनोऽप्याह.

'औषधादिजनितः सुखानुबन्ध उपशयः' इति । स्रक्चन्दनवनिताद्युपभोगजनितसुखनिवृत्त्यर्थमौषधादिपदम्, अनुबन्धशब्दश्चापथ्यजनिततदात्वसुखनिवृत्त्यर्थः । एतदप्युदाहरणदर्शनपरम्, न तु लक्षणम्; औषधादीनां हेत्वादिविपरीतानां परस्परव्यभिचारेण लक्षणत्वायोगात् । तस्मात् 'सम्यग्व्याधिजदुःखोपशमहेतुरुपशयः' 'सात्म्यमुपशयः' इति वा लक्षणम्; 'औषधजनितः सुखानुबन्ध उपशयः' इति वा लक्षणं; चरके आहाराचारदेशकाललङ्घनादीनां द्रव्याद्रव्यभूतानामौषधत्वेनाभिधानात् ।

सुखशब्द का अर्थ रोग निवृत्ति है । जैसे व्यावहारिक भाषा में भी कहते हैं कि 'भार के हट जाने पर हम सुखी हो गए हैं । भाव यह है कि भली प्रकार बहुत देर तक सुख देने वाले को 'सुखावहम्' कहा जाता है । इसका तात्पर्यार्थ यह निकलता है कि दाह तथा तृष्णा युक्त नवज्वरी को शीतल जल देने से यद्यपि तत्काल के लिये सुख मिल जाता है, परन्तु वह उपशय नहीं होता, कारण कि वह सुख भली प्रकार देर तक रहने वाला नहीं होता । यहां 'औषध, अन्न और विहारों का ...' यह कहना उपलक्षणमात्र है । इससे देश और काल भी लिये जाते हैं । इसी कारण वृद्धवाग्भट ने व्याधिविपरीत बताकर 'इससे देशकाल भी लेने चाहियें' यह कहा है । इस पर सुदान्तसेन कहते हैं कि 'भली प्रकार देर तक सुख देने वाले हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत, हेतुव्याधिविपरीत तथा विपरीतार्थकारी जो औषध, अन्न और विहार हैं, वे तथा हेत्वादि विपरीत देश-काल यह सब उपशय कहलाते हैं । इससे विपरीत होने वाला अनुपशय कहलाता है । संक्षेप से उपशय का लक्षण 'औषधादि से होने वाला सुख का अनुबन्ध उपशय है' यह है । इसमें औषधादि पद माला, चन्दन तथा स्त्रियों के उपभोग से उत्पन्न सुख की निवृत्ति के लिये दिया है । एवं अनुबन्ध शब्द अपथ्य से होने वाले उसी समय के लिये सुखकारी द्रव्य की निवृत्ति के लिये दिया है । उक्त लक्षण भी केवल उदाहरणदर्शनपरक ही है, वस्तुतः लक्षण नहीं है । कारण कि हेत्वादि विपरीत औषधादि का परस्पर व्यभिचार होने से लक्षण नहीं बन सकता । इसलिये 'व्याधि से उत्पन्न दुःख को भली प्रकार शान्त करने वाला हेतु उपशय होता है' यह; वा 'सात्म्य उपशय होता है' यह; अथवा 'औषधजनित सुखानुबन्ध उपशय है' यह उपशय का लक्षण है । चरक में आहार आचार देशकाल लंघन आदि द्रव्य तथा अद्रव्य पदार्थों को औषध में ही लिया है[2] ।

मधु०—अथैषामुदाहरणानि; तत्र हेतुविपरीतानि । औषधं यथा—शीत(कफ)ज्वरे शुण्ठ्याद्युष्णं भेषजम् । यदुक्तं,—'शीतेनोष्णकृतान् रोगान् शमयन्ति भिषग्विदः । ये[3] शीतकृता रोगास्तेषामुष्णं भिषग्जितम्'—इति (च. वि. स्था. अ. ३) । अन्नं यथा श्रमानिलजे ज्वरे रसौदनः । विहारो यथा—दिवास्वप्नोत्थे कफे रात्रौ जागरणमिति । अथ व्याधिविपरीतानि ।—औषधं यथा—अतिसारे स्तम्भनं पाठादि, तथा शिरीषो विषं हन्ति, खदिरः कुष्ठं, हरिद्रा प्रमेहमिति; नैते दोषमपेक्षन्ते प्रभावाद्रोगप्रशमकारिण इति । वाप्यचन्द्रस्त्वाह, 'ज्वरादिव्याधिहरं यद्द्रव्यं तदपि दोषप्रत्यनीकं, किंतु दोषप्रत्यनीकादस्यायं भेदः— यद्दोषप्रत्यनीकं तन्नावश्यं व्याधिहरं; यथा—वमनलङ्घने कफहरे न कफगुल्मं हरतः; उ

१ हेतुविपरीतादीनाम्. २ नानौषधिभूतं जगति किञ्चिद्द्रव्यमुपलभ्यते (च. सू. स्था.); 'नानौषधीभूतं जगति किञ्चिद्द्रव्यमस्तीति' (सु. सू. स्था. अ. ४२); 'जगत्येवमनौषधम् .. स्था. अ. ९). ३ ये तु. ४ चोष्णं.

हि–'कफे लङ्घनसाध्ये तु कर्तरि ज्वरगुल्मयोः । तुल्येऽपि देशकालादौ लङ्घनं न च मतम्'–इति तथा,–'[1]न वामयेत्तैमिरिकं न गुल्मिनं न चापि पाण्डूदररोगपीडितम्'–इति (सु. चि. स्था. अ. ३३); "यत्तु व्याधिहरं, तदवश्यं दोषहरं, तद्व्याधिं शमयत्तदारम्भकदोषमपि शमयतीति; अन्यथा स रोगो जित एव न स्यात्, कारणतादवस्थ्यात्' इति । तन्नातिसङ्गतम् , इत्यन्ये; यतो दोषस्तत्र समवायी निमित्तं वा ? न च समवायिनिमित्ताभावप्रयुक्तो नियमेन कार्याभावः, किन्त्वसमवायिनिमित्ताभावप्रयुक्तोऽपि, यथा—कपालमालासंयोगस्यासमवायिकारणस्य विनाशादपि घटाभावः; तथा–रोगेऽपि संप्राप्तिलक्षणस्य संयोगस्य विनाशाद्रोगस्यापि विनाशः, दोषस्तु स्वतः क्रियान्तरेण वा निवर्तते; किंच यदि व्याधिप्रत्यनीकमवश्यं दोषं निवर्तयेदिति स्वीक्रियते, तदोभयप्रत्यनीकाद्भेदो दुरुपपादः स्यादिति । ननु, यदि निमित्तकारणं दोषास्तत्कथं तदारब्धविकारे वमनादिना दोषहरणं विधीयते ? नहि दण्डकुलालाद्युच्छेदे घटोच्छेद इति । उच्यते, यत्र यावन्निमित्तकारणस्थायिकार्यं तत्र निमित्तकारणोच्छेदादपि कार्यनाशः; यथा–वर्तितैलनाशादपि प्रदीपनाशः; तथाभूताश्च दोषाः प्रायश इति ।

अब इनके यथाक्रम उदाहरण दिखाए जाते हैं । यथा—हेतुविपरीत औषध का उदाहरण—शीत ज्वर में शुण्ठी आदि उष्ण औषध का सेवन है । जैसे कहा है कि–'वैद्य लोग उष्णजनित रोगों को शीत चिकित्सा से शान्त करते हैं, और शीतजनित रोगों की चिकित्सा उष्ण है' इत्यादि । वाप्यचन्द्र कहते हैं कि ज्वरादि व्याधियों को दूर करने वाले जो द्रव्य हैं, वे भी दोषविपरीत ही हैं । किन्तु दोषविपरीत से व्याधिविपरीत का यह भेद है कि जो पदार्थ दोषप्रत्यनीक हैं, वे व्याधिहर भी हों, यह आवश्यक नहीं । उदाहरण में जैसे कहा भी है कि–'कफ लंघनसाध्य होता है, परन्तु कफ ज्वर और गुल्म में देश तथा काल के तुल्य होने पर भी लंघन हितकर नहीं होता' । सुश्रुत भी कहता है कि' कफजन्य तिमिर, गुल्म, पाण्डु और उदर आदि रोगों से पीड़ित मनुष्यों को वमन नहीं कराना चाहिये' । और जो व्याधिहर हैं, वे अवश्य ही दोषहर होते हैं । वे व्याधि को शान्त करते हुए व्याधि के आरम्भक दोष को भी शान्त करते हैं । अन्यथा कारण के स्थिर रहने से रोग शान्त नहीं हो सकता । भाव—वाप्यचन्द्र का मत है कि–व्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा भी दोषप्रत्यनीक होती है, परन्तु दोषप्रत्यनीक से इसका भेद केवल इतना ही है कि–दोषप्रत्यनीक का व्याधिप्रत्यनीक होना आवश्यक नहीं और व्याधिप्रत्यनीक का दोषप्रत्यनीक होना आवश्यक है । अन्यथा व्याधिप्रत्यनीकता में व्याधि के शान्त कर देने पर भी तदुत्पादक हेतु की उपस्थिति होने के कारण वह शान्त नहीं हो सकती । इस पर माधव जी कहते हैं कि कई आचार्य इस मत को नहीं मानते । वे कहते हैं कि क्या वहां दोष समवायि कारण हैं, असमवायि कारण हैं, वा निमित्त कारण ? समवायि कारण का अभाव होने से कार्य का अभाव हो यही आवश्यक नहीं, किन्तु असमवायि कारण के अभाव से भी कार्य का अभाव होता है, जैसे कपाल समूह के संयोग रूप असमवायि कारण के अभाव से भी घट का अभाव होता है । इसी प्रकार रोग में भी सम्प्राप्ति रूप असमवायि कारण के अभाव से

१ च. २ 'न वामयेत्तैमिरिकोर्ध्ववातगुल्मोदरप्लीहकृमिश्रमार्तान्' इति सु. पा. ३ यतो दोषस्तत्र समवायि निमित्तं वा । न च समवायिनिमित्ताभावप्रयुक्तो नियमेन कार्याभावः । किन्त्वसमवायिकारणाभावप्रयुक्तोऽपि यथा कपालमालासंयोगस्यासमवायिकारणस्याभावाद्घटाभावः.

रोगरूप कार्य का भी अभाव होता है। पुनः यदि कहो दोष (निमित्तकारण) हो भी, तो वह अपने आप अथवा किसी दूसरी चिकित्सा से शान्त हो जाता है। ऊपर पूर्व पक्ष में कहा है कि दोषहर द्रव्य व्याधिहर भी हों, यह आवश्यक नहीं। परन्तु व्याधिहर द्रव्य दोषहर हैं, यह आवश्यक है। इस पर दूसरे आचार्य कहते हैं कि कारण के अभाव में कार्य का अभाव रहता है, यह तो सभी कारणों के लिये समान सिद्धान्त है, परन्तु कार्योत्पत्ति के अनन्तर असमवायिकारण के नाश होने पर ही कार्य का नाश होता है। जैसे-घट के प्रति मिट्टी आदि समवायिकारण, कपालों का संयोग असमवायिकारण और कुलाल आदि निमित्त कारण है। यहां घट के निर्माण में तीनों ही अपेक्षित हैं। इनमें से किसी एक के भी अभाव होने पर घट नहीं बन सकता। परन्तु जब इन तीनों कारणों के द्वारा घट बन चुके तो निमित्त कारण (कुलाल दण्ड आदि) के नष्ट हो जाने पर भी घट का नाश नहीं होगा, वह बना ही रहेगा। एवं समवायिकारण का नाश तो घट में हो ही नहीं सकता, क्योंकि मिट्टी का नाश नहीं होता। जब भी घटीय मिट्टी के सूक्ष्म २ कण करने की चेष्टा करेंगे तो पूर्व असमवायि कारण का ही नाश होगा[1]। अतः समवायि कारण भी घट के नाश में कारण नहीं हो सकता। कपालों के संयोग रूप असमवायि कारण के नाश होने पर घट अवश्य नष्ट हो जाता है। एवं केवल असमवायि कारण ही ऐसा है जो कि कार्योत्पत्ति के अनन्तर यदि नष्ट हो जाये तो तज्जन्य कार्य का भी नाश हो जाता है; यह एक सिद्धान्त है। अब वाप्यचन्द्र के मत को न मानने वाले पूछते हैं कि दोष समवायि कारण हैं, असमवायि कारण हैं, वा निमित्त कारण। यदि समवायि कारण मान लिये जावें तो समवायि कारण के अभाव होने पर ही कार्य का अभाव होता है, यह नियम नहीं। किन्तु असमवायि कारण के अभाव होने पर भी कार्य का अभाव होता है, जैसे कपालों के संयोग के अभाव से घट का अभाव। एवं रोगोत्पत्ति में दोष न समवायिकारण हैं और न असमवायि प्रत्युत मिथ्याहार आदि समवायिकारण, सम्प्राप्ति असमवायिकारण और दोष निमित्तकारण हैं। इनमें से किसी एक के अभाव होने पर भी रोगरूप कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसी पर आचार्य ने कहा है कि असमवायि कारण के न होने पर भी कार्य नहीं हो, सकता न सम्प्राप्ति होगी और न रोग उपजेगा। रोग उपजने के अनन्तर समवायि कारण मिथ्या आहारादि के छोड़ने पर भी रोग की शान्ति नहीं हो सकती, जब तक कि सम्प्राप्ति रूप असमवायि कारण का विच्छेद न हो जाये। एवं रोगोत्पत्ति के अनन्तर सम्प्राप्ति रूप असमवायि कारण के नष्ट होने पर रोग रूप कार्य का नाश होता है, जैसे घटोत्पत्ति के अनन्तर कपालमाला संयोग के ध्वंस से ही घट नष्ट होता है। जब सम्प्राप्ति के नाश से रोग का नाश हो गया तो दोष स्वतः ही अथवा किसी अन्य चिकित्सा से शान्त हो जाते हैं। एवं 'अन्यथा रोगो जित एव न स्यात्, कारणस्य दवस्थ्यात्' इसका खण्डन हो जाता है। यदि 'व्याधिहर अवश्य ही दोषहर भी है' ऐसा मान लिया जाये तो व्याधिप्रत्यनीक का उभयप्रत्यनीक से भेद प्रतीत नहीं होगा। अब पुनः यह शंका होती है कि यदि दोष निमित्त कारण हैं, तो उनसे उत्पन्न विकारों में वमनादिकों से दोष हरण क्यों किया जाता है? भाव यह है कि ऊपर कहा गया है कि निमित्त कारण के नाश होने से कार्य का नाश नहीं होता और दोष रोगों के निमित्त कारण हैं। एवं दोष को शान्त करने पर रोग की शान्ति नहीं होनी चाहिये। यदि ऐसा है तो उस २ दोष से उत्पन्न विकारों में उस २ दोष को हरण क्यों किया जाता है? का-

१ कपालरूपसमवायिकारणनाशनचेष्टायामपि—अयमेव प्रकारः।

के जैसे दण्ड कुलाल आदि निमित्त कारण के नाश करने पर घट का नाश नहीं होता, वं दोषरूप निमित्त कारण के अपहरण से विकार रूप कार्य का नाश तो होगा ही नहीं। सका उत्तर यह है कि ठीक है, निमित्त कारण के नाश से कार्य का नाश नहीं होता। परन्तु हां कार्य जहां निमित्तकारण पर निर्भर होता है, वहां निमित्त कारण के नाश हो जाने र कार्य का भी नाश हो जाता है, जैसे वर्ति और तैल के नाश हो जाने पर दीपक का भी ाश हो जाता है। यहां कार्य निमित्त कारण की स्थिति तक ही रहने वाला है। एवं प्रकृत में भी दोष के अपहरण से यावत्कारण स्थायी होने के कारण विकार भी शान्त हो जाते हैं।

वक्तव्य—वस्तुतः पूर्वपक्षी तथा उत्तरपक्षी का आशय यह है—पूर्वपक्षी मानता है कि जो औषध व्याधिप्रत्यनीक वा यों कहें कि व्याधिहर है वह दोषहर भी है, यदि ऐसा न मानें तो व्याधि को शान्त कर देने पर भी दोष (निमित्तादि कारण) के रह जाने से व्याधि नष्ट न हो सकेगी। अथवा नष्ट होने पर पुनः २ हो जायगी। जो औषध दोषप्रत्यनीक है, उसका व्याधिप्रत्यनीक होना आवश्यक नहीं। कारण कि दोष व्याधि का मूल है। अतः उनके नाश करने से व्याधि 'छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्' के अनुसार स्वयं नष्ट हो जायगी। दूसरा दोषप्रत्यनीक इसलिये भी व्याधिप्रत्यनीक नहीं है कि दोष व्याधि के निमित्त कारण हैं, और निमित्त कारण के नाश से कार्य का नाश नहीं हुआ करता। इसी उपर्युक्त कारण को लक्ष्य रखते हुए चाप्यचन्द्र ने व्याधिप्रत्यनीक औषध अवश्य हेतु-प्रत्यनीक भी है और हेतुप्रत्यनीक औषध व्याधिप्रत्यनीक नहीं है, ऐसा कहा है। परन्तु उत्तरपक्षी इस भाव को लेकर खण्डन करते हैं कि यदि, निमित्त कारण के नाश से कार्य का नाश नहीं होता, इसे स्वीकार कर आप दोषप्रत्यनीक औषध व्याधिप्रत्यनीक नहीं है, ऐसा कहते हैं तो कार्य के नाश होने पर निमित्त कारण का नाश नहीं होता, इस सिद्धान्त के अनुसार कार्यरूप व्याधि की प्रत्यनीकता से निमित्त कारण रूप दोष की प्रत्यनीकता भी नहीं हो सकती। दूसरा जो यह कहा है कि दोष की विद्यमानता होने के कारण व्याधि पूर्णरूप से शान्त न होगी वा पुनः हो जायगी। इसका उत्तर यह है कि नहीं, आचार्यों का यह सिद्धान्त है कि दोषों के प्रकोप में तो कारण है, परन्तु प्रशम में नहीं। अर्थात् प्रवृत्ति में हेतु की आवश्यकता है, निवृत्ति में नहीं[1]। जब दोषों की निवृत्ति में हेतु की आवश्यकता ही नहीं तो व्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा से व्याधि के शान्त हो जाने पर दोष स्वयमेव शान्त हो जायेंगे। यदि यह कहो कि जब दोष स्वतः शान्त हो जाते हैं तो दोषप्रत्यनीक चिकित्सा की आवश्यकता ही क्या है? वा वह क्यों कही? इसका उत्तर यह है कि कई आचार्य भावों (दोषों) की निवृत्ति में भी कारण मानते हैं[2]; और वह कारण उन भावों (दोषों) को प्रकुपित करने वाले कारणों का अभाव है। और इसी लिये दोषप्रत्यनीक चिकित्सा कही है। इससे दोष को प्रकुपित करने की सामग्री नहीं मिलती, जिससे पूर्व प्रकुपित दोष भी धीरे २ स्वतः शान्त हो जाते हैं। इनकी गति एक हानिकारक संघ की तरह है, जब वह मार काट कर रहा होता है और उसको पीछे से सहायता भी मिलती रहे तो वह बहुत कार्य करता है। यदि उसे पीछे से सहायता सर्वथा बन्द हो जाय तो वह स्वयं ही क्षीण होकर शान्त हो जायगा। यही दोषों की लीला है। उपर्युक्त इसी भाव को लेकर ही रक्षित ने यह कहा है कि—'दोषास्तु स्वतः क्रियान्तरेण वा निवर्तते' इत्यादि। इसमें 'स्वतः' और 'क्रियान्तर' शब्द से

१ प्रवृत्तिहेतुर्भावानां न निरोधेऽस्ति कारणम्. २ केचित्तत्रापि मन्यन्ते हेतुं हेतोरवर्तनम् (च. सू. स्था. अ. १६).

निवृत्ति में अहेतुवादी तथा हेतुवादी दोनों का मत प्रदर्शित कर दिया है। अब पुनः उद्भा
उठती है कि उपर्युक्त 'कार्य के नाश से निमित्त कारण का नाश नहीं होता' यह
है, परन्तु व्याधिप्रत्यनीकता में हमारा यह भाव नहीं कि व्याधि की प्रत्यनीकता
के कारण ही हेतु की भी प्रत्यनीकता हो जाती है। प्रत्युत हमारा भाव तो यह है कि
व्याधिप्रत्यनीक औषध अपने प्रभाव से व्याधि को भी नष्ट करती है और दोष को भी
हरती है। इस प्रकार औषध अपने भिन्न २ दो प्रभावों से दो कार्य करती है। एवं
उपर्युक्त 'कार्यनाशान्न निमित्तकारणनाशः' इसका खण्डनरूप दोष हमारे अभिप्राय में नहीं
आता। इसका उत्तर यह है कि यदि व्याधि विपरीत औषध आदि ही दोनों प्रभाव
(कार्य सम्पादन) कर सकती है तो हेतुव्याधिविपरीत औषध आदि कहने की आव-
श्यकता ही क्या है ? उससे इसका भेद कैसे प्रतीत होगा ? अतः यह मानना पड़ता है
कि हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत और उभयविपरीत यह तीन प्रकार की औषध अप-
नियत कार्य को ही करती है और वाप्यचन्द्र का मत ठीक नहीं। अब पुनः शंका होती
है कि यदि दोष निमित्त कारण हैं तो उनसे उत्पन्न रोगों में वमनादि से दोष हरण
क्यों किया जाता है ? क्योंकि जैसे दण्ड और कुलाल आदि के नष्ट कर देने से घट का
नाश नहीं होता, वैसे निमित्तकारणरूप दोषों के अपहरण से कार्यरूप व्याधि का ना-
नहीं होना चाहिये। इसका उत्तर रक्षित ने यह दिया है कि यहां 'वर्तितैलनाशात् प्रदी-
नाशः' की तरह यावन्निमित्तकारण स्थायी कार्य होने से दोष (निमित्तकारण) अपहरण
से व्याधि (कार्य) का नाश हो जाता है। रक्षित के इस उत्तर से मैं सहमत नहीं हूं
कारण कि रक्षित ने व्याधियों को यावन्निमित्त कारण स्थायी कार्य माना है। परन्तु इस
दोष आता है कि यदि निमित्तकारणरूप दोषों के अपहरण से व्याधिरूप कार्य
नाश हो जाता है तो श्लैष्मिक तिमिर में श्लेष्महर होने पर भी वमन क्यों नहीं दि
जाता[1] ? इससे प्रतीत होता है कि भेषज द्रव्य प्रतिनियत शक्तिक होते हैं। अतः वे अप
शक्ति से नियत काम ही करते हैं। जहां दोषापहरण से व्याधि का नाश भी हो जा
है, वहां यह समझना चाहिये कि इसमें प्रयुक्त भेषज उभयप्रत्यनीक है। दूसरी ब
यह है कि (निमित्त कारण रूप) दोषों के अपहरण से यदि व्याधि का नाश हो सक
है तो 'शोधनं शमनञ्चैव निदानस्य च वर्जनम्' इस त्रिविध चिकित्सा कथन की आवश्यक
ही क्या थी ? एवं वस्तुतः बात यह है कि निमित्त कारण रूप दोषों के अपहरण
अदृढ़ पृष्ठ वाली हो जाने के कारण कार्यरूप व्याधि शनैः २ शारीरिक शक्ति (प्रकृति
के साथ युद्ध में पराजित होती हुई स्वयं शान्त हो जाती है। अथवा यों कहें कि निमि
कारण रूप दोषों के न रहने पर वह भी न बढ़कर शारीरिक प्रकृति द्वारा पराभूत हो
हुई शान्त हो जाती है। निदर्शनार्थ—जैसे घट के प्रति निमित्त कारण कुलाल दण्डादि हैं।
कुलाल दण्डादिकों से घट निर्मित हो चुके तो यदि कुलालादि निमित्त कारण का नाश
दिया जाय तो आगे घट निर्माण बन्द हो जायगा, और पूर्वनिर्मित घट शनैः २ स्वयं नष्ट
जायेंगे, अथवा क्रियान्तर से नष्ट हो जायेंगे। यही भाव प्रकृत में भी है अर्थात् निमित्त का
रूप दोषों के अपहरण से व्याधियाँ शनैः २ स्वयं शान्त हो जायँगी (हो जाती हैं)। अथ
व्याधिविपरीत चिकित्सा रूप क्रियान्तर से शान्त हो जायँगी (हो जाती हैं)। इस प्र
यह सिद्ध होता है कि निमित्त कारण रूप दोषों के अपहरणमात्र से कार्य रूप व्याधि
नष्ट नहीं होतीं प्रत्युत स्वभावोपरति से वा (व्याधिविपरीत चिकित्सा रूप) क्रियान्

१ यदुक्तमपि 'न वामयेत्तैमिरिकम्' इत्यादि (सु. चि. स्था. अ. ३३).

से शान्त होती हैं। परन्तु जहां कहीं साक्षात् दोषापहरण से भी व्याधि नष्ट हो जाती है, वहां वह दोषापहारक क्रिया वस्तुतः उभयविपरीत होती है। अन्यथा हेतुविपरीत क्रिया साक्षात् हेतुनाशक और व्याधिशमक होने से, उभयविपरीत से पृथक् नहीं हो सकती। वा उभयविपरीत क्रिया व्यर्थ जाती है। अतः हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत और हेतुव्याधि-विपरीत, यह त्रिविध क्रिया पद्धति भी निष्फल सिद्ध होती है; तथा 'निमित्तकारणनाशात् न कार्यनाशः'-यह सिद्धान्त भी खण्डित होता है। परन्तु यदि हम उक्त प्रकार से स्वीकार कर लें तो ये सब दोष भी नहीं आते और कार्य भी चल जाता है। अतः 'ननु, यदि निमित्त-कारणं दोषास्तत्कथं तदारब्धविकारे वमनादिना दोषहरणं विधीयते ? नहि दण्डकुलालाद्युच्छेदे घटोच्छेद इति' इस शंका का भी उपर्युक्त उत्तर ही ठीक है। बल्कि उपर्युक्त सिद्धान्त को स्वीकार करने से इस शंका का उत्थान ही नहीं हो सकता। क्योंकि उपर्युक्त में निमित्त कारण के नाश से कार्य का नाश होना नहीं माना गया। रक्षित इस शंका का उत्तर 'उच्यते, यत्र यावन्निमित्तकारणस्थायिकार्यं तत्र निमित्तकारणोच्छेदादपि कार्यनाशः; यथा—वर्तितैलनाशादपि प्रदीप-नाशः; तथाभूताश्च दोषाः प्रायशः ॥' यह देते हैं। अब इस उत्तर पर विचार करना है कि क्या यह ठीक है, या नहीं। 'यावन्निमित्तकारणस्थायिकार्यम्' इस वाक्य[1] का अर्थ यह है कि निमित्त कारण की स्थिति तक रहने वाला कार्य। सब से प्रथम बात तो यह है कि प्रदीप[2] में तैल, वर्ति, मृद्दीपक, ज्वाला आदि समवायिकारण, इनका (तैलादिकों का) संयोग असमवायिकारण और प्रदीपयिता (जलाने वाला) निमित्त कारण है। एवं यहां तो तैल और वर्ति निमित्त कारण ही नहीं है। निमित्त कारण तो यहां प्रदीपयिता, दीपशलाका आदि हैं। इस प्रकार यहां प्रदीपयिता आदि निमित्त कारण के नाश से प्रदीपक का नाश नहीं होता। एवं वर्ति तथा तैलरूप समवायि कारण[3] के नाश होने से भी प्रदीप का नाश नहीं होता, प्रत्युत समवायि कारण के नाश से (तैल समाप्ति से) तैल वर्ति और ज्वाला आदि का संयोगरूप असमवायि कारण नष्ट हो जाता है, जिससे कि प्रदीप नाश होता है। एवं प्रदीप भी घट आदि की तरह असमवायि कारण के नष्ट होने पर ही नष्ट होता है, न कि समवायि कारण वा निमित्त कारण के नष्ट होने पर। इस प्रकार रक्षितप्रदत्त इस दृष्टान्त में भी 'निमित्तकारणनाशात् न कार्यनाशः' यह सिद्धान्त दुष्ट नहीं होता। प्रत्युत यह दृष्टान्त ही प्रकृत[4] में न घटने से दृष्टान्ताभास हो जाता है। क्योंकि दोष व्याधि के प्रति निमित्त कारण हैं, और वर्ति तैलादि प्रदीप के प्रति समवायि कारण हैं। अतः बिम्बप्रतिबिम्ब भाव, तथा साधारण धर्मों में समानता नहीं आती, जो कि दृष्टान्त में आवश्यक है। एवं जैसे इस दृष्टान्त में निमित्त वा समवायि कारण के नाश से कार्य का नाश नहीं होता तथा असमवायि कारण के नाश से कार्य का नाश हो जाता है, वैसे ही प्रकृत (व्याधिरूप कार्य) में भी निमित्त वा समवायिकारण के नाश से कार्य (व्याधि) का नाश नहीं होता तथा असमवायि कारण (सम्प्राप्ति) के नाश से कार्य (व्याधि) का नाश हो जाता है। इस प्रकार 'न निमित्तकारणनाशात्कार्यनाशः' यह तथा 'असमवायि-कारणनाशात् कार्यनाशः' यह एवं 'कार्यनाशात् असमवायिकारणनाशः'[5] यह सिद्धान्त खण्डित नहीं होता, और सब कार्य भी इसी के अनुसार चलते रहते हैं। अब पुनः विचार उप-

१ अन्वितकार्थबोधे तु वाक्यं पदसमुच्चयः—इति वाक्यलक्षणम्. २ प्रदीप से यहां जलता हुआ दीपक यह अर्थ होना चाहिये, न कि केवल मिट्टी का दीपक, क्योंकि इसके तीनों कारण और होते हैं. ३ इसे रक्षित ने निमित्त कारण माना है. ४ अर्थात् 'दोषनाशाद्व्याधिनाशः' के साथ. ५ यथा: सतो निवृत्तौ सम्प्राप्तिनाशः इति; वा घटनाशात्कपालमालासंयोगनाशः इति.

स्थित होता है कि यदि कदाचित् रक्षितोक्त बात[१] स्वीकार भी कर ली जावे तो भी कारण के नाश से कार्य का नाश नहीं होता। तद्यथा रक्षित जी ने वर्ति तैल को निमित्त कारण माना है, और कहा है कि इसके नाश से कार्यरूप प्रदीप का नाश जैसे हो जाता है, वैसे दोषरूप निमित्त कारण के नाश से कार्यरूप व्याधि का भी नाश हो जाता है। अतः यावन्निमित्त कारणस्थायि कार्य कारण के नाश होने पर कार्य का नाश हो जाता है, इसके अनुसार 'निमित्तकारणनाशान्न कार्यनाशः' का खण्डन होने पर भी प्रकृत में दोष नहीं आता। इसमें विचारणीय यह है कि निमित्त कारणों को उभयत्र (प्रदीप तथा व्याधि) नष्ट कर देने पर कार्य नाश नहीं होता प्रत्युत निमित्त कारण के नष्ट करने पर असमवायि कारण प्रदीप में ज्वालादि का संयोग और व्याधि में सम्प्राप्तिरूप का नाश हो जाता है। एवं असमवायिकारण के नष्ट होने पर ही कार्य (प्रदीप और व्याधि) का नाश होता है। एवं यहां असमवायिकारण के नाश से ही कार्य (प्रदीप और व्याधि) का नाश होता है अर्थात् प्रदीप में तथा व्याधि में निमित्त कारण के नाश से पूर्व असमवायि कारण का नाश होता है, और असमवायिकारण के नाश के बाद उसी के नाश के कारण कार्यरूप प्रदीप तथा व्याधि का नाश होता है। इस तरह प्रकृत प्रदीप नाश और व्याधिनाश में असमवायिकारण का नाश अर्थात् प्रदीप और व्याधि के असमवायि कारण क्रमशः ज्वाला आदि संयोग तथा सम्प्राप्ति का नाश कारण अर्थात् निमित्त कारण है और प्रदीप तथा व्याधि के निमित्तकारण क्रमशः वर्ति तैल तथा दोष प्रदीप और व्याधि के असमवायि कारण अर्थात् ज्वालासंयोग तथा सम्प्राप्ति के नाश में निमित्त कारण होता है। एवं जो कार्य के निमित्तकारण का निमित्तकारण होता है, वह घट के प्रति कुलाल के पिता की तरह चतुर्थ अन्यथासिद्ध होता है, न कि कारण। इस प्रकार दोषापहरण तथा वर्ति तैल नाश व्याधिनाश तथा प्रदीप नाश के प्रति चतुर्थ अन्यथासिद्ध हैं, और अन्यथासिद्ध कारण नहीं हो सकता। अतः वर्ति तैल नाश से तथा दोषापहरण से प्रदीपनाश तथा व्याधिनाश नहीं होता, यह सिद्ध होता है। सारांश यह है कि इस प्रकार भी दोषरूप निमित्त कारण के अपहरण से ही व्याधिरूप कार्य का नाश नहीं होता, प्रत्युत दोषापहरण से सम्प्राप्ति रूप असमवायिकारण का भङ्ग होता है, और उसके भङ्ग से व्याधिरूप कार्य का नाश होता है। यद्यपि इसमें अभी पर्याप्त आलोचना अवशिष्ट है, परन्तु ग्रन्थविस्तृति भय से उस दार्शनिक आलोचना को नहीं दर्शाया जाता।

मधु०—अन्नं यथा—अतिसारे स्तम्भनं मसूरादि। विहारो यथा—उदावर्ते प्रवाहणं; मन्त्रौषधिधारणवल्युपहारनियमप्रायश्चित्तहोमगुरुदेवशुश्रूषादयोऽपि व्याधिविपरीता विहारा इति वाप्यचन्द्रः। अथ हेतुव्याधिविपरीतानि।—औषधं यथा—वातशोथे दशमूलं वातहरं शोथहरं च। यदुक्तं चरके षड्विरेचनशताश्रितीयेऽध्याये—'पाटला'—इत्यादि यावत्—'दशेमानि शोथहराणि'—इति (च. सू. स्था. अ. ४)। अन्नं यथा—वातकफग्रहण्यां तक्रं, शीतवातोत्थे ज्वरे पेया; सा ह्युष्णवीर्यत्वाद्वातं हन्ति प्रभावाज्ज्वरं च। यदुक्तं चरके—'ज्वरघ्न्यो ज्वरसात्म्यत्वात्॥' इति (च. चि. स्था. अ. ३); सुश्रुते च,—'ज्वरे चैवातिसारे च यवागूः सर्वदा हिता'—इति (सु. उ. तं. अ. ४०)। विहारो यथा—स्निग्धदिवास्वप्नप्रजातायां तन्द्रायां रूक्षं तन्द्राविपरीतं रात्रिजागरणमिति। अथ हेतुविपरीतार्थकारीणि।—औषधं

१ रक्षितोक्त बात अर्थात् वर्तितैल को निमित्त कारण.

यथा-पित्तप्रधाने व्रणशोथे पित्तकर उष्ण उपनाहः। अन्नं यथा-पच्यमाने व्रणशोथेऽन्नं विदाहि। विहारो यथा-वातोन्मादे त्रासनमिति। अथ व्याधिविपरीतार्थकारीणि। औषधं यथा-छर्द्यां वमनकारकं मदनफलादि। अन्नं यथा-अतिसारे (विरेचनार्थं) विरेचनं क्षीरम्। विहारो यथा-छर्द्यां वमनार्थं प्रवाहणमिति। अथ हेतुव्याधिविपरीतार्थकारीणि। औषधं यथा-अग्निप्लुष्टे उष्णोऽगुर्वादिलेपः, विषे वा विषम्। अन्नं यथा-मद्यपानोत्थे मदात्यये मदकारकं मद्यम्। विहारो यथा—व्यायामजनितसंमूढवाते जलप्रतरणरूपव्यायाम इति।

व्याधिविपरीत अन्न का उदाहरण अतिसार में मसूरादि से स्तम्भन है और विहार का उदाहरण उदावर्त्त में प्रवाहण कराना है। परन्तु वाप्यचन्द्र मन्त्रधारण, ओषधिधारण, बलिकर्म, उपहारप्रदान, नियमपालन, प्रायश्चित्ताचरण, होम, गुरुपूजा और देवपूजा आदि भी व्याधिविपरीत विहार ही मानता है। अब हेतुव्याधिविपरीतों का निर्देश किया जाता है। उनमें से औषध का उदाहरण जैसे—वात शोथ में दशमूल। यह वातहर भी है और शोथहर भी। जैसे चरक ने षड्विरेचनशताश्रितीय अध्याय में 'पाटला' आदि से 'दशेमानि शोथहराणि' तक के पाठ में कहा भी है। हेतुव्याधिविपरीत अन्न का उदाहरण जैसे—वातिक कफ की ग्रहणी में तक्र, शीत और वात से होने वाले ज्वर में पेया, यह उष्णवीर्य होने से वात को तथा प्रभाव से ज्वर को नष्ट करती है। जैसे चरक में कहा भी है कि—'ज्वरघ्नो ज्वरसात्म्यत्वात्' इति। सुश्रुत ने भी कहा है कि 'ज्वर और अतिसार में यवागू सर्वदा हितकर होती है। हेतुव्याधिविपरीत में विहार का उदाहरण—स्निग्ध दिवास्वाप से उत्पन्न तन्द्रा में तन्द्रा से विपरीत रात्रि में जागरण। हेतुविपरीतार्थकारी औषध यथा—पित्तप्रधान व्रणशोथ में पित्तकारक उष्ण उपनाह। हेतुविपरीतार्थकारी अन्न का उदाहरण—पच्यमान व्रण शोथ में विदाही अन्न का प्रयोग। हेतुविपरीतार्थकारी विहार का उदाहरण—वातिक उन्माद में त्रास दिखाना। अब व्याधिविपरीतार्थकारियों का निर्देश किया जाता है। उनमें से औषध का उदाहरण—छर्दि में छर्दि करने वाले मैनफल का प्रयोग। व्याधिविपरीतार्थकारी अन्न का उदाहरण जैसे-अतिसार में विरेचक क्षीर (दुग्ध) का प्रयोग। व्याधिविपरीतार्थकारी विहार का उदाहरण जैसे—छर्दि में छर्दनार्थ प्रवाहण कराना। अब उभयविपरीतार्थकारी के उदाहरण दिखाए जाते हैं, उनमें से पूर्व औषध का उदाहरण जैसे—अग्निप्लुष्ट में-उष्ण अगुरु आदि का लेप; वा विष में विष का प्रयोग। अन्न का उदाहरण जैसे—मद्यपानजन्य मदात्यय में मदकारक मद्य का उपयोग। उभयविपरीतार्थकारी विहार जैसे—व्यायाम से होने वाले संमूढ वात में जल में तैरना रूप व्यायाम करना।

मधु०—ननु छर्द्यां बहुश्लेष्मगायां वमनयोग्यायां यदि वमनं न क्रियते तदा चिरानुवर्ती रोगोऽनुच्छेद्यो वा स्यात्, ततश्च वमनं प्रयुक्तं दोषप्रत्यनीकमेव भवति; यदुक्तं सुश्रुते,—'छर्दिषु बहुदोषासु वमनं हितमुच्यते' इति, एवमग्निप्लुष्टेऽप्युष्णक्रियया रक्तस्य विलयनेन स्थानान्तरगमनाद्धेतुप्रत्यनीकत्वं; अन्यथा रक्तं दाहप्रकुपितं तत्रस्थं पाकमारभेत; यदुक्तं सुश्रुते, 'अग्निना कोपितं रक्तं भृशं जन्तोः प्रकुप्यति। ततस्तेनैव वेगेन पित्तमस्याप्युदीर्यते' इति (सु. सू. स्था. अ. १२); शीतक्रिया च तत्र निषिद्धा, रक्तस्य स्त्यानत्वहेतुत्वात्;

१ यथोक्तमपि चरके,-'बहुदोषस्य दीप्ताग्नेः सप्राणस्य न तिष्ठति। पैत्तिको यद्यतिसारः पयसा तं विरेचयेत्'-(च. चि. अ. १९). २ शमनयोग्यायां. ३ विकारानुवृत्तिः, रोगानुच्छेदो वा स्यात् विकारानुवर्ती रोगो रोगानुच्छेदो वा. ४ वमिषु. ५ अस्याग्रे तथा आमातिसारे [illegible]नामनिःसरणं हेतुप्रत्यनीकमेव भवति इति क्वचिदधिकः पाठः.

यदाह सुश्रुतः,—'प्रकृत्या ह्युदकं शीतं स्कन्दयत्यतिशोणितम्। तस्मात्सुखयति ह्युष्णं नतु शीतं कथंचन'—इति (सु. सू. स्था. अ. १२), स्कन्दयति स्त्यानीकरोति; तथा जङ्गमविषे ऊर्ध्वगस्वरूपे मौलविषमधोगस्वरूपं हेतुविपरीतमेव, यदुक्तं चरके,—'विषं विषघ्नमुक्तं यत्प्रभावस्तत्र कारणम्। ऊर्ध्वानुलोमिकं यच्च तत्प्रभावप्रभावितम्'—इति (च. सू. स्था. अ. २६); अस्यायमर्थः—विषत्वाविशेषेऽपि कुतो गतिभेद इत्यत उक्तं प्रभावप्रभावितमिति; तथा मद्यकृते मदात्यये यन्मद्यं तदपि मातुलुङ्गचुक्रादियुतं सुश्रुतादिभिर्विहितं केवलाच्च द्रव्यान्तरसंयुक्तमन्यदेव, अथवा वातमदात्यये रूक्षमार्द्वीकादिना जनितं स्निग्धपैष्टिकादिमद्यं प्रयुज्यमानं हेतुविपरीतमेव; यच्चोक्तं सुश्रुते,—'यथा नरेन्द्रोपहतस्य कस्यचिद्भवेत्प्रसादस्तत एव नान्यतः। ध्रुवं तथा मद्यहतस्य देहिनो भवेत्प्रसादस्तत एव नान्यतः'-इति (सु. उ. तं. अ. ४७); तन्मद्यजातीयाभिप्रायेणैव; यच्चोरुस्तम्भे जलप्रतरणं, तत्रापि जलस्य शैत्येन बहिरगच्छन् देहोष्मा कुम्भकारपवनन्यायेनान्तःपिण्डितौ मेदःश्लेष्माणौ विलाययति व्यायामश्च तौ शोषयति, ततस्तु निरावरणो वायुः स्वमार्गप्रतिपन्नो भवतीति हेतुप्रत्यनीकतैव; अनेन न्यायेन सर्वमेव तदर्थकारि यथासंभवं हेतुप्रत्यनीकादावेवान्तर्भवतीति। उच्यते, यद्यप्येवं तथाऽप्यवान्तरवैधर्म्यप्रतिपादनार्थमाचार्यैः पृथग्दर्शितम्। तथा चरकेऽप्युक्तम्,—'उपशयः पुनर्हेतुव्याधिविपरीतानां विपरीतार्थकारिणां चौषधाहारविहाराणामुपयोगः सुखानुबन्धः'—इति (च. नि. स्था. अ. १)।

अब यहां यह शंका उत्पन्न होती है कि जो विपरीतार्थकारी द्रव्य कहे हैं, वे भी विपरीतार्थकारी नहीं हैं, प्रत्युत केवल विपरीत नहीं हैं। इसी की उत्थानिका आचार्य रक्षित निम्न प्रकार से करते हैं कि वमन योग्य श्लेष्म प्रधान छर्दि में यदि वमन न कराया जावे तो रोग चिरस्थायी अथवा असाध्य हो जाता है। इसलिये ऐसे स्थान पर प्रयुक्त वमन दोषप्रत्यनीक ही होता है। जैसे सुश्रुत में कहा भी है कि 'बहुत दोष वाली छर्दि में वमन हितकर होता है' इत्यादि। एवं अग्निप्लुष्ट (झुलसने) में भी उष्ण क्रिया से रक्त के विलीन होकर स्थानान्तर में जाने के कारण हेतुविपरीतता ही है। अन्यथा दाह से प्रकुपित रक्त वहां पर ठहरा हुआ पाक आरम्भ कर देगा। जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—'अग्नि से दूषित जीवों का रक्त अत्यन्त प्रकुपित हो जाता है, तदनु उसी वेग से पित्त भी प्रकुपित हो जाता है' इत्यादि। साथ ही अग्निप्लुष्ट में रक्त को घन कर देने के कारण शीत क्रिया तो निषिद्ध है, जैसे सुश्रुत में कहा भी है कि—'शीतोदक स्वभाव से ही रक्त को अति घन कर देता है, इस कारण उष्ण तो सुखकर होता है। परन्तु शीत कभी भी सुखकर नहीं होता। इसका भाव यह है कि उभयविपरीतार्थकारी औषध के दृष्टान्त में—'अग्निप्लुष्ट में अगुरु आदि उष्ण पदार्थों का लेप कहा है। शंकावादी यह कहता है कि यह विपरीतार्थकारी नहीं प्रत्युत हेतुविपरीत ही है। क्योंकि उष्ण क्रिया से रक्त विलीन होता है; और शीतक्रिया से घन। एवं यदि वहां उष्णक्रिया न की जावे तो शोथ आदि हो जावेगी जिसका हेतु शीतक्रिया है उसी की निवृत्ति के लिये उष्ण पदार्थों का लेप किया जाता है। एवं यह हेतुविपरीतता है। यदि कहो कि उष्ण क्रिया से रक्त विलीन नहीं होता तो

१ अस्याग्रे 'यथा शाल्यर्थं प्रवृत्तया कुल्यया क्रियमाणं बीजान्तराधानं तन्नान्तरीयकम्, तदुभय-[illegible]' इति क्वचिदधिकः पाठः.

ठीक नहीं। कारण कि रक्त विलीन होता है। यदि विलीन न हो तो उष्ण क्रिया से पाक रम्भ हो जावेगा, परन्तु सर्वत्र होता नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि रक्त उष्णक्रिया विलीन होता है। इसी प्रकार ऊर्ध्व गमन करने वाले जङ्गम विष में निम्न गमन वाला लविष देना भी हेतुविपरीत ही है (उभयविपरीतार्थकारी नहीं)। जैसे चरक में कहा है कि—'विष के विपन्न होने में प्रभाव ही कारण है और जो ऊर्ध्व वा अधःगति करना, यह भी प्रभाव से प्रभावित होने से ही होता है। इसका अर्थ यह है कि जङ्गमविष और मूलविष दोनों विष ही हैं। पुनः उनमें गतिभेद क्यों है? इसी का उत्तर 'प्रभावप्रभावितम्' स पद में है। इस प्रकार यहां भी हेतुविपरीतता ही है। एवमेव मद्यकृत मदात्यय में मद्य दिया जाता है, वह भी मातुलुङ्ग चुक्र आदि द्रव्यों से युक्त ही सुश्रुतादि ने माना है। इस प्रकार केवल मद्य से द्रव्यान्तर संयुक्त मद्य और होती है। एवं उसका देना हेतुविपरीतता ही है। अथवा रूक्ष माध्वीक आदि से उत्पन्न वातिक मदात्यय में पीठी आदि स्निग्ध द्रव्यों से निर्मित स्निग्ध मद्य का देना हेतुविपरीत नहीं है। जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—जैसे नरेन्द्र की आज्ञा से बंधे हुए मनुष्य की मुक्ति उसी के प्रसाद से ही होती है, किसी और से नहीं होती, ठीक उसी प्रकार मद्यहत मनुष्य की मुक्ति भी उसी से ही होती है, किसी और से नहीं। यह सब मद्य की जाति को लेकर ही कहा है। जो ऊरुस्तम्भ में विपरीतार्थकारी विहार कहा है, उस पर कहते हैं कि—वहां भी जल की शीतता के कारण बाहर न निकलती हुई देह की ऊष्मा कुम्भकारपवनन्याय से अन्तःस्थित मेदा और श्लेष्मा को विलीन कर देती है और व्यायाम उनको सुखा देता है, तदनु निरावरण वायु अपने मार्ग में चली जाती है। एवं यहां भी हेतुप्रत्यनीकता ही है। इसी न्याय से सम्पूर्ण विपरीतार्थकारी यथासम्भव हेतुप्रत्यनीकादि में ही अन्तर्हित हो जाता है। इसलिये विपरीतार्थकारी औषधादि मानना उचित नहीं। (उत्तर—) यद्यपि यह ठीक है, परन्तु फिर भी अवान्तर वैधर्म्य बताने के लिये तदर्थकारी औषधादि आचार्यों ने पृथक् रूप से माने हैं। इनकी पृथक्ता चरक ने भी स्वीकार की है। यथा—'हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत तथा उभयविपरीत औषध, अन्न और विहार का भली प्रकार चिरकाल तक सुख देनेवाला उपयोग, तथा हेतुविपरीतार्थकारी, व्याधिविपरीतार्थकारी और उभय-विपरीतार्थकारी औषधादि का सुखावह उपयोग उपशय कहलाता है'। वैधर्म्य यह है कि हेतु के समानधर्मी होने पर भी रोग को शान्त करना। इसका भाव यह है कि ऊपर कहा गया है कि—अवान्तर वैधर्म्य बताने के लिये तदर्थकारी को आचार्यों ने स्वीकार किया है। अब यहां यह बताया जाता है कि वह अवान्तर वैधर्म्य कौन सा है? वही कहते हैं कि—चिकित्सा करते समय जो औषध अन्न और विहार आदि हेतु का समान-धर्मा दीखते हुए भी रोग प्रशान्त करता है, यही अवान्तर वैधर्म्य है। उदाहरण यथा—अग्निप्लुष्ट में हेतु अग्नि है, अगुरु आदि भी अग्निगुण प्रधान है। परन्तु प्रयुक्त करने पर लाभ करते हैं। अतः हेतु के समान धर्म होने पर भी अगुरु आदि का लाभ करना केवल विपरीत औषधादि से वैधर्म्य है। क्योंकि वे (विपरीत औषधादि) हेतु के समान धर्म वाले नहीं होते।

अनुपशयस्य लक्षणं व्याचष्टे—

विपरीतोऽनुपशयो व्याध्यसात्म्याभिसंज्ञितः ॥९॥ [वा० ३।१।७]

अन्वयः—(यः) विपरीतः सः अनुपशयः व्याध्यसात्म्याभिसंज्ञि

भाषार्थ—उपशय से जो विपरीत हो उसे अनुपशय कहते हैं, और उसी अनुपशय को व्याध्यसात्म्य भी कहते हैं ।

मधु०—वैधर्म्यं च हेतुसमानधर्मकत्वेऽपि रोगप्रशमकत्वमिति । विपरीतोऽनुपशय इति औषधादीनां दुःखकर उपयोगोऽनुपशय इत्यर्थः । तत्पर्यायमाह—व्याध्यसात्म्य इति । व्याधिग्रहणेन दोषोऽपि बोध्यः । ननु, अनुपशयः किं व्याधिविशेषं बोधयति नो वा ? नेति चेत्, निदाने तदुपन्यासो व्यर्थः; प्रतिपादयतीति चेत्, 'विज्ञानं रोगाणां पञ्चधा स्मृतम्'—इति व्याहन्यते, तस्य षष्ठत्वापत्तेः । नैवं, प्रतिपादयत्येव । यदाह चरकः—'गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत'—इति (च. वि. स्था. अ. ४) । किंतु निदाने तस्यान्तर्भावो, दोषस्य रोगस्य वा वर्धकत्वात् । इत्यनुपशयस्य निदानेऽन्तर्भावान्न षष्ठत्वापत्तिः । वक्ष्यति च-'निदानोक्तानुपशयः'—इति । इत्युपशयलक्षणम् ॥८, ९॥

क्या उपशय व्याधि विशेष का बोधक है, वा नहीं ? यदि वह (व्याधि विशेष बोधक) नहीं है तो निदान में उसका समावेश व्यर्थ है और यदि (व्याधि विशेष बोधक) है, तो 'रोग पांच उपायों से जाने जाते हैं' यह प्रतिज्ञा वा निर्धारण वाक्य खण्डित होता है । क्योंकि अनुपशय को व्याधिबोधक मानने से संख्यावृद्धि हो जाती है । (उत्तर—) नहीं, अनुपशय व्याधिबोधक भी है और संख्या वृद्धि भी नहीं होती । इसी को रक्षित जी कहते हैं कि उपशय व्याधि का प्रतिपादन करता है । जैसे चरक ने कहा भी है कि 'गूढलिङ्ग वाली व्याधि का ज्ञान उपशय और अनुपशय से करे' । एवं व्याधि का प्रतिपादक होने पर भी छठा नहीं है । कारण कि रोगवर्धक वा दोषवर्धक होने से इसका अन्तर्भाव निदान में हो जाता है । इस प्रकार निदानान्तर्गत होने से अनुपशय छठा रोगज्ञानोपाय नहीं है । इसका निदान में अन्तर्भाव का निर्देश आचार्य माधव स्वयं 'निदानोक्तानुपशयः' इत्यादि से कहेंगे ।

वक्तव्य—भाव यह है कि निदान को ही दो विभागों में विभक्त कर दिया जाता है—एक उत्पादक निदान, दूसरा वर्धक निदान । उत्पादक निदान को निदान और वर्धक निदान को अनुपशय कहा जाता है । यह तो रोग और उपद्रव का सा क्रम है । जैसे प्रधान रोग होता है और अप्रधान उपद्रव, पर वस्तुतः होते दोनों ही रोग हैं, इसी प्रकार प्रधान व्याधिकर औषधादि द्रव्य निदान कहलाता है; और अप्रधान औषधादि अनुपशय । जिस प्रकार कभी २ ज्वर का उपद्रव अतिसार और कभी २ अतिसार का उपद्रव ज्वर होता है, उसी प्रकार कहीं २ निदान अनुपशय और अनुपशय निदान हो जाता है । तात्पर्य यह है कि जहां जो प्रधान वा प्रारम्भक होगा, वहां वह निदान कहलायेगा और अप्रधान वा वर्धक अनुपशय कहलायेगा । इसलिये जो द्रव्य एक स्थान पर निदान है, वह दूसरे स्थान पर अनुपशय और जो एक स्थान पर अनुपशय है, वह दूसरे स्थान पर निदान हो सकता है । परन्तु सामान्य निदान शब्द में दोनों ही आ जाते हैं ।

---

१ अत्रायम्भावः—व्याधिरित्युपलक्षणम्, तेन व्याध्यसात्म्यवद्दोषासात्म्यमपि बोध्यम्; व्याधिदोषयोः रोगशब्दस्य सामान्यत्वात, यदुक्तं चरके—'समानो हि रोगशब्दो दोषेषु च व्याधिषु च'—इति (च. वि. स्था. अ. ६). २ ननु, उपशयोऽपि व्याधिबोधकोऽस्ति; नवा ? उच्यते, गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत; तथा वाग्भटेऽप्युक्तम्—'विपरीतोऽनुपशयः स ह्यसात्म्यमिति स्मृतः' इति [illegible] च, परं निदानग्रहणेनैव गृहीतत्वान्न पृथगुच्यते, अनुपशयोऽपि हेतुसेवयैव भवति' इत्याह [illegible] उपशयव्याख्याप्रसङ्गे.

अशेषामयविशेषनिरूपणमूलभूतां संप्राप्तिं प्रतिजानीते—

यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता ।
निर्वृत्तिरामयस्यासौ संप्राप्तिर्जातिरागतिः ॥१०॥ [वा० ३।१।८]

अन्वयः—यथा दुष्टेन, दोषेण, यथा अनुविसर्पता च आमयस्य निर्वृत्तिः (भवति वा ज्ञायते इति शेषः) असौ संप्राप्तिः जातिः, आगतिः, च, कथ्यते इति शेषः ।

भाषार्थ—प्राकृतिक वैकृतिक आदि दुष्टि से दुष्ट दोषों के यथास्थान विसर्पण से रोग की उत्पत्ति को सम्प्राप्ति कहते हैं और वही सम्प्राप्ति जाति तथा आगति इन नामों से भी पुकारी जाती है ।

वक्तव्य—इसका भाव यह है कि दोष जिस प्रकार दुष्ट होते हैं और जिस दुष्टि से दुष्ट होते हैं और जिस प्रकार उनका प्रसार होता है, फिर जैसे रोगोत्पत्ति होती है, इस सब शृङ्खला को सम्प्राप्ति कहते हैं । यद्यपि संप्राप्ति में निदानादि भी कुछ न कुछ आ जाते हैं परन्तु फिर भी इसका निदानादिकों से भेद है । और इसी लिये इसका पृथक् निर्देश किया है । अन्यथा गौरव की कोई आवश्यकता न थी । वह भेद यह है कि निदानादि पृथक् निर्दिष्ट किये जाते हैं और जब वे मिलकर कार्य करते हैं, तो उस संयोग को सम्प्राप्ति कहते हैं । जैसे घट के निर्माण में मिट्टी, दण्ड, कुलाल आदि कारण हैं और उन्हीं से घट बनता है, परन्तु फिर भी एक वस्तु ऐसी है, जिसके अभाव से घट नहीं बनता और वह है कपालमाला संयोग । कपालमाला संयोग यद्यपि कोई पदार्थ नहीं परन्तु उसके विना निर्वाह भी नहीं होता । अतः उसे भी पृथक् कारणरूप से मानना पड़ता है । एवं कपालमाला का संयोग घट का ज्ञापक भी है । इसी प्रकार निदानादि रोग की उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति में कारण है, परन्तु कहीं २ इनके होने पर भी रोग की उत्पत्ति नहीं होती । क्योंकि उनका अनुकूल संयोग नहीं होता । एवं उनका संयोग भी कारण सिद्ध होता है और उससे व्याधि का ज्ञान भी होता है । इसी लिये इसे कोई पृथक् पदार्थ न होते हुए भी पृथक् मानना ही पड़ता है । सम्प्राप्ति कपालमाला संयोग की तरह होने से रोग के प्रति असमवायि कारण है ॥१०॥

मधु०—संप्राप्तिमाह—यथेत्यादि । नानाविधा हि दोषाणां दुष्टिः प्राकृती वैकृती वा, अनुबन्ध्यरूपा अनुबन्धरूपा वा, एकशो द्विशो वा समस्ता वा, रूक्षादिभिः समस्तैर्भावैरल्पैर्वा, एवमादिदुष्टिदुष्टेन दोषेण या आमयस्य रोगस्य निर्वृत्तिरुत्पत्तिः सा संप्राप्तिरुच्यते । यथा चानुविसर्पतेति अनेकधा दोषाणां विसर्पणं गतिरूर्ध्वाधस्तिर्यगादिभेदेन तथा विसर्पता संसर्पता । संप्राप्तिपर्यायावाह शास्त्रे व्यवहारार्थं लक्षणार्थं च—जातिरागतिरिति ।—जात्यादिभिः शब्दैर्योऽर्थोऽभिधीयते सा संप्राप्तिरित्यर्थः; जातिरागतिरिति जन्माऽपि ज्ञानकारणम्, अजातस्य ज्ञानाभावात्—इत्याह भट्टारहरि-

चन्द्रः। एतेनैतदुक्तं भवति—नहि निदानादिवद्बोधकत्वेन ज्ञानकारणत्वम्, किंतु बोधविषयत्वेन। तन्न—इत्यन्ये, आलोकचक्षुरादेरिव एवंविधसंप्राप्तेश्चिकित्सायामनुपयोगात्। न चास्ति नियमः जातमेव विज्ञायत इति, अजातस्य व्याधेर्निदानपूर्वरूपाभ्यां वृष्ट्यादेरिव मेघादिना ज्ञायमानत्वात्। अथ जातमिति जन्मावच्छिन्नमुच्यते, वृष्ट्यादिकं च भविष्यज्जन्मावच्छिन्नमेव, यस्य तु कालत्रयेऽपि जन्म नास्ति तन्न ज्ञायत एव। तथाऽपि न व्याधिजन्म संप्राप्तिः, जन्मवदालोकचक्षुरादेरपि वाच्यत्वापत्तेः; तैरपि विना ज्ञानाभावात्। तस्माद्दोषेतिकर्तव्यतोपलक्षितं व्याधिजन्मेह संप्राप्तिः नतु केवलं जन्म। वाग्भटेन हि 'यथा दुष्टेन'—(वा. नि. स्था. अ. १) इत्यादि वदता विशिष्टमेव व्याधिजन्म संप्राप्तिरुक्ता; तथा सति क्रियाविशेषोऽपि लभ्यते। यथा—ज्वरे आमाशयदूषणाग्निहननादिबोधे लङ्घनपाचनस्वेदादिकरणमिति। संप्राप्तिश्चैवंविधा यद्यपि दोषाणामवान्तरव्यापारत्वेन दोषग्रहणेनैव प्राप्यते, तथाऽपि चिकित्साविशेषार्थमेव पृथक् क्रियते; यथा-व्याधेर्ज्ञापकत्वाविशेषेऽपि पूर्वरूपमेव रूपात्पृथगिति ॥१०॥

दोषों की दुष्टि अनेक प्रकार की होती है—कभी प्राकृत वा वैकृत, कभी अनुबन्ध्यरूप वा अनुबन्धरूप, कभी एक की दो की वा सब की, एवं कभी २ वह दुष्टि रूक्ष आदि सब भावों से होती है और कभी २ अल्पभावों से। इस प्रकार की दुष्टि से दुष्ट दोष से रोग की जो उत्पत्ति होती है, वह सम्प्राप्ति कहलाती है। दोषों का विसर्पण भी अनेक प्रकार का होता है। जैसे-ऊर्ध्व, अधः, तिर्यग्[7] आदि गतिभेद हैं। शास्त्र में व्यवहार के लिये सम्प्राप्ति के जाति और आगति ये दो पर्याय कहे हैं। लक्षण का अभिप्राय यह है कि-'जो जाति आदि शब्दों से कही जाती है, वह सम्प्राप्ति होती है' इस प्रकार का लक्षण बनता है। जाति शब्द का अर्थ जन्म[8] है। इसी को लेकर निम्न शंका उपस्थित होती है

१ अत्राह चरकनिदानस्थानटीकायां सम्प्राप्तिप्रस्तावे चक्रः, यत्—अत्रैके व्याधिजन्ममात्रमल्पकारणव्यापारजन्य सम्प्राप्तिमाहुः। इयञ्च सम्प्राप्तिर्यद्यपि निदानादिवद्व्याधिबोधिका भवति, तथापि नानुत्पन्नस्य व्याधेर्लक्षणं भवतीति कृत्वा उत्पत्तेर्व्याध्युपलम्भकत्वं वर्णयन्ति। एतच्चान्ये न मन्यन्ते। यतः नैवं सति सम्प्राप्तितः कश्चिद्विशेषो व्याधेरधिगम्यते। नचायं नियमः यदुत्पन्न एव परं व्याधिरुपलभ्यते यतो निदानपूर्वरूपाभ्यामनुत्पन्नो व्याधिर्भावित्वेनोपलभ्यते। तस्माद्व्याधिजनकदोषव्यापारविशेषयुक्तव्याधिजन्मेह सम्प्राप्तिः। पर्याये 'आगतिः' इत्युक्तम्। आगतिर्हि उत्पादकारणस्य व्याधिजननपर्यन्तगमनम्। इयञ्च सम्प्राप्तिर्व्याधिविशेषं बोधयत्येव। यथा ज्वरे—'स यदा प्रकुपितः प्रविश्यामाशयम्' इत्यारभ्य 'तदा ज्वरमभिनिर्वर्तयति' इत्यन्तेन या सम्प्राप्तिरुच्यते, तथा ज्वरस्यामाशयदूषकत्वमग्न्युपघातकरसदूषकत्वादयो धर्माः प्रतीयन्ते। न च वाच्यम्—दोषाणामयमामाशयदूषकत्वादिधर्मस्ततश्च कारणधर्माणां निदानग्रहणेनैव ग्रहणं भवतीति। यतः कारणधर्मोऽप्ययं व्याधिजनकदोषव्यापाररूपः सम्प्राप्तिशब्देन विशेषबोधनार्थं पृथक् कृत्वोच्यते। यथा—लिङ्गत्वाविशेषेऽपि भाविव्याधिबोधकत्वविशेषात् पूर्वरूपं पृथगुच्यते। अतएव वाग्भटेऽप्येवमेव सम्प्राप्तिलक्षणमुक्तम्—'यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता। निर्वृत्तिरामयस्यासौ सम्प्राप्तिर्जातिरागतिः॥' इति (वा. नि. स्था. अ. १) इति (च. नि. स्था. अ. १ सू. १० चक्र० टीकायाम्). २ 'तथापि न व्याधिजन्म सम्प्राप्तिः' इत्यत्र 'न' इत्येव क्वचित्पाठः. ३ वाच्यत्वापत्तेः. ४ जातमिति विज्ञानाभावात्. ५. अस्याग्रे 'इति भट्टारहरिचन्द्राभिप्रायः' इति क्वचिदधिकः पाठः. ६ अस्याग्रे क्वचित् 'तस्माद्दोषेतिकर्तव्यतोपलक्षितं व्याधिजन्म सम्प्राप्तिरित्येव लक्षणम्' इत्यधिकं पठ्यते. ७ इसका विशेष विवरण निदान की व्याख्या में गतिभेद में पर्याप्त आ चुका है. ८ 'जातिर्जन्म' इति चक्रः चरकनिदाने सम्प्राप्तिव्याख्याने.

जाति, आगति इससे यह ज्ञात होता है कि जन्म भी ज्ञान में कारण है। कारण जन्म होने पर ही ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं। अर्थात् जात वस्तु का ही ज्ञान होता अजात का नहीं। यह भट्टार हरिचन्द्र का मत है। इसका भाव यह निकलता है इस प्रकार की सम्प्राप्ति निदानादिकों की तरह बोधकरूप से ज्ञान में कारण नहीं प्रत्युत बोध विषय (ज्ञेय) रूप से है। अन्य आचार्य इस मत को युक्तियुक्त नहीं नते। क्योंकि इस प्रकार की सम्प्राप्ति आलोक संयोग वा चक्षु आदिकों की तरह ज्ञान कारण होती हुई भी चिकित्सा में अनुपयोगी होने से ठीक नहीं है। दूसरा जो यह हा है कि जात वस्तु का ही ज्ञान होता है, अजात का नहीं, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि ह कोई नियम नहीं है कि जात वस्तु का ही ज्ञान हो। अजात वस्तु का भी ज्ञान ोता है, जैसे मेघमाला से अजातवृष्टि का ज्ञान वा निदान और पूर्वरूप से अजात याधि का ज्ञान होता है। यदि जात शब्द का अर्थ 'जन्मयुक्त' लें तो वृष्टि आदि भी ाविजन्मयुक्त होती हैं। जिस वस्तु का तीनों कालों में जन्म नहीं होता, उसका ज्ञान भी हीं होता। अतः 'व्याधिजन्म सम्प्राप्ति' स्वीकार करना ठीक नहीं। कारण कि यदि जन्म को ी ज्ञान में कारण मान लिया जाय तो इसकी तरह प्रकाश और चक्षु आदि को भी वीकार करना पड़ेगा। क्योंकि इनके विना भी तो ज्ञान नहीं होता। इसलिये यहां 'दोषों ी इतिकर्तव्यता (व्यापार) से उपलक्षित व्याधिजन्म सम्प्राप्ति है' यह ठीक है। परन्तु केवल व्याधिजन्म सम्प्राप्ति होती है, यह ठीक नहीं। वाग्भट ने 'यथा दुष्टेन' इत्यादि ोक कहकर विशेष व्याधिजन्म सम्प्राप्ति होती है, ऐसा कहा है। ऐसा स्वीकार करने र चिकित्सा विशेष भी उपलब्ध होती है। यथा—ज्वर में आमाशय के दूषित होने, अग्नि का ाश होने आदि के ज्ञात होने पर लङ्घन, पाचन, स्वेदन आदि करना चिकित्सोपयोगी ज्ञान समुपलब्ध होता है। एवं इस प्रकार की सम्प्राप्ति चिकित्सा में उपयोगी है। यद्यपि इस प्रकार की सम्प्राप्ति दोषों के अवान्तर व्यापार होने से केवल दोषग्रहण में ही आ जाती है, परन्तु फिर भी चिकित्सा विशेष के लिये इसे उससे पृथक् किया है। जैसे व्याधि को घताना रूप समान धर्म होने पर भी पूर्वरूप रूप से पृथक् कहा है, इसी प्रकार प्रकृत में दोषग्रहण से आजाने पर भी चिकित्साविशेषार्थ इसे पृथक् मानाहै।

वक्तव्य—उपर्युक्त सम्पूर्ण सन्दर्भ का संक्षिप्त भाव यह है कि भट्टार हरिचन्द्र जन्म को भी ज्ञान में कारण स्वीकार करता है। वह कहता है कि जन्म भी ज्ञान में कारण है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होने पर ही ज्ञात होती है और जो उत्पन्न ही नहीं हुई, वह ज्ञात भी नहीं होती। साथ ही जन्म ज्ञान में कारण तो है, परन्तु बोधकत्व रूप से कारण नहीं है, प्रत्युत बोध्य (विषय) रूप से है। इस मत को दूसरे आचार्य नहीं मानते। क्योंकि एक तो इसका चिकित्सा में कोई उपयोग ही नहीं है। दूसरा, यदि कथञ्चित् इसे स्वीकार भी कर लिया जावे तो फिर प्रकाश और चक्षु आदि को भी स्वीकार करना पड़ेगा। कारण कि इनके विना भी ज्ञान नहीं हो सकता। साथ ही जन्म को स्वीकार करने के लिये जो 'जात वस्तु का ही ज्ञान होता है, अजात का नहीं' यह युक्ति दी है, वह भी युक्त्याभास ही है। क्योंकि यह कोई नियम नहीं कि जात वस्तु का ही ज्ञान हो, अजात का न हो। देखने में आता है कि मेघमाला से जैसे अजात वृष्टि का ज्ञान होता है, वैसे ही निदान और पूर्वरूप से अजात (भावी) व्याधि का ज्ञान होता है। यदि अजात का ज्ञान नहीं होता, यह ठीक है तो यहां भी ज्ञान नहीं होना चाहिये। परन्तु होता है। अतः वह मत ठीक नहीं है। यदि जन्म शब्द का अर्थ जन्मयुक्त लिया जावे तो

वृष्टि भी तो भावि जन्मयुक्त ही है । अतः 'व्याधिजन्म सम्प्राप्तिः' ऐसा मानना समुचित नहीं है । इसलिये 'दोषेतिकर्त्तव्यतोपलक्षितं व्याधिजन्म' अर्थात् दोषों के व्यापार से उपलक्षित व्याधि का जन्म सम्प्राप्ति है, यह ठीक है । इससे चिकित्सा में भी लाभ होता है, जैसे ज्वर की सम्प्राप्ति से आमाशय का दूषित होना और अग्नि का नाश होना प्रतीत होता है । इससे इसमें लंघन, पाचन और स्वेदन चिकित्सा करनी चाहिये यह चिकित्सा आती है । यद्यपि इस प्रकार की सम्प्राप्ति भी दोषों का ही अवान्तर होने से उन्हीं के अभिधान से आ जाती, परन्तु फिर भी इसका पृथक्करण उपर्युक्त चिकित्साविशेषार्थ ही है ।

चिकित्सासौकर्यार्थं तस्या भेदानाह—

संख्याविकल्पप्राधान्यबलकालविशेषतः ।
सा भिद्यते यथाऽत्रैव वक्ष्यन्तेऽष्टौ ज्वरा इति ॥११॥ [वा० ३।१।६]
दोषाणां समवेतानां विकल्पोंऽशांशकल्पना ।
स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यां व्याधेः प्राधान्यमादिशेत् ॥१२॥ [वा० ३।१।१०]
हेत्वादिकात्स्न्यावयवैर्बलाबलविशेषणम् ।
नक्तंदिनर्तुभुक्तांशैर्व्याधिकालो यथामलम् ॥१३॥ [वा० ३।१।११]

अन्वयः—संख्याविकल्पप्राधान्यबलकालविशेषतः सा भिद्यते । यथा अत्रैव अष्टौ ज्वरा इति वक्ष्यन्ते (इति संख्यासंप्राप्तिः) । समवेतानाम्, दोषाणाम् अंशांशकल्पना, विकल्पः । व्याधेः प्राधान्यम् स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्याम्, आदिशेत् हेत्वादिकात्स्न्यावयवैः, बलाबलविशेषणम् (विद्यात्) । नक्तंदिनर्तुभुक्तांशैः, यथामलम्, व्याधिकालः (ज्ञेयः इति शेषः) ।

भाषार्थ—संख्या, विकल्प, प्राधान्य, बल और काल इन भेदों से सम्प्राप्ति का भेद होता है । नीचे क्रमशः उनके लक्षण दिये जाते हैं । संख्या—संख्या सम्प्राप्ति वह होती है, जिससे रोगों की गणना प्रतीत होती है । जैसे यहीं आगे चलकर कहा जाएगा कि ज्वर आठ प्रकार का है, इत्यादि । विकल्प—विकल्प सम्प्राप्ति वह है, जिससे समवेत (एकत्रित) दोषों की अंशांशकल्पना की जावे । अर्थात् किसी व्याधि में यह देखना कि इसमें कितने अंश में वात, कितने अंश में पित्त और कितने अंश में कफ प्रकुपित है, यह विकल्प रूप सम्प्राप्ति है । इससे भी चिकित्सा में लाभ होता है । प्राधान्य—प्राधान्य सम्प्राप्ति वह है, जिससे व्याधि की स्वतन्त्रता वा परतन्त्रता का ज्ञान होता है । जैसे ज्वरातिसार में ज्वर स्वतन्त्र अर्थात् अनुबन्ध्य है और अतिसार परतन्त्र अर्थात् अनुबन्ध है । या अतिसार स्वतन्त्र और ज्वर परतन्त्र है । ऐसा ज्ञान करना चिकित्सा सौकर्य के लिये आवश्यक होता है और जिस सम्प्राप्ति से इसका ज्ञान होता है, वह प्राधान्य सम्प्राप्ति है । बल—हेतु आदि की सम्पूर्णता अथवा अल्पता से व्याधि की बलता वा निर्बलता का ज्ञान जिस सम्प्राप्ति से होता है, वह बलरूप सम्प्राप्ति । यथा—ज्वर में हेतु लक्षण आदि को देख उसकी सुखसाध्यता, कष्टसाध्यता

वा असाध्यता जानी जाती है। सुखसाध्य जैसे—'प्राकृतः सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भवः' इति (च. चि. स्था. अ. ३)। कृच्छ्रसाध्य जैसे 'वैकृतोऽन्यः स दुस्साध्यः' इति। असाध्य जैसे 'सर्वसम्पूर्णलक्षणः। सन्निपातज्वरोऽसाध्यः' वा 'हेतुभिर्बहुभिर्जातः' इत्यादि से कथित रोग असाध्य होता है। इस प्रकार का ज्ञान बल रूप सम्प्राप्ति से होता है। काल—कालरूप संप्राप्ति वह है, जिससे दिन, रात, ऋतु और भुक्त (आहार) इनके आदि, मध्य और अन्त को देखकर दोष का निर्णय हो जाता है। जैसे जो ज्वर प्रातः, रात्र्यारम्भ, वसन्त ऋतु और भोजन करने के तत्काल बाद आवे वह श्लैष्मिक; और जो मध्याह्न, मध्यरात्र, शरद् ऋतु और भोजन की पच्यमान अवस्था में आवे वह पैत्तिक; एवं दिनान्त समय, रात्र्यन्त, वर्षा ऋतु और भोजन के पच जाने के बाद आवे वह वातिक होता है। इस प्रकार का ज्ञान कालरूप सम्प्राप्ति से ही होता है ॥११-१३॥

मधु०—तस्या औपाधिकभेदमाह—संख्येत्यादिना सा भिद्यते इत्यन्तेन। अत्र च प्राधान्योपादानादप्राधान्यं च तत्प्रतियोगितया बोद्धव्यम्, अतएव विवरणे स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यामिति वक्ष्यति। एवं बलेऽपि व्याख्येयम्। संख्यादिकमेव विवृणोति—यथेत्यादि। अष्टौ ज्वरा इति संख्याविवरणम्। अष्टत्वं च वातादिकारणभेदात्; एकजास्त्रयो, द्वन्द्वजास्त्रयः, सन्निपातज एक, आगन्तुजश्चैक इति। यद्यपि वृद्धैर्दोषैः सन्निपातास्त्रयोदश, यदुक्तं चरके—'ह्युल्बणै-कोल्बणैः षट् स्युर्हीनमध्याधिकैश्च षट्। समैश्चैको विकारास्ते सन्निपातास्त्रयोदश ॥' (च. सू. स्था. अ. १७) इति; तथाऽप्यत्र त्रिदोषजत्वसामान्यात्सान्निपातिक एकत्वेन गणितः। एवं कामशोकभयाद्यनेककारणोऽप्यागन्तुज आगन्तुजत्वसामान्यादेकत्वेन निर्दिष्ट इत्यष्टौ ज्वरा इति। विकल्पं विवृणोति—दोषाणामित्यादि।—दोषाणां समवेतानां परस्परसंबद्धानां; तेन द्वन्द्वसन्निपातयोर्ग्रहणम्। अंशांशकल्पनेति अंशा वातादिगतरौक्ष्याद्यः, तैरेकद्वित्र्यादिभिः समस्तैर्वा वातादिकोपावधारणं विकल्पना। यदुक्तं सुश्रुते—'सर्वैर्भावैस्त्रिभिर्वाऽपि द्वाभ्यामेकेन वा पुनः। संसर्गे कुपितः क्रुद्धं दोषं दोषोऽनुधावति ॥' इति (सु. सू. स्था. अ. २१)। एवंविधश्च दोषकोपो निदानवैचित्र्याद्भवति। तद्यथा—वातस्य। रौक्ष्यशैत्यलाघववैशद्यादिगुणस्य एवंगुणः कषायरसः कलायश्च सर्वैर्भावैर्वर्धकः, रौक्ष्यशैत्यलाघवैस्तण्डुलीयकः, रौक्ष्यशैत्याभ्यां काण्डेक्षुः, रौक्ष्येण सीधुः; पित्तस्य सर्वैर्भावैर्वर्धकः कटुको रसो मद्यं च, हिङ्गु कटुतीक्ष्णोष्णत्वैः, दीप्यकस्तीक्ष्णौष्ण्याभ्याम, औष्ण्येन तिलाः; तथा श्लेष्मणः सर्वैर्भावैर्वर्धको मधुरो रसो माहिषं च पयः, स्नेहगौरवमाधुर्यै राजादनफलं, कशेरुः शैत्यगौरवाभ्यां, शैत्येन क्षीरिणां फलानीति। अपरगुणोदाहरणप्रकारा जेज्झटगदाधरबाष्पचन्द्रव्याख्याविशेषाश्च विस्तरत्वापत्तेरत्र न लिखिताः। प्राधान्यं विवृणोति—स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यामिति।—अनुबन्ध्यानुबन्धभावेनेत्यर्थः। अत्रापि दोषाणां समवेतानामित्यनुवर्तनीयम्। 'अप्राधान्यं च' इति शेषः, गम्यमानत्वान्नोपद-

१ 'शैत्येनैकेन मृणालम्' इति आतङ्कदर्पणे. २ जेज्झटादीनां ग्रन्थे ज्ञातव्याः। 'सर्वैरंशैः कषायश्च कलायो वातवर्धनः। पित्तस्य कटुको दीप्यः श्लेष्मणो माहिषं पयः'। विशेषेण ग्रन्थस्य विस्तरापत्तेरत्र न लिखिताः'.

र्शितम् । तेन स्वातन्त्र्यात्प्राधान्यं, पारतन्त्र्यादप्राधान्यमिति सिद्धयति । बलं विवृणोति—हेत्वादी त्यादि ।—हेतुपूर्वरूपरूपाणां साकल्याद्व्याधेर्बलवत्त्वं, तेषामवयवेनैकदेशेनाबलवत्त्वम् । का विवृणोति—नक्तमित्यादि ।—नक्तं रात्रिः, दिनमहः, ऋतवो वसन्तादयः, भुक्तमाहारः, एष मंशैरेकदेशैः; व्याधिकालो व्याधिवृद्धिहानिहेतुकालः । अत्र[1], ऋतोरंशाः[2] कतिपयान्यहोरात्राणि यदाह वाग्भटः—"ऋत्वोरन्त्यादिसप्ताहावृत्तुसंधिरिति स्मृतः ॥" इति (वा. सू. स्था. अ. ३); अथवा संवत्सररूपस्य कालस्य ऋतुरूपोऽश ऋत्वंश इत्येवमपि योज्यम्, नत्वेकस्य ऋतोर्दिनादिवदादिमध्यान्ता ऋत्वंशाः, ऋतोः समुदितस्य तत्र कारणत्वेनोक्तत्वात् । यथामंशं यथादोषं; तद्यथा—रात्रेरादौ श्लेष्मा, मध्ये पित्तं, शेषे वायुः; एवं दिनस्य; वसन्ते कफस्य, शरदि पित्तस्य, वर्षासु वायोः कोपः; एवं भुक्तादौ भुक्तमात्रे कफस्य, मध्ये पच्यमानावस्थायां पित्तस्य, अन्ते सम्यक्परिणते वायोरिति । तदुक्तं वाग्भटेनैव—"ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधो मध्योर्ध्वसंश्रयाः । वयोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात् ॥" इति (वा. सू. स्था. अ. १) । अत्र ते इति क्रमेण वातपित्तश्लेष्माणः ।

अब सम्प्राप्ति के औपाधिक भेदों को 'संख्या' इत्यादि पाठ से 'सा भिद्यते' तक पाठ में कहते हैं । यहां प्राधान्य कहने से इसके प्रतियोगी अप्रधान को स्वयं ही जानना चाहिये । क्योंकि वह स्वयं ही स्फुटित हो जाता है । इसी लिये विवरण में स्वातन्त्र्य पारतन्त्र्य कहेंगे । इसी प्रकार बल कहने से उसका प्रतियोगी होने से 'अबल' का बोध स्वयं कर लेना चाहिये । अब संख्या आदि को स्पष्ट करते हैं—यथेति । संख्या क्या वस्तु है[3]? इसका विवरण यह है कि जैसे ज्वर की संख्या को स्पष्ट करते हुए कहा जाता कि ज्वर आठ हैं, यह संख्या है । क्योंकि 'संख्या स्याद्गणितम्' (च. सू. स्था. अ. २६) अनुसार इसमें संख्या आ जाती है । यहां यह आठ प्रकार वातादि कारण के भेद से हैं । जैसे वात, पित्त और कफ से तीन; वातपित्त, वातकफ और कफपित्त से तीन; सन्निपात एक; और आगन्तुज एक, एवं ये आठ हैं । यद्यपि दोषों के बढ़ जाने पर सन्निपात १३ प्रकार के होते हैं । जैसे चरक ने कहा भी है कि दो २ की उल्बणता (प्रधानता) से तथा एक की उल्बणता से छः, हीन मध्य और अधिक से छः, और सब की उल्बणता से एक, सन्निपात १३ प्रकार का होता है । फिर भी यहां त्रिदोषजत्व सामान्य से सन्निपात एक ही लिया जाता है । इसी प्रकार काम, क्रोध, भय आदि अनेक कारणों से होने पर भी आगन्तुज ज्वर आगन्तुजत्व सामान्य से एक ही प्रकार का कहा है । एवं ये आठ ज्वर हैं । अब विकल्प सम्प्राप्ति को 'दोषाणाम्' इत्यादि से स्पष्ट करते हैं कि परस्पर सम्बद्ध दोषों की अंशांश कल्पना विकल्प है । अंशांश का भाव यह है कि वातादिगत रौक्ष्य आदि एक, दो, तीन आदिकों से वा समस्तों से वातादि के प्रकोप का निश्चय करना विकल्पता है । सुश्रुत में भी कहा है कि रौक्ष्यादि सब भावों से वा रौक्ष्यादि तीन वा रौक्ष्यादि दो अथवा केवल एक २ रौक्ष्यादि भाव से एक प्रकुपित दोष संसर्ग में दूसरे प्रकुपित दोष का अनुगामी होता है । इस प्रकार का दोष प्रकोप निदान की विचित्रता पर है । कारण कि स्थूल रूप से जितने दोषों के भेद हैं, उतने ही स्थूल रूप से द्रव्याश्रित रसों के भेद हैं । अतः जैसा निदान

१ ननु, ऋतुरूपकालस्यांशाः—व्याध्युत्पादका न भवन्ति, विशिष्टस्य व्याधिहेतुत्वात्; ...स्य कथं ऋतुशब्दप्रयोगः ? उच्यते—तत्र, संवत्सररूपस्य च कालस्य ऋतुरूपोंऽशः ऋत्वंशः ...१, नत्वेकस्य ऋतोर्दिनानि मध्यान्ताद्यंशाः. २ ऋत्वोरंशः. ३ 'संख्या स्याद्गणितम्' इति चरकः.

होगा, वैसी ही दोषों की गति होगी[1]। साथ ही जिन भावों वाले द्रव्य का उपयोग किया जावेगा, वही भाव[2] दोषों में आकर उसी प्रकार की विकल्पना बनाएंगे। जैसे—रौक्ष्य, शैत्य, लाघव, वैशद्य गुण वाले वात के समान गुणवाला कषायरस और कलाय होता है। एवं इसका सेवन सब भावों का वर्धक होता है। तण्डुलीयक[3] रौक्ष्य लाघव और वैशद्य गुणों से, काण्डेक्षु रौक्ष्य और शैत्य गुणों से तथा सीधु रौक्ष्य गुण से वायु का वर्धक है। इसी प्रकार कटुरस तथा मद्य सब भावों से पित्त का वर्धक है। परन्तु हिंगु कटु तीक्ष्ण और उष्ण भावों से, जीरा उष्ण और तीक्ष्ण भावों से, तथा तिल केवल उष्ण भाव से वर्धक है। इसी तरह मधुर रस और भैंस का दुग्ध सब भावों से कफ का वर्धक है; खिरनी स्नेह; गौरव और माधुर्य से; सिंगाड़ा स्नेह और गौरव से; तथा क्षीरी वृक्षों के फल केवल स्नेहभाव से कफवर्धक हैं। दूसरे गुणों के उदाहरण, भेद तथा जेज्जट गदाधर वाष्पचन्द्र इनकी व्याख्याओं को विशेष विस्तारभय से नहीं लिखा। अब 'स्वातंत्र्य' इत्यादि ग्रन्थांश से प्राधान्य को स्फुट करते हैं। स्वातंत्र्य पारतंत्र्य से अर्थात् अनुबन्ध्य अनुबन्ध[4] भाव से व्याधि की प्रधानता वा अप्रधानता जाननी, यह अनुवृत्ति कर लेनी चाहिये। यद्यपि 'अप्राधान्य' पद इसमें नहीं दिया परन्तु यह शेष है, स्वयं जाना जाने के कारण शब्द से नहीं दिखाया। इससे यह सिद्ध होता है कि स्वतन्त्रता से प्रधानता और अस्वतन्त्रता से अप्रधानता जाननी चाहिये। हेत्वादि पाठ से अब बल सम्प्राप्ति को स्पष्ट करते हैं कि हेतु, पूर्वरूप और रूप के सम्पूर्णतया होने पर व्याधि बलवान् होती है और उसके अवयव वा एकदेश के होने पर निर्बल होती है। यहां निर्बल स्वतः सिद्ध होने के कारण स्पष्ट नहीं कहा। कालरूप सम्प्राप्ति का विवरण 'नक्तम्' इत्यादि से है। रात, दिन, वसन्तादि ऋतु और आहार इनके एक २ देश से व्याधि की वृद्धि वा हानि में हेतु काल है। यहाँ पर 'ऋतु का अंश' इससे कुछ एक अहोरात्र (दिनरात) लेने चाहियें। जैसे वाग्भट ने कहा भी है कि 'दो ऋतुओं के अन्त और आदि के जो दो सप्ताह हैं, वह ऋतुसन्धि कहलाती है'। अर्थात् एक ऋतु की समाप्ति के सात दिन और दूसरी ऋतु के प्रारम्भिक सात दिन ऋतुसन्धि कहलाती है; अथवा वर्षरूप समय का ऋतुरूप अंश ऋत्वंश से लेना चाहिये। क्योंकि वहां कारण रूप से सम्पूर्ण ऋतु ही कही है। अतः उसका दिनरात के अनुसार भाग नहीं होता। 'यथामलम्' शब्द का अर्थ यथादोष है। उदाहरण जैसे—रात्रि के आदि में श्लेष्मा, मध्य में पित्त और अन्त में वायु का प्रकोप होता है। इसी प्रकार दिन का क्रम भी है। वसन्त में कफ का, शरद में पित्त का और वर्षा में वायु का प्रकोप होता है। इसी प्रकार भोजन के तत्काल बाद कफ का, पाकावस्था में पित्त का और परिणामावस्था में वायु का प्रकोप होता है। जैसे वाग्भट ने कहा भी है कि—वात, पित्त, कफ सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होते हुए भी क्रमशः हृदय और नाभि के नीचे, मध्य में और ऊपर प्रधानतया रहते हैं। एवं सर्वव्यापी होने पर भी वह अवस्था, दिन, रात्रि और आहार के अन्त, मध्य तथा आदि में क्रमशः प्रधानरूप से रहते हैं। इस पद्य में 'ते' इस शब्द से वात, पित्त, कफ लिये जाते हैं।

---

१ अर्थात् जिस प्रकार के द्रव्याश्रित रसों का उपयोग होगा, उसी प्रकार के दोषों का भी प्रकोप होता है। दोषतमता पक्ष में भी यही बात है. २ इससे यह सिद्ध होता है कि दोष रूप निमित्त कारण के गुण व्याधिरूप कार्य में नहीं आते, प्रत्युत द्रव्यों के आते हैं. ३ चौलाई. ४ स्वतन्त्रो व्यक्तलिङ्गो यथोक्तसमुत्थानप्रशमो भवत्यनुबन्ध्यः, तद्विपरीतलक्षणस्त्वनुबन्धः—(च. चि. स्था. अ. ६).

मधु०—ननु, संप्राप्तिभेदे चरकेण संख्यादिवद्विधिरप्युक्तः; यथा—"द्विविधा व्याधयो निजागन्तुभेदेन"; "द्विविधं रक्तपित्तम्" ॥ (च. नि. स्था. अ. १)-इत्यादि; तत्कुतोऽत्र विधिर्नोक्तः ? उच्यते, संख्याग्रहणेन विधेरवरोधः, तस्याव्यभिचरितसंख्यायोगित्वात्। विधिसंख्ययोश्चायं भेदः-विधिर्हि प्रकारः, स चाभिन्नजातीयानामेव कस्यचिद्धर्मान्तरस्यान्वया-द्भवति, यथा—रक्तपित्तत्वाविशेषेऽपि ऊर्ध्वगादिप्रकारो भवति; संख्या तु भिन्नत्वमात्रेऽपि; यथा—चत्वारो घटा, अष्टौ ज्वरा इति । अत्रैव विधिर्हि प्रकारः, स च भिन्नेषु न युक्तः, अत संख्यादिभिन्नेषु व्याधिषु कारणधर्मानुगतः प्रकारो युज्यते । तथा च न्यायविदो ब्रुवते— "समानेन धर्मेण परिग्रहो भेदानां यत्र क्रियते स विधिः, संख्या तु भेदमात्रम् ।" इति वैयाकरणा अपि व्याचक्षते, "अन्वयवान् प्रकारो निरन्वयो भेदः" इति वाप्यचन्द्र लिखितवान् । ननु, यथांऽशांशविकल्पनादिना ज्वरो ज्ञायते न तथा संख्यया । उच्यते, संख्या-भेदेन व्याधेर्दोषभेदो ज्ञायते, यतो ज्वरादिकं स्वरूपतो ज्ञात्वा चिकित्सार्थं विशेषो जिज्ञास्यः, कतमोऽयं ज्वरः ? इति; तस्मिन् ज्ञाते विशेषो भवतीति परंपरया कारणत्वं संख्यायाः । तत्र यदुत्पन्न एवासौ दोषभेदाद्भिन्नो जातस्ततो युक्तमस्य पर्येषणं कतमोऽयमिति । कुतः ? चिकित्सा-विशेषार्थम् । इति संप्राप्तिलक्षणम् ॥११–१३॥

अब शंका होती है कि चरक ने सम्प्राप्ति के भेद बताते हुए संख्या आदि की तरह विधिरूप सम्प्राप्ति भी स्वीकार[1] की है । जैसे लिखा भी है कि निज और आगन्तुज भेद से व्याधियाँ दो प्रकार की होती हैं; ऊर्ध्व और अधः भेद से रक्तपित्त दो प्रकार का होता है, इत्यादि। जब ऐसा है तो यहां इसे क्यों नहीं लिखा ? इसका उत्तर यह है कि संख्या में विधि आ जाती है, अतः उसके ग्रहण से इसका उसी में अवरोध हो जाता है । क्योंकि उसमें भी अव्यभिचरित संख्या का ही योग है । विधि और संख्या में भेद यह है कि विधि प्रकार होता है और वह किसी एक धर्म को लेकर अभिन्न जातियों में ही होता है । जैसे रक्तपित्त दो प्रकार का कहा है, परन्तु इनमें जाति (शक्यतावच्छेदक) एक (अभिन्न) ही है । फिर भी जो इसे दो प्रकार का कहा है, वह ऊर्ध्व और अधःरूपी धर्मान्तर को लेकर ही कहा है । यही धर्मान्तर प्रकार है। यदि यहां 'ऊर्ध्व' और 'अधः' भेद से यह न कहकर केवल यही कहा जावे कि रक्तपित्त दो प्रकार का है, तो यह विधि नहीं बनती, प्रत्युत संख्या बन जाती है । क्योंकि इसमें किसी धर्म का उल्लेख वा निर्देश नहीं किया । संख्या में यह आवश्यक नहीं कि वह अभिन्न जातियों की ही हो, प्रत्युत वह भिन्न जातियों की भी हो सकती है । क्योंकि उसमें प्रकार नहीं बताया जाता । जैसे चार घड़े, आठ ज्वर वा दस पशु हैं । यहां पशु में गाय, भैंस आदि भिन्न २ जातियाँ हैं और घटों तथा ज्वरों में अभिन्न जाति है। परन्तु इनमें भेदकारक धर्म नहीं कहा । अतः यह संख्या है, विधि नहीं । यदि 'अष्टौ ज्वराः' यह कहकर साथ ही यह भी कह दिया जाए कि 'वातपित्त-कफद्वन्द्वसन्निपातागन्तुजभेदेन' तो विधि हो जाती है । क्योंकि यहां अभिन्न जाति तथा प्रकार दोनों मिल जाते हैं । यही कहते हैं कि 'अत्रैवेति' अर्थात् यहां पर ही विधि प्रकार है और वह भिन्न जातियों में नहीं होता । अतः संख्यादिकों से भिन्न व्याधियों में भेदकरूप कारण के धर्म को लेकर प्रकार होता है । जैसे न्यायतत्त्ववेत्ता कहते भी हैं कि—जहां भेदों का धर्म से ग्रहण किया जाता है, वह विधि होती है; और जहां केवल भेदमात्र है

[1] सा संख्याप्राधान्यविधिविकल्पबलकालविशेषैर्भिद्यते (च. नि. स्था. अ. १).

वहां संख्या होती है। एवं इसमें समान धर्म की कोई आवश्यकता नहीं होती। वैयाकरण भी इसकी व्याख्या इस प्रकार से करते हैं कि जिसमें अन्वय अर्थात् समान धर्म हो, वह प्रकार और जो निरन्वय अर्थात् अन्वयरहित हो, वह भेद होता है। यह वाप्यचन्द्र ने लिखा है। अब पुनः शंका होती है कि जिस प्रकार अंशांशकल्पना आदि से ज्वर का ज्ञान होता है, उस प्रकार संख्या से नहीं होता। अतः उसे मानने की आवश्यकता क्या है? इसका उत्तर यह है कि संख्या के भेद से व्याधि के दोषों के भेदों का ज्ञान होता है, जैसे कि ज्वर आदि को स्वरूप से जानकर भी चिकित्सा के लिये इस विशेषता की जिज्ञासा होती है कि यह कौन सा ज्वर है। इसके ज्ञात हो जाने पर संख्या भी विशेष हो जाती है। इसलिये परम्परा से संख्या भी ज्ञान में विशेष कारण है। क्योंकि रोग उत्पन्न होते ही दोष भेद से भिन्न हो जाता है। अतः उसमें यह ढूँढना आवश्यक है कि यह कौन सा है। यदि कहो क्यों? तो इसका उत्तर है कि चिकित्सा विशेष के लिये।

वक्तव्य—भाव यह है कि यदि यह न जाना जावे तो पैत्तिकज्वर में उष्ण वर्ज्य, वातिक में लङ्घन वर्ज्य और श्लैष्मिक में तर्पण वर्ज्यरूप चिकित्सा करनी कैसे जानी जावेगी? यदि इसकी कोई आवश्यकता नहीं तो पैत्तिकज्वर में उष्ण, वातिक में लंघन वा अपतर्पण और श्लैष्मिक में तर्पण वा बृंहण चिकित्सा हो जावेगी, जिससे रोगी को बहुत हानि पहुँच सकती है। अतः संख्या सम्प्राप्ति आवश्यक है। क्योंकि इससे दोषभेद का ज्ञान होता है।

निदानादिविज्ञानपञ्चकोपसंहारः—

इति प्रोक्तो निदानार्थः स व्यासेनोपदेक्ष्यते।

अन्वयः—इति, निदानार्थः, प्रोक्तः (संक्षेपत इति शेषः), सः (अग्रे), व्यासेन, उपदेक्ष्यते।

भाषार्थ—इस प्रकार निदान शब्द का अर्थ संक्षिप्तरूप से ऊपर कह दिया है और अब आगे सम्पूर्ण ग्रन्थ में वही विस्तारपूर्वक कहा जावेगा।

मधु०—उक्तनिदानपञ्चकमुपसंहरति—इतीत्यादि। इतिशब्दः समाप्तौ। निदानशब्दोऽत्र सामान्यवचनः, अर्थोऽभिधेयः। तन्निदानं संक्षेपेण स्वरूपलक्षणमात्रेणोक्तम्। अधुना व्यासेन विस्तरेणोपदेक्ष्यते कथयिष्यते; सकलेन ग्रन्थेन प्रतिरोगं निदानपूर्वरूपादय एव तत्तद्विशेषैर्वक्तव्या इत्यर्थः॥

यहां 'इति' शब्द समाप्तिबोधक है। निदान शब्द यहां सामान्यवाचक होने से निदानपञ्चक का ग्राहक है। वह निदान केवल स्वरूपमात्र से कह दिया है। अब आगे सारे ग्रन्थ में रोगानुसार सविस्तर कहेंगे।

व्याधीनां सन्निकृष्टविप्रकृष्टस्वरूपं द्विविधं कारणमाह—

सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः॥१४॥ [वा० ३।१।१२]
तत्प्रकोपस्य तु प्रोक्तं विविधाहितसेवनम्।

अन्वयः—सर्वेषाम्, एव, रोगाणाम्, निदानम्, कुपिताः, मलाः (सन्ति इति शेषः)। तत्प्रकोपस्य, निदानम्, विविधाहितसेवनम्, प्रोक्तम्।

भाषार्थ—सब रोगों के मूल कारण प्रकुपित दोष हैं और उनके प्रकोप

में भी अनेक प्रकार का अहित सेवन अर्थात् असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापरा और परिणाम ही कारण है।

वक्तव्य—इसी बात को भगवान् चरक भी लिखते हैं कि—'धीधृतिस्मृ विभ्रंशः सम्प्राप्तिः कालकर्मणाम्। असात्म्यार्थागमश्चेति ज्ञातव्या दुःखहेतवः' (च. शा. स्था. अ. १)। किञ्च 'रजस्तमश्च मानसौ दोषौ……'। 'वातपि श्लेष्माणस्तु खलु शारीरा दोषाः'। 'तत्र तु खल्वेषां द्वयानामपि दोषाणां त्रिवि प्रकोपणम्। तद्यथा—असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति' (च. वि. स्था. अ. ६)।

विशद विवेचन

ऊपर कहा गया है कि असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम प्रकुपित दोष रोगोत्पत्ति में कारण हैं। अब विचार उपस्थित होता है कि दोष क्या वस्तु है? और कितने हैं? तथा असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम किसे कहते हैं? सूचीकटाह न्याय से वा कारणकार्यविधानानुसार पहले दोषों के प्रकोपक असात्म्येन्द्रियार्थ आदि का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। परन्तु इसका विशद वर्णन निदान की व्याख्या में कर दिया गया है। अतः वहीं से देख लेना चाहिये। अब यह बात आती है कि दोष क्या वस्तु है और कितने हैं? दोष वह वस्तु है, जो कि प्रकृत्यारम्भक होने पर दुष्टिकर्तृत्व गुण वाली हो। प्रकृत्यारम्भ होने पर भी दुष्टि करने वाली तीन चीजें हैं— एक वायु, दूसरी पित्त और तीसरी कफ। एवं ये तीन[1] ही दोष हैं। परन्तु कुछ प्राचीन तथा अर्वाचीन आचार्य रक्त को भी दोष मानते हैं। उनका पक्ष यह है कि 'लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः' के अनुसार रक्त को दोष सिद्ध करने के लिये भी लक्षण और प्रमाण की आवश्यकता है। अतः सब से पहले दोष का लक्षण स्वीकार करना आवश्यक है। 'दूषणाद्दोषः' अथवा 'दुष्टिकर्तृत्वं दोषत्वम्' यह भी दोष का लक्षण हो सकता है। परन्तु इसे दोषत्रयवादी रक्तादि में भी अतिव्याप्त होने के कारण नहीं मानते और 'स्वातन्त्र्येण दुष्टिकर्तृत्वं दोषत्वम्' इसको भी स्वीकृत नहीं करते हैं। क्योंकि स्वतन्त्र का अर्थ दोषान्तर निरपेक्ष लेने से 'पित्तं पङ्गु कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः। वायुना यत्र नीयन्ते तत्र वर्षन्ति (गच्छन्ति) मेघवत्॥'—इत्यादि के अनुसार केवल वात ही दोष सिद्ध होता है। यदि कारण निरपेक्ष लिया जावे तो 'रूक्षादिकों' से दुष्टिकर्तृत्व होने के कारण वायु भी दोष नहीं रहता। अतः उन्होंने 'प्रकृत्यारम्भकत्वे सति दुष्टिकर्तृत्वं दोषत्वम्' यह दोष का लक्षण स्वीकृत किया है। परन्तु दोष का यह लक्षण भी दोषशून्य नहीं है। क्योंकि उक्त लक्षण में कहा है कि 'प्रकृति का आरम्भक होने पर जो दुष्टिकर्तृत्व गुण सम्पन्न हो, वह दोष है'। (१) अब पूर्व प्रकृति को लेते हैं। प्रकृति और विकृति ये दोनों परस्पर विरुद्ध शब्द हैं। जहां प्रकृति होगी, वहां विकृति नहीं होगी और जहां विकृति होगी, वहां प्रकृति नहीं होगी। एवं प्रकृति का अर्थ विकृति का अभाव सिद्ध होता है। परन्तु वातादि की प्रकृति वातादि की उल्बणता से होती हैं। अतः एक दोष की उल्बणता से होने के कारण ये प्रकृति नहीं हैं। (२) प्रकृति वह है, जिसमें दोषों की समता हो। यह नहीं कि वात तथा पित्त बीस २ अंश में हों और कफ तीस अंश में हो तो वह भी प्रकृति हो, वह विकृति ही है। इसका बोधन तो 'शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद् दोष उत्कट:

[1] यह प्रसङ्ग शारीरिक दोषों का है, न कि मानसिक दोषों का। दोनों के मिश्रित है।

तिर्जायते तेन' (सु. शा. स्था. अ. ४) में स्थित 'उत्कट' शब्द ही करा रहा है। अतः जिसे विकृति मानते हैं, वे विकृति हैं । (३) साथ ही वात प्रकृति आदि के लक्षणों में 'कृश- पो धमनीततः प्रलापी' तथा 'स्फुटितकरचरणः' (सु. शा. स्था. अ. ४) में आता है । यह ग ही तो हैं । अतएव कृशता को चरक ने अष्टौ निन्दितीय अध्याय में लिखा है और सुश्रुत भी हते हैं कि 'अत्यन्तगर्हितावेतौ सदा स्थूलकृशौ नरौ' (सु. सू. स्था. अ. १६) इत्यादि। यहां गर्हित, ाधित होने के कारण ही है और व्याधित होना विकृति है, प्रकृति नहीं। एवं स्फुटितकरचरण े 'विपादिका' रोग ही है । (४) यदि यह कहा जावे कि इनमें व्यथा आदि नहीं होती, अतः यह कृतियां नहीं हैं तो यह भी ठीक नहीं । व्यथा होती है, परन्तु सात्म्य तथा सहनशीलता हो ाने के कारण प्रतीत नहीं होती । यदि 'विषजातो यथा कीटो न विषेण विपद्यते । तथैव प्रकृतयः मां शक्नुवन्ति न बाधितुम् ॥' (सु. शा. स्था. अ. ४); इस श्लोक से निर्व्यथा सिद्ध करो तो उसका र्थ ही भिन्न है । उसमें 'शक्नुवन्ति न बाधितुम्' में पड़े 'नञ्' का अर्थ यहां निषेधपरक नहीं है त्युत वह 'अनुदरा कन्या' 'अलवणा यवागू' में की तरह अल्पार्थवाचक है । एवं व्यथा होनी ावश्यक है, परन्तु अल्प होती है । अल्प हो वा महान्, व्यथा होने से वह प्रकृति नहीं ो सकती । (५) यदि अब भी इसे प्रकृति माना जावेगा तो ६२ दोष भेदों में इनकी तरह ६[1] भेदों के साथ इनका क्या भेद होगा ? तथा यदि इन्हें प्रकृति माना जाता है तो जहां भेद हों, उन्हें क्यों व्याधि स्वीकार किया जाता है । एवं जिसे दोषत्रयवादी प्रकृति कहते हैं, वह विकृति है । इस प्रकार यदि दोष का लक्षण 'विकृत्यारम्भकत्वे सति' आदि मानें ो विकृति और दुष्टिकर्तृत्व एकार्थवाची होने से पौनरुक्त्य दोष है । यदि इसकी अवहेलना करके भी यही लक्षण माना जावे, तो भी रक्त दोषकोटि में आ जाता है । (६) यदि कहा जावे कि 'प्रकोपो वान्यथाभावः क्षयो वा नोपजायते। प्रकृतीनां स्वभावेन जायते तु गतायुषः॥' (सु. शा. स्था. अ. ४) के अनुसार इनका क्षय वा अन्यथाभाव अर्थात् चिकित्सा आदि न होने के कारण ये प्रकृतियां ही हैं, तो यह कोई युक्ति नहीं । क्योंकि असाध्य रोगों की भी 'साधनं नत्वसाध्यानां व्याधीनामुपदिश्यते' के अनुसार क्षय, अन्यथाभाव वा चिकित्सा आदि नहीं कही, तो क्या यह भी प्रकृतियां ही हैं ? यदि हैं तो वे भी हो सकती हैं, अन्यथा नहीं। यदि कहें कि इनमें प्रकृत्यादि लक्षण नहीं घटता, अतः ये प्रकृतियां नहीं हैं तो लक्षण में 'क्षयाभावत्वे सति' 'अन्यथाभावाभावत्वे सति' आदि पद भी तो नहीं हैं, अतः यह जो प्रकृतियों में आवश्यक है, वह भी तो नहीं माना जाता । यदि यह आवश्यक है और लक्षण में वह पद नहीं तो उस लक्षण में विपक्षव्यावृत्तिरूप दोष न होने पर भी उसमें दोष का असाधारण स्वरूप नहीं आता, यह भी एक दोष है । एवं सिद्ध होता है कि दोषत्रयवादीसम्मत प्रकृति विकृति ही हैं । जब ये विकृति हैं तो लक्षण ठीक न होने से रक्त भी दोष है । (७) जिन्हें दोषत्रयवादी प्रकृति मानते हैं, वे तो आदिबलप्रवृत्त व्याधियां हैं । यदि इन्हें प्रकृति मान लिया जावे तो आदिबलप्रवृत्त व्याधियां कौन सी होंगी ? यदि कहें कि आदिबलप्रवृत्त व्याधि यदि प्रकृतियों को मान लिया जावे तो गर्भनाश होना चाहिये ? यह आवश्यक नहीं कि गर्भनाश अवश्य हो प्रत्युत उल्बण दोष जिस अवयवारम्भक बीज भाग में होगा, उसी में विकृति होगी । यदि चाक्षुष्य बीजावयव दुष्ट होगा, तो सन्तान का जात्यन्ध होना अनिवार्य है । यदि उत्कृष्ट दोष बीज को सर्वांश में दुष्ट करे, तो गर्भनाश हो जाता है । एवं प्रकृतियां आदिबलप्रवृत्त व्याधियां हैं । (८) जिन्हें वातादि को प्रकृति माना जाता है, वे वस्तुतः 'वातल'[2] आदि हैं । क्योंकि उनमें वातादि की उत्कटता होती है; और वातलादि 'वातलाद्याः सदातुराः' (च. सू. स्था. अ. ६) के अनुसार सदा आतुर ही होते हैं । (९) एवं जो ऊपर कहा गया है कि उनकी चिकित्सा नहीं है, वह भी ठीक

१ [illegible] ..., [illegible] च त्रयः, एवं षट्. २ इसका विशिष्ट वर्णन चरक विमान में लिखा.

नहीं। उनकी चिकित्सा है। अतएव जो चरक ने स्वस्थवृत्त में उनकी विपरीत विधि लिखी है, यथा 'विपरीतगुणस्तेषां स्वस्थवृत्तेर्विधिर्हितः' (च. सू. स्था. अ. ७), यह चिकित्सा नहीं तो क्या है? चिकित्सा विकृति की होती है। अतः ये प्रकृतियां नहीं हैं। (१०) फिर भी इन्हें प्रकृतियां ही माना जावे तो निम्न विरोध आते हैं—'समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः। प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥' (सु. सू. स्था. अ. १५)। यदि समदोष और समाग्नि आदि स्वास्थ्य है, तो प्रकृतियों में 'समदोषता' वा 'समाग्निता' नहीं होती। क्योंकि 'विषमो (अग्निः) वातेन' आदि सुश्रुत ने कहा है। एवं या तो यह स्वास्थ्य का लक्षण दुष्ट होगा, या प्रकृतियां विकृतियां ही माननी पड़ेंगी। (११) आर्ष वचन है कि 'समधातुः प्रशस्यते'। परन्तु प्रकृतियों में तो समता है ही नहीं, वहां तो विषमता है; और जहां विषमता होती है, वहां 'रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता' के अनुसार रोग ही होता है। (१२) यदि वातादि में विषमता होने पर भी प्रकृति स्वीकार कर ली जावे, तो आयुः शास्त्र की आवश्यकता ही क्या है? आयुर्वेद का प्रयोजन तो 'धातुसाम्यं क्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्' (च. सू. स्था. अ. १) के अनुसार धातुसाम्य करना ही है, और प्रकृतियों में तो विषमता विद्यमान है। जहां विषमता होती है, वहां 'रोगास्तु दोषवैषम्यम्' के अनुसार रोग होता है। एवं रोग होना विकृति है, प्रकृति नहीं। (१३) यदि विषम दोषों को प्रकृति मान लें तो चिकित्सा किसे कहेंगे? चरक लिखते हैं कि 'चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते। प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेत्युच्यते बुधैः॥' (च. सू. अ. ९); तथा 'याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः। सा चिकित्सा विकाराणाम्......'। एवं धातुओं को सम करने की चेष्टा चिकित्सा है। वातादि प्रकृतियों में भी विषमता है। अतः वे भी विकार हैं। (१४) यदि विषमता को भी प्रकृति मान लिया जावे, तो वैद्यों का काम ही क्या रहा? 'कर्म तद्भिषजां मतम्' के अनुसार विषम दोषों को सम करना ही तो उनका कार्य है। एवं यदि विषमता को प्रकृति मान लिया जावे तो उनका कार्य ही नहीं रहता। अतः वात आदि प्रकृतियां नहीं, विकृतियां हैं। (१५) सुखसाध्य लक्षण में चरक लिखते हैं—'न च तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत।' (च. सू. अ. १०)। यह क्यों? इसी लिये कि एक तो उस दोष की प्रकृति वाला बेचारा पहले ही रुग्ण होता है, दूसरा पुनः उसी दोष का कोई रोग और हो जावे, तो सुखसाध्यता कैसे हो सकती है। एक तो करेला, दूसरा नीम चढ़ा। इसी कारण तो वातादि प्रकृति वालों को सदातुर कहा है। (१६) दोषों की विषमता को प्रकृति मानने से चिकित्सा की आवश्यकता ही नहीं रहती। क्योंकि 'कथं शरीरे धातूनां वैषम्यं न भवेदिति। समानां चानुबन्धः स्यादित्यर्थं क्रियते क्रिया॥' (च. सू. स्था. अ. १६); के अनुसार सम धातुओं की स्थिति तथा विषमता का अभाव करने के लिये ही क्रिया की जाती है। यदि विकृति को प्रकृति, रोगी को नीरोग और दुःख को सुख मान लिया तो चिकित्सा किस लिये रह गई? यदि प्रकृतियों की चिकित्सा नहीं, तो यह भी कथन ठीक नहीं। 'विपरीतगुणस्तेषाम्' आदि क्या बताता है। यह चिकित्सा ही तो है, प्रत्युत नैत्यिक चिकित्सा[3] है। (१७) यदि 'प्रकृत्यारम्भकत्वे सति' इत्यादि दोष का लक्षण स्वीकृत किया जावे, तो 'प्रकृतिमिह नराणां भौतिकीं केचिदाहुः' ॥ (सु. शा. स्था. अ. ४) के अनुसार पृथ्वी को भी दोष मानना पड़ेगा।

---

१ समप्रकृतिमुक्त्वाऽन्यासु षट्सु नास्ति समता, सप्तमी समप्रकृतिस्तु वस्तुतः प्रकृतिरित्यत्र निर्देक्ष्यत एव. २ (च. सं. स्था. अ. ११). ३ प्रत्युत अस्ति चिकित्सापि यदाह विमाने चरकः; "समधिकदोषाणान्तु त्रयाणां यथास्वं दोषाधिक्यमभिसमीक्ष्य दोषप्रकृतिप्रतिकूलयोगीनि त्रीण्यनुप्रणिश्रेयस्कराणि भवन्ति यावदग्नेः समीभावात्" (च. वि. अ. ६).

पि यह एकीय सूत्र है, परन्तु 'परमतमप्रतिषिद्धमनुमतम्' के अनुसार सुश्रुत को यह मत इष्ट है। यदि कहो कि पृथ्वी दुष्टिकर्तृत्व गुण से सम्पन्न नहीं तो यह भी ठीक नहीं। पृथ्वी देश वा भूमि लिया जाता है। देश भी तो 'प्रकृतिकरणसंयोगराशिदेशकालोपयोगोपयोक्त्रष्टमानि' ॥ (च. वि. स्था. अ. १); के अनुसार रोगोत्पादक वा दुष्टिकर्तृत्व सम्पन्न है। एवं भूमि प्रायः मृण्मयी होती है और मिट्टी भी 'मृद्भक्षणात् पाण्डुरोगोऽयते' के अनुसार दुष्टिकर्तृत्व गुण सम्पन्न है। इस प्रकार उक्त दोष का लक्षण स्वीकृत से भूमि भी दूषित होगी। (१८) साथ ही 'प्रकृत्यारम्भ' इत्यादि लक्षण में अन्योन्याश्रय दोष भी आता है। जैसे जब कि हमें मालूम ही नहीं कि दोष कौन और कितने हैं, तो प्रकृत्यारम्भक है वह दोष है, यह कैसे हो सकता है? अर्थात् जो प्रकृत्यारम्भक होने दुष्टि करते हैं, वे दोष हैं। यह तो दोष का लक्षण हुआ, जिसका ज्ञान प्रकृति कराती। अब यदि पूछा जावे कि प्रकृति क्या है? तो उसका उत्तर है कि—शुक्र शोणित के संयोग समय में जो उत्कृष्ट दोष होगा, उससे प्रकृति होती है। इस प्रकार दोषज्ञान प्रकृतिज्ञानक है; और प्रकृतिज्ञान दोषज्ञानपरक। अतः अन्योन्याश्रय दोष है। (१९) वस्तुतः त्रयवादी जिसे प्रकृति स्वीकृत करते हैं, वह विकृति है। केवल ७वीं सम दोषों वाली प्रकृति है। इसी को तथा उक्त दोषों को लक्ष्य करते हुए ही आचार्य चरक ने विमान स्थान में छः[1] प्रकृतियों का अच्छा खण्डन किया है। वे सूत्रस्थान में भी लिखते हैं कि "समपित्तानिलकफाः केचिद्गर्भादिमानवाः। दृश्यन्ते वातलाः केचित् पित्तलाः श्लेष्मलास्तथा। तेषामनातुराः पूर्वे वातलाद्याः सदातुराः॥" (च. सू. स्था. अ. ७)। लो, अब सब स्पष्ट हो गया। जब वे सदातुर हैं तो वातादि प्रकृतियाँ नहीं, विकृतियाँ ही हैं। एवं उक्त दोष का लक्षण भी इस उपक्रम से दुष्ट हो जाता है। (२०) यदि कहो कि पुनः प्रकृति क्या है? तो 'विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते' (च. सू. स्था. अ. ९); यह है प्रकृति। एवं यदि वातादि की पृथक् २ प्रकृतियां मानी जावें तो चरक सुश्रुत में परस्पर विरोध आता है। (२१) यदि यह आशङ्का हो कि सभी विकृतियां समदोषों वाली होंगी, तो जब उन्हें रोग होंगे तो वे भी एक से होंगे, यह कथन भी उचित नहीं है। प्रथम तो भिन्न २ व्यक्तियों की समानता ही भिन्न २ अंशों में होगी, किसी में तीस २ और किसी में बीस २ आदि होंगे। साथ ही दोषों के बढ़ने घटने की तरतमतानुसार तथा निदान की तरतमतानुसार उनको रोग भिन्न २ होंगे। जहां अत्यन्त सादृश्य मिलेगा, वहां यदि ऐसा हो भी जावे तो हानि क्या है? (२२) 'प्रकृत्यारम्भकत्वे' इत्यादि लक्षण आर्ष नहीं है। साथ ही उपर्युक्त दोष समूह होने के कारण शुद्ध लक्षण सिद्ध भी नहीं होता। अतः यह भी दोष का लक्षण नहीं हो सकता। अब और दोष का कोई लक्षण नहीं है। अन्यथा तो दोष का लक्षण 'दूषणाद् दोषः' यह कार्मनामिक मानना पड़ेगा या 'पड्विधक्रियाकालवत्त्वे सति दुष्टिकर्तृत्वं दोषत्वम्' यह मानना पड़ेगा। इनमें से जो लक्षण माना जायगा, उसी में ही रक्त भी दोष सिद्ध हो जाता है। यदि यह कहा जावे कि जो लक्षण नहीं बनता तो न सही, परन्तु 'त्रयो दोषाः' (सु. शा. स्था. अ. ४) के इस वाक्यानुसार दोष हैं तो तीन ही। इसका उत्तर यह है कि जहां 'त्रयो दोषाः' लिखा है, वहां '[illegible]' भी लिखा है। फिर दोष और मल क्यों धातुशब्द से व्यवहृत होते हैं। क्या इनमें [illegible] दोष नहीं आता और दोषों में आता है। अच्छा न्याय है। यदि 'प्राधान्येन [illegible]' के अनुसार प्रधानता से धातु सात हैं और गौण रूप से वातादि भी हैं, तो यही न्याय दोषों में क्यों नहीं लगाते? चलो, प्रधानता से दोष तीन ही सही, परन्तु

१ यद्यपि यहां [illegible] का खण्डन है, परन्तु उसी को उपलक्षण मान द्वन्द्वजों को भी जानना—

गौण भाव से तो रक्त दोष है। इससे यदि अन्य धातुएं भी दोषकोटि में आ जावें तो आने दो, उसमें हानि ही क्या है? जब कि सब को धातु मानने में हानि नहीं, तो सब को मानने में कौन सी हानि होगी। यदि सब को दोष नहीं मानना तो 'षड्विधेति' लक्षण ठीक है। इसमें वात, पित्त, कफ और रक्त चारों ही दोषकोटि में आते हैं। यदि कहा जावे कि रक्त को दोष मानने में क्या लाभ है तो इसका उत्तर यही है कि जो वातादि को दोष मानने में लाभ है, वही इसमें है। हम पूछते हैं कि इसमें हानि क्या है? जब कि रक्त वातादि की तरह प्रकोपकाल, प्रकोपण, निर्हरण, स्थानविशेष, चिकित्साविशेष, लिङ्गविशेष वाला है, तो इसे दोष क्यों नहीं माना जाता और वातादि को क्यों माना जाता है? एवं यही 'षड्विधेति' दोष का लक्षण मानना पड़ेगा, अन्यथा और कोई स्वरूप ही दोष का नहीं बन सकता। क्योंकि कोई न कोई उसमें दोष आ जाएगा। अतएव संहिताओं में इसका कोई लक्षण नहीं किया। क्योंकि वे दोष के लक्षण कार्मनामिक मानते थे। जैसे—'दूषयितारो भवन्ति दोषस्वभावात्' (च. वि. अ. ५)। ऐसा मानने से भी रक्त दोष ही सिद्ध होता है। ऐसा मानने से धातु रह जावेंगे, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि रक्त 'मध्यमणिन्याय' वा 'देहलीदीपकन्याय' से उभयात्मक है। जैसे मन कर्मेन्द्रिय भी है और ज्ञानेन्द्रिय भी। रक्त के दोषपन में प्रमाण भी हैं। तद्यथा—'शारीरास्तु अन्नपानमूला वातपित्तकफशोणितसन्निपातवैषम्यनिमित्ताः' (सु. सू. अ. १) यहां वातादि की श्रृङ्खला में रक्त भी है। सुश्रुत सूत्र अध्याय २१ में पूर्व आचार्य कहते हैं कि 'दोषस्थानान्यत ऊर्ध्वं व्याख्यास्यामः' तदनु वातादि की तरह रक्त का भी स्थानादि बता पुनः कहते हैं कि 'एतानि खलु दोषस्थानानि, एषु सञ्चीयन्ते दोषाः' इससे सिद्ध होता है कि आचार्य रक्त को भी दोष मानते हैं। किञ्च 'वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः' वाग्भट के इस निर्देश में भी 'समासतः' पद यह बोधित करता है कि संक्षेप से ये ३ दोष हैं, विस्तार में रक्त भी आ जाता है। 'समासतः' से दोषों के भेदों का अभाव विवक्षित नहीं है। क्योंकि वे भेद हैं, दोष नहीं। यदि वे विवक्षित होते तो आचार्य ऐसा लिखते कि—'वायुः पित्तं कफो दोषा भेदस्तेषामनेकधा'। एवं इससे भी सिद्ध होता है कि रक्त भी दोष है। सुश्रुत शारीर अध्याय २ में लिखते हैं कि 'आर्तवमपि त्रिभिर्दोषैः शोणितचतुर्थैः' इत्यादि। यहां भी 'शोणितं चतुर्थो दोषो यत्र तैस्त्रिभिर्दोषैः' के अनुसार रक्त का दोषत्व सिद्ध होता है। सुश्रुत उत्तरतन्त्र में नेत्र के सब रोग पृथक् २ बताए हैं। यदि यह दोष नहीं तो वहाँ वातादिवत् इसे क्यों प्रधानता दी? यथा 'रक्तात् ज्ञेया पर्वणी वृत्तशोफा' यहां रक्त ही दोष है। सुश्रुत ने श्लोकस्थान में एक श्लोक प्रदर्शित किया है कि 'यस्माद्रक्तं विना दोषैर्न कदाचित्प्रकुप्यति' आदि इसके अनुसार दोषत्रयवादी कहते हैं कि रक्त दोष नहीं है। परन्तु इससे भी रक्त का दोष होना सिद्ध होता है। प्रथम तो इसका अर्थ 'रक्तं दोषो यस्माद् वातादिदोषैर्विना कदाचिदपि न प्रकुप्यति' है। इससे भी कोई हानि नहीं, क्योंकि पित्तादि 'पित्तं पङ्गु' इत्यादि के अनुसार वाताधीन ही है। दूसरा यह उत्सर्ग सूत्र है। इसका अपवाद वातरक्त में रक्त का स्वनिदान से प्रकुपित होना है। अब एक शंका रह जाती है कि यदि रक्त दोष है तो ऋतु वर्णन में वातादि की तरह रक्त का भी संचय, प्रकोप और प्रशम क्यों नहीं बताया। दोषों के ६३ भेद माने हैं रक्त के भी दोष होने से संख्या वृद्धि हो जायगी। रक्त के नानात्मज रोग नहीं हैं। दिन रात, भुक्तादि अंशों में रक्त का विभाग नहीं किया। सभी रोगों में रक्तत्व नहीं बताया गया, आदि २। इन सब का उत्तर यही है कि आचार्यों ने रक्त को पित्त के गुणवाला स्वीकार किया है। भेद यह है कि रक्त में गुण पित्त से अधिक प्रबल होते हैं। इस प्रकार गौण

...णा (उपचारमिश्रा लक्षणा) के अनुसार पित्त की रोगकरण शैली और प्रभाव आदि तरह इसका भी कार्य होने से केवल पित्त का ही निर्देश किया है। जहां कहीं विशेषता ...ती है, वहां पर स्पष्ट रक्त के रोग आदि बातें बता दी जाती हैं। यथा—रक्तातिसार, ...प्रवाहिका, रक्तार्श, रक्तगुल्म इत्यादि। यही कारण है कि सुश्रुत स्थान २ पर रक्तवर्णन पित्तवत् कह देता है। अतः ऋतुवर्णन में, ६३ भेदों में इसका समावेश नहीं किया। ...तुतः यह स्थूल रूप है। यदि सूक्ष्म रूप से सब बताया जाता तो रक्त भी आ जाता। ...तएव चरक ने नानात्मज रोग भी नहीं बताए, किन्तु हैं सही, जो कि सुश्रुत ने सूत्रस्थान में ...ताए हैं। यदि कहें कि इनमें पित्तादि का अनुबन्ध है, तो ऐसा अनुबन्ध वातादि नाना... ...गों में भी है। एवं रक्त की दोषता किसी भी प्रकार दूर नहीं की जा सकती। पर्याप्त ...क्षेप करने पर भी यह पक्ष बहुत बढ़ गया है। अतः अन्य हेतु विद्वान् स्वयं देख लें। ...अब उत्तरपक्ष अतीव संक्षिप्त लिखा जायगा, जिसमें कि सङ्केतमात्र में ही उत्तर होगा। ...इसका विस्तार विद्वान् स्वयं बना लें। (उत्तरपक्ष—) वस्तुतः दोष तीन ही हैं। अतएव सर्व तन्त्रों में 'त्रयो दोषाः' आदि पाठ मिलते हैं। दोष का लक्षण—'प्रकृत्यारम्भ-कत्वे सति दुष्टिकर्तृत्वं दोषत्वम्' है। इसमें जो प्रकृति शब्द को लेकर खण्डन किया जाता है, वह तात्त्विक नहीं। कारण कि यहां प्रकृति शब्द का अर्थ विकृति का अभाव नहीं है। प्रत्युत यहां प्रकृति शब्द 'डित्थ' 'डवित्थ' आदि की तरह पारिभाषिक है; और उसकी परिभाषा 'शुक्र-शोणितसंयोगे' इत्यादि है। अर्थात् शुक्रशोणित के संयोग के समय में उत्कट दोष से होने वाली वस्तु का नाम प्रकृति है। वह वस्तु रुग्ण हो वा अरुग्ण, इससे कोई प्रयोजन नहीं। इसी कारण तो सुश्रुत ने 'विषजातः' इत्यादि सब स्वयं स्पष्ट किया है। एवं जब विकृति का अभावरूप प्रकृति यहां अभिप्रेत ही नहीं तो जो प्रश्न उपर्युक्त अङ्कों में से केवल इसी आधार पर हैं, वे सब खण्डित हो जाते हैं। अब केवल प्रश्नाङ्कों में से उसी बात का उत्तर दिया जावेगा जो कि उपर्युक्त सिद्धान्त से बाहर होगी। प्रश्नसंख्या ५ में ६३ भेदों से इनका भेद पूछा है। वह यह है कि शुक्रशोणितसंयोग में उत्कट दोष से प्रकृति होती है और बालक की उत्पत्ति के अनन्तर वह इकाई अर्थात् समता मानी जाती है। तदनु दोषों की वृद्धि से आदि से त्रिषष्टि भेद लिये हैं। यह है इनका परस्पर भेद। दूसरा 'विकृत्यारम्भकत्वे सति' मानना ही नहीं, तो पौनरुक्त्य कैसे हो सकता है। (उत्तरसंख्या ६) वस्तुतः इन प्रकृतियों में क्षय आदि नहीं है, क्योंकि असाध्यव्याधि का क्षय आदि नहीं हैं। परन्तु वह व्याधि जन्म के बाद उसी इकाई से आरम्भ होकर असाध्य होती है, अतः यह प्रकृति नहीं हो सकती। (उत्तरसंख्या ७) ये आदिबलप्रवृत्त व्याधियाँ नहीं हैं। कारण कि इनमें दोष किसी व्याधि से परिभूत लक्षणों वाले नहीं आते प्रत्युत यहां तो केवल दोषों के अपने ही लक्षण आते हैं। अतएव ये कुष्ठ आदि व्याधि की तरह नहीं हैं। हाँ, जहां यह बात हो, वहां प्रकृति भी होगी और कुष्ठ आदि व्याधि भी। (उत्तरसंख्या ८) ठीक है, जिसे चरक वातल मानता है, उसे सुश्रुत प्रकृति मानता है। और मतभेद हो सकता है, कोई दोष नहीं। मदातुर होने पर भी यही तो इनकी प्रकृति है। सुश्रुत ने इसी को इकाई माना है। क्योंकि एक ही वस्तु को कोई किसी नाम से पुकारता है, कोई किसी नाम से। यही बात यहां है। (उत्तरसंख्या ९) 'विपरीतगुणस्तेषाम्' आदि प्रकृति की चिकित्सा नहीं है, यह तो उसी प्रकृति में उसी दोष की प्रवृत्ति अधिक होती है, उस प्रवृत्ति को रोकने की चिकित्सा है। (उत्तरसंख्या १०) इसमें दो बातें हैं—एक तो यह कि जो समदोष प्रकृति हैं वह यदि उपर्युक्त लक्षणान्वित होगा तो वह स्वस्थ है, अन्यथा नहीं। दूसरी उत्पत्त्यनन्तर की

१ [illegible] चिकित्सा है.

इकाई को लेकर जो उपर्युक्त लक्षणान्वित हो, वह स्वस्थ है। वस्तुतः समस्त लक्षण मिलने कठिन हैं। परन्तु जहां होंगे, वह स्वस्थ होगा। अधिकतः जो समप्रकृति होकर जन्म लेगा, उसी में ये लक्षण आ सकते हैं। (उत्तरसंख्या ११) ठीक है, 'समधातुः प्रशस्यते' परन्तु उपर्युक्त विषमता का नाम भी प्रकृति ही है। (उत्तरसंख्या १२,१३,१४) यह सब उत्पत्ति के अनन्तर होने वाली विषमतापरक है। क्योंकि प्राकृतिक विषमता दूर नहीं हो सकती। अतः यह सब उसके लिये नहीं है। (उत्तरसंख्या १५) 'न च' इत्यादि ठीक है, परन्तु पहले से ही रोगी रहना तो उसका स्वभाव (प्रकृति) है। इससे प्रकृति का खण्डन तो नहीं होता। (उत्तरसंख्या १६) 'कथम्' इत्यादि भी उत्पत्त्यनन्तरजात विषमतापरक है, न कि प्राकृतिक विषमतापरक। क्योंकि वह अनपायी है। (उत्तरसंख्या १७) ठीक है, भौतिकी प्रकृतियां होती हैं। एक तो उनका भी अन्तर्भाव तीनों दोषों की प्रकृतियों में हो जाता है और दूसरा पृथ्वी से देश लेकर भी काम नहीं चलता। क्योंकि वह भी पहले दोषों को प्रकुपित करता है और फिर दोष व्याधि उपजाते हैं। एवं व्याधि रूप कार्य के प्रति निमित्तकारणरूप दोष के प्रति भी देश के निमित्त कारण होने से, व्याधि के प्रति देश चतुर्थ अन्यथासिद्ध है। (उत्तरसंख्या १८) प्रकृत्येत्यादि लक्षण में अन्योन्याश्रय दोष नहीं है। क्योंकि 'दुष्टिकर्तृत्वम्' यह विशेष पद उससे बचाता है अर्थात् यदि यह विशेषण वा हेतु न होता तो अन्योन्याश्रय दोष था। परन्तु अब यह पूर्व दुष्टिकर्तृत्व बतला देता है तदनु प्रकृत्येति पद सर्वथा सन्देह की निवृत्ति तथा विपक्षव्यावृत्ति कर देता है। (१९) ठीक है, सुश्रुत चरक के मत में ऐसा ही है। परन्तु सुश्रुत सातों को प्रकृति मानता है, यहां मतभेद है, सो हो सकता है, कोई दोष नहीं। (उत्तरसंख्या २०) यह भी चरक के मत में ठीक है। क्योंकि सुश्रुत इसमें मतभेद रखता है। (उत्तरसंख्या २२) एवं प्रकृत्येत्यादि लक्षण आर्ष न होने पर भी लक्षण गुणान्वित है, अतः मान्य है। एवं प्रकृत्येत्यादि लक्षण पर जो आपत्तियां थीं, उनके खण्डन का दिग्दर्शन करा दिया है, अब मतस्थापना की जाती है तथा पूर्वपक्षी के शेष आक्षेपों का भी खण्डन स्वल्प शब्दों में किया जाता है। वस्तुतः दोष तीन ही हैं, और तीन ही आचार्यों ने माने हैं। केवल सुश्रुत को देखकर ही यह भ्रम हो जाता है कि रक्त भी दोष है, परन्तु वह दोष नहीं है। सुश्रुत ने रक्त को अन्य दूष्यों की अपेक्षा प्रधानता अवश्य दी है, परन्तु उसने उसे दोष नहीं माना। उसे प्रधानता देने का कारण यह है कि सुश्रुत शल्यचिकित्सक था और शल्यचिकित्सा में रक्त की प्रधानता होती है। केवल यही एक कारण है, जिसे देख लोग भ्रमान्वित हो जाते हैं कि रक्त भी दोष है। यदि वस्तुतः सुश्रुत रक्त को दोष मानता तो अवश्य स्फुट रूप से उसे दोष कहकर पुकारता। परन्तु उसने कहीं भी ऐसा नहीं किया। वह गणनासम्बन्ध में स्फुट कहता है कि 'त्रयो दोषाः'। एवं वात पित्त और कफ ये तीनों ही दोष हैं, रक्त दोष नहीं और इसमें दोष की अन्वर्थकता भी नहीं है। जहां कहीं इसे 'शारीरास्तु अन्नपानमूलवातपित्तकफशोणितवैषम्यनिमित्ताः' (सु. सू. अ. १) तथा 'दोषस्थानान्यत ऊर्ध्वं व्याख्यास्यामः' ऐसा कहकर बीच में वातादिवत् रक्त का भी स्थान आदि बता दिया है, व उपचार से दोष शब्द से रक्त का सङ्केत है। यदि केवल इसी हेतु से कि कहीं इसे दोष शब्द से पुकारा गया है, दोष स्वीकार कर लिया जावे तो पुरीष को भी दोष मानना पड़ेगा, उसे भी 'न घृतं बहुदोषाय देयं यत्र विरेचनम्' इस संहितावाक्य में दोष शब्द से संकेतित किया है और साथ ही आपको भी दोष मानना पड़ेगा। क्योंकि 'दोषेण भस्मनेवाग्नौ छन्नेऽन्नं न विपच्यते। तस्मादादोषपाचनाज्ज्वरितानुपवासयेत् ॥' इस संहिता में उसे भी दोष माना है। एवं 'त्रयो दोषा बलस्योक्ता व्यापद्विस्रंसनक्षयाः' (सु. सू. स्था. अ. १५) में व्यापत्, विस्रंसन और क्षय इनको भी दोष कहा

यदि उपर्युक्त न्याय ही लिया जावे तो ये भी दोष होंगे । यदि वातादिवत् लक्षण स्थान चिकित्सा आदि होने से रक्त को दोष माना जाता है, तो शेष धातुओं के भी लक्षणादि कहे हैं, अतः वे भी दोष होंगे । यदि यथा 'सप्त धातवः' ऐसा कहने पर भी वातादिक धातु हो जाते हैं तथा 'त्रयो दोषाः' ऐसा कहने पर भी शेष धातु दोष हो जावें तो कोई हानि नहीं, यह माना जावे तो प्रथम इसमें अतिप्रसङ्ग दोष आता है । साथ ही उपर्युक्त सब को दोष मानने से तन्त्रान्तरों में प्रसिद्ध अन्य दोष भी इस दोषकोटि में आ जावेंगे, जिससे अनवस्था दोष आवेगा । दूसरा धातुशब्द दोषशब्द की तरह विशेष नहीं है, वह तो सामान्य है । अतएव आचार्य ने 'सप्त धातवः' कहकर भी 'धारणाद्धातवः' यह लक्षण किया है । इस लक्षण के अनुसार वातादि भी देहधारक होने से धातु हैं, यह आता है । एवं धातुओं की संख्या वृद्धि हो जाने से आचार्योक्ति में विरोध आ जाता है । क्या आचार्य यह नहीं जानते थे ? नहीं, जानते थे । परन्तु इसमें उन्हें यह इष्टापत्ति थी और वह यह बताना चाहते थे कि धातु शब्द सामान्य और विशेष दोनों प्रकार का है । जब यह सामान्य होगा तो वातादि का भी ग्राहक होगा, परन्तु जब विशेष होगा तो केवल रक्तादि का ही ग्राहक होगा । यह है धातु शब्द के उभयत्र प्रतिपादन का भाव । किन्तु दोष शब्द वैद्यक तन्त्र में विशेष ही है, सामान्य नहीं । जब वह सामान्य नहीं है तो रक्तादिकों में नहीं आ सकता । इसी प्रकार दूष्य शब्द भी विशेष ही है, वह भी केवल रसादिपरक ही है, वातादिपरक नहीं । अतः जैसे वातादि दूष्य नहीं हैं, [वै]से ही रक्तादि दोष भी नहीं हैं । यदि रक्त को दोष स्वीकार किया जावे तो दूष्य छः [र]ह जाते हैं । इस पर यदि 'मध्यमणिन्याय' लिया जावे, तो किसी शास्त्र में यहां इसका [प्र]तिपादन न होने से प्रमाणाभाव है, एवं अप्रमाणित वा कपोलकल्पित वस्तु माननीय [न]हीं होती । जो 'आर्तवमपि' इत्यादि (सु. शा. अ. २) प्रमाण देकर 'शोणितं चतुर्थो [द]ोषो यत्र तैः' कहते हैं, वे सर्वथा व्याकरण से शून्य हैं । क्योंकि वहां तो 'शोणितं चतुर्थो यत्र तै-[स्त्रि]भिर्दोषैः' यह अर्थ है । इसी प्रकार 'यस्माद्रक्तं विना दोषैर्न कदाचित्प्रकुप्यति' इसमें 'यस्माद्रक्तं [द]ोषैः' आदि जो मानते हैं, वे भी उक्त प्रकार के ही हैं, इसे कहते हैं 'शास्त्रदृष्टिविपर्यय' । और जो यह कहा है कि पित्तवत् होने से रक्त का ऋतुओं में सञ्चय आदि नहीं कहा तथा इसी कारण एवं संक्षेप के कारण ६२ भेद ही कहे हैं, किञ्च इसके वस्तुतः नानात्मज रोग भी हैं, यह सब युक्ति तथा प्रमाण से शून्य होने से अमाननीय हैं । साथ ही 'त्रयो दोषाः समासतः' का जो अर्थ पूर्वपक्षी ने किया है, वह भी शास्त्रदृष्टिविपर्यय है । एवं यह सिद्ध होता है कि रक्त दोष नहीं हैं, और वात पित्त कफ ये तीनों ही दोष हैं तथा 'प्रकृत्यारम्भकत्वे सति' इत्यादि दोष लक्षण ठीक है । जो पूर्वपक्षी का 'षड्विधक्रियाकालवत्त्वे सति' आदि लक्षण है, इससे रक्त को दोष मानने से पक्षवृत्ति भी नहीं है । क्योंकि रक्त के छः क्रिया काल नहीं हैं । अतः यह लक्षण दुष्ट है । एवं दोष तीन ही हैं ।

मधु०—द्विविधं हि रोगस्य कारणं विप्रकृष्टं सन्निकृष्टं च; तत्र विप्रकृष्टं विरुद्धाहारादि, सन्निकृष्टं वातादि; तस्य वातादेः सर्वरोगेष्वव्यभिचरितकारणत्वमाह—सर्वेषामित्यादि । यदाह सुश्रुतः—"नास्ति रोगो विना दोषैर्यस्मात्तस्माद्विचक्षणः । अनुक्तमपि दोषाणां लिङ्गै-र्व्याधिमुपाचरेत् ॥"—इति (सु. सू. स्था. अ. ३५) । आगन्तुव्याधिषु यद्यप्युत्पत्तौ दोष-[सम्बन्]धो नास्ति, तथाऽप्युत्पत्त्यनन्तरमवश्यंभावी; उत्पन्नद्रव्ये गुणयोगवत् । यदुक्तं चरके— "आगन्तुर्हि व्यथापूर्वसमुत्पन्नो जघन्यं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यमापादयति ॥" इति

(च. सू. स्था. अ. २०)। निदानं कारणम् । मला दोषः, मलिनीकरणात् । ननु वातादीनां किमिदं दोषत्वम्; अत्राहुरेके—स्वातन्त्र्येण दूषकत्वं दोषत्वम्, इति; रसादिदूष्यव्यवच्छेदार्थं 'स्वातन्त्र्येण' इति पदं, ते हि वातादिदुष्टाः सन्तो दूष्यान्तरदूषकाः । अत्राहुरन्ये—किमिदं स्वातन्त्र्यम् ? किं दोषान्तरानिरपेक्षत्वं ? हेत्वन्तरानिरपेक्षत्वं वा ? आद्ये वातस्यैव दोषत्वं स्यात्, नतु वातसापेक्षयोः कफपित्तयोः । यदुक्तम्—"पित्तं पङ्गु कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः । वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति[1] मेघवत् ॥" इति । द्वितीये वातस्यापि न दोषत्वं, कफपित्तयोरिव निदानसापेक्षस्यैव तस्य दूषकत्वात् । तस्मात् 'प्रकृत्यारम्भकत्वे सति दुष्टिकर्तृत्वं[2] दोषत्वम्' इति लक्षणम् । रसरक्तादिनिवृत्त्यर्थं 'प्रकृत्यारम्भकत्वम्' इति विशेषणम्। नहि वातादिप्रकृतिवच्छास्त्रे रसरक्तादिप्रकृतिरुक्ता[3]; वातादिप्रकृतित्वं च शरीरस्य वातादिदूषितशुक्रशोणितारब्धत्वम्[4] । यदाह चरकः—"दोषानुशयिता ह्येषां देहप्रकृतिरुच्यते ॥" तथा—"वातलाद्याः सदाऽऽतुराः ॥" इति (च. सू. स्था. अ. ७)। सुश्रुतेनापि प्रकृतिलक्षणे "वातप्रकृतिः स्फुटितचरणो जागरूकोऽनवस्थितचित्तः ॥" (सु. शा. स्था. अ. ४) इत्यादि पठितम् । प्रकृतिरोगयोश्चायं विशेषः—प्रकृतिरपथ्यसेवया नात्यन्तं बाधते । यदुक्तम्—"विषजातो यथा कीटो विषेण न विपद्यते । तद्वत्प्रकृतिभिर्देहस्तज्जातत्वान्न बाध्यते ॥" (सु. शा. स्था. अ. ४) इति संक्षेपः । विस्तरस्तु सुश्रुतश्लोकवार्तिके प्रश्न[5]विधानाख्ये टीकायां च द्रष्टव्यः ।

रोग की उत्पत्ति का कारण दो प्रकार का होता है, एक विप्रकृष्ट और दूसरा सन्निकृष्ट उनमें से विप्रकृष्ट कारण विरुद्ध आहार आदि और सन्निकृष्ट कारण वातादि दोष हैं। इन्हें वातादि का सब रोगों में अव्यभिचारी कारणता को 'सर्वेषाम्' इत्यादि श्लोक से कहते हैं जैसे सुश्रुत ने भी कहा है कि कोई भी रोग दोषों के विना नहीं होता, इस कारण विचक्षण मनुष्य किसी रोग में दोषों का सम्बन्ध न कहने पर भी उनके लिङ्गों को देखकर उनके अनुसार व्याधि की चिकित्सा करे। आगन्तुज व्याधियों में यद्यपि उत्पन्न होते समय दोषों का प्रकोप नहीं होता, परन्तु फिर भी उत्पन्न होने के बाद अवश्य हो जाता है। अब यह शंका होती है कि जब आगन्तुज व्याधियों में उत्पत्ति के समय किसी दोष का कोप नहीं होता तो वातादि सब रोगों में अव्यभिचारी कारण कैसे हो सकते हैं ? इसी का उत्तर देते हुए आचार्य रक्षित कहते हैं कि जैसे द्रव्य की उत्पत्ति के समय में वह निर्गुण और निष्क्रिय होता है, परन्तु बाद उसमें गुण प्रादुर्भूत होते हैं, परन्तु फिर भी उसका 'गुण

---

१ वर्षन्ति. २ दुष्टिकारणत्वम्. ३ रसरक्तादिप्रकृतिरुक्तः पुरुषः, रक्तदूषितशुक्रादेरसाध्यत्वे देहारम्भकत्वं नास्ति, रक्तस्य देहारम्भकत्वे सत्यपि प्रकृत्यारम्भकत्वं नास्ति, अनभिधानात्; शास्त्रे न रक्तप्रकृतिरुक्तः पुरुषः. ४ अतः परं क्वचित् 'तत्र वातादिदूषितत्वं नाम शुक्रशोणितसंयोगकाले शुक्रशोणितयोरधिकतरदोषाधिकरणत्वम्, अन्यथा दुष्टयोस्तयोर्देहारम्भकत्वमेव न स्यात्, उक्तं च—वातादिदुष्टरेतसः प्रजोत्पादने न समर्थाः, इति ['वातपित्तश्लेष्मशोणितकुणपग्रन्थि ('कुणपगन्धि इति पा.) पूतिपूयक्षीणमूत्रपुरीषरेतसः प्रजोत्पादने न समर्था भवन्ति' इति सु. शा. स्था. अ. २] [illegible] धिकरणत्वेन एकदोषा प्रकृतिः, भिन्नाधिकरणत्वेन द्वन्द्वजा त्रिदोषजा वा । वातादि [illegible] वातादिदूषितशुक्रशोणितारब्धत्वात्' इत्यधिकः पाठः. ५ प्रश्नसहस्रनिदानाख्ये.

वाला द्रव्य' यह लक्षण किया जाता है, ठीक उसी प्रकार प्रकृत में आगन्तुज व्याधि में दोषों का प्रकोप बाद में होने पर भी सब व्याधियों में दोष अव्यभिचारी कारण हैं, ऐसा कहा गया है। आगन्तुज व्याधियों में उत्पत्ति के बाद दोष प्रकुपित होते हैं। इसमें चरक का प्रमाण भी है, क्योंकि उसमें लिखा है कि आगन्तुज रोग व्यथापूर्वक उत्पन्न होकर बाद में वात पित्त और कफ की विषमता को भी स्वीकार करता है। उक्त श्लोक में निदान शब्द का अर्थ कारण है और मल शब्द का अर्थ दोष है। मल इन्हें इसलिये कहा जाता है कि ये दूषित करते हैं। अब एक शंका होती है कि वातादिकों का दोषपन क्या वस्तु है? इस पर कई कहते हैं कि जो स्वतन्त्रता से दूषित करे, वह दोष हैं। इसमें 'स्वतन्त्रता' पद रसादि दूष्यों से निवृत्ति करने के लिये दिया है। क्योंकि वे वातादि से दूषित होकर ही दूसरे दूष्यों को दूषित करते हैं। इस पर कई आपत्ति करते हैं कि इस 'स्वातन्त्र्य' शब्द का क्या अभिप्राय है? क्या स्वतन्त्र शब्द से किसी दूसरे दोष की अपेक्षा के विना दूषित करना रूप अभिप्राय है? वा किसी दूसरे हेतु की अपेक्षा के विना दूषित करना अभिप्राय है? यदि स्वतन्त्र का अर्थ पहला लिया जावे तो केवल वात ही दोषकोटि में आवेगा। वात की अपेक्षा रखने के कारण पित्त और कफ दोषकोटि में नहीं आ सकेंगे। क्योंकि पित्त और कफ वायु की अपेक्षा रखते हैं। इसमें प्रमाण भी है कि 'पित्त, कफ, मल और धातु ये सब पङ्गु हैं। जहां वायु इन्हें ले जाता है, वहीं ये मेघों की तरह चले जाते हैं'। एवं यदि स्वतन्त्र शब्द का अर्थ दूसरा लिया जावे तो वायु में भी दोषत्व सिद्ध नहीं होता। क्योंकि वह भी पित्त कफ की तरह निदान की अपेक्षा रखता हुआ ही दूषित करता है। इसलिये प्रकृत्यारम्भक होने पर जो दूषित करे वह दोष है, यह लक्षण ठीक है। इसमें 'प्रकृत्यारम्भक' पद[1] रस रक्तादिकों से निवृत्ति करने के लिये दिया है। क्योंकि वात आदि प्रकृतियों की तरह शास्त्र में रसादिकों की प्रकृतियां नहीं कहीं। शरीर का वातादिकों से दूषित शुक्र शोणित से आरब्ध होना ही वातादि प्रकृतिपन है। जैसे चरक ने कहा भी है कि इन वातलादि का उल्वण दोष के अनुसार देह का स्वास्थ्य होता है, तथा वातलादि सदैव रोगी ही रहते हैं। प्रकृति और रोग में यह विशेष[2] (भेद) है कि प्रकृति अपथ्य सेवन करने पर भी अधिक बाधा नहीं पहुँचाती। जैसे कहा भी है कि विष से उत्पन्न कीट जैसे विष से नहीं मरता, उसी प्रकार (प्रकृतिज होने के कारण) देह को प्रकृतियाँ बाधा नहीं पहुँचा सकतीं। यह संक्षेप है। यदि विस्तार देखना हो तो प्रश्नविधान नामक सुश्रुत श्लोकवार्तिक में और अन्य टीकाओं में से देखना चाहिये।

मधु०—ननु, 'प्रकृत्यारम्भकत्वं दोषत्वम्' इत्येवास्तु। सत्यम्, विपक्षाद्याव्रृत्तिर्भवत्येव, किन्तु दोषस्वरूपं नोक्तं स्यादिति। सुश्रुतादिभिर्वातादेरिव प्रकोपकालप्रकोपणनिर्हरणस्थानविशेष-रोगविशेषलिङ्गविशेषचिकित्साविशेषाणामभिधानाद्रक्तस्यापि दोषत्वं पूर्वटीकाकारैराषाढवर्मदासा-दिभिः[3] स्वीकृतं तदप्येतेन व्यवच्छिन्नम्, अधुनातनैरस्वीक्रियमाणत्वात्। ननु, दोषाश्चेत्कारणं तर्हि तेषां सर्वदा देहे सद्भावात्सर्वदा रोगोत्पादकत्वप्रसङ्ग इत्यत आह—कुपिता इति, विकृतिमापन्नाः। ननु, तत्प्रकोपः स्वभावात्, कारणान्तराद्वा? नाद्यः, पूर्ववत्प्रसङ्गात्; अथ कारणान्तरादिति किं तदित्याह—विविधाहितसेवनमिति।—विविधस्य नानाविधस्य, अहितस्यासात्म्येन्द्रियार्थसंयोग-प्रज्ञापराधपरिणामलक्षणस्य सेवनमिति ॥१४॥

---

१ 'सुप्तिङन्तं पदं प्राह पाणिनिर्मुनिसत्तमः' काव्यदीपिका. २ विशेषस्तु पृथक्त्वकृत् (च. सू. अ. १). ३ धर्मदासनिदासादिभिः.

अब यहां यह शंका होती है कि 'प्रकृत्यारम्भकत्वे सति दुष्टिकर्तृत्वं दोषत्वम्' इतना बड़ा दोष का लक्षण क्यों बनाया ? केवल 'प्रकृत्यारम्भकत्वं दोषत्वम्' इतना ही लक्षण पर्याप्त था, और इसमें लाघव भी है। अतः वह गौरवयुक्त लक्षण न मान यही लक्षण मानना चाहिये। (उत्तर—) ठीक है, इस लक्षण के स्वीकार करने से रसादिरूप विपक्ष से व्यावृत्ति अर्थात् पृथकता तो हो जाती है, परन्तु दोष के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। क्योंकि उसका स्वरूप इस लक्षण में नहीं आता। एवं लक्षण का स्वरूप रहित होना भी एक दोष है। उससे निवृत्ति पाने के लिये ही उस लक्षण में 'दुष्टिकर्तृत्वम्' यह पद दिया है, जो कि दोष का स्वरूप है। इसमें चरक का प्रमाण भी है कि 'वातपित्तश्लेष्माणः प्रदुष्टा दूषयितारो भवन्ति, दोषस्वभावात्' (च. वि. स्था. अ. ५); अर्थात् वात पित्त और कफ प्रदुष्ट हुए २ दूषित करने वाले होते हैं। क्योंकि दूषित करना दोषों का स्वभाव ही है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि 'प्रकृत्यारम्भकत्वे सति दुष्टिकर्तृत्वं दोषत्वम्' यही लक्षण ठीक है और इसमें सभी पद आवश्यक होने से गौरव भी नहीं है। यदि यह स्वीकार करें कि 'प्रकृत्यारम्भकत्वं दोषत्वम्' यह दोष का लक्षण रहे और उसका स्वरूप पृथक् कह दिया जावे तो दो लक्षण बनाने पड़ेंगे, जिनमें से एक स्वरूपोपपादक और दूसरा विपक्षव्यावृत्त्युपपादक होगा, एवं दो लक्षण बनाने से लक्षणकर्ता की अनवधानता प्रकट होती है और साथ ही गौरव भी करना पड़ता है। इतना होने पर भी वे दोनों लक्षण परस्परापेक्षी रहेंगे, सम्पूर्णाङ्गता उनमें नहीं होगी। यदि इन दोनों को मिलाकर एक ही कर दिया जावे तो वे सब दोष दूर हो जाते हैं। अतः 'प्रकृत्यारम्भकत्वे सति दुष्टिकर्तृत्वं दोषत्वम्' दोष का यह लक्षण ठीक है। उपर्युक्त लक्षण से यद्यपि विपक्षव्यावृत्ति हो जाती, परन्तु दोष का स्वरूप नहीं आता। अतः वही लक्षण युक्तियुक्त है। सुश्रुतादिकों ने वातादिकों की तरह रक्त का भी प्रकोपकाल, प्रकोपण, निर्हरण, स्थानविशेष, रोगविशेष, चिकित्साविशेष और लिङ्गविशेष कहा है। उसे कहकर आषाढ धर्मदास आदि पूर्व टीकाकारों ने जो रक्त को दोष माना है, वह भी इस लक्षण से कट जाता है और उसे काटने की आवश्यकता इसलिये पड़ी कि आधुनिक विद्वान् रक्त को दोष नहीं मानते। पुनः यह शंका होती है कि यदि रोगोत्पत्ति में दोष कारण हैं तो दोष तो शरीर में हर समय रहते हैं, अतः वे हर समय रोग को उत्पन्न रक्खेंगे। इस पर रक्षित जी माधव की 'कुपिताः' यह प्रतीक देकर कहते हैं कि नहीं, जब दोष कुपित होंगे तो रोगों को उत्पन्न करेंगे। इसका भाव यह है कि केवल निमित्त कारण कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता। इसके अनुसार केवल दोष रोग को उत्पन्न नहीं कर सकते। परन्तु जब उनसे समवायि कारण (द्रव्य अर्थात् मिथ्याहारादि रूप द्रव्य) का योग होता है, तो उससे प्रकुपित होकर असमवायि कारण (सम्प्राप्ति) को करते हुए (वे दोष) रोग उपजाते हैं। फिर यह प्रश्न उठता है कि दोषों का प्रकोप क्या स्वभावतः होता है वा किसी कारणान्तर से? यदि स्वभाव से प्रकोप होता है तो 'स्वभावो निष्प्रतिक्रियः' (च. शा. स्था. अ. १) के अनुसार वह सर्वदा रहेगा, अतः रोग भी सर्वदा रहेंगे। एवं पुनः पूर्वप्रतिपादित दोष आता है और यदि कारणान्तर से प्रकुपित होता है तो वह कारणान्तर कौन सा है ? इस पर कहते हैं कि—'विविधेति। अर्थात् असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम रूप जो नानाविध अहित है, उसका सेवन करना ही कारणान्तर है और इसी से प्रकुपित दोष रोगों को उत्पन्न करते हैं।

आमयानां निदानार्थकर्तृत्वमवतारयति—

निदानार्थकरो रोगो रोगस्याप्युपजायते ॥१५॥ [च० २।८]

अन्वयः—रोगः, अपि, रोगस्य, निदानार्थकरः, उपजायते ।

भाषार्थ—रोग भी रोग का निदानार्थकर होता है। इसका भाव यह है कि जिस प्रकार रोग की उत्पत्ति में निदान कारण होता है, उसी प्रकार एक रोग भी दूसरे रोग की उत्पत्ति में निदानार्थकर अर्थात् कारण होता है। इसका सारांश यह है कि रोग से भी रोग की उत्पत्ति होती है ॥१५॥

मधु०—ननु, किमेतदेव निदानम्, उतान्यदप्यस्तीत्यतश्चरकवचनमुपन्यस्यति–निदानार्थकर इत्यादि। अपिशब्दोऽत्र भिन्नक्रमे। रोगोऽपि निदानार्थकरो रोगस्य। अस्यायमर्थः–निदानेन योऽर्थः क्रियते व्याध्याख्यः, स रोगेणापीति। रोगोऽपि रोगकर इति वाच्ये यन्निदानार्थकर इत्यकरोत्, तेनैवं गमयति–रोगोऽपि रोगान्तरं कुर्वाणो निदानान्तरोपबृंहितबल एव करोति; एवं रोगो रोगस्य निदानमुपजायत इत्येव योजना ॥१५॥

क्या यही रोगों का निदान है? वा कोई और भी है? इस पर माधव जी चरक का वचन देते हैं कि 'निदानार्थकर' इत्यादि। इसमें 'अपि' शब्द भिन्नक्रम में है। इसका अर्थ यह है कि जो व्याध्युत्पत्तिरूप अर्थ (कार्य) निदान करता है, वह ही कार्य रोग भी करता है। रोग भी रोग को (उत्पन्न) करता है, ऐसा कहने के स्थान पर जो रोग भी निदान के अर्थ को करता है, यह कहा गया है। इससे यह प्रकट होता है कि रोग भी दूसरे रोग को किसी दूसरे निदान से बल को प्राप्त करके ही उत्पन्न करता है और फिर रोग का कारण होता है, यह योजना है।

तदेव निदर्शनतया लक्षयति—

तद्यथा ज्वरसन्तापाद्रक्तपित्तमुदीर्यते।
रक्तपित्ताज्ज्वरस्ताभ्यां शोषश्चाप्युपजायते ॥१६॥ [च० २।८]
प्लीहाभिवृद्ध्या जठरं जठराच्छोथ एव च।
अर्शोभ्यो जाठरं दुःखं गुल्मश्चाप्युपजायते ॥१७॥ [च० २।८]
(दिवास्वापादिदोषैश्च प्रतिश्यायश्च जायते।)
प्रतिश्यायादथो कासः कासात्संजायते क्षयः।
क्षयो रोगस्य हेतुत्वे शोषस्याप्युपजायते ॥१८॥ [च० २।८]

अन्वयः—यथा, तत् (उदाह्रियत इति शेषः), ज्वरसन्तापात्, रक्तपित्तम्, उदीर्यते। रक्तपित्तात्, ज्वरः, उपजायते। ताभ्यां शोषः च। प्लीहाभिवृद्ध्या, जठरम्, च, जठरात्, शोथः, एव, उपजायते। अर्शोभ्यः, जाठरम्, दुःखम्, च गुल्मः, अपि, उपजायते। च, दिवास्वापादिदोषैः, प्रतिश्यायः, च, जायते। अथ, प्रतिश्यायात्, कासः, संजायते। कासात्, क्षयः, संजायते। शोषस्य, रोगस्य, हेतुत्वे, क्षयः, अपि, उपजायते।

भावार्थ—रोग भी रोग के प्रति कारण होता है, इसी को दृष्टान्त देकर आचार्य माधवकर बताते हैं कि—ज्वर के सन्ताप से रक्तपित्त होता है और रक्तपित्त से ज्वर भी होता है। रक्तपित्त और ज्वर इन दोनों से शोष भी हो

जाता है। प्लीहावृद्धि से उदर रोग होता है और उदर रोग आगे शोथ को भी उत्पन्न कर देता है। एवं अर्शोरोग से भी जठर (उदर) रोग तथा गुल्म रोग हो जाता है (दिन में सोने आदि दोष से प्रतिश्याय हो जाता है) और प्रतिश्याय कास को तथा कास आगे क्षय रोग को उत्पन्न कर देता है। एवं क्षय रोग से शोष रोग की उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार एक रोग दूसरे रोग के प्रति निदानार्थकर हो जाता है ॥१६-१८॥

मधु०—अत्रैव दृष्टान्तमाह—तद्यथेत्यादि । ताभ्यामिति रक्तपित्तात् ज्वराच्च दुःखमिति दुःखयतीति दुःखं पीडाकरम् । अयं च दुःखशब्दो लिङ्गविपरिणामेन सर्वेष्वेव ज्वरादिषु योज्य इति वाप्यचन्द्रः । गुल्मश्चाप्युपजायत इति अर्शोभ्य एव । कासात्संजायते क्षय इति 'ओजःप्रभृतीनाम्' इति शेषः । स च क्षयो रोगस्य हेतुत्वे उपजायते । कस्य रोगस्येत्याह—शोषस्येति, राजयक्ष्मणः । अत्र केचित् हरिचन्द्रादिभिर्व्याख्यातं पाठान्तरं पठन्ति—"क्षयो रोगः हेतुत्वे शोषश्चाप्युपजायते"—इति । अस्यार्थः—क्षयो राजयक्ष्मा, उरोरोग उरःक्षतं, समाहारद्वन्द्वेनैकवचनम्, तस्य हेतुत्वे शोषो धातुक्षय उपजायत इति । ननु, चरके सर्वं निदानं त्रैविध्ये संगृहीतम् "असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः"—इत्यादिना, ततश्च रोगस्यापि निदानत्वमाचक्षाणः स्वोक्तं निदानत्रैविध्यसंग्रहं कथं न विरुणद्धि ?; अत्रैके समाधिमभिदधति—त्रिविधं यन्निदानमुक्तं तत्सर्वव्याधिविषयम्, इदं तु प्रतिनियतविषयं, यतो न सर्वे रोगा रोगाज्जायन्ते किं तर्हि कश्चिदेव व्याधिः कुतश्चिद्रोगादिति चतुर्थमेवैतन्निदानं रोगाख्यमिति । अन्ये त्वाहुः—रोगस्य रोगोऽपि निदानं भवत्त्रिविधनिदानव्यतिरेकेण न भवत्येव; यतो यावदयं ज्वरोऽसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगादिभिरुपबृंहितबलो न भवति न तावद्रक्तपित्तमारभते, तस्मात् व्याध्युत्पादे त्रिविध एव हेतुः साक्षात्पारम्पर्येण वेति ॥१६-१८॥

चरक ने सम्पूर्ण निदान को 'असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग' इत्यादि से तीन प्रकार का संगृहीत किया है, और पुनः रोग को भी निदान कहकर क्या उसने अपने कहे हुए त्रिविध निदानसंग्रह के विरुद्ध नहीं कहा ? इसका भाव यह है कि पूर्व चरक ने असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग आदि त्रिविध निदान को ही सब रोगों का कारण माना है, और पुनः रोग को भी निदान स्वीकार कर लिया है। एवं उसकी निर्धारित संख्या में वृद्धि तथा स्वोक्तिविरोध दोष आता है। इसका समाधान कई आचार्य इस प्रकार करते हैं कि जो तीन प्रकार का निदान कहा है, वह सब व्याधियों के लिये समान रूप से है और यह नियतरोगविषयक है। क्योंकि सभी रोग रोगों से उत्पन्न नहीं होते किन्तु कोई एक रोग किसी एक रोग से उत्पन्न होता है। अतः यह रोगनामक निदान चौथा ही है। इस पर अन्य आचार्य कहते हैं कि रोग रोग का निदान होता हुआ भी असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग आदि त्रिविध निदान से पृथक् नहीं है। क्योंकि जब तक ज्वर (रोग) असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग आदि से बल को नहीं प्राप्त कर लेता, तब तक रक्तपित्त (अन्य रोग) को उत्पन्न नहीं कर सकता। अतः रोगोत्पत्ति में साक्षात्सम्बन्ध से वा परम्परासम्बन्ध से उक्त तीन प्रकार का निदान ही कारण है।

व्याधीनां निदानार्थकर्तृत्वाकर्तृत्वे समयं व्याचष्टे—

ते पूर्वं केवला रोगाः पश्चाद्धेत्वर्थकारिणः।

अन्वयः—ते, रोगाः, पूर्वम्, केवलाः (भवन्तीति शेषः), पश्चात्, हेत्वर्थकारिणः (भवन्ति इति शेषः)।

भाषार्थ—वे रोगोत्पादक रोग रोग को उत्पन्न करने से पूर्व जब तक कि असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग आदि से उपबृंहित बल वाले नहीं होते तब तक केवल रोग ही रहते हैं, और जब असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगादि से उपबृंहित बल वाले हो जाते हैं, तो दूसरे रोग को उत्पन्न करते हैं।

मधु०—ननु, य इमे रोगा रोगान्तरस्य निदानत्वेनोक्तास्ते किमुत्पन्नमात्रा एव रोगं जनयन्ति, उतानन्तरकालमित्यत आह—ते पूर्वमित्यादि।—ते व्याधय उपबृंहकहेत्वलाभात् प्राक् केवलाः स्वतन्त्राः सन्तो रोगा एव रुजाकर्तृत्वात, पश्चादुपबृंहकहेतुलाभात् हेतोर्निदानस्य योऽर्थो गत्प्रयोजनं व्याधिजननाख्यं तत्कुर्वन्ति। यथा ज्वरो रक्तपित्तमिति॥

जो ये रोग रोग के निदान रूप में कहे हैं, क्या ये उत्पन्न होते ही रोग को उत्पन्न कर देते हैं? अथवा कुछ काल बाद उत्पन्न करते हैं? इसी पर कहा है कि वे व्याधियां उपबृंहक हेत्वन्तर प्राप्त करने से पूर्व पीडाकर होने से केवल रोग ही होती हैं। बाद में उपबृंहक हेतु के प्राप्त हो जाने पर रोगोत्पत्ति करती हैं। जैसे ज्वर रक्त-पित्त को करता है।

निदानार्थकरव्याधीनां स्वभाववैलक्षण्यं बोधयति—

कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति ॥१९॥ [च० २।८]
न प्रशाम्यति चाप्यन्यो हेतुत्वं कुरुतेऽपि च।
एवं कृच्छ्रतमा नृणां दृश्यन्ते व्याधिसंकराः ॥२०॥ [च० २।८]

अन्वयः—(स्वयम् इति शेषः) कश्चित्, रोगः, रोगस्य, हेतुः, भूत्वा, प्रशाम्यति। अन्यः, न प्रशाम्यति, च, हेतुत्वम्, अपि, कुरुते। एवं, नृणाम्, कृच्छ्रतमाः, व्याधिसंकराः, दृश्यन्ते।

भाषार्थ—कोई एक रोग रोगान्तर को उत्पन्न करके स्वयं शान्त हो जाता है, और कोई दूसरा रोग रोगान्तर को भी उत्पन्न कर देता है और स्वयं भी शान्त नहीं होता। इस प्रकार मनुष्य में कई प्रकार कष्टप्रद व्याधिसंकर दीखते हैं।

मधु०—तस्यैव रोगजनकस्य व्याधेर्वैचित्र्यमाह—कश्चिदित्यादि। एवमुक्तप्रकारेण; व्याधिसंकरा व्याधिमेलकाः दृश्यन्ते। यथा—प्रतिश्यायो न निवर्तते कासश्च जायते, अर्शो न निवर्तते जठरगुल्मौ स्यातामिति। कृच्छ्रतमत्वं चैषां बहुविधदुःखजनकत्वात्, प्रायो विरुद्धोपक्रमाच्चेति ॥१९,२०॥

एवं उपर्युक्त प्रकार से कई प्रकार के व्याधिसंयोग दीखते हैं। जैसे—प्रतिश्याय तो हटा नहीं परन्तु खांसी हो गई। एवं अर्श तो नष्ट नहीं हुई, परन्तु उदर और गुल्म हो गए। इस प्रकार बहुविध दुःखप्रद होने के कारण तथा विरुद्ध उपक्रम वाले होने के कारण रोग अत्यन्त कष्टप्रद होते हैं।

उक्तपञ्चविधामयविज्ञानस्य अवश्यज्ञेयतां प्रतिपादयति—

तस्माद्यत्नेन सद्वैद्यैरिच्छद्भिः सिद्धिमुद्धताम्[१] ।
ज्ञातव्यो वक्ष्यते योऽयं ज्वरादीनां विनिश्चयः ॥२१॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने पञ्चनिदानलक्षणं समाप्तम् ॥१॥

अन्वयः—तस्मात्, उद्धताम्, सिद्धिम्, इच्छद्भिः, वैद्यैः, अयं ज्वरादीनाम्, विनिश्चयः यः, वक्ष्यते, सः, यत्नेन, ज्ञातव्यः ।

भावार्थ—इसलिये अपनी अत्युत्कट चिकित्सासिद्धि को चाहने वाले सद्वैद्यों को चाहिये कि वे यत्नपूर्वक वक्ष्यमाण ज्वरादिकों के निदान को वा वक्ष्यमाण रोगनिश्चय को जान लें ॥२१॥

मधु०—उक्तनिदानपञ्चकस्य रोगनिवृत्तिलक्षणसिद्धिहेतुत्वेनावश्यं ज्ञातव्यतामाह—तस्मादित्यादि । उद्धतां बहुविषयत्वेन महतीम् । विनिश्चयो निदानमिति । अथ वक्ष्यमाणविकारेषु प्रकृतिसमसमवायविकृतिविषमसमवायादिज्ञानार्थं चरकोक्ता वातादिगुणा लिख्यन्ते—"रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः । विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारुतः संप्रशाम्यति ॥ सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु । विपरीतगुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति ॥ गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुरस्थिरपिच्छिलाः । श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः ॥"—इति (च. सू. स्था. अ. १) ॥२१॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां पञ्चनिदानलक्षणं समाप्तम् ॥१॥

अब वक्ष्यमाण विकारों में प्रकृति[२]समसमवाय और विकृतिविषमसमवाय आदि के ज्ञानार्थ चरकोक्त वायु आदिकों के गुण लिखते हैं । वायु—रूक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद और खर गुणों वाला होता है और इन गुणों से विपरीत

---

१ उच्छ्रिताम् । २ कारण रूप प्रकृति के समान कार्य होना प्रकृतिसमसमवाय है । यथा—शुक्ल तन्तुओं के समवाय से निर्मित पट का शुक्लपन, एवं कारणरूप विकृति के असमान कार्य होना विकृतिविषमसमवाय है । यथा—हरिद्रा और कली (चूना) के संयोग से लालिमा । इसी को आगे रक्षित जी स्वयं इस प्रकार कहेंगे कि—'प्रकृत्या हेतुभूतया समः कारणानुरूपः समवायः कार्यकारणभावसम्बन्धः प्रकृतिसमसमवायः, कारणानुरूपं कार्यमित्यर्थः; यथा—शुक्लतन्तुसमवायारब्धस्य पटस्य शुक्लत्वम् । विकृत्या हेतुभूतया विषमः कारणाननुरूपः समवायो विकृतिविषमसमवायः । यथा—हरिद्राचूर्णसंयोगे लौहित्यमिति' (मा. नि. ज्व. प्र. टीकायां रक्षितः) । भाव यह है कि असमवायि कारण दो प्रकार का होता है—एक घट के प्रति कपालमाला संयोग और दूसरा घट रूप के प्रति कपालरूप । यह गति सर्वत्र होती है । अतः रोगरूप कार्य में भी आवश्यक है । एवं रोगरूप कार्य में प्रथम प्रकार का असमवायिकारण सम्प्राप्ति है और द्वितीय प्रकार का द्रव्यरूप समवायिकारण के गुणों का कार्य में होना (असमवायि कारण) है । इसी को प्रकृतिसमसमवाय कहते हैं । कई एक कार्य ऐसे भी होते हैं, जिनमें समवायि कारण के गुण आने से विलक्षण गुण आ जाते हैं । यथा—हरिद्रा चूर्ण संयोग से लौहित्य आदि । ऐसे अपवादिक स्थलों में ये रूप प्राकृतिक न होने के कारण विकृति विषम समवायारब्ध कहलाते हैं । यह सर्वत्र दीखता है । जैसे रसवलि संयोग में कृष्णत्व आदि । ये प्रकार रोगों में भी होते हैं । जहां होते हैं, वहां विकृति विषम समवायारब्धत्व जानना चाहिये । रोग में द्रव्यरूप कारण के गुण आते हैं वा वायुरूप कारण के ? इस विषय में यहां यही कहना कि द्रव्यों के गुण आते हैं क्योंकि वे ही रोग रूप कार्य के प्रति समवायि कारण हैं । दोष तो

पति भगवान् शंकर से जाने की आज्ञा माँगी। पूर्व तो उन्होंने उसे जाने से रोका परन्तु जब सती ने हठ किया तो भगवान् शिव ने उसे अपने गण वीरभद्र आदि के साथ भेज दिया। जब सती अपने पिता के घर पहुंची तो वहां उसका नितान्त अपमान हुआ जिससे उसने योगाग्नि से अपना शरीर छोड़ दिया। जब यह घटना भगवान् शंकर को विदित हुई तो उनको दक्ष के इस आचरण पर अत्यन्त क्रोध आया। तब उन्होंने रुद्र रूप होकर निःश्वास छोड़ा, जिससे ज्वर की उत्पत्ति हुई। इसी का वर्णन चरक ने भी "द्वितीये हि युगे शर्वमक्रोधव्रतमास्थितम्" से "जन्मादौ निधने च त्वमपचारान्तरेषु च" (च. चि. स्था. अ. ३) तक के पद्यसमूह में किया है। इसी कथानक को कई आधुनिक देवतापरक स्वीकार न कर मनुष्यपरक ही मानते हैं। उनका कथन है कि महादेव एक राजा था, जिसका राज्य हिमालय पर था; और हिमालय से नीचे दक्ष का राज्य[१] था। इनकी सीमा परस्पर मिलती थी। दक्ष सर्वदा महादेव को अपमानित करने की चेष्टा करता था परन्तु महादेव के आगे उसकी एक न चलती थी। अन्त में उसकी कन्या सती ने महादेव को ही स्वयंवर में वरा। तब तो दक्ष और भी आग-बबूला हो गया। इससे वह अपना अतीव अपमान समझने लगा। बाद में इसका प्रतिकार करने के लिये दक्ष ने एक यज्ञ रचा, जिसमें उसने सब सम्बन्धियों को निमन्त्रित किया और महादेव को उसने पूछा तक नहीं। जब सती ने सुना कि पिता के घर यज्ञोत्सव हो रहा है तो हठ से महादेव से आज्ञा लेकर पितृगृह जाने को तैय्यार हुई। महादेव ने उसके साथ कुछ सेना देकर अपने बड़े बली एवं चतुर प्रधान सेनापति वीरभद्र को भेजा। जब सती पिता के घर गई तो उसे सब ओर से अपमान अनुभव करना पड़ा। उसने देखा कि सब के लिये सब प्रकार का प्रबन्ध है परन्तु मेरे तथा मेरे पतिदेव के लिये कोई प्रबन्ध नहीं। तब वह बहुत दुःखी एवं अपमानित हुई। उसने सोचा कि अब मैं कौन सा मुख लेकर लौटूँ। जब स्वामी ने समझाया था तब तो मैंने हठ किया, जिसका कि यह फल भोगना पड़ा। इसी दुःख से अत्यन्त दुःखित हो सती ने आत्मघात कर लिया। जब यह सूचना वीरभद्र को मिली कि सती अपमानित होकर परलोक सिधार चुकी है, तो उसने तत्काल दक्ष की राजधानी को घेर लिया और भयंकर युद्ध करना आरम्भ कर दिया। उधर जब महादेव जी को भी इसकी सूचना मिली तो वे भी अत्यन्त क्रुद्ध हो सेना सहित दक्ष की राजधानी पर चढ़ आए। उस समय दक्ष की ओर भी प्रायः भूमण्डल के तथा अन्य मण्डलों के सभी बड़े २ राजा आए हुए थे। अतः वहां बड़ा भारी तुमुल युद्ध हुआ, जिसमें अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्र प्रयुक्त हुए। उन शस्त्रास्त्रों में विषाक्त पदार्थ होने से उनके प्रभाव से वायु, जल आदि स

१ किंवदन्ती है कि दक्ष का निवास कनखल में था और महादेव का उससे आगे कैला

सामान्य भावों में विकृति आ गई, जिससे इस ज्वर नामक व्याधि की उत्पत्ति हुई। वैद्यानों का कथन है कि इसी भाव को ग्रन्थों में उक्त प्रकार का आलङ्कारिक रूप देकर प्रतिपादन किया गया है।

मधु०—अथ सर्वरोगप्राधान्यात्प्रथमं ज्वरो वाच्यः । प्राधान्यं च तस्य शारीररोगेषु प्रथमोत्पन्नत्वात्, बलवत्त्वात्, देहेन्द्रियमनस्तापित्वात्, जन्मनिधनयोरवश्यंभावित्वात्, स्थावरजङ्गमरूपसर्वभूतव्यापित्वाच्च, नैवमन्ये विकाराः । यदुक्तं चरके—"देहेन्द्रियमनस्तापी सर्वरोगाग्रजो बली । ज्वरः प्रधानो रोगाणामुक्तो भगवता पुरा । तस्य प्राणिसपत्नस्य ध्रुवस्य प्रलयोदये ॥" (च. चि. स्था. अ. ३) इत्यादि यावद् "भगवन् ! वक्तुमर्हसि"—इति (च. चि. स्था. अ. ३) । तथा—"ज्वरेणाविशता भूतं नहि किंचिन्न तप्यते ॥" इत्यादि (च. चि. स्था. अ. ३) । उक्तं च पालकाप्ये—"पाकलः स तु नागानामभितापस्तु वाजिनाम् । गवामीश्वरसंज्ञश्च मानवानां ज्वरो मतः ॥ अजावीनां प्रलापाख्यः करभे चालसो भवेत् । हारिद्रो महिषाणां तु मृगरोगो मृगेषु च ॥ पक्षिणामभिघातस्तु मत्स्येष्विन्द्रमदो मतः । पक्षपातः पतङ्गानां व्याडेष्वक्षिकसंज्ञकः ॥" इत्यादि । तथाऽन्यत्र—"जलस्य नीलिका भूमेरूषरो वृक्षस्य कोटरः ॥" इत्यादि ।

'अथ' शब्द मंगलसूचक[4] तथा प्रकरणारम्भसूचक है। अतः अब सब रोगों में प्रधान होने के कारण प्रथम ज्वर को कहना चाहिये। ज्वर की प्रधानता शारीरिक रोगों में प्रथम उत्पत्ति वाला होने से, बलवान् होने से, देह इन्द्रियों और मन को सन्तप्त करने वाला होने से, जन्म और मरण[5] के समय अवश्यम्भावी होने से, और स्थावर जङ्गम रूप सभी भूतों में व्यापक होने से है। दूसरे रोग इस प्रकार के नहीं हैं। चरक में कहा भी है कि "देह इन्द्रियों और मन को सन्तप्त करने वाला, सब रोगों में अग्रज और बली होने से भगवान् ने ज्वर को प्रधान माना है, इत्यादि से लेकर 'हे भगवन् ! संसार के हितार्थ आपको चाहिये कि हमें उसका ज्ञान कराएं" इस तक के श्लोकों में इसी का वर्णन है। एवं 'ज्वर के प्रविष्ट होने पर कोई भी ऐसा प्राणी नहीं, जो सन्तप्त न हो' इत्यादि श्लोकों में कहा भी है। पालकाप्य में भी कहा है कि 'हस्तियों को पाकल, घोड़ों को अभिताप, गायों को ईश्वर, मनुष्यों को ज्वर, बकरियों को प्रलाप, ऊँटों में अलस, महिषों को हारिद्र, मृगों को मृगरोग, पक्षियों को अभिघात, मत्स्यों को इन्द्रमद, पतङ्गों को पक्षपात और सर्पादि को अक्षिक रोग रूप में वही ज्वर होता है'। अन्यत्र भी कहा है कि 'जल में नीलिका (काई), भूमि में ऊपरपन और वृक्षों में कोटर होना भी ज्वर का रूपान्तर है' इत्यादि ।

वक्तव्य—यह ज्वर सभी प्राणियों को होता है परन्तु इसे सहन करने की शक्ति मनुष्यों को छोड़कर और किसी में भी नहीं है, अतः वे प्राणी ज्वर में प्रायः समाप्त हो

१ ते तु खल्विमे भावाः सामान्या जनपदेषु भवन्ति, तद्यथा वायुरुदकं देशः काल इति (च. वि. स्था. अ. ३). २ पालकाप्यविरचिते हस्त्यायुर्वेदे महारोगस्थाने नवमाध्याये विषयोऽयं गद्यरूपेणास्ति. ३ अयं मत्स्येष्विन्द्रमदलक्षणम्, अन्येष्वपि जलचरेष्वयं रोगः समुपजायते, यथोक्तं सुश्रुतेन शोकस्थानीय-जलौकावचारणीयाध्याये—"दुर्गन्धाश्च व्याधितश्च इन्द्रमदो नाम भवति" (सु. सू. स्था. अ. १२) इति । अत्रापि रोगे ज्वरोऽयमेव प्रदर्शित इति. ४ स्मृतिश्चात्र यथा—'ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा । कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ ॥' इति. ५ सुश्रुतोऽपि चाह यथा—'जन्मादौ निधने चैव प्रायो विशति देहिनम् । अतः सर्वविकाराणामयं राजा प्रकीर्तितः' ॥ (सु. उ. तं. अ. ३९).

जाते हैं। मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जो कि इसके वेगों को सहन कर सकता है। इस बात को सुश्रुत ने भी कहा है कि 'ऋते देवमनुष्येभ्यो नान्यो विषहते तु तम्। कर्मणा लभते यस्माद्देवत्वं मानुषादपि॥ पुनश्चैव च्युतः स्वर्गान्मानुष्यमनुवर्तते। तस्मात्ते देवभावेन सहन्ते मानुषा ज्वरम्॥ शेषाः सर्वे विपद्यन्ते तैर्यग्योना ज्वरार्दिताः॥' इति (सु. उ. तं. अ. ३९)।

मधु०—तस्य प्रागुत्पत्तिमाह—दक्षापमानेत्यादि।—दक्षापमानेन दक्षप्रयुक्तपरिभवेन क्रुद्धस्य रुद्रस्य निःश्वासात् संभव उत्पत्तिर्यस्य स तथा। निःश्वासोऽत्र क्रोधलिङ्गत्वेन निर्दिष्टः, अत एव सुश्रुतेन "रुद्रकोपाग्निसंभूतः॥" (सु. उ. त. अ. ३९)-इत्युक्तम्। क्रुद्धेन रुद्रेण ललाटे तृतीयमाग्नेयं चक्षुः सृष्ट्वा ततोऽप्याग्नेयो बाणो निर्मितः। यदाह चरकः–"सृष्ट्वा ललाटे चक्षुर्वै दग्ध्वा तानसुरान् प्रभुः। बाणं क्रोधाग्निसन्तप्तमसृजत् सत्रनाशनम्॥" इति (च. चि. स्था. अ. ३)। अत्र सत्रनाशनं यज्ञनाशनम्। एषा ज्वरोत्पत्तिकथा चरकचिकित्सिते सविशेषा श्रोतव्या। एतेन रुद्रकोपस्य विप्रकृष्टकारणत्वमुक्तम्; यदि हि ततो ज्वरो नोदपत्स्यत अधुनाऽप्यपचारान्नोदपत्स्यत इति भट्टारहरिचन्द्रः। एतदभिधानस्य चिकित्सानुपयोगित्वेनान्ये टीकाकृतोऽन्यथा व्याचक्षते—कोपोद्भवत्वेन तैजसत्वं प्रकाश्यते; क्रोधो ह्याग्नेयः, यदाह चरकः—"क्रोधात्पित्तम्॥" इति च (च. चि. स्था. अ. ३)। तेन सर्वज्वरे पित्तविरोधिनी क्रिया कार्येति सिध्यति। यदुक्तं वाग्भटेनैव–"ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना। तस्मात्पित्तविरुद्धानि त्यजेत्पित्ताधिकेऽधिकम्॥" इति (वा. चि. स्था. अ. १)। अत एव चरके कट्वम्ललवणान् पाचनान् परित्यज्य तरुणज्वरे पाचकत्वेन तिक्तको रसः पित्तघ्नो निर्दिष्टः। यदाह–"लङ्घनं स्वेदनं कालो यवाग्वस्तिक्तको रसः। पाचनान्यविपक्वानां दोषाणां तरुणज्वरे॥" इति (च. चि. स्था. अ. ३)। कालोऽत्राष्टाह इति। अन्ये त्वाहुः—रुद्रकोपसंभवत्वेन देवतात्मकत्वात् पूजार्हत्वमुपदर्शितम्। यदाह विदेहः—"ज्वरस्तु पूजनैर्वाऽपि सहसैवोपशाम्यति।" इति। हरिवंशेऽपि —"ज्वरस्त्रिपादस्त्रिशिराः षड्भुजो नवलोचनः। भस्मप्रहरणो रौद्रः कालान्तकयमोपमः॥" इति मूर्तिमानेवोक्तः। बहुविधमपि ज्वरं संक्षेपेणाह–ज्वरोऽष्टधेति। अष्टत्वं विवृणोति–पृथगित्यादि। तच्च संप्राप्तौ विवृतम्॥१॥

यहां पर निःश्वास शब्द का निर्देश क्रोध के चिह्नरूप में दर्शाया है। इसी लिये सुश्रुत ने 'रुद्र की क्रोधाग्नि से उत्पन्न' आदि कहा है। क्रुद्ध रुद्र ने ललाटस्थित अपने आग्नेय रूप तृतीय नेत्र को खोलकर उसी का आग्नेय बाण बनाया। जैसे चरक ने भी कहा है कि 'ललाटस्थ चक्षु को खोलकर और उन असुरों को जलाकर भगवान् ने यज्ञ को नष्ट करने के लिये क्रोधाग्नि से संतप्त बाण छोड़ा। यह ज्वरोत्पत्ति की कथा चरकचिकित्सास्थान में विशेष रूप से पढ़नी चाहिये। इससे रुद्र का कोप विप्रकृष्ट कारण सिद्ध होता है। क्योंकि यदि उससे ज्वर उत्पन्न न होता तो अब भी मिथ्या आहारादि से न होता, यह मत हरिचन्द्र का है। इस कथन का चिकित्सा में उपयोग न होने के कारण अन्य टीकाकार दूसरी तरह व्याख्या करते हैं। उनका कथन है कि क्रोध से उत्पत्ति कहने का भाव

१. अस्याग्रे 'उत्पन्नश्च तस्मात्, ततो रुद्रसन्तोषार्थं जपहोमपूजाशिवार्चनादिकं कार्यम्, तेन स ' इति क्वचिदधिकः पाठः.

यह है कि ज्वर तैजस है। क्योंकि क्रोध आग्नेय होता है। अतः तज्जन्य ज्वर भी आग्नेय वा तैजस है। जैसे चरक ने कहा भी है कि 'क्रोध से पित्त' (प्रकुपित होता है), इत्यादि। इससे यह भाव निकलता है कि सब ज्वरों में पित्तावरोधवती चिकित्सा करनी चाहिये। जैसे वाग्भट ने कहा भी है कि ऊष्मा पित्त के विना नहीं होती और ज्वर ऊष्मा के विना नहीं होता। इस कारण पित्त के विरोधी (पित्तकारक) पदार्थ ज्वर में छोड़ देने चाहिये। विशेषतः पैत्तिक ज्वर में तो उनका त्याग अधिकता से करना चाहिये। इसी कारण चरक ने कटु अम्ल और लवण रसप्रधान पाचनों को छोड़कर तिक्तरस को ही तरुण ज्वर में पाचन रूप से देना कहा है। कारण कि कटु, अम्ल और लवण रस वाले पाचन पित्तकारक होते हैं और तिक्त रस वाला पाचन पित्तनाशक होता है। जैसे कहा भी है कि—तरुण ज्वर में लंघन स्वेदन यवागू तथा तिक्तरस, अपक्व दोषों को पकाने के लिये पाचन रूप से देने चाहियें। काल शब्द से यहां आठ दिन लेने चाहियें। इस पर दूसरे टीकाकार कहते हैं कि रुद्र के कोप से उत्पन्न होने के कारण देवता रूप होने से इसे पूजनीय कहा है। जैसे विदेह का भी वचन है कि-'ज्वर पूजा आदि करने से सहसा शान्त हो जाता है' इत्यादि। हरिवंश में भी कहा है कि-'ज्वर तीन पांव वाला, तीन शिरों वाला, छः बाहुओं वाला और चार आंखों वाला, भस्म से लिप्त, रुद्र से उत्पन्न हुआ, काल और यम के समान है'। इससे ज्वर मूर्तिमान् कहा है। बहुत प्रकार का होने पर भी संक्षेप से ज्वर आठ प्रकार का ही कहा है ॥१॥

समस्तामयप्रधानभूतस्य ज्वरस्य सम्प्राप्तिं निरूपयति—

मिथ्याहारविहाराभ्यां दोषा ह्यामाशयाश्रयाः।
बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरदाः स्यू रसानुगाः ॥२॥

आहार और विहार के मिथ्या प्रयोग से क्रुद्ध रस से सम्बद्धित (रस को दूषित कर) तथा आमाशय में स्थित दोष कोष्ठ की अग्नि को बाहर निकाल कर ज्वर करने वाले होते हैं।

मधु०—संप्राप्तिमाह—मिथ्येत्यादि। आहारस्य मिथ्यात्वं प्रकृत्यादीनामाहारोपयोगहेतूनां विरुद्धत्वेनोपयोगः। यदाह चरकः—"तत्र खल्विमान्यष्टावाहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति; तद्यथा—प्रकृतिकरणसंयोगराशिदेशकालोपयोगसंस्थोपयोक्त्रष्टमानि।" इति (च. वि. स्था. अ. १)। अत्र प्रकृतिर्द्रव्याणां स्वाभाविकगुरुत्वलघुत्वादिगुणयोगः, यथा—माषमुद्गयोः; करणं संस्कारः, यथा—व्रीहेर्गुरोर्लघवो लाजाः; संयोगः संहतीभावः, यथा—क्षीरमत्स्ययोः; राशिराहारस्य द्रवाद्रवस्यावयवेन समुदायेन वा परिमाणं, देशो द्रव्योत्पत्तिप्रचारादिस्थानं; कालो नित्यगश्चावस्थिकश्च; उपयोगसंस्था उपयोगनियमः, यथा—जीर्णान्न एव भुञ्जीत; उपयोक्ता स्वयं निरूपितात्मप्रकृत्यादिकः पुरुष इति। विहारस्य मिथ्यात्वमयथाबलमारम्भादि। आमाशयाश्रया इत्यनेनामाशयप्राप्तिव्यतिरेकेण दोषा ज्वरं नारभन्त इति प्रतिपादयति। आमाशयश्च "नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय इति स्मृतः।" इति (च. वि. स्था. अ. २) चरकेणोक्तः। बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निमिति कोष्ठाग्निरेव दोषोत्क्षिप्तो बहिर्निर्गत ऊष्मतया

---

१ अकाले चातिमात्रञ्च असात्म्यं यच्च भोजनम्। विषमं चापि यद्भुक्तं मिथ्याहारः स उच्यते ॥ [illegible] मिथ्याहार [illegible]. २ अशक्तः कुरुते कर्म शक्तिनाशं करोति यः। मिथ्याविहार [illegible].

प्रतिभाति। कोष्ठाग्निमिति धात्वाद्यग्निनिरासार्थम्। ज्वरदा ज्वरकारिणः। रसानुगा रससंबद्धाः अवश्यं रसं दूषयित्वा ज्वरोत्पादका इति। एषा च संप्राप्तिः शारीराणामेव नत्वागन्तूनां, ते व्यथापूर्वकत्वं ततो वाताद्यनुबन्धः, इति जेज्जटः। अत एव सुश्रुते आगन्तुसंप्राप्तिः पृथक् पठ्यते। यथा—"श्रमक्षताभिघातेभ्यो देहिनां कुपितोऽनिलः। पूरयित्वाऽखिलं दे ज्वरमापादयेद्भृशम्॥" इति (सु. उ. तं. अ. ३६)। अत्र न आमाशयगत एव वा किंतूर्ध्वाधस्तिर्यग्प्रसवाहिस्रोतश्चरः। चरकेऽप्युक्तम्—"तत्राभिघातजो वायुः प्रायो प्रदूषयन्। सव्यथाशोथवैवर्ण्यं करोति सरुजं ज्वरम्॥" इति (च. चि. स्था. अ. ३ ननु, आगन्तुज्वरेऽप्यूष्मोपलभ्यते "ऊष्मा पित्तादृते नास्ति॥" (वा. चि. स्था. अ. १ इत्युक्तम्, अत आगन्तुरपि शारीरः स्यात्। नैवम्, उत्तरकालं तदुत्पत्तेः। यदुक्तम् "आगन्तुर्हि व्यथापूर्वो ज्वरोऽष्टमो भवति; स किंचित्कालमागन्तुः केवलो भू पश्चाद्दोषैरनुबध्यते॥" (च. नि. स्था. अ. १); तथा—"आगन्तुरन्वेति निजं वि निजस्तथाऽऽगन्तुमपि प्रवृद्धः।" इति (च. सू. स्था. अ. १६)। ननु, मिथ्याहारेत्या एकैव संप्राप्तिरुक्ता, एतच्च न युक्तं, यतः संप्राप्तिः संयोगभेदः, संयोगभेदश्च संयोगिभेदनिबन्ध संयोगिनश्चात्र वातादयो नानाविधाः, ततश्च संप्राप्तेरपि नानात्वं स्यात्; नहि वातपित्तयं संयोगः स एव कफपित्तयोरिति। उच्यते, अनेकैव संप्राप्तिः किंत्वेकजातीया, आशयदुष्ट सर्वत्राविशेषेणाभिधानात्। एवमागन्तुसंप्राप्तिरपि संयोगभेदाद्भिन्नेति॥२॥

प्रकृत्यादि आहारोपयोगहेतुओं का विरुद्ध उपयोग करना आहार का मिथ्य है। जैसे चरक ने भी कहा है कि 'यह आठ आहार विधि के विशेष कारण हैं। जैसे—'प्र करण, संयोग, राशि, देश, काल, उपयोगसंस्था तथा उपयोक्ता'। यहां प्रकृति द्रव्यों की स्वाभाविक गुरुता वा लघुता से युक्त होना लिया जाता है। यथा—म और मुद्ग, इसमें माष स्वभावतः गुरु और मुद्ग स्वभावतः लघु होता है। एवं सूअर कृष्णमृग भी स्वभावतः गुरु लघु होते हैं। करण से संस्कार लिया जाता है। यथा—व्रीहि[2] गुरु होते हैं परन्तु जब उनका संस्कार कर उन्हें लाजा के रूप में परिवर्तित किया जाता है, तब वे लघु हो जाते हैं। अब यहां शंका होती है कि यदि संस्कार से स्वाभाविक गुण परिवर्तित हो जाते हैं तो 'स्वभावो निष्प्रतिक्रियः' से विरोध आता है। उत्तर—नहीं, 'स्वभावो निष्प्रतिक्रियः' यह कथन ठीक है। क्योंकि संस्कार से हम व्यक्ति का स्वभाव परिवर्तन करते हैं, जाति का नहीं। माष जाति तो स्वभाव से गुरु ही है, उसे हम लघु नहीं कर सकते। अतः उक्त कथन इससे संबंध रखता है, और यह भी नियम नहीं कि सभी संस्कार से गुण परिवर्तित कर दें। कई पदार्थ अपने स्वभाव को नहीं भी छोड़ते। यथा— अग्नि ऊष्मा को, वायु चलता को, तैल स्निग्धता को नहीं छोड़ते। क्योंकि ये गुण यावद् द्रव्यभावी हैं। एवं 'स्वभावो निष्प्रतिक्रियः' यह कथन व्यर्थ नहीं है। संयोग से दो वा बहुत से द्रव्यों का मेल लिया जाता है। यथा—दूध[3] और मछली। राशि से द्रव और अद्रव

---

१ स्वभावाल्लघवो मुद्गास्तथा लावकपिञ्जलाः। स्वभावात् गुरवो माषा वाराहमहिषास्तथा॥ (च. ८७). २ गुरूणां लाघवं विद्यात् संस्कारात्सविपर्ययम्। व्रीहेर्लाजा यथा च स्युः सक्तूनां ...॥ (च. सू. अ. स्था.). ३ सर्वानेव मत्स्यान्न पयसाऽभ्यवहरेत्। (च. सू. स्था. अ. २६).

पदार्थों का अवयव (परिग्रह) से वा समुदाय (सर्वग्रह) से देश से द्रव्य की उत्पत्ति तथा प्रचरण आदि स्थान लिये जाते हैं। काल शब्द से नित्य चलने वाला वसन्तादि ऋतुज तथा बालवृद्धादि अवस्था विशेष वाला आवस्थिक लिया जाता है। उपयोगसंस्था द्रव्यों के उपयोगनियम को कहते हैं। यथा—भोजन का उपयोग नियम यह है कि पहले खाए हुए भोजन के सम्यक्तया जीर्ण होने पर करना चाहिये। उपयोक्ता से जो आहारादि का उपयोग करता है, वह लिया जाता है। इसका विशेष ज्ञान भावुक चरक विमान प्रथम अध्याय से तथा उसकी टीकाओं से प्राप्त कर सकते हैं। अपनी शक्ति के अनुसार कार्य न करना विहार का मिथ्यापन है। आमाशय शब्द देने से यह प्रकट होता है कि जब तक दोष आमाशय को प्राप्त न करें तब तक ज्वर नहीं हो सकता और आमाशय प्राणियों के नाभि और स्तनों के बीच के भाग में होता है, यह चरक मानता है। यह सम्प्राप्ति शारीरिक ज्वर में ही होती है, आगन्तुज में नहीं होती। कारण कि आगन्तुज में पूर्व व्यथा होती है और तदनन्तर अनुबन्ध रूप से वातादि की विषमता होती है, यह जेज्जटाचार्य का मत है। इसी लिये सुश्रुत में आगन्तुज ज्वर की सम्प्राप्ति पृथक् पढ़ी है। तद्यथा—श्रम, क्षत और अभिघात से देहधारियों में वायु प्रकुपित होकर सारे शरीर में व्याप्त हो जाता है, जिससे ज्वर को उत्पन्न करता है। यहां आमाशयगत वायु ज्वर को उत्पन्न नहीं करता प्रत्युत ऊपर नीचे और तिरछे स्रोतों में चलता हुआ ज्वर को उत्पन्न करता है। चरक में भी कहा है कि अभिघात से उत्पन्न वायु रक्त को दूषित करता हुआ पीड़ा, शोथ और विवर्णता के साथ ज्वर को उत्पन्न करता है। अब यहां शंका होती है कि आगन्तुज ज्वर में भी ऊष्मा होती है, जैसे वाग्भट में कहा भी है कि 'ऊष्मा पित्त के विना नहीं होती' इत्यादि। इससे यह सिद्ध होता है कि आगन्तुज ज्वर भी शारीरिक (दोषज) ही है। उत्तर—नहीं, आगन्तुज ज्वर शारीरिक नहीं है। क्योंकि यहां ऊष्मा वा दोष का प्रकोप बाद में होता है। कहा भी है कि—'आगन्तुज आठवाँ ज्वर है और व्यथापूर्वक होता है। वह पूर्व कुछ काल तक केवल आगन्तुज रहकर बाद में दोषों से सम्बन्धित होता है' तथा 'बढ़ा हुआ आगन्तुज विकार निज (शारीरिक) विकार को और बढ़ा हुआ निज विकार (आगन्तुज) विकार को प्राप्त कर लेता है'। शंका—'मिथ्या आहार' इत्यादि श्लोक से एक ही सम्प्राप्ति कही है। परन्तु यह युक्ति-युक्त नहीं। कारण कि संप्राप्ति संयोग भेद को कहते हैं और संयोग भेद संयोगि भेद से होता है। एवं संयोगि यहां वातादि नाना प्रकार के हैं। अतः सम्प्राप्ति भी नाना प्रकार की वा भिन्न होनी चाहिये। क्योंकि जो संयोग वात पित्त का होता है, वही कफ और पित्त का नहीं होता। उत्तर—ठीक है, संप्राप्ति एक नहीं है, प्रत्युत बहुत हैं। परन्तु उनकी जाति एक ही है। क्योंकि आमाशय दुष्टि आदि सब में एक समान होती है, एवं आगन्तुज ज्वर की संप्राप्ति भी संयोग भेद से भिन्न ही है।

ज्वरसामान्यस्य स्वरूपमवतारयति—

स्वेदावरोधः संतापः सर्वाङ्गग्रहणं तथा।
युगपद्यत्र रोगे च स ज्वरो व्यपदिश्यते ॥३॥ [सु० ३।३६]

भावार्थ—स्वेद का न आना; देह, इन्द्रियों और मन में सन्ताप होना;

१. यहाँ स्वेदावरोध का अर्थ [illegible] का अवरोध है। अन्यथा [illegible] के लक्षण में [illegible] आता है.

प्रतिभाति । कोष्ठाग्निमिति धात्वाद्यग्निनिरासार्थम् । ज्वरदा ज्वरकारिणः । रसानुगा रससंबद्धा अवश्यं रसं दूषयित्वा ज्वरोत्पादका इति । एषा च संप्राप्तिः शारीराणामेव नत्वागन्तूनां, व्यथापूर्वकत्वं ततो वाताद्यनुबन्धः, इति जेज्जटः । अत एव सुश्रुते आगन्तुसंप्राप्तिः ... पठ्यते । यथा—"श्रमक्षताभिघातेभ्यो देहिनां कुपितोऽनिलः । पूरयित्वाऽखिलं दे ज्वरमापादयेद्भृशम् ॥" इति (सु. उ. तं. अ. ३९) । अत्र न आमाशयगत एव वायुः किंतूर्ध्वाधस्तिर्यक्प्रसवाहिस्रोतश्चरः । चरकेऽप्युक्तम्—"तत्राभिघातजो वायुः प्रायो र अदूषयन् । सव्यथाशोथवैवर्ण्यं करोति सरुजं ज्वरम् ॥" इति (च. चि. स्था. अ. ३), ननु, आगन्तुज्वरेऽप्यूष्मोपलभ्यते "ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ॥" (वा. चि. स्था. अ. १) इत्युक्तम्, अत आगन्तुरपि शारीरः स्यात् । नैवम्, उत्तरकालं तदुत्पत्तेः । यदुक्तम्— "आगन्तुर्हि व्यथापूर्वो ज्वरोऽष्टमो भवति; स किंचित्कालमागन्तुः केवलो भूत्वा पश्चाद्दोषैरनुबध्यते ॥" (च. नि. स्था. अ. १); तथा—"आगन्तुरन्वेति निजं विका निजस्तथाऽऽगन्तुमपि प्रवृद्धः ।" इति (च. सू. स्था. अ. १९) । ननु, मिथ्याहारेत्यादिना एकैव संप्राप्तिरुक्ता, एतच्च न युक्तं, यतः संप्राप्तिः संयोगभेदः, संयोगभेदश्च संयोगिभेदनिबन्धनः, संयोगिनश्चात्र वातादयो नानाविधाः, ततश्च संप्राप्तिरपि नानात्वं स्यात्; नहि वातपित्तयोर्यः संयोगः स एव कफपित्तयोरिति । उच्यते, अनेकैव संप्राप्तिः किंत्वेकजातीया, आशयदुष्ट्यादेः सर्वत्राविशेषेणाभिधानात् । एवमागन्तुसंप्राप्तिरपि संयोगभेदाद्भिन्नेति ॥२॥

प्रकृत्यादि आहारोपयोगहेतुओं का विरुद्ध उपयोग करना आहार का मिथ्यापन है । जैसे चरक ने भी कहा है कि 'यह आठ आहार विधि के विशेष कारण हैं । जैसे—प्रकृति, करण, संयोग, राशि, देश, काल, उपयोगसंस्था तथा उपयोक्ता' । यहां प्रकृति से द्रव्यों की स्वाभाविक गुरुता वा लघुता से युक्त होना लिया जाता है । यथा—माष और मुद्ग, इसमें माष स्वभावतः गुरु और मुद्ग स्वभावतः लघु होता है । एवं सूअर और कृष्णमृग भी स्वभावतः गुरु लघु होते हैं। करण से संस्कार लिया जाता है । यथा—व्रीहि[2] गुरु होते हैं परन्तु जब उनका संस्कार कर उन्हें लाजा के रूप में परिवर्तित किया जाता है, तब वे लघु हो जाते हैं । अब यहां शंका होती है कि यदि संस्कार से स्वाभाविक गुण परिवर्तित हो जाते हैं तो 'स्वभावो निष्प्रतिक्रियः' से विरोध आता है । उत्तर—नहीं, 'स्वभावो निष्प्रतिक्रियः' यह कथन ठीक है । क्योंकि संस्कार से हम व्यक्ति का स्वभाव परिवर्तन करते हैं, जाति का नहीं । माष जाति तो स्वभाव से गुरु ही है, उसे हम लघु नहीं कर सकते । अतः उक्त कथन इससे संबंध रखता है, और यह भी नियम नहीं कि सभी संस्कार से गुण परिवर्तित कर दें । कई पदार्थ अपने स्वभाव को नहीं भी छोड़ते । यथा—अग्नि ऊष्मा को, वायु चलता को, तैल स्निग्धता को नहीं छोड़ते । क्योंकि ये गुण यावद्-द्रव्यभावी हैं । एवं 'स्वभावो निष्प्रतिक्रियः' यह कथन व्यर्थ नहीं है । संयोग से दो वा बहुत से द्रव्यों का मेल लिया जाता है । यथा—दूध[3] और मछली । राशि से द्रव और अद्रव

१. स्वभावाल्लघवो मुद्गास्तथा लावकपिञ्जलाः । स्वभावात् गुरवो माषा वाराहमहिषास्तथा ॥ (च. २७). २ गुरूणां लाघवं विद्यात् संस्कारात्सविपर्ययम् । व्रीहेर्लाजा यथा च स्युः सक्तूनां ...ः ॥ (च. सू. अ. स्था.). ३ सर्वांनेव मत्स्यान्न पयसाऽभ्यवहरेत् । (च. सू. स्था. अ. २६).

पदार्थों का अवयव (परिग्रह) से वा समुदाय (सर्वग्रह) से देश से द्रव्य की उत्पत्ति तथा प्रचरण आदि स्थान लिये जाते हैं। काल शब्द से नित्य चलने वाला वसन्तादि ऋतुज तथा बालवृद्धादि अवस्था विशेष वाला आवस्थिक लिया जाता है । उपयोगसंस्था द्रव्यों के उपयोगनियम को कहते हैं। यथा—भोजन का उपयोग नियम यह है कि पहले खाए हुए भोजन के सम्यक्तया जीर्ण होने पर करना चाहिये । उपयोक्ता से जो आहारादि का उपयोग करता है, वह लिया जाता है । इसका विशेष ज्ञान भावुक चरक विमान प्रथम अध्याय से तथा उसकी टीकाओं से प्राप्त कर सकते हैं। अपनी शक्ति के अनुसार कार्य न करना विहार का मिथ्यापन है । आमाशय शब्द देने से यह प्रकट होता है कि जब तक दोष आमाशय को प्राप्त न करें तब तक ज्वर नहीं हो सकता और आमाशय प्राणियों के नाभि और स्तनों के बीच के भाग में होता है, यह चरक मानता है । यह सम्प्राप्ति शारीरिक ज्वर में ही होती है, आगन्तुज में नहीं होती। कारण कि आगन्तुज में पूर्व व्यथा होती है और तदनन्तर अनुबन्ध रूप से वातादि की विषमता होती है, यह जेज्जटाचार्य का मत है। इसी लिये सुश्रुत में आगन्तुज ज्वर की सम्प्राप्ति पृथक् पढ़ी है। तद्यथा—श्रम, क्षत और अभिघात से देहधारियों में वायु प्रकुपित होकर सारे शरीर में व्याप्त हो जाता है, जिससे ज्वर को उत्पन्न करता है। यहां आमाशयगत वायु ज्वर को उत्पन्न नहीं करता प्रत्युत ऊपर नीचे और तिरछे स्रोतों में चलता हुआ ज्वर को उत्पन्न करता है। चरक में भी कहा है कि अभिघात से उत्पन्न वायु रक्त को दूषित करता हुआ पीड़ा, शोथ और विवर्णता के साथ ज्वर को उत्पन्न करता है। अब यहां शंका होती है कि आगन्तुज ज्वर में भी ऊष्मा होती है, जैसे वाग्भट में कहा भी है कि 'ऊष्मा पित्त के विना नहीं होती' इत्यादि। इससे यह सिद्ध होता है कि आगन्तुज ज्वर भी शारीरिक (दोषज) ही है। उत्तर—नहीं, आगन्तुज ज्वर शारीरिक नहीं है। क्योंकि यहां ऊष्मा वा दोष का प्रकोप बाद में होता है । कहा भी है कि—'आगन्तुज आठवाँ ज्वर है और व्यथापूर्वक होता है। वह पूर्व कुछ काल तक केवल आगन्तुज रहकर बाद में दोषों से सम्बन्धित होता है' तथा 'बढ़ा हुआ आगन्तुज विकार निज (शारीरिक) विकार को और बढ़ा हुआ निज विकार (आगन्तुज) विकार को प्राप्त कर लेता है'। शंका—'मिथ्या आहार' इत्यादि श्लोक से एक ही सम्प्राप्ति कही है। परन्तु यह युक्ति-युक्त नहीं। कारण कि संप्राप्ति संयोग भेद को कहते हैं और संयोग भेद संयोगि भेद से होता है। एवं संयोगि यहां वातादि नाना प्रकार के हैं । अतः सम्प्राप्ति भी नाना प्रकार की वा भिन्न होनी चाहिये। क्योंकि जो संयोग वात पित्त का होता है, वही कफ और पित्त का नहीं होता। उत्तर—ठीक है, संप्राप्ति एक नहीं है, प्रत्युत बहुत हैं। परन्तु उनकी जाति एक ही है। क्योंकि आमाशय दुष्टि आदि सब में एक समान होती है, एवं आगन्तुज ज्वर की संप्राप्ति भी संयोग भेद से भिन्न ही है।

ज्वरसामान्यस्य स्वरूपमवतारयति—

स्वेदावरोधः संतापः सर्वाङ्गग्रहणं तथा।
युगपद्यत्र रोगे च स ज्वरो व्यपदिश्यते ॥३॥ [सु० ६।३९]

भावार्थ—स्वेद का न आना; देह, इन्द्रियों और मन में सन्ताप होना;

१ यहां स्वेदावरोध का अर्थ अग्नि का अवरोध है। अन्यथा पित्तज्वर के लक्षण में अव्याप्ति दोष आता है.

सारे अङ्गों में वेदना होनी ये लक्षण एक दम जिस रोग में होते हैं वह ज्वर कहलाता है, अर्थात् इन सब का एक समकाल में होना ज्वर का सामान्य लक्षण है।

मधु०—ज्वरलक्षणमाह—स्वेदावरोध इत्यादि. स्वेदावरोधो घर्मानिर्गमः। ताप इति वक्तव्ये संतापग्रहणाद्देहेन्द्रियमनसां तापं लक्षयति। तदुक्तं चरके—"देहेन्द्रियमनस्तापी।" इति (च. चि. स्था. अ. ३); तथा—"वैचित्त्यमरतिर्ग्लानिर्मनःसन्तापलक्षणम्।" इति (च. चि. स्था. अ. ३)। सर्वाङ्गग्रहणं सर्वाङ्गवेदना। युगपदिति मिलितमेतल्लक्षणं प्रत्येकशो व्यभिचारात्। स्वेदावरोधो हि कुष्ठपूर्वरूपे, तथा संतापो दाहाख्ये रोगे, सर्वाङ्गग्रहणं सर्वाङ्गवातरोगे इति। ननु, पैत्तिके स्वेदागमात्, वातिके विषमारम्भविसर्गित्वात् सर्वाङ्गग्रहणा-व्यवस्थितेश्चाव्यापकं लक्षणमिति। अत्र जेज्जटकार्तिककुण्डादयः समादधुः—उत्सर्गापवादभावेन व्यवस्थितिरिति। तन्न संगतमित्यन्ये; विधौ ह्युत्सर्गापवादभावो न तु लक्षणे, अव्याप्त्यतिव्याप्त्यो-र्लक्षणदोषात्; तस्मात् स्वेदोऽग्निः 'स्विद्यतेऽनेन' इति व्युत्पत्त्या; तस्यावरोधो दोषव्याप्तिः। वातज्वरे यद्यपि वायोश्चलत्वेनारम्भविसर्गयोर्वैषम्यं, तथाऽपि सर्वदेहगतज्वरारम्भकदोषदुष्ट्य-निवृत्तेरनुद्भूतसर्वाङ्गग्रहणस्य विद्यमानतैवेति न व्यभिचारः। चरके तु ज्वरलक्षणं "ज्वरप्रत्या-त्मिकं लिङ्गं सन्तापो देहमानसः॥" इति (च. चि. स्था. अ. ३)। ननु, "शारीरो जायते पूर्वं देहे मनसि मानसः॥" इति (च. चि. स्था. अ. ३) चरकवचनाद्देहमनसो-रन्योन्यव्यभिचारादलक्षणमिति चेत्, तन्न, सूक्ष्मतरकालव्यवहितस्यान्यतररूपस्यावश्यंभावि-त्वात्। यथा—गुणवद्द्रव्यमिति द्रव्यलक्षणमिति ॥२॥

'ताप' के स्थान पर 'संताप' शब्द का प्रयोग देह, इन्द्रियाँ और मन इन तीनों के ताप को प्रकट करता है। चरक ने कहा भी है कि 'देह, इन्द्रियाँ और मन इनको तप्त करने वाला' आदि; तथा 'वैचित्त्य, पीड़ा और ग्लानि यह मानसिक ताप के लक्षण हैं'। युगपद् शब्द का यह अभिप्राय है कि इन लक्षणों के मेल से ही ज्वर होता है अन्यथा व्यभिचार दोष आता है। तद्यथा—स्वेद का न आना कुष्ठ के पूर्वरूप में होता है तथा सन्ताप 'दाह' नामक रोग में होता है, एवं सर्वाङ्ग ग्रहण वातिक सर्वाङ्ग रोग में होता है। (शंका—) ज्वर के लक्षण में स्वेद का न आना और सर्वाङ्ग का ग्रहण होना कहा गया है, परन्तु पैत्तिक ज्वर में स्वेद आता है, और वातिक में विषम आरम्भ और विषम विसर्ग होता है। अतः पैत्तिक में स्वेदावरोध और वातिक में सर्वाङ्ग ग्रहण की अव्यवस्थिति होने से लक्षण में अव्याप्ति दोष आ जाता है। (समाधान—) यहां जेज्जट, कार्तिककुण्ड आदि इस प्रकार समाधान करते हैं कि प्रकृत में व्यवस्था उत्सर्गापवाद से है अर्थात् स्वेदावरोध और सर्वाङ्ग ग्रहण उत्सर्ग है, परन्तु स्वेदावरोध का पैत्तिक में और सर्वाङ्ग ग्रहण का वातिक में अपवाद है। इस समाधान को दूसरे आचार्य असंगत मानते हैं। क्योंकि उत्सर्ग और अपवाद विधि वाक्यों में होते हैं, न कि लक्षण में। कारण कि लक्षण का लक्षण अव्याप्ति,[४] अतिव्याप्ति और असम्भव दोष से रहित होता है। एवं अव्याप्ति और अतिव्याप्ति लक्षण के दोष सिद्ध होते हैं। जब कि ये लक्षण के दोष हैं तो लक्षण में उत्सर्गापवाद नहीं हो सकता।

१ सामान्यज्वरो युनानीवैद्यके हुम्मायोगी नाम्ना; आंग्लभाषायाञ्च फेब्रिक्युला (Febricula) प्रसिद्धः. २ दाहाख्यो रोगः. ३ दोषदूष्यानुवृत्तेः. ४ ज्वरप्रत्यायकम्, ज्वरप्रत्यात्मकम्. ५ अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भवदोषरहितत्वं लक्षणत्वम्.

अतः 'स्विद्यते अनेन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्वेद शब्द से अग्नि लेनी चाहिये। उसका अवरोध अर्थात् दोषों का व्याप्त होना है। एवं उक्त दोष का निरास होता है। इसी प्रकार यद्यपि वातिक ज्वर में वायु के चल होने से विषम आरम्भ और विषम विसर्ग हैं तथापि सम्पूर्ण देहव्यापी ज्वर के आरम्भक दोष की दुष्टि के दूर न होने के कारण वहां भी अप्रकट रूप में सर्वाङ्गग्रहणता विद्यमान ही है। अतः यहां भी व्यभिचार (अव्याप्तिरूप दोष) नहीं आता। चरक में तो ज्वर का लक्षण—देह और मन में सन्ताप होना ज्वर का लक्षण माना है। (शंका—) चरक ने देह और मन के सन्ताप को ज्वर का प्रत्यायक लिङ्ग कहा है, परन्तु शारीरिक और मानसिक ताप का परस्पर व्यभिचार होता है। जैसे चरक ने कहा भी है कि 'शारीरिक ताप पूर्व देह में होता है और बाद मन में, एवं मानसिक ताप पूर्व मन में होता है और बाद शरीर में' इस कारण ज्वर का चरकोक्त लक्षण भी ठीक नहीं है। (समाधान—) अति सूक्ष्म काल के व्यवधान से युक्त किसी दूसरे रूप के अवश्य होने से चरकोक्त लक्षण ठीक ही है। इसका भाव यह है कि ज्वर का चिह्न शारीरिक और मानसिक सन्ताप का होना है लेकिन यह चिह्न व्यभिचारी है। कारण कि शारीरिक ज्वर पहले शरीर में होता है और पुनः मन में। और इसी प्रकार मानसिक ज्वर पूर्व मन में होता है, पुनः शरीर में। इस प्रकार जब पूर्व शरीर में तो ज्वर होगा परन्तु अभी मानसिक नहीं बना तब वहां मानसिक सन्ताप तो होगा ही नहीं। अतः ज्वरप्रत्यायक लक्षण उस अवस्था में उसमें नहीं घटेगा, एवं दोष आवेगा। उत्तर—नहीं, दोष नहीं आता। कारण कि शारीरिक ज्वर के मानसिक होने के बीच का अन्तर अतीव अल्प होता है और उसमें भी किसी एक का रूप तो अवश्य रहता ही है। जैसे 'गुणवद्द्रव्यम्' कहा जाता है, उसी प्रकार वहां भी एक के लक्षण न होने पर भी शीघ्र पश्चाद्भावी होने से व्यवहार चल जाता है, एवं उक्त दोष भी नहीं आता। गुणवद्द्रव्य में भी द्रव्य प्रथम क्षण में निर्गुण एवं निष्क्रिय होते हैं, परन्तु फिर भी उन्हें गुणवद्द्रव्य ही कहा जाता है। क्योंकि तत्काल बाद (दूसरे क्षण में) वे सगुण और सक्रिय हो जाते हैं। यही नियम प्रकृत में भी घटता है।

ज्वरस्य सामान्यप्राग्रूपं वर्णयति—

श्रमोऽरतिर्विवर्णत्वं वैरस्यं नयनप्लवः।
इच्छाद्वेषौ मुहुश्चापि शीतवातातपादिषु ॥४॥ [सु० ६।३९]
जृम्भाऽङ्गमर्दो गुरुता रोमहर्षोऽरुचिस्तमः।
अप्रहर्षश्च शीतं च भवत्युत्पत्स्यति ज्वरे ॥५॥ [सु० ६।३९]

थकावट, अनवस्थितमनस्कता, गात्रों की मलिनता, मुख की विरसता, नेत्रों की अश्रुपूर्णता, शीत वात वा आतपादिक में बार २ इच्छा तथा बार २ द्वेष का होना तथा जम्भाई का आना, अङ्गों में मर्दनवत् पीड़ा होना, शरीर में गौरव होना, रोंगटों का खड़ा होना, अन्न में अरुचि होना, अन्धकार में प्रविष्ट सा होना, प्रीति का अभाव होना, और शीत का लगना, ज्वर की पूर्वावस्था में होता है। यही ज्वर के सामान्य पूर्वरूप हैं ॥४-५॥

मधु०—पूर्वरूपमाह—श्रमेत्यादि। श्रमः श्रान्तत्वमिव। अरतिरनवस्थितचित्तत्वं, क्रीडाभावोऽरतिरिति कार्तिकः। विवर्णत्वं म्लानगात्रत्वम्। यत्तु "दुष्टाः स्वहेतुभिर्दोषाः ॥"

इत्यारभ्य "स्वकालेषु ज्वरागमम् । जनयन्त्यथ वृद्धिं च स्ववर्णं च त्वगादिषु ॥" इति (सु. चि. स्था. अ. ३९) संप्राप्तौ वृद्धसुश्रुतवचनं, तदत्यर्थजृम्भादिवद्विशिष्टपूर्वरूपाभिप्रायेण, संप्राप्त्यवस्थापन्नदोषजन्यत्वात्पूर्वरूपस्येति । वैरस्यमिति मुखस्य विरुद्धरसता । नयनप्लवोऽश्रुपूर्णनेत्रत्वम् । यदुक्तं चरके—"आलस्यं नयने सास्रे ॥" इत्यादि (च. चि. स्था. अ. ३)। आदिशब्दादम्बुज्वलनयोरप्यनिश्चितेच्छाद्वेषयोर्ग्रहणम् । उक्तं हि चरके—"ज्वलनातपवाय्वम्बुभक्तिद्वेषावनिश्चितौ ॥" इति (च. चि. स्था. अ. ३)। अन्ये तु शैत्यौष्ण्यसाधर्म्यात्जलानलौ ग्राहयन्ति, आदिशब्देन तु शयनासनादिकम् । तमोऽन्धकारप्रविष्टस्येवासंवित्तिः । अप्रहर्षः प्रीत्यभावः । ज्वलनेच्छया शीते लब्धे शीतं चेति वचनं विशेषेण शीतबोधनार्थम् । चकारेण बालप्रद्वेषादिग्रहणमित्याहुः । उत्पत्स्यतीति भविष्यति ज्वरे । उत्पत्स्यतीति आत्मनेपदानित्यत्वेन तच्च चक्षिङ इकारेणानुदात्तेनात्मनेपदे सिद्धे तदर्थे ङित्करणेन ज्ञापितमिति शाब्दिकाः । गदाधरस्तु—'उत्पित्सति'—इति पठित्वा 'पद गतौ' इत्यस्यैव सन्नन्तस्य "सनिमीमाघुरभलभशकपतपदाम् (अ. ७ पा. ४ सू. ५४)"—इत्यादिना इसि कृते 'पूर्ववत्सनः' (अ. १ पा. ३ सू. ६२) इत्यत्र भिन्नवाक्यतया परस्मैपदमिति व्याचष्टे इति ॥४-५॥

'अपने हेतुओं से दोष दुष्ट होकर' इत्यादि वाक्य से आरम्भ कर 'अपने २ समय पर दोष ज्वर को उपजाते हैं, वा उपजे हुए को बढ़ाते हैं, तथा त्वक् आदि में अपने २ वर्ण को करते हैं' इस वाक्यान्त तक सम्प्राप्ति में वृद्ध सुश्रुत ने जो कहा है, वह पूर्वरूप के सम्प्राप्ति की अवस्था में आये हुए दोष से उत्पन्न होने के कारण अत्यन्त जृम्भा आदि की तरह विशेष पूर्वरूप के अभिप्राय से कहा है। 'आतपादिषु' में आदि शब्द से जल और अग्नि के अनिश्चित इच्छा द्वेष का ग्रहण करना चाहिये। चरक में कहा भी है कि 'अग्नि, धूप, वायु और जल इनमें प्रीति और द्वेष अनिश्चित (बार २ होते) हैं'। दूसरे आचार्य शीतता और उष्णता के समानधर्मी होने से उन्हीं से अग्नि और वायु ग्रहण कराकर आदि शब्द से सोना बैठना आदि लेते हैं। तम—अँधेरे में प्रविष्ट मनुष्य जैसे कुछ नहीं जानता वही अवस्था जब हो तो वह तम कहलाता है। शीत—शीत की इच्छा होती है, इस कथन से ही जब शीतता आ जाती है, तो 'अप्रहर्षश्च शीतञ्च' में शीत शब्द का देना विशेष शीत का बोधक है। उत्पत्स्यति अर्थात् भविष्यति ज्वरे। 'उत्पस्यति' में परस्मैपद 'अनुदात्तेत्प्रयुक्तमात्मनेपदमनित्यं चक्षिङ्' इति ङित्करणज्ञापकात् के अनुसार आत्मनेपद को अनित्य मान कर किया है। भाव यह है कि 'चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि' धातु पूर्व अनुदात्तेत् है, और अनुदात्तेत् होने से ही उसे 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से आत्मनेपद प्राप्त था। पुनः उसमें आत्मनेपद विधायक ङित्करण क्यों किया? इसका उत्तर है कि पुनः ङित्करण यह ज्ञापित करता है कि अनुदात्तेत् लक्षण आत्मनेपद अनित्य होता है। एवं यदि चक्षिङ् में ङित्करण न करते तो इसमें भी कभी परस्मैपद आ जाता, जो कि अभीष्ट नहीं है। अतः यहां ङित्करण किया है। (अनुदात्तेत् लक्षण आत्मनेपद अनित्य होता है) इसी सिद्धान्त को लेकर 'उत्पत्स्यति' पाठ दिया है, यह वैयाकरण कहते हैं। परन्तु गदाधर 'उत्पित्सति' यह पढ़कर 'पद गतौ' इसी धातु का ही सन्नन्त कर 'सनिमीमाघुरभलभशकपतपदाम्' सूत्र से 'इस्' कर, 'पूर्ववत्सनः' सूत्र में भिन्नवाक्यता होने से है, यह कहकर रूप सिद्ध करता है। इसका विशेष खण्डनमण्डन अप्राकरणिक किया जाता। पाठक व्याकरण से ही जानें।

पृथग् दोषत्रयसमुत्थितज्वरसामान्यस्य पूर्वरूपाणि लक्षयति—

(सामान्यतो विशेषात्तु जृम्भाऽत्यर्थं समीरणात् ।
पित्तान्नयनयोर्दाहः कफादन्नारुचिर्भवेत् ॥६॥ [सु० ६।३६]
रूपैरन्यतराभ्यां तु संसृष्टैर्द्वन्द्वजं विदुः ।
सर्वलिङ्गसमवायः सर्वदोषप्रकोपजे ॥७॥) [सु० ६।३६]

उपर्युक्त 'श्रमोऽरति' आदि ज्वर के सामान्य पूर्वरूप हैं। विशेष पूर्वरूप तो ायु से जम्भाइयों का अत्यधिक आना, पित्त से नेत्रों में जलन होनी, और फ से अन्न में अरुचि होनी है। एवं किन्हीं दो दोषों के पूर्व रूपों के लक्षण मिलने पर उन दोनों दोषों (द्वन्द्वज) के विशिष्ट पूर्वरूप होते हैं और सब दोषों के प्रकोप में सभी दोषों के विशिष्ट पूर्वरूप प्रकट होते हैं ॥६–७॥

मधु०— ... ... (अभाव)।

वातिकज्वरस्य स्वरूपं निरूपयति—

वेपथुर्विषमो वेगः कण्ठौष्ठपरिशोषणम् ।
निद्रानाशः क्षवस्तम्भो गात्राणां रौक्ष्यमेव च ॥८॥ [सु० ६।३६]
शिरोहृद्गात्ररुग्वक्त्रवैरस्यं गाढविट्कता ।
शूलाध्माने जृम्भणं च भवन्त्यनिलजे ज्वरे ॥९॥ [सु० ६।३६]

शरीर का काँपना, ज्वर की विषम प्रवृत्ति वा वृद्धि होना, कण्ठ और ओष्ठों का सूखना, नींद का न आना, छींकों का रुक जाना, गात्रों का रूखा होना, सिर हृदय और अङ्गों में पीड़ा होनी, मुख का विरुद्ध रसवाला होना, मल का गाढ़ा होना, शूल तथा अफारे का होना एवं जम्भाइयों का आना वातिकज्वर में होता है। यह वातिकज्वर का लक्षण है ॥८–९॥

मधु०—वातपित्तकफानां यथापूर्वं भूरिदारुणविकारकर्तृत्वेन प्राधान्यम्; यदुक्तं चरके—"अशीतिर्वातविकाराश्चत्वारिंशत्पित्तविकारा विंशतिः श्लेष्मविकाराः ॥" इति (च. सू. स्था. अ. २०); तथा दारुणाश्च वातविकारा आक्षेपकपक्षाघातादयः; अतः प्राधान्यात् प्रथमं वातज्वरलक्षणमाह—वेपथुरित्यादि। एवमन्यत्रापि वातादिक्रमनिर्देशे बोद्धव्यम् । विषमो वेग इति वेगो ज्वरस्य प्रवृत्तिर्वृद्धिर्वा, तस्य वैषम्यमनियतकालत्वम्, अङ्गेषु चौष्ण्याद्यनियतत्वम् । क्षवथुः छिक्का, स्तम्भो गात्राणां जडिमा, रौक्ष्यमपि गात्राणामेवेति गदाधरादयो व्याचक्षते । तच्चानवधानाद्व्याख्यातमिति लक्ष्यते; क्षवस्य स्तम्भः क्षवस्तम्भ इत्येकपदताऽत्र युज्यते । यदाह वाग्भटः—"हर्षो रोमाङ्गदन्तेषु वेपथुः क्षवथोर्ग्रहः । भ्रमः प्रलापो घर्मेच्छा विलापश्चानिलज्वरे ॥" इति (वा. नि. स्था. अ. २) । चरकेऽपि निदाने "क्षवथूद्गारविनिग्रहः ॥" (च. नि. स्था. अ. १) इत्येव पठितम । विनिग्रहशब्दस्तु तत्र तत्र निरोधार्थे निर्दिष्टः; यथा वातगुल्मनिदाने—"रूक्षान्नपानं विषमातिमात्रं विचेष्टितं

१ कफादन्नाभिनन्दनम्. २ शिरोरुक् गात्ररुक् शिरसः पृथगुपादानमित्यर्थं भवतीति ज्ञापनार्थम् अन्यथा गात्ररुगित्यनेनैव तत्प्राप्तेः इति सुश्रुतटीकायां

(च. चि. स्था. अ. ५) इति; तथाऽन्तर्वेगज्वरलक्षणे "दोषवर्चोविनिग्रहः ॥" (च. चि. स्था. अ. ३) इत्येवं पठितम्। एतेन, ज्वरमुक्तिलक्षणे क्षवस्य भावात्कथमेतल्लक्षणम् इति यत् शङ्कितं कार्तिककुण्डेन तदपि निरस्तम्। आध्मानं वायुना सवेदनमुदरपूर्णत्वम्। शिरोहृद्ग्रह इत्यत्र गात्रग्रहणेन शिरोहृद्ग्रहणे सिद्धे तदभिधानं विशेषेण शिरसि हृदि च वेदनार्थम्। एतानि रूपाणि प्रायोभावित्वेन निर्दिष्टानि सुश्रुतेन, तेन चकारेणान्यान्यपि चरकनिदानोक्तानि बोद्धव्यानि। तान्येव गद्येनोक्तानि सुखग्रहणार्थं श्लोकेन मया प्रदर्श्यन्ते—"भवन्ति विविधा वातवेदना पादसुप्तता। पिण्डिकोद्वेष्टनं कर्णस्वनो वक्त्रकषायता॥ ऊरुसादो हनुस्तम्भो विश्लेषः संधिजानुनोः। शुष्ककासो वमिर्लोमदन्तहर्षः श्रमभ्रमौ॥ अरुणं नेत्रमूत्रादि तृट्प्रलापोष्णकामिता॥" इति ॥८-९॥

ज्वर के लक्षण, सामान्य पूर्वरूप और विशेष पूर्वरूप निर्देश के अनन्तर कफ पि वातादि ज्वरों का निर्देश करना है। उनमें से किस का पूर्व निर्देश किया जाय और क किया जाय, इस पर आचार्य कहते हैं कि वात पित्त और कफ ये यथापूर्व अधिक अ दारुण विकार करने वाले होने से (यथापूर्व) प्रधान हैं; जैसे चरक ने कहा भी है वायु के ८०, पित्त के ४० और कफ के २० विकार होते हैं, एवं आक्षेपक पक्षाघातादि व के विकार दारुण होते हैं। इसलिये यथापूर्व अर्थात् सब से अधिक वायु की, तदनु पित्त की और पुनः कफ की प्रधानता होती है, और इसी कारण आचार्य पहले वातज्वर के लक्षण को कहते हैं। यही क्रम आगे आने वाले रोगों में भी जानना चाहिये। छींकों का आना, शरीर में स्तब्धता तथा रूक्षता होनी, यह व्याख्या की 'क्षवस्तम्भो गात्राणां रौक्ष्यमेव च' की जकड़ाहट गदाधर आदि ने की है। परन्तु यह व्याख्या अनवधानता से की गई है, ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि यहां तो छींकों का न आना इस प्रकार की एकवाक्यता (व्याख्या) युक्तियुक्त है। जैसे वाग्भट ने कहा भी है। रोम, अङ्ग और दांतों में हर्ष होना, शरीर में कँपकँपी होनी, छींकों का बन्द होना, भ्रम होना, प्रलाप करना, गर्मी की इच्छा करनी और बड़बड़ करना ये वातिक ज्वर के लक्षण हैं। यहां छींकों का बन्द होना ही कहा है। चरक में भी 'छींकों और डकारों का न आना' ही लिखा है। अतः क्षव की स्तब्धता (छींकों का बन्द हो जाना) ऐसी व्याख्या ही ठीक है। यदि कहो कि चरकोक्त 'क्षवथूद्गारविनिग्रह' में विनिग्रह शब्द का अर्थ 'विगतो निग्रहो यस्य' के अनुसार निग्रह रहित अर्थ होना चाहिये तो यह व्याख्या भी ठीक नहीं। कारण कि 'विनिग्रह' शब्द का 'विशेषेण निग्रहो यस्य' के अनुसार 'विशेषनिग्रह' यह अर्थ है। इसी लिये आचार्य ने विनिग्रह शब्द का अर्थ स्थान स्थान पर निरोध ही कहा है। जैसे वातिक गुल्म के निदान में 'वेगविनिग्रहश्च' के एवं अन्तर्वेग ज्वर के लक्षण 'दोषवर्चोविनिग्रह' में विनिग्रह शब्द को निरोधार्थक मान कर ही लिखा है। एवं यह सिद्ध होता है कि 'क्षवस्तम्भः' इस प्रकार की एकवाक्यता करनी ठीक है। इसी समाधान से ज्वर मुक्ति के लक्षण में छींकों के आने से यह वातिक ज्वर का लक्षण कैसे हो सकता है, यह कार्तिक कुण्ड की शंका भी दूर हो जाती है।

वक्तव्य—इसका भाव यह है कि ज्वर की मुक्ति के लक्षण 'क्षवथुश्चान्नलिप्सा' अर्थात् छींकों का आना और अन्न की इच्छा होनी ज्वर मुक्ति के लक्षण हैं। उसमें छींकों का माना है और वातिक ज्वर में भी यदि छींकों का आना मान लिया जाए तो छींक

१ पाठात्कथमत्र लक्षणत्वम्. २ कांक्षा च (सु. उ. तं. अ. ३९).

ा आना रूप वातिक ज्वर का लक्षण तथा ज्वर मुक्ति के लक्षण एक ही हो जाते हैं। दि उत्सर्ग और अपवाद से इस दोष के निरास की चेष्टा की जाए तो भी ठीक नहीं। ारण कि उत्सर्ग और अपवाद विधि में होते हैं, लक्षण में नहीं। प्रत्युत अव्याप्ति प्रतिव्याप्ति तो लक्षण के दोष हैं। एवं कार्त्तिक कुण्ड की इस शंका का निरास भी, वातिक ्वर में छींकों का न आना (क्षवस्तम्भः) इस एकवाक्यता से हो जाता है। क्योंकि इस प्रकार वातिक ज्वर में छींकों का निरोध और ज्वर मुक्ति में छींकों की प्रवृत्ति होने से लक्षण परस्पर अतिव्याप्त नहीं होते। 'शिरोहृद्गात्ररुक्' (मा. नि. ज्व.) इस पद में कहे ात्र शब्द से जब शिर और हृदय का ग्रहण हो जाता है तब पुनः उन शब्दों का प्रयोग शिर और हृदय की अधिक पीड़ा का बोधक है। ये रूप प्रायः होते हैं, सुश्रुत ने ऐसा निर्देश किया है। 'चकार' से चरक निदानोक्त और रूप भी ग्रहण होते हैं। वे गद्योक्त रूप आचार्य ने 'भवन्ति विविधे'त्यादि स्वनिर्मित पद्यों में दिखाए हैं ॥८,९॥

पित्तज्वरस्य स्वरूपं प्रतिपादयति—

वेगस्तीक्ष्णोऽतिसारश्च निद्राल्पत्वं तथा वमिः।
कण्ठौष्ठमुखनासानां पाकः स्वेदश्च जायते ॥१०॥ [सु० ६।३९]
प्रलापो वक्त्रकटुता मूर्च्छा दाहो मदस्तृषा।
पीतविण्मूत्रनेत्रत्वं पैत्तिके भ्रम एव च ॥११॥ [सु० ६।३९]

पैत्तिक ज्वर में ज्वर का वेग तीक्ष्ण होता है; अतिसार होने लगते हैं; नेद्रा कम हो जाती है; वमन आने लगते हैं; कण्ठ, ओष्ठ, मुख और नासिका क जाती है; पसीना आने लगता है; प्रलाप की प्रवृत्ति हो जाती है; मुख का ्वाद तिक्त हो जाता है; मूर्च्छा, दाह और मद होने लगता है; पिपासा अधिक लगती है; विष्ठा, मूत्र और नेत्र पीले हो जाते हैं; एवं भ्रम होने लगता है ॥१०-११॥

मधु०—पित्तज्वरलक्षणमाह—वेगस्तीक्ष्ण इत्यादि। अतिसारः पित्तस्य सरत्वेन सद्रवा प्रवृत्तिर्न त्वतिसार एव, तस्य ज्वरोपद्रवत्वात्। निद्राल्पत्वं स्वल्पनिद्रात्वम्। उक्तं हि सुश्रुते—"निद्रानाशोऽनिलात् पित्तात्॥" (सु. शा. स्था. अ. ४) इत्यादि। वमिः पित्तस्य कफस्थानगतत्वात्। स्वेदो घर्मागमनम्, प्रायेण सामदोषेण स्रोतसां निरोधात्सर्वज्वरेषु घर्मनिरोधः, अत्र तु पित्तस्य तैक्ष्ण्याज्ज्वरप्रभावाद्वा स न भवतीति। प्रलापोऽसंबद्धभाषणम्। वक्त्रकटुता मुखतिक्तत्वम्, चरके हि पैत्तिकनानात्मजचत्वारिंशद्विकारेषु तिक्तास्यतायाः पाठादनुभवाच्च। कार्त्तिकस्त्वरोचके "कट्वम्लमुष्णं विरसं च पूति पित्तेन विद्याल्लवणं च वक्त्रम्॥" इति वचनं दृष्टान्तमुपन्यस्य[1] कटुमुखत्वमपीच्छति। तन्न, तत्रापि सन्देहात्। यदुक्तम्—"कटु स्यात्कटुतिक्तयोः" इति। तस्मात् "योऽम्लं भृशोष्णं कटुतिक्तवक्त्रः पीतं सरक्तं हरितं वमेद्वा। सदाहचोषज्वरवक्त्रशोषं सा पित्तकोपप्रभवा हि छर्दिः॥" (सु. उ. तं. ४९) इति सुश्रुतवचनात्कटुमुखत्वमप्येष्टव्यमिति। मूर्च्छेति मूर्च्छा रूपाद्यविज्ञानं, तमःप्रवेशो विस्मृतिरित्याहुः। मदो मत्तत्वमिव, यथा—पूगकोद्रवधुत्तूरभक्षणादौ। भ्रम इति भ्रमश्चक्रस्थितस्येव भ्रमद्वस्तुदर्शनमित्याहुः; अन्ये तु स्वदेहभ्रमणज्ञानम्। ननु, भ्रमस्याशीतिवातविकारपठितस्य वातनानात्मजत्वात्कथं पित्तविकारे

१ पठित्वा तदुपन्यस्य.

पाठः ? उच्यते—"न रोगोऽप्येकदोषजः ॥" इति वचनात्पैत्तिकेऽपि वातानुबन्धाद्भ्रम इति जे
समाधानमुक्तवान् । अथवा दोषदूष्यसंमूर्च्छनप्रभावात्कारणादृष्टस्यापि रूपस्य कार्ये उपलम्भ
यथा—अरूपवातारब्धातिसारादाविवारुणत्वं, हरिद्राचूर्णसंयोग इव लौहित्यम् । यत्तूक्तं सुश्रुते
"रजःपित्तानिलाद्भ्रमः ।" (सु. शा. स्था. अ. ४) इति, तत्रापि वातानुगतपित्तजत्वे
बोद्धव्यम्, अन्यथा भ्रमस्य वातिकनानात्मजत्वमेव न स्यादिति । अपरे तु पित्तदूषितनेत्रके
विपर्यस्तज्ञानं भ्रमः, पीतः शङ्ख इत्यादिवत् । चकारः पूर्ववदनुक्तसमुच्चयार्थः । तद्यथा–तीव्रोष्ण
रक्तकोठता शीतेच्छताऽरुचिरिति ॥१०–११॥

पित्त के सर होने से वह द्रव रूप में आने लगता है । इसी को अतिसार क
हैं । वस्तुतः अतिसार नहीं होता, क्योंकि वह तो ज्वर का उपद्रव[1] है । अतः लक्षण
नहीं आ सकता । प्रायः सामदोष से स्रोतों के रुक जाने से सब ज्वरों में पसीना न
आता परन्तु यहां तो पित्त की तीक्ष्णता के कारण वा ज्वर के प्रभाव से वैसा नहीं होता
वक्त्रकटुता का अर्थ मुख का तिक्तपन है । चरक में पैत्तिक नानात्मज ४० विकारों
'तिक्तास्यता' का पाठ होने से तथा अनुभवसिद्ध होने से वही अर्थ ठीक है । कार्ति
तो अरोचक में कटु, अम्ल, उष्ण, नीरस, दुर्गन्धित एवं अम्ल मुख होता है, इसको
रूप में रखकर कटुमुखता भी स्वीकार करता है परन्तु यह ठीक नहीं । क्योंकि यहां
सन्देह है । कारण कि 'कटु शब्द कटु और तिक्त दोनों में आता है । इसलिये कटु
तिक्त मुख वाला जो मनुष्य अम्ल, उष्ण, पीत, सरक्त वा हरित वमन करे और जि
दाह, चोष, ज्वर और मुख शोष हो वह छर्दि पित्तजन्य होती है' सुश्रुत के इस वचन
अनुसार मुख का कड़वापन भी जानना चाहिये । क्योंकि इसमें कटु और तिक्त दो
शब्दों का पाठ है । यदि कटु शब्द का अर्थ तिक्त लेकर पैत्तिक विकारों में सर्वत्र तिक्त मु
लिया जावे तो यहां दोनों शब्दों का एकत्र प्रयोग पुनरुक्ति दोष कहाता है । (प्रश्न—) भ्र
को चरक ने ८० वातिक नानात्मज विकारों में पढ़ा है । एवं जब कि यह वात का नाना
त्मज रूप है, तो इसका पाठ पित्त के विकारों में क्यों किया ? (उत्तर—) रोग एक दोष
ही उत्पन्न नहीं होता । इस वचन के अनुसार पैत्तिक में भी वात का अनुबन्ध होने से भ्रम
होता है, यह जेज्जट ने समाधान किया है । अथवा दोष और दूष्यों की सम्मूर्च्छनात्मक
के प्रभाव से अदृष्ट कारण से भी किसी २ रूप की प्राप्ति कार्य में हो जाती है, जैसे कि वायु
के रूप रहित होने पर भी वातिक अतिसार में अरुणवर्णता, हरिद्रा और चूर्ण के संयोग
से होने वाले रक्त वर्ण की तरह (विकृति विषम समवाय से) होती है । जो सुश्रुत में
रजोगुण, पित्त और वायु से भ्रम का होना कहा है, इसमें भी वातानुगत पित्त से
ही उत्पत्ति जाननी चाहिये । अन्यथा भ्रम वात का नानात्मज रूप नहीं रहेगा । इस
मेरा विचार यह है कि भ्रम वस्तुतः वायु का ही नानात्मज विकार है । अत्र जो यह ग्रंथ
होती है कि यह पित्त का भी विकार है, उसमें अभिसन्धान यह है कि छः रस दो प्रका
के होते हैं, जिनमें से कटु, तिक्त और कषाय रूक्ष; तथा मधुर, अम्ल और लवण स्निग्ध
होते हैं[2] । इनमें से पहले तीन वायु[3] को और दूसरे तीन कफ[4] को बढ़ाते हैं, परन्तु

१ कासो मूर्च्छाऽरुचिश्छर्दिस्तृष्णातीसारविड्ग्रहाः । हिक्काश्वासाङ्गभेदाश्च ज्वरस्योपद्रवा दश ॥
२ मधुरो लवणामौ च स्निग्धभावात् त्रयो रसाः इत्यादि, तथा कटुतिक्तकषायास्तु रूक्षभावात्
रसाः (च. सू. अ. २६) इत्यादि चरकवचनात्स्पष्टीभवति. ३ वचनञ्च चरकस्य यथा तत्र
त्रयो रसा जनयन्ति (त्रयश्चोपशामयन्ति), तद्यथा—कटुतिक्तकषाया वातं जनयन्ति, ... इत्यादि.
...णाः श्लेष्माणं जनयन्ति इत्यादि.

पित्त को कुछ स्निग्ध और कुछ रूक्ष दोनों ही प्रकार के रस बढ़ाते हैं, जैसे अम्ल और लवण स्निग्ध; तथा कटु रूक्ष, ये दोनों ही प्रकार के तीन रस पित्तवर्धक हैं। एवं जब कटुरस के सेवन से पित्त बढ़ेगा तो उसका (पित्त का) स्नेहांश कम हो जाएगा और रूक्षांश बढ़ जावेगा। इस प्रकार पित्त में स्नेहांश का कम होना और रूक्षांश का बढ़ना दोनों ही भाव वायुवर्धक हैं। कारण कि जब शरीर में किसी वस्तु की उसके स्रोतों में कमी होती है, तो उससे वायु बढ़कर उसके स्थान को ले लेता है, इस प्रकार से; तथा जब कटुरस[1] से पित्त बढ़ेगा तो उसी रस से वायु भी बढ़ेगा, इस प्रकार से पित्त वायु को प्रकुपित करता है और जब वायु पित्त से प्रकुपित हो जाता है, तब वह भ्रम नामक विकार को करता है। एवं भ्रम वात का ही नानात्मज रूप है। 'रजः पित्तानिलाद्भ्रमः' में जो भ्रमोत्पत्ति में कारण रूप से पित्त का निर्देश किया है, वह भी उपचार[2] से ही है, वस्तुतः भाव उपर्युक्त ही है। यदि यह कहा जाए कि जहां कटुरस के सेवन के विना भी पित्त बढ़कर भ्रम को उत्पन्न कर देता है, वहां यह समाधान कैसे होवेगा तो उसका उत्तर यह है कि वहां भी कटु रस ही जब पित्त बढ़ाएगा तो उससे वात के दूषित होने पर भ्रम उत्पन्न होगा। यदि कहें कि कटुरस तो सेवन नहीं किया पुनः उससे पित्त कैसे बढ़ा ? इसका उत्तर है कि द्रव्य अनेक रस वाले होते हैं। जैसे वाग्भट ने कहा भी है कि—'तस्मान्नैकरसं द्रव्यं भूतसङ्घात् संभवात्' (वा. सू. स्था. अ. ९) एवं किसी ऐसे द्रव्य के उपयोग से जिसमें कि कटु अप्रधान हो तो उससे भी पित्त बढ़कर उपर्युक्तानुसार भ्रम नामक विकार करता है, तथा कई द्रव्य भी ऐसे हैं, जो वीर्य विपाक और प्रभाव से भ्रमाख्य रोग को उत्पन्न करते हैं। अतः यह आवश्यक नहीं कि द्रव्य रस से विकार को उत्पन्न करें, प्रत्युत वह तो 'किञ्चिद्रसेन कुरुते कर्म वीर्येण चापरम्। द्रव्यं गुणेन पाकेन प्रभावेण च किञ्चन ॥' (च. सू. स्था. अ. २६) उक्त शास्त्र के अनुसार वीर्यादिकों से भी विकार उत्पन्न करते हैं परन्तु ऐसे द्रव्य स्वल्प हैं। अतः यह सिद्ध होता है कि पित्त वायु को प्रकुपित करके ही भ्रम विकार को उत्पन्न करता है। इस प्रकार भ्रम उपचार[2] से पित्तजन्य भी सिद्ध हो जाता है और वात का नानात्मज भी रह जाता है। अब यदि यह शंका हो कि जब इसमें पित्त भी (परम्परा से) कारण है, तो इसे वायु का नानात्मज रोग क्यों माना ? पित्त का क्यों नहीं मान लिया ? इसका उत्तर यह है कि भ्रम कटु और तिक्त दोनों रसों से होता है, जैसे चरक ने कहा भी है कि—'कटुको रसो......भ्रमयति' तथा—'तिक्तो रसो......भ्रमयति' (च. सू. स्था. अ. २६)। एवं ये दोनों रस वातप्रकोपक वा वर्धक हैं; परन्तु पित्त को दोनों नहीं बढ़ा सकते। क्योंकि 'मधुरतिक्तकषायास्त्वेनं शमयन्ति' (च. वि. स्था. अ. १) के अनुसार तिक्त रस तो पित्तशामक है। इस तरह जब पित्तशामक तिक्त रस से भी भ्रम हो जाता है तो वह पित्त का नानात्मज कैसे हो सकता है। हाँ, वायु के विना भ्रम विकार उत्पन्न नहीं हो सकता। क्योंकि यदि तिक्त रस युक्त द्रव्य के उपयोग से होगा तब भी वायु के वढ़ने से होगा और यदि कटु रस युक्त द्रव्य के उपयोग से होगा तब भी वायु के वढ़ने से ही होगा। अतः यह वायु का ही नानात्मज रोग है। कारण

---

१ 'वाय्वग्निभूयिष्ठत्वात्कटुकः' (च. सू. स्था. अ. २६) इति शास्त्रानुसारेण कटुको वातपित्तवर्धकः. २ सादृश्याख्यसंबन्धेन प्रतीतिरुपचारः, सादृश्यञ्चात्रास्ति पित्तस्य वायुना सह लघुसूक्ष्मरूक्षविशदैर्भावैः; एषामुभयत्र सत्त्वात्। प्रमाणञ्चात्र चरकसूत्रस्थानीय २६ अध्यायाद्द्रष्टव्यम्। किञ्च कटुर द्रव्येणोभयोर्वृद्धिरित्यपि सादृश्यम्। अपिच रजोगुणस्योभयत्र सत्त्वादित्यपि सादृश्यम्। परं व रजोगुणो वर्तते, पित्ते तु न तथा.

कि विना उसके हो ही नहीं सकता। इस प्रकार इस विषय का अति संक्षिप्त समाधान है। अधिक विचार ग्रन्थ के कलेवर वृद्धि के भय से नहीं किया जाता। (प्रश्न—) 'रजः पित्त' इत्यादि में रजोगुण से भी भ्रम हो जाता है, तो पुनः भ्रमविकार यह वा का नानात्मज कैसे है? इसका उत्तर यही है कि वायु 'रजोबहुलो वायुः' (सु. शा. अ. १) के अनुसार रजोगुण वाला ही है। अतः 'गुणा गुणाश्रया नोक्ताः' (च. सू. स्था. अ. के अनुसार रोग रूप गुण वायु के रजोगुण से नहीं हो सकता। इस कारण भ्रम रजो के द्रव्य वायु का ही रोग है। किञ्च रजोगुण मानसिक दोष है और वायु शारीरिक, नानात्मज विकार शारीरिक दोषों को लक्षित कर कहे हैं। अतः यदि रजोगुण से भी भ्र विकार हो जाए तो कोई दोष नहीं। इसी प्रकार अन्य नानात्मज विकारों में भी स समाधान हो जाता है।

श्लेष्मज्वरस्य लक्षणं लक्षयति—

स्तैमित्यं स्तिमितो वेग आलस्यं मधुरास्यता।
शुक्लमूत्रपुरीषत्वं स्तम्भस्तृप्तिरथापि च ॥१२॥
(नात्युष्णगात्रता छर्दिरङ्गसादोऽविपाकिता।)
गौरवं शीतमुत्क्लेदो रोमहर्षोऽतिनिद्रता।
(स्रोतोरोधो रुगल्पत्वं प्रसेको लवणास्यता।
नात्युष्णगात्रता छर्दिर्लालास्रावोऽविपाकता॥)
प्रतिश्यायोऽरुचिः कासः कफजेऽक्ष्णोश्च शुक्लता ॥१३॥ [सु० उ० ३९]

श्लैष्मिक ज्वर में अंग गीले वस्त्र से ढके हुए की तरह स्तिमित (प्रतीत) होते हैं, ज्वर का वेग मध्य होता है, कार्य करने को चित्त नहीं चाहता, मुख मीठा हो जाता है, मूत्र और पुरीष का वर्ण श्वेत हो जाता है, अंगों में स्तब्धता हो जाती है, अन्न की अभिलाषा नहीं रहती (शरीर अत्युष्ण नहीं होता, छर्दि आने लगती है, अङ्गों में पीड़ा होती है, भोजन नहीं पचता), शरीर में गुरुता प्रतीत होती है, शीत लगने लगता है, उत्क्लेश और रोमहर्ष होता है, नींद अधिक आती है (स्रोत रुक जाते हैं, पीड़ा कम होती है, मुख से पानी चलता है और मुख का स्वाद नमकीन हो जाता है, शरीर अत्युष्ण नहीं होता, वमन आने लगते हैं, मुँह से राल गिरती हैं, भोजन नहीं पचता), प्रतिश्याय हो जाता है, किसी वस्तु को खाने की इच्छा नहीं होती, खाँसी हो जाती है, तथा आँखों में श्वेतता आ जाता है (उपर्युक्त लक्षण में बहुत सा पाठ सब ग्रन्थों में न मिलने के कारण तथा पुनरुक्त होने के कारण संदिग्ध प्रतीत होता है। अतः उसे कोष्ठों में बांध दिया है। आगे भी यही क्रम होगा) ॥१२-१३॥

मधु०—कफज्वरलक्षणमाह—स्तैमित्यमित्यादि। स्तैमित्यमङ्गानामार्द्रपटावगुण्ठितत्वमिव। स्तिमितो वेगो मन्दो वेगः। आलस्यमिति "समर्थस्याप्यनुत्साहः कर्मस्वालस्यमुच्यते" (.स्था. अ. ४) इत्यालस्यलक्षणमाहुः। स्तम्भोऽङ्गस्तब्धता। तृप्तिस्तृप्तस्येवान्नानभिलाषः। ...पस्थितवमनत्वं। अरुचिरत्र सत्यप्यभिलाषे अभ्यवहारासामर्थ्यमिति भेदः।

कारः पूर्ववत् । तेन "तथाऽङ्गे पिडकाः शीताः प्रसेकश्छर्दितन्द्रिके । हृदुपलेप उष्णाभिलापिता वह्निमार्दवम् ॥" इति ॥१२-१३॥

कफ ज्वर के लक्षण कहते हैं—'स्तैमित्य' आदि । यहां स्तैमित्य शब्द का अर्थ गीले कपड़े से ढके हुए अंग का प्रतीत होना है । स्तिमित वेग से ज्वर के मन्द वेग का ग्रहण होता है । कार्य करने की शक्ति रखने वाला भी मनुष्य जब उसमें उत्साह नहीं करता तो उसे आलसी कहते हैं, और उसके अनुत्साह को आलस्य कहा जाता है । शरीर में स्तब्धता (जकड़ाहट), भोजन से तृप्त हुए की भाँति भोजन की इच्छा न होना, गले तक वमन के आने की प्रतीति होना, भोजन की इच्छा होते हुए भी भोजन करने में सामर्थ्य न होना, आदि हैं । 'चकार' से पहले के समान अन्य लक्षण—शरीर में ठंडी पिडकाओं का होना, मुंह से पानी आना, वमन, तन्द्रा, छाती का भरा सा होना, उष्ण पदार्थ में इच्छा होनी, अग्निमान्द्य, आदि भी जानने चाहिये ।

वातपित्तज्वरस्य स्वरूपं व्यञ्जयति—

तृष्णा मूर्च्छा भ्रमो दाहः स्वप्ननाशः शिरोरुजा ।
कण्ठास्यशोषो वमथू रोमहर्षोऽरुचिस्तमः ॥१४॥
पर्वभेदश्च जृम्भा च वातपित्तज्वराकृतिः ।

प्यास लगनी, मूर्च्छा, भ्रम और दाह होना, नींद न आनी, सिर में पीड़ा होनी, गले और मुख का सूखना, वमन आना, रोमहर्ष, अरुचि तथा आँखों के आगे अँधेरा आना, अङ्गों के जोड़ों का टूटना, और जम्भाइयों का आना वातपित्त ज्वर के लक्षण हैं ॥१४॥

मधु०—वातपित्तज्वरलक्षणमाह—तृष्णेत्यादि । पर्वाणि भिद्यन्त इव वेदना पर्वभेदः । एतानि च लिङ्गानि विकृतिविषमसमवायारब्धस्य बोद्धव्यानि । विकृतिविषमसमवायारब्धत्वं चैषां केवलवातिकपैत्तिकज्वरलक्षणानां मध्ये केषांचिदेव नियमेन पाठात्तदतिरिक्तलक्षणपाठाच्च बोद्धव्यम् । यथा—अत्रैव वातपैत्तिकेऽरुचिरोमहर्षौ, वक्ष्यमाणवातश्लैष्मिके स्वेदः संतापश्च, एवं कफपित्तजे अनवस्थितशीतदाहौ, एवं सन्निपातजे सास्रकलुषादिनेत्रत्वशिरोलोठनादि । प्रकृतिसमसमवायारब्धे तु वातजादिज्वरलिङ्गान्येव समस्तानि कतिपयानि वा भवन्ति । अत एव चिकित्सिते चरको विकृतिविषमसमवायारब्धानां द्वन्द्वसन्निपातज्वराणां लक्षणानि साक्षात्पठित्वा निदानस्थानोक्तवातादिज्वरलिङ्गातिदेशेन प्रकृतिसमसमवेतानां द्वन्द्वसन्निपातज्वराणां लक्षणमुक्तवान् । यदाह—"निदाने त्रिविधा प्रोक्ता या पृथग्जज्वराकृतिः । संसर्गसन्निपातानां तथा चोक्तं स्वलक्षणम् ॥" इति । (च. चि. स्था. अ. ३) । एवं वक्ष्यमाणं द्वन्द्वसन्निपातलक्षणं व्याख्येयम् । प्रकृतिसमसमवायविकृतिविषमसमवाययोश्चायमर्थः—प्रकृत्या हेतुभूतया समः कारणानुरूपः समवायः कार्यकारणभावसंबन्धः प्रकृतिसमसमवायः, कारणानुरूपं कार्यमित्यर्थः । यथा—शुक्लतन्तुसमवायारब्धस्य पटस्य शुक्लत्वम् । विकृत्या हेतुभूतया विषमः कारणाननुरूपः समवायो विकृतिविषमसमवायः, यथा—हरिद्राचूर्णसंयोगे लौहित्यमिति ॥१४॥

यह लिङ्ग विकृतिविषमसमवाय से होते हैं । इनका विकृतिविषमसमवाय से होना केवल वातिक पैत्तिक ज्वरों के लक्षणों में से किन्हीं के नियमपूर्वक पाठ होने तथा उससे भिन्न

पाठ होने से जानना चाहिए। इसका भाव यह है कि इनका विकृतिविषमसमवाय से हो० इस प्रकार जाना जाता है, जब वायु और पित्त के लिङ्ग कह दिए तो पुनः जब द्वन्द्वज० कहने लगे तो उनमें भी वायु और पित्त के ही लक्षण आएंगे। अतः उनके कहने की प्रथ० तो कोई आवश्यकता ही नहीं। कारण कि जब एक २ के लक्षण मालूम हैं, तो उन्हीं में से किन्हीं दोनों के किन्हीं एक रूपों को देखकर द्वन्द्वज का ज्ञान हो जाएगा। और यदि कहे भी जाएं तो उनमें जो लक्षण न वात के और न ही पित्त के प्रतीत हों तो वे लक्षण विकृतिविषमसमवाय से हुए जानने चाहियें। इसी बात को रक्षित ने कहा है कि केवल वातिक पैत्तिक लक्षणों में किन्हीं का नियम से पाठ किया है। फिर जब द्वन्द्वज निर्देश में उनसे अतिरिक्त जो लिङ्ग निर्दिष्ट किए हैं, वे विकृतिविषमसमवाय से जानने चाहिए। उदाहरण रूप में जैसे यहीं पर अरुचि और रोमहर्ष, ये दोनों न तो वातिक लक्षणों में आते हैं और नहीं पैत्तिक लक्षणों में आते हैं परन्तु वातपित्त के द्वन्द्वज में आते हैं, अत ये विकृतिविषमसमवायारब्ध हैं। एवं वक्ष्यमाण वातकफ ज्वर में स्वेद और सन्ताप वक्ष्यमाण पित्तकफ ज्वर में अनवस्थितशीतता और दाह तथा वक्ष्यमाण सान्निपातिक सास्रावनेत्रता, कलुषितनेत्रता तथा शिरोलोठनादि होते हैं। प्रकृतिसमसमवायारब्ध तो वातज आदि पृथक् २ ज्वरों के समस्त लिङ्ग वा कुछ एक लिङ्ग होते हैं। इसी लिये चिकित्सा स्थान में चरक ने विकृतिविषमसमवाय से होने वाले द्वन्द्वज और सन्निपात के लक्षण को साक्षात् पढ़कर निदानस्थान में पढ़े वातादि से उत्पन्न होने वाले लक्षणों के निर्देश से ही प्रकृतिसमसमवेत द्वन्द्वज और सन्निपात के लक्षण कहे हैं। जैसे—'निदानस्था में जो तीन प्रकार के ज्वर की आकृति बताई है, उन्हीं के लक्षणों के मेल से द्वन्द्वज और सन्निपात को जानना चाहिए'। इसी प्रकार वक्ष्यमाण द्वन्द्वज और सन्निपात की व्याख्या करनी चाहिए। प्रकृतिसमसमवाय और विकृतिविषमसमवाय इनका यह अर्थ है हेतुरूप प्रकृति के समान कार्य कारण भाव सम्बन्ध होना प्रकृतिसमसमवाय है। अर्थ कार्य के अनुरूप कार्य का होना प्रकृतिसमसमवाय है। यथा—शुक्ल तन्तुओं के सम० से आरब्ध वस्त्र का शुक्लपन। इसका भाव यह है कि कारण पहले तीन प्रकार का है... है—१ समवायि, २ असमवायि और ३ निमित्त। पुनः असमवायि कारण भी दो प्रकार का होता है। जैसे पट के प्रति तन्तुसंयोग एक और पटरूप के प्रति तन्तुओं का रूप दूसरा। एवं घट के प्रति कपालमालासंयोग एक और घट के रूप के प्रति कपालमाला का रूप दूसरा। इसी दूसरे असमवायि कारण को लेकर ही आचार्य 'समवायिकारणगुणाः कार्ये गुणमारभन्ते' वा 'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः' ऐसा कहते हैं। एवं जहां रोग में उस रोग के उपादान कारण रूप द्रव्य के, गुणरूप असमवायि कारण कार्यरूप व्याधि में आ जावें वहां, प्रकृतिसमसमवाय होता है। अब यहां यह शंका होती है कि व्याधियों में तो दोषों से गुण आते हैं न कि द्रव्यों के गुणों से और नहीं सम्प्राप्ति से तो पुनः उनसे अनुरूप गुणों का आना कैसे बन सकता है? इसका उत्तर यह है कि असमवायि कारण (समवायि कारण के गुणों) से कार्य में गुण आते हैं, निमित्त से नहीं और दोष व्याधि के निमित्त कारण हैं। एवं यदि दोषों से व्याधि में गुण आवें तो दोष निमित्त कारण नहीं रह सकते। इससे यह सिद्ध होता है कि वातिकादि ज्वरों में जो लक्षण होते हैं, वे वस्तुतः वातादि के नहीं होते प्रत्युत वे द्रव्यों[१] के होते हैं। कारण कि द्रव्य ही व्याधि के प्रति समवायि कारण ... द्रव्यों के गुण व्याधि के गुणों के प्रति असमवायि कारण हैं। इस प्रकार व्याधि के

१ द्रव्य शब्द से मिथ्याहारादि लेने चाहिये.

गुणों का अपने कारण के अनुरूप होना प्रकृतिसमसमवाय है। जैसे घटादि में दो असमवायि कारण हैं, उसी प्रकार व्याधि में भी दो असमवायि कारण हैं—एक सम्प्राप्तिरूप और दूसरा व्याधि के गुणों के प्रति द्रव्यों के गुण। अब पुनः यह शंका होती है कि वायु के गुण ही व्याधि में आते हैं, जैसे—शीत रूक्ष आदि वायु के गुण हैं, और ये व्याधियों में आते हैं जो कि प्रत्यक्ष में व्याधियों में उपलब्ध होते हैं। जब ऐसा है तो यह कहना कि द्रव्य के गुण व्याधि में आते हैं, सिद्ध नहीं होता। इसका उत्तर यह है कि वस्तुतः वायु का गुण स्पर्श[1] है, शेष गुण अन्य द्रव्यों के ही उसमें आते हैं। क्योंकि गुण द्रव्यों के ही होते हैं, वहीं से गुण व्याधि में जाते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि दोषों (निमित्त कारण) के गुण व्याधि (कार्य) में नहीं जाते प्रत्युत द्रव्यों के गुण (समवायिकारण के गुण) व्याधि (कार्य) में जाते हैं। यदि यह कहें कि—'रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः' (च. सू. स्था. अ. १) ये वायु के गुण हैं, जो कि व्याधि में जाते हैं, तो यह कथन भी युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि—'गुरुमन्दहिमस्निग्धश्लक्ष्णसान्द्रमृदुस्थिराः। गुणाः ससूक्ष्मविशदा विंशतिः सविपर्ययाः॥' (वा. सू. स्था. अ. १) इस शास्त्र के अनुसार ये द्रव्यों के गुण हैं, और इन्हीं से वातादि में जाते हैं, और उन्हीं से व्याधि में जाते हैं। एवं द्रव्यों के गुण व्याधि में जाते हैं न कि वातादि के। किञ्च यदि—'रौक्ष्यं लाघवं वैशद्यं शैत्यं गतिरमूर्तत्वं चेति वायोरात्मरूपाणि भवन्ति' (च. सू. स्था. अ. २०) के अनुसार ये वायु के सहज गुण हैं; द्रव्यों से नहीं आते; प्रत्युत द्रव्यों में ही इन्हीं वायु प्रभृति पञ्च महाभूतों के गुण होते हैं। क्योंकि 'सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकम्' के अनुसार सब द्रव्य महाभूतों से ही बनते हैं, कहकर यह सिद्ध किया जावे कि व्याधि में भी वायु आदि के ही गुण जाते हैं। इसका उत्तर यह है कि जब वायु आदि दोषों (निमित्त कारण) के ही गुण व्याधि (कार्य) में जाते हैं, तो पुनः दोष

---

१ यथोक्तं चरके—'महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा। शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः'॥ (च. शा. स्था. अ. १) यद्यपि वायु भी द्रव्य है अतः इसमें भी गुण सम्भव हैं, परन्तु हमने यहां वायु शब्द से वात दोष लेना है। यद्यपि गणनाथसेन ने अपने सिद्धान्त निदान में वायु को एक, और शेष दोषों को स्थूल सूक्ष्म भेद से दो प्रकार का माना है, साथ ही पित्त और कफ में तो तेज और जल के अतिरिक्त द्रव्य भी हैं और वायु शुद्ध है। कई आचार्यों ने ऐसा भी माना है, परन्तु इस प्रकार मानने से यह सन्देह रह जाता है कि हमारा (आयुर्वेदसम्मत) वात दोष पञ्चमहाभूतों वाला; वा नव द्रव्यों वाला अर्थात् जो उनमें आया है, वही है, अथवा उनसे भिन्न वा कुछ भिन्न है? यदि वही है तो सृष्टि रूप कार्य के प्रति आकाशादि समवायि कारण, ईश्वर निमित्त कारण [नैयायिकानां मते, वेदान्तिनस्तु ईश्वरं (ब्रह्म) उपादानकारणत्वेनाम्नन्ति] और समवायिकारण का तथाविध संयोग असमवायि कारण है। इस प्रकार यहाँ वायु समवायि कारण है। अतः 'समवायिकारणगुणाः कार्ये गुणमारभन्ते' के अनुसार सृष्टि में वायु के गुण गुण उपजाते हैं। अतएव (सृष्टि में) वातिक द्रव्यों में वातिक गुण आ जाते हैं; परन्तु व्याधि रूप कार्य के प्रति वायु आदि को निमित्त कारण (आचार्यों ने) माना है, समवायि कारण नहीं। (यदि यह वायु दोष वही वायु है) तो इसे यहां भी समवायिकारण कहना चाहिये था, जिससे रोगों में इनके गुण जाने से दोष न आता। पर यहां हैं ये निमित्तकारण एवं इनके गुण रोगों में नहीं जा सकते, इस प्रकार यह वायु है भी वही और इसके रोगों में गुण भी नहीं जाते, यह बन नहीं सकता। क्योंकि उसी वायु के गुण ही सर्वत्र (द्रव्यों में भी और व्याधि में भी) जाते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि वायु दोष भी उस वायु से भिन्न ... परन्तु इसका खण्डन भी युक्तियों द्वारा हो जाता है। अतः कौन सा पक्ष ठीक है ... के निर्णय पर ही निर्भर है।

निमित्त कारण नहीं बन सकते, तो इस पर इतना ही कहना पर्याप्त है कि ठीक है, वायु आदि से ही द्रव्यों में उक्त गुण जाते होंगे, परन्तु वे गुण वायु आदि में भी तो सर्वदा रहते होंगे। यदि रहते हैं और उन्हीं से व्याधियों में जाते हैं तो वायु आदि के सर्वदा शरीर में रहने के कारण व्याधियां तथा उन (व्याधियों) में उनके गुण भी सर्वदा (शरीर में) रहने चाहिये! यदि वे गुण सर्वदा वायु आदि में नहीं रहते तो वे गुण ही वायु आदि के नहीं हो सकते। क्योंकि गुण और गुणियों का परस्पर नित्य सम्बन्ध (समवाय सम्बन्ध) होता है। यदि यह कहा जाए कि वे गुण भी वायु आदि में सर्वदा रहते हैं और वायु आदि भी शरीर में सर्वदा रहते हैं परन्तु 'विकृताविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्धयन्ति च' (वा. सू. स्था. अ. १) के अनुसार वे विकृत हुए ही रोग को तथा रोग में आत्मरूपों को प्रकट करते हैं, तो यह प्रश्न उठता है कि विकृत दोष ही रोग को क्यों उत्पन्न करते हैं अविकृत क्यों नहीं करते? तो कहना पड़ेगा कि अविकृत दोषों में यह शक्ति ही नहीं कि वे रोग को उत्पन्न न कर सकें। यदि ऐसा ही है तो वह (उत्पादक) शक्ति कहाँ से आती है? इस पर यही कहना पड़ता है कि मिथ्या आहार विहारादि द्रव्यों से। अब यह प्रश्न उठता है कि मिथ्या आहारादि से वह शक्ति किस रूप से आती है तो इसका उत्तर यह है कि गुरु मन्दादि २० गुणों के रूप में वायु आदि दोषों में आती हैं जिससे वह वायु आदि दोष रोग उत्पन्न करते हैं। इसका भाव दूसरे शब्दों में यह हुआ कि वायु आदि दोष (निमित्त कारण) मिथ्या आहारादि द्रव्य (समवायि कारण) को लेकर ही रोग उत्पन्न करते हैं, अर्थात् वायु आदि दोष मिथ्या आहारादि रूप द्रव्यों से रूक्ष शीत खर उष्ण आदि गुणों को लेकर रोग में वा शरीर[1] में उत्पन्न करते हैं। एवं स्पष्ट यह सिद्ध हो गया कि व्याधि में वायु आदि के गुण नहीं प्रत्युत द्रव्यों के गुण आते हैं। जब ऐसा है तो दोष निमित्त कारण, द्रव्य वा मिथ्या आहारादि समवायि कारण और सम्प्राप्ति (संयोग) असमवायि कारण है। एवं द्रव्यों के रूप (गुण) व्याधि के रूपों के प्रति भी असमवायि कारण है। इस प्रकार व्याधि रूप कार्य के प्रति द्रव्य समवायि, सम्प्राप्ति तथा व्याधि के रूप के लिये द्रव्यों के रूप (गुण) असमवायि और दोष निमित्त कारण सिद्ध होते हैं। अब उपर्युक्त प्रकृतिसमसमवाय भली प्रकार स्पष्ट हो गया कि कारण के अनुरूप कार्य का होना वा कार्य में समवायि कारण के गुण रूप असमवायि कारण का ठीक आना प्रकृतिसमसमवाय है। विकृतिविषमसमवाय वह है जो हेतुभूत विकृति से विषम कार्य हो। जैसे हरिद्रा और चूना रूप कारण विकृत है, और उससे होने वाला कार्य लालिमा उससे विषम है।

वातकफज्वरस्य संस्थानमवतारयति—

स्तैमित्यं पर्वणां भेदो निद्रा गौरवमेव च ॥१५॥
शिरोग्रहः प्रतिश्यायः कासः स्वेदाप्रवर्तनम्।
संतापो मध्यवेगश्च वातश्लेष्मज्वराकृतिः ॥१६॥

अङ्गों का गीले वस्त्र से ढके हुए की तरह होना, पर्वों (जोड़ों) में भेद, नींद का आना, गौरव होना, सिर में जकड़ाहट, प्रतिश्याय और कास होनी, अकारण

१ शरीर में इसलिये कहा है, चूंकि व्याधि के रूपों का समूह ही व्याधि है वा अरुचि आदि व्याधि है, और व्याधि के अरुच्यादि रूपों (गुणों) के प्रति द्रव्यों के गुण ही कारण हैं गुण व्याधि के गुणों के प्रति असमवायि कारण सिद्ध होते हैं।

वेद का सम्पूर्ण शरीर में आना, सन्ताप होना और ज्वर का वेग मध्यम होना ातश्लेष्म ज्वर का रूप है ॥१५,१६॥

मधु०—वातश्लेष्मज्वरलक्षणमाह—स्तैमित्यमित्यादि । स्वेदाप्रवर्तनं स्वेदस्य आ मन्तादकारणेन प्रवृत्तिः, विकृतिविषमसमवायारब्धत्वादिति कार्तिकः । युक्तं चैतत् । यदाह रीतः—"शिरोग्रहः स्वेदभवश्च कासो ज्वरस्य लिङ्गं कफवातजस्य ॥" इति । स्वेदभवः वेदोत्पत्तिः । मध्यवेगो नातितीक्ष्णो नातिमृदुरिति ॥१५, १६॥

स्वेदाप्रवर्तन का अर्थ कारण के विना ही सारे शरीर से स्वेद का आना है । यह क्षण विकृतिविषमसमवाय से है । कारण कि स्वेद न तो कफ का धर्म है और नहीं वात ा है । अतः यहां यह कारणानुरूप नहीं है और विकृतिविषमसमवाय से होने वाला कार्य नी कारणानुरूप नहीं होता । वातकफ ज्वर में स्वेदाप्रवर्तन पाठ अनुपयुक्त भी नहीं है । योंकि हारीत ने भी कहा है कि सिर में जकड़ाहट, स्वेद का आना, और खांसी होना ातकफ ज्वर के लक्षण हैं । एवं यह विकृतिविषमसमवायारब्ध लक्षण हैं ।

कफपित्तज्वरस्य लक्षणं वर्णयति—

लिप्ततिक्तास्यता तन्द्रा मोहः कासोऽरुचिस्तृषा ।
मुहुर्दाहो मुहुः शीतं श्लेष्मपित्तज्वराकृतिः ॥१७॥

श्लेष्मपित्त ज्वर में मुख कफ से लिप्त तथा पित्त से तिक्त होता है; तन्द्रा, मूर्च्छा, कास, अरुचि और पिपासा होती हैं; एवं उसमें बार २ दाह और शीत लगता है ।

मधु०—श्लेष्मपित्तज्वरलक्षणमाह—लिप्तेत्यादि । श्लेष्मणा लिप्तं च पित्तेन तिक्तं च आस्यं मुखं यस्य, तस्य भावो लिप्ततिक्तास्यता । तन्द्रा निद्रावत्क्लान्तिः । मोहो मूर्च्छा । एतानि लिङ्गानि प्रायोभावित्वेन निर्दिष्टानि, तेनान्यान्यपि चरकोक्तानि बोद्धव्यानि । तद्यथा—"तथा स्तम्भश्च संस्वेदः कफपित्तप्रवर्तनम् ॥" इति ॥१७॥

श्लेष्मपित्तज्वर के लक्षण को कहते हैं—'लिप्त' इत्यादि । कफ से लिप्त हुआ और पित्त से कडुवापन मुख में हो जाना, निद्रा के समान खिन्नता सी प्रतीत होनी तन्द्रा कहलाती है । मोह से यहां मूर्च्छा (बेहोशी) ली जाती है । यह लक्षण प्रायः हो जाते हैं, अतः कहे गए हैं । इनके अतिरिक्त चरक में कहे और भी लक्षण जानने चाहिए । जैसे कि—शरीर में जकड़ाहट, पसीने का अधिक आना और कफपित्त का मुँह से निकलना ।

त्रिदोषोल्बणसन्निपात[3]ज्वरस्य लक्षणं व्याचक्षते—

क्षणे दाहः क्षणे शीतमस्थिसन्धिशिरोरुजा ।
सास्रावे कलुषे रक्ते निर्भुग्ने चापि लोचने ॥१८॥ [च० ६।२]
सस्वनौ सरुजौ कर्णौ कण्ठः शूकैरिवावृतः ।
तन्द्रा मोहः प्रलापश्च कासः श्वासोऽरुचिर्भ्रमः ॥१९॥ [च० ६।३]
परिदग्धा खरस्पर्शा जिह्वा स्रस्ताङ्गता परम् ।
ष्ठीवनं रक्तपित्तस्य कफेनोन्मिश्रितस्य च ॥२०॥ [च० ६

१ समन्तात्प्रकारेण. २ लोचनक्लान्तिः. ३ टायफायड स्टेट (Typhoid State

शिरसो लोठनं तृष्णा निद्रानाशो हृदि व्यथा।
स्वेदमूत्रपुरीषाणां चिराद्दर्शनमल्पशः ॥२१॥ [च० ६।३]
कृशत्वं नातिगात्राणां प्रततं कण्ठकूजनम्।
कोठानां श्यावरक्तानां मण्डलानां च दर्शनम् ॥२२॥ [च० ६।३]
मूकत्वं स्रोतसां पाको गुरुत्वमुदरस्य च।
चिरात्पाकश्च दोषाणां सन्निपातज्वराकृतिः ॥२३॥ [च० ६।३]

क्षण २ में दाह और शीत का क्रमशः होना, अस्थियों की सन्धियों में तथा सिर में पीड़ा होनी, नेत्रों का स्राव युक्त आविल रक्त वर्ण विस्फारित अन्तः प्रविष्ट वा अति कुटिल होना, कानों में आवाज तथा पीड़ा होनी, गले का जौं के शूकों से युक्त हुआ सा मालूम होना, तन्द्रा, मूर्च्छा, प्रलाप, कास, श्वास, अरुचि और भ्रम का होना, जिह्वा का जले हुए की तरह काले रङ्ग की तथा गोजिह्वा सदृश खर स्पर्श वाली होना, अङ्गों का अतीव शिथिल होना, थूक में कफमिश्रित रक्त वा पित्त का आना, शिर का इधर उधर घुमाना, पिपासा, निद्रानाश तथा हृदय में पीड़ा होनी, पसीना मूत्र और पुरीष का बहुत देर बाद थोड़ी मात्रा में आना, शरीर का अत्यन्त कृश न होना, गले में निरन्तर घरघराहट सी मालूम होना, शरीर में चिकने तथा श्याव वा रक्त वर्ण के मण्डलों का होना, मूकपन हो जाना, स्रोतों का पकना, पेट का भारी होना, और दोषों का देर से पचना सन्निपात ज्वर का लक्षण है।

मधु०—सान्निपातिकज्वरलक्षणमाह—क्षणे दाह इत्यादि। रुजा शूलम्, अस्थ्यादिभिः संबध्यते। सास्रावे साश्रुणी। कलुषे आविलवर्णे। निर्गता भुग्नता संकुचितता ययोस्ते निर्भुग्ने, "विस्फारिते इत्यर्थ" इति जेज्जटः; "अन्तःप्रविष्टे"—इत्यन्ये, "अतिकुटिले"—इति चक्रः। शूकैः शूकशिम्बिधान्यादेः। परिदग्धा दग्धवत्कृष्णवर्णा। खरस्पर्शा गोजिह्वादिवत्। स्रस्ताङ्गता निःसहावयवता। ष्ठीवनं रक्तस्य पित्तस्य वा मुखेन स्वल्पोद्गिरणम्। शिरसो लोठनमिति इतस्ततः शिरश्चालनम्। कृशत्वं नातिगात्राणां दोषपूर्णत्वेन। प्रततं निरन्तरम्। कोठो भालुकितन्त्रे पठितः तद्यथा—"वरटिदष्टसंकाशः कण्डूमांल्लोहितोऽस्रकफपित्तात्। क्षणिकोत्पादविनाशः कोठ इति निगद्यते तज्ज्ञैः॥" इति। मूकत्वं मन्दवचनत्वम्, अवचनता वा। गुरुत्वमुदरस्य च उदर गौरवम्। चिरात्पाकश्च दोषाणामिति अतिसामतारब्धत्वेन। चकारादन्यान्यपि च बोद्धव्यानि यदाह वाग्भटः—"तद्वच्छीतं महानिद्रा दिवा जागरणं निशि। सदा वा नैव वा निः महान् स्वेदोऽति नैव वा॥ गीतनर्तनहास्यादिविकृतेहाप्रवर्तनम्॥" इति (वा. नि. स्थ अ. २)। एतच्च लक्षणं त्रयोदशसान्निपातेषु मध्ये स्वमानादवृद्धैर्दोषैस्तुल्यैरारब्धस्य ज्वरस्य च केण पठितं; ध्युल्वणैकोल्वणादीनां च द्वादशानां लक्षणं तत्रैव द्रष्टव्यम्। तथाच काश्मीरपा० —"भ्रमः पिपासा दाहश्च गौरवं शिरसोऽतिरुक्। वातपित्तोल्वणे विद्याल्लिङ्गं मन्द- ॥ शैत्यं कासोऽरुचिस्तन्द्रापिपासादाहहृद्व्यथाः। वातश्लेष्मोल्वणे व्याधौ लिङ्ग

पित्तावरे विदुः ॥ छर्दिः शैत्यं मुहुर्दाहस्तृष्णा मोहोऽस्थिवेदना । मन्दवाते व्यवस्यन्ति लिङ्गं पित्तकफोल्वणे । सन्ध्यस्थिशिरसां शूलं प्रलापो गौरवं भ्रमः । वातोल्वणे स्याद्द्व्यनुगे तृष्णा कण्ठास्यशुष्कता ॥ रक्तविण्मूत्रता दाहः स्वेदस्तृष्णा बलक्षयः । मूर्च्छा ते त्रिदोषे स्याल्लिङ्गं पित्ते गरीयसि ॥ आलस्यारुचिहृल्लासदाहवम्यरतिभ्रमैः । कोल्बणं सन्निपातं तन्द्राकासेन चादिशेत् ॥ प्रतिश्या छर्दिरालस्यं तन्द्रारुच्यग्निदेवम् । हीनवाते पित्तमध्ये लिङ्गं श्लेष्माधिके मतम् ॥ हारिद्रमूत्रनेत्रत्वं दाहस्तृष्णा मोऽरुचिः । हीनवाते मध्यकफे लिङ्गं वाताधिके मतम् ॥ शिरोरुग्वेपथुश्वासप्रलापच्छरोचकाः । हीनपित्ते मध्यकफे लिङ्गं वाताधिके मतम् ॥ शीतता गौरवं तन्द्रा प्रलाऽस्थिशिरोतिरुक् । हीनपित्ते वातमध्ये लिङ्गं श्लेष्माधिके विदुः । वर्चोभेदोऽग्निदौर्बल्यं ष्णा दाहोऽरुचिर्भ्रमः । कफहीने वातमध्ये लिङ्गं पित्ताधिके विदुः ॥ श्वासः कासः तिश्यायो मुखशोषोऽतिपार्श्वरुक् । कफहीने पित्तमध्ये लिङ्गं वाताधिके मतम् ॥" इति च. चि. स्था. अ. ३) ।

'क्षणे दाह' इत्यादि से 'प्रततं निरन्तरम्' यहाँ तक अर्थ सुगम है । कोठ का लक्षण भालुकि तन्त्र में लिखा है, जो कि इस प्रकार है कि—वरटी (ततैय्या या भिड़) के काटे के समान कण्डुयुक्त, वर्ण में लाल, रक्त कफ एवं पित्त से पैदा हुआ क्षणिक उत्पत्ति एवं विनाशशील चिह्न 'कोठ' कहा जाता है । कम बोलना या चुप पड़े रहना, पेट में भारीपन प्रतीत होना, अत्यन्त समता से उत्पन्न होने के कारण दोषों का देर से पाक होना आदि सन्निपात ज्वर के लक्षण होते हैं । 'चकार' से अन्य रूप भी जानने चाहिये। जैसे वाग्भट ने कहा भी है कि, (उसी तरह) शीत लगता है, दिन में नींद अत्यधिक आती है, और रात्रि को उसका अभाव होता है अथवा सदैव निद्रा रहती है वा सदैव उसका अभाव होता है, एवं स्वेद भी या तो सर्वदा आता है या नहीं आता । इसी प्रकार गीत नर्तन हास्य आदि विकृति की चेष्टाएं भी होती हैं । ये तेरह प्रकार के सन्निपातों में से अपने प्रमाण में बढ़े हुए तुल्य दोषों से आरब्ध सन्निपात ज्वर के लक्षण चरक ने पढ़े हैं, दो बढ़े हुओं के वा एक २ बढ़े हुए पृथक् २ बारह भेदों के लक्षण भी वहीं से देखने चाहियें । जैसे काश्मीर पाठ में चरक ने कहा भी है कि—'भ्रम' इत्यादि । भ्रम इत्यादि श्लोकों में चरक ने १२ भेदों के लक्षण दिखाए हैं । श्लोकों का अर्थ स्पष्ट ही है ।

मधु०—विकृतौ नियमो नास्ति; तेन विकृतिविषमसमवाया अनेकप्रकारा भवन्ति ।[1] अतः सुश्रुतेनाप्यन्यादृशं सन्निपातलक्षणं पठितम्—"नात्युष्णशीतोऽल्पसंज्ञो भ्रान्तप्रेक्षी हतप्रभः । खरजिह्वः शुष्ककण्ठः स्वेदविण्मूत्रवर्जितः ॥ साश्रुनिर्भुग्ननयनो भक्तद्वेषी हतस्वरः । श्वसन्निपतितः शेते प्रलापोपद्रवान्वितः ॥ अभिन्यासं तु तं प्राहुर्हतौजसमथापरे । सन्निपातज्वरं कृच्छ्रमसाध्यमपरे जगुः ॥" इति (सु. उ. तं. अ. ३९) । तथा भालुकितन्त्रे द्व्युल्बणैकोल्बणादिलक्षणमन्यथा पठितम् । तद्यथा—"वातपित्ताधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति ।

१ अतोऽनन्तरं क्वचित्—'प्रकृतिसमसमवाये तु सन्निपाते पृथग्वातादिज्वरलक्षणं ज्ञेयम्, हीनमध्याधिकक्रमेण सन्निपाता एव षट्, द्व्युल्बणत्वेन त्रयः, एकोल्बणत्वेन त्रयः, समत्वेनैकः एवं त्रयोदश प्रकृतौ' इत्यधिकः पाठ उपलभ्यते. २ अतः परं क्वचित्—'वातः पित्ताधिकोऽयं प्रथममुपचितो हन्ति वह्निं शरीरे श्लेष्मत्वं याति भुक्तं सकलमपि ततोऽसौ कफो वायुदुष्टः । स्रोतांस्यापूर्य रुन्ध्यादनिलमथ मरुत्कोपयेत्पित्तमन्तः सम्मूर्च्छन्त्यान्योन्यमेते प्रबलमिति नृणां कुर्वते सन्निपातम् ॥' इत्यपि पाठो दृश्यते.

तस्य ज्वरोऽङ्गमर्दस्तृट्तालुशोषप्रमीलकाः ॥ आध्मानतन्द्रारुचयः श्वासकासभ्रमश्रमाः। पित्तश्लेष्माधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति ॥ अन्तर्दाहो बहिः शीतं तस्य तन्द्रा च बाधते । तुद्यते दक्षिणं पार्श्वमुरःशीर्षगलग्रहाः ॥ निष्ठीवेत्कफपित्तं च तृष्णा कण्डूश्च जायते । विड्भेदश्वासहिक्काश्च बाधन्ते सप्रमीलकाः ॥ विभुफल्गू च तौ नाम्ना सन्निपातावुदाहृतौ । श्लेष्मानिलाधिको यस्य संनिपातः प्रकुप्यति ॥ तस्य शीतज्वरो निद्रा क्षुत्तृष्णा पार्श्वनिग्रहः । शिरोगौरवमालस्यमन्यास्तम्भप्रमीलकाः ॥ उदरं दूयते चास्य कटिर्बस्तिश्च दूयते । सन्निपातः स विज्ञेयो मकरीति सुदारुणः ॥ वातोल्बणः सन्निपातो यस्य जन्तोः प्रकुप्यति । तस्य तृष्णाज्वरग्लानिपार्श्वरुग्दृष्टिसंक्षयाः ॥ पिण्डिकोद्वेष्टनं दाह ऊरुसादो बलक्षयः । सरक्तं चास्य [illegible]मूत्रं शूलं निद्राविपर्ययः ॥ निर्भिद्यते गुदं चास्य बस्तिश्च परिकृत्यते । आयम्यते भिद्यते च हिक्कते विलपत्यपि ॥ मूर्च्छति स्फायते गौ[illegible] नाम्ना विस्फुरकः स्मृतः । पित्तोल्बणः सन्निपातो यस्य जन्तोः प्रकुप्यति ॥ तस्य दा[illegible] ज्वरो घोरो बहिरन्तश्च वर्धते । शीतं च सेवमानस्य कुप्यतः कफमारुतौ ॥ ततश्च प्रधावन्ते हिक्काश्वासप्रमीलकाः । विसूचिका पर्वभेदः प्रलापो गौरवं क्लमः ॥ ना[illegible] पार्श्वरुजा तस्य स्विन्नस्याशु विवर्धते । स्विद्यमानस्य रक्तं च स्रोतोभ्यः संप्रवर्तते ॥ शूले पीड्यमानस्य तृष्णा दाहश्च वर्धते । असाध्यः सन्निपातोऽयं शीघ्रकारीति कथ्यते ॥ न जीवत्यहोरात्रमेतेनाविष्टविग्रहः । कफोल्बणः सन्निपातो यस्य जन्तोः प्रकुप्यति ॥ तस्य शीतज्वरस्वप्नगौरवालस्यतन्द्रयः । छर्दिमूर्च्छातृषादाहतृप्त्यरोचकहृद्ग्रहाः ॥ ष्ठीवनं मुखमाधुर्यं श्रो[illegible]ष्टनिग्रहः । श्लेष्मणो निग्रहं चास्य यदा प्रकुरुते भिषक् ॥ तदा तस्य भृशं [illegible] कुर्यात्सोपद्रवं ज्वरम् । निगृहीते तु पित्ते च भृशं वायुः प्रकुप्यति ॥ निराहारस्य सोऽत्यर्थं मेदोमज्जास्थि बाधते । अथात्र स्नाति भुङ्क्ते वा त्रिरात्रं नाहि जीवति ॥ मेदोगतः सन्निपातः कफ्फणः[2] स उदाहृतः । कामान्मोहाच्च लोभाच्च भयाच्चापि प्रपद्यते ॥ मध्यहीनाधिकैर्दोषैः सन्निपातो यदा भवेत् । तस्य रोगास्त एवोक्ताः प्रायो दोषबलाश्रयाः ॥" इत्यादि ।

विकृति में कोई नियम नहीं होता । अतः विकृति विषमसमवाय अनेक प्रकार का होता है। इसी कारण सुश्रुत ने और ही प्रकार का सन्निपात ज्वर का लक्षण पढ़ा है। यथा—शरीर न अति उष्ण और नहीं अति शीत होता है, संज्ञा कम होती है, देखने में भ्रान्ति प्रतीत होती है, प्रभा नष्ट हो जाती है, जिह्वा खर हो जाती है, गला सूख जाता है, स्वेद और मूत्र नहीं आता, आँखों से आँसू आते हैं तथा नेत्र कुटिल हो जाते हैं, खाने में इच्छा नहीं होती, स्वर नष्ट हो जाता है, सोते हुए श्वास अधिक होते हैं, और प्रलाप होता है। इसे कई आचार्य अभिन्यास तथा कई हतौजस ज्वर कहते हैं। कोई आचार्य सन्निपात को कृच्छ्रसाध्य और कोई असाध्य मानते हैं। इसी प्रकार भालुकि शास्त्र में सान्निपातिक ज्वर के उल्वण और एकोल्वण आदि भेद से लक्षण भिन्न प्रकार से पढ़े हैं। तद्यथा—'वातपित्ताधिकः' इत्यादि । अर्थ स्पष्ट ही है । इसने द्वयुल्वण एको[illegible] नाम भी दर्शाए हैं । यथा—वातपित्ताधिक का विभु, पित्तश्लेष्माधिक का

[1] धावते. २ कफ्फणः.

लघु, श्लेष्मवाताधिक का मकरी, वातोल्बण का विस्फुरक, पित्तोल्बण का शीघ्रकारी, एवं कफोल्बण का कफ्फण वा फम्फण नाम दिया है। इन श्लोकों की व्याख्या करने से एक ही ग्रन्थ अति विस्तृत हो जाता है। दूसरा इनका अर्थ स्पष्ट होने से व्याख्या की आवश्यकता भी नहीं है।

मधु०—ननु, वातादयः परस्परं विरुद्धगुणाः; विरुद्धगुणानां च संभूयैककार्यारम्भकत्वं नोपपद्यते, परस्परोपघातात्तुहिनदहनयोरिव; तत्कथं सान्निपातिकविकारोत्पत्तिरिति[1]। अत्र समाधान-

१ अतः परं क्वचिद्ग्रन्थे अधिकः पाठः—'तद्यथा—वातस्य शीतरूक्षादिगुणयुक्तेन उष्णस्निग्धादिगुणयुक्तेन पित्तेन, तथा कफस्य गौरवस्निग्धात्मकस्योभाभ्यां विरोधः। 'तत्र रूक्षो लघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽनिलः। पित्तं सस्नेहतीक्ष्णोष्णं लघु विस्रं सरं द्रवम्। स्निग्धः शीतो गुरुर्मन्दः श्लक्ष्णो मृत्स्नः स्थिरः कफः॥ कट्वम्ललवणं पित्तं स्वाद्वम्ललवणः कफः। कषायतिक्तकटुको वायुर्दृष्टोऽनुमानतः॥' इति। किंच, मिथ्याहारविहाराभ्यां दोषा युगपदुत्पद्यन्ते आहोस्वित्कालव्यवधानेन? आद्ये समवलत्वेन तारतम्येन वा? नाद्यः, सर्वेषां समवलत्वेन परस्परघातकानां युगपदुत्पत्तिर्न स्यात्। अथ भिन्नाश्रयतया साऽस्तु; तदपि न, कुपितानां सर्वदेहव्यापित्वेन परस्परसंबन्धात्। उक्तं च—'व्याप्नोति सहसा देहमापादतलमस्तकम्' इति। किंच ज्वरोत्पत्तौ तावत्कुपितानामामाशयगतानां रसदूषकाणां ज्वरोत्पादकत्वं तन्मिलितानामेव स्याद्यथादुष्टेनेति। न द्वितीयः, पूर्वदोषाधिकत्वात् किंच तारतम्येनोत्पत्तौ मूषकमार्जारवद्विरोधे प्रागेव तेन प्रवलेन दुर्वलाघातः सुकरः; दृश्यते च मात्स्यो न्यायः। अथ युगपदुत्पादका आहारादयो न भवन्ति; तत्र युगपदुत्पादकद्रव्यमेकमनेकं वा? तस्य (एकत्वे) पाञ्चभौतिकत्वेन विरुद्धगुणाधिकारस्य (करण) त्रिदोषोत्पादकत्वं न स्यात्। अस्तु वाऽविचारितरमणीयम्। साकमेवाभ्यवह्रीयत इति कथम्? अस्तु वा साधकत्वेन सहकारिणि द्रव्याभ्यवहारे तस्य विरुद्धगुणवत्त्वेन दोषान्तरघातकत्वेनानुपपत्तिः॥ तदवस्थतयैव जायमानः केवलैकदोषजो न संसर्गसन्निपातजो ज्वर इति। अथादृष्टाधीनत्वेन सहकारिणो भावे (संभवे) एकाभ्यवहारे सन्निपातः, तर्हि सर्वेषां समवलत्वेनेत्यत्रोक्तदोषः स्यात्। अथानेकद्रव्याणामभ्यवहारे (अथ तस्यानेकत्वे) त्रिदोषप्रकोपणं न संभवति। तत्र तुल्यानामेवाभ्यवहारः कथम्? यतोऽभिन्नरुचित्वात्। यथारुच्यभ्यवहारे तारतम्यसंभवात्। तारतम्येनैव भवति प्रकोपो न युगपदिति प्रतिज्ञाहानिः। अत्राप्यदृष्टाधीनत्वात्तुल्याभ्यवहारे प्रतिघातकत्वाभावेऽपि यौगपद्यम्; तर्हि स एव दोषः। अथ कालव्यवधानेन, तत्र पूर्वस्मादुत्तरस्य भिन्नः कालो भवेत् समवलो वा न्यूनो वा अधिको वा? नाद्यः, उपसंजातविरोधित्वेन उत्पत्तुमेव न शक्नोति न द्वितीयः, न्यूनवलत्वेन पूर्वप्रवलेनैव विनाशितत्वात्। अकिंचित्करत्वाच्च। न तृतीयः, विचारासहत्वात्। तत्र वक्तव्यम्? अधिकवलत्वमुत्पत्तेः पूर्वं पश्चाद्वा? नाद्यः, अनुत्पन्नोत्पन्नस्याधिक्याभावात्। अधिकत्वं धर्मः, स तु धर्मिणि चिन्त्यः। अथ पश्चात्? तत्र, उत्पत्त्यधिके अधिकेन घातस्योपसंजातविरोधिनः उत्पत्तिरेव न, कुतोऽधिकत्वम्। अत्राप्यधिकत्वं न संभवति। तस्माद्विरुद्धगुणानां संभूय कर्तृत्वं घटघटाभावयोरिव घटघटप्रध्वंसयोरिव सहावस्थायित्व नास्ति दहनतुहिनवत्। अत्रोच्यते—सर्वे विकल्पा अनङ्गीकारपाशहताः, सन्निपातस्तु स्यादेव, मिथ्याहारादिना कुपिता दोषा युगपत्कालव्यवधानेन वा, समवलत्वेन तारतम्येन वा, परस्परविरुद्धा अपि स्वस्थानादामाशयमागत्य रसं दूषयित्वा द्वन्द्वसन्निपातोत्पादका भवन्ति, उक्तं च—मिथ्याहारेत्यादि। कालव्यवधानेनोत्पन्नानामपि कालान्तरेण यौगपद्यमेव भवतीति न कदाचिदनुपपत्तिः। ननु, कथमादिपश्चाद्भावेनोत्पन्नानां यौगपद्यमिति चेत्? तत्र, दोषाद्दोषान्तरोत्पत्तेः। तदुक्तम्—"एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्। एकः प्रशमितो दोषः सर्वान् दोषान्निवारयेत्"—इति। तथाच चरकः—"कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति"—इति। अत्र रुजाकरत्वाद्दोषोऽपि रोग इति टीकाकृतो व्याचक्षते 'विकृतो दोषो रोग' इति। समुदायसमुदायिनोरभेदवादिनां मतं पूर्वमेवोक्तम्। अन्यच्च तथा—"विकृताविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च"—इति। विकृतानां घातकत्वं रोगरूपेणैव भवति, या विकृतिः स एव रोग इति न दोषरोगयोर्भेदः। अस्तु वा भेदः मिलितै-

मुक्तं दृढवलेन यथा—"विरुद्धैरपि न त्वेते गुणैर्घ्नन्ति परस्परम् । दोषाः सहजसात्म्यत्वाद्घोरं विषमहीनिव ॥" इति (च. चि. स्था. अ. २६) । एतच्चान्ये दूषयन्ति–सहजत्वादित्यनैकान्तिकम्, यतः सहजानपि धातून् दोषा उपघ्नन्ति; सात्म्यत्वादित्यपि साध्याविशिष्टं, यतः सात्म्यत्वमबाधकत्वं, तदेव च दोषाणां परस्परं साध्यते । अत्रोच्यते–दोषा नोपघ्नन्तीति कोऽयमनुपघातः साध्यते ? विकृतेरकारकत्वम्, अविनाशकत्वं वा ? नाद्यः, दोषाणां परस्परं विकृतिकर्तृत्वात् । यथोक्तं चरके—"विशोषयेद्बस्तिगतं सशुक्रं मूत्रं सपित्तं पवनः कफं वा । यदा तदाऽश्मर्युपजायते तु क्रमेण पित्तेष्विव रोचना गोः ॥" इति (च. चि. स्था. अ. २६) । यथोक्तं वाग्भटेन–"सश्लेष्ममेदः पवनः साममत्यर्थसंचितम् । अभिभूयेतरं दोषमूरू चेत्प्रतिपद्यते ॥ सक्थ्यस्थिनी प्रपूर्यान्तः श्लेष्मणा स्तिमितेन च । तदा स्तभ्नाति तेनोरू स्तब्धौ शीतावचेतनौ ॥" (वा. नि. स्था. अ. १५) इति । अविनाशकत्वं तु विवृत एव, धातुदोषयोः परस्परं च दोषाणां सर्वथोच्छेदप्रतिपादकागमाभावात्, मरणप्रसङ्गाच्च; दोषाणामपि देहधारणकारणत्वात् । तस्मात्सर्वथोच्छेदनिरासाभिप्रायेणैव दृढवलवचनमिह द्रष्टव्यं; ततः कुतोऽनैकान्तिकता । नचैवं सति विषस्य विषादकर्तृत्वे दृष्टान्तविफलत्वम्, विषस्य विषादादवान्तरव्यापारस्य प्राणविनाशकत्वात्; नच सर्वात्मना दृष्टान्तो भवतीति । सात्म्यत्वादित्यस्यायमर्थः–सात्म्यत्वेन प्रतीयमानत्वात् । दोषाः परस्परं नोपघ्नन्ति, अनुपघातकत्वेन प्रतीयमानत्वात्; यद्यथा प्रतीयते तत्तथा निर्दिश्यते, यथाऽग्निकार्यो धूमोऽग्निकार्यत्वेनेति, तत्कुतः साध्याविशिष्टत्वमिति । चक्रदत्तस्तु सहजसात्म्यत्वादित्येकमेव हेतुं व्याख्यातवान्–सहजं स्वाभाविकं दोषाणां सात्म्यत्वमिति । दृढवलोक्तहेतुद्वयास्वरसेन गयदासस्तु हेत्वन्तरमुक्तवान्–"दैवाद्दोषस्वभावाद्वा दोषाणां सान्निपातिके । विरुद्धैश्च गुणैः कश्चिन्नोपघातः परस्परम्–" इति संक्षेपः ॥१८–२३॥

(शंका—) वातपित्तकफ परस्पर विरुद्ध गुण वाले हैं, और विरुद्ध गुण मिलकर एक कार्य का आरम्भ नहीं कर सकते । कारण कि वे तुहिन और दहन की तरह परस्पर नाशक होते हैं। जब ऐसा है तो सान्निपातिक ज्वर (विरुद्ध गुण वाले वातादि से) कैसे हो सकता है ? इसका समाधान दृढ़बल ने इस प्रकार किया है—जिस प्रकार सहज (नैसर्गिक) और सात्म्य[3] होने से घोर विष सर्पों को नष्ट नहीं करता उसी प्रकार सहज और सात्म्य

दोषैः रोगः क्रियत इति । कथंचिदपि एकानेकद्रव्याभ्यवहारे सहकारिणो दैवात्त्रयाणां प्रकोपो भवत्येव उक्तं च—"दृष्टापराधजः कश्चित्कश्चित्पूर्वापराधजः । तत्सङ्कराद्भवत्यन्यो व्याधिरेवं त्रिधा मतः"– इति । तथा—"पित्तक्षोभे तिलाभ्यङ्गो रात्रौ च दधिभोजनम् । अनिद्रा मैथुनं यस्य सन्निपातो भवेद्ध्रुवम्" इति। ननु दोषाणां बाध्यबाधकभावेनादिपश्चाद्भावेनोत्पत्तिर्दोषाद्दोषान्तरोत्पत्तिर्वा न संभवतीत्यनुपदमेवोक्तम्

१ अतः परं क्वचित्पाठः—'न द्वितीयः, दोषाद्दोषान्तरोत्पत्तिर्दर्शितैवानुपदम्, 'एकः प्रकुपितो दोष' इत्यादिना, अतो दोषस्य कारणत्वादन्य एवानुपघातः । स (न) हि असंभवादविनाशकत्वापरपर्यायमविरोधित्वमेष्टव्यम्; तच्च विवृत एव धातुदोषयोः परस्परं वा दोषाणाम् अन्यथा द्वन्द्वसन्निपातलक्षणरोगः सर्वानुभवसाध्यः किंनिमित्तजः, नहि कारणं विना कार्योत्पत्तिः । किञ्च यद्युपघातः स्यात्ततो जन्म शुक्रार्तवसंयुक्तैर्दोषैः परस्परोपघातात् प्रकृत्यारम्भः कुतः जायमान एकज एव कथमुपघातः'. २ अस्याग्रे क्वचित्पाठः–'अतः सात्म्यत्वात् सहजत्वादविरोधित्वमिति यदुक्तमनैकान्तिकत्वं तन्न, उपघातशब्दस्य न्यूनाधिकपर्या[illegible]त् । आहारं दोषा उपघ्नन्तीति दूष्यरसधातुदूषकत्वं दोषाणां; तच्च रसदूष्यप्रकृत्यन्यथापादकत्वं [illegible]शः साध्याविशिष्टता तु निरस्ता स्पष्टतरा'. ३ सात्म्यं नाम तद्यदात्मन्युपशेते (चरकः).

होने से परस्पर विरुद्ध गुण वाले भी वातपित्तकफ (दोष) एक दूसरे को नष्ट नहीं करते। दूसरे आचार्य इस समाधान को इस प्रकार दूषित करते हैं कि समाधान में जो 'सहज होने से' यह हेतु दिया है, वह अनैकान्तिक[1] है। क्योंकि दोष सहज धातुओं का भी तो उपघात करते हैं; एवं जो 'सात्म्य होने से' यह हेतु दिया है, वह साध्याविशिष्ट[2] है। क्योंकि सात्म्यत्व का अर्थ अबाधक है, और यही तो हमने सिद्ध करना है। एवं उक्त दोनों हेतु दूषित होने से 'विरुद्ध गुण वाले दोष परस्पर नाश नहीं करते' यह नहीं बन सकता। जब के यह नहीं बन सकता तो सान्निपातिक ज्वर की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती। इस पर आचार्य क्षिप्त कहते हैं कि 'दोष परस्पर उपघात नहीं करते' यहां उपघात शब्द से क्या लेते हो? विकृति न करना, अथवा सर्वथा नष्ट न करना? यदि उपघात शब्द का अर्थ 'विकृति न करना' लेते हो तो यह हो नहीं सकता। कारण कि दोष परस्पर विकृति करते हैं। जैसे चरक ने कहा भी है कि जब बस्तिगत वायु शुक्र सहित मूत्र को अथवा पित्त सहित मूत्र को वा कफ सहित मूत्र को सुखाता है तब गौ के पित्त में रोचना की तरह बस्ति में अश्मरी उत्पन्न होती है। यहां तथा वाग्भटोक्त 'सश्लेष्ममेदः पवनः' इत्यादि से प्रतिपादित ऊरुस्तम्भ की सम्प्राप्ति में भी दोषों का परस्पर विकृति करना कहा गया है। यदि 'उपघात' शब्द का अर्थ सर्वथा नष्ट न करना लेते हो तब तो ठीक ही है। कारण कि वे परस्पर नाश तो करते ही नहीं क्योंकि धातु और दोषों का वा परस्पर दोषों के सर्वथा नाश का प्रतिपादक शास्त्र का प्रमाण भी नहीं मिलता है। और यदि ये परस्पर सर्वथा नाश कर दें तो मनुष्य मर जावेगा क्योंकि दोष भी तो देहधारक[3] हैं। इसलिये यहां दृढ़बल का वचन 'सर्वथा नाश नहीं करते' इस अभिप्राय को लेकर ही है। जब दोष परस्पर वा धातुओं को सर्वथा नष्ट नहीं करते तो अनैकान्तिक दोष इसमें कैसे आ सकता है।

---

१ अनैकान्तिक हेतु उसे कहते हैं, जो पक्ष में दिया हुआ हेतु सपक्ष में न घटे, इस दुष्टि का बीज प्रथम तो यह है कि यह सपक्ष में नहीं घटता। दूसरा जो हेतु सपक्ष में नहीं घटता वह पक्ष में घटता है, यह भी नहीं माना जाता। क्योंकि उसमें सन्देह होता है। प्रकृत में सहज दोष पक्ष है और सहज धातु सपक्ष है एवं 'सहजत्वात्' यह हेतु धातुरूप सपक्ष में नहीं घटता। क्योंकि दोष उनका उपघात करते हैं। जब यह सपक्ष में नहीं घटता तो पक्ष में घटता है. यह सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि इसी पर तो अभी झगड़ा है। एवं यह हेतु अनैकान्तिक है। अतः यह हेतु नहीं प्रत्युत हेत्वाभास है। हेतु तो पक्षवृत्ति, सपक्षवृत्ति और विपक्षव्यावृत्ति वाला हुआ करता है। परन्तु इसमें गुण नहीं है, अतः यह अनैकान्तिक हेत्वाभास है. २ साध्याविशिष्ट हेतु उसे कहते हैं, जो कि साध्य से युक्त न हो। एवं प्रकृत में यह हेतु अनुपघातरूप साध्य से युक्त नहीं है। कारण कि 'सात्म्य' का अर्थ अनुपघातक है, और अनुपघातक ही सिद्ध करना है। एवं जो साध्य हो वही साधक हो, यह हो नहीं सकता। कारण कि ऐसा मानने से यह वाक्य बनता है कि अनुपघातक होने से दोष परस्पर उपघातक नहीं है। जब अभी दोषों में अनुपघातक सिद्ध ही नहीं हुआ तो उसमें अनुपघातकपन है, यह कैसे कहा जा सकता है? यही इसमें दुष्टि का बीज है। और इसीलिये यह हेतु न होकर साध्याविशिष्ट हेत्वाभास है। भगवान् चरक प्रतिपादित अहेतुओं में से यह प्रकरण सम अहेतु है। च. वि. स्था. अ. ८ में इसके लक्षणादि देख लें। दूसरा भाव यह है कि साध्याविशिष्ट उसे कहते हैं कि जो हेतु साध्य से युक्त न हो अर्थात् जो साध्य में न घटे। एवं यह हेतु भी साध्य में नहीं घटता। कारण कि दोष परस्पर उपघात करते हैं, जैसे कि चरकोक्त अश्मरी की सम्प्राप्ति से और वाग्भटोक्त ऊरुस्तम्भ की सम्प्राप्ति से सिद्ध होता है। जब ये उपघात करते हैं, तो यह हेतु देकर कि सात्म्य होने से उपघात नहीं करते, अनुपघातकपन सिद्ध नहीं हो सकता। प्रत्युत यहां तो यह हेतु ही साध्यवान् नहीं है, अतः यह साध्याविशिष्ट हेतु है. ३ विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा। धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा॥ (सु. सू. अ. २१).

और नहीं यह कहना चाहिये कि यदि ऐसा है तो विष के विषादकारक होने से दृष्टान्त विफल होता है; दृष्टान्त विफल नहीं होता, क्योंकि विषादादि में विष का मारणरूप दूसरा व्यापार भी तो है, वह वहां नहीं होता। यदि इस पर भी सन्तुष्टि न हो तो यह भी ध्यान रखना चाहिये कि दृष्टान्त सर्वाङ्गीण नहीं हुआ करते। एवं जो उक्त समाधान में दृढ़बल 'सात्म्यत्वात्' यह हेतु दिया है, इसका अर्थ यह है कि सात्म्य से प्रतीत होने के कारण परस्पर सात्म्य हैं। परस्पर अनुपघातक प्रतीत होने के कारण दोष परस्पर (नाश) नहीं करते। क्योंकि जो जैसा प्रतीत होता है, वह वैसा ही निर्दिष्ट किया जाता है जैसे कि धूम अग्नि का कार्य है, अतः वह अग्नि के कार्य रूप से ही निर्दिष्ट किया जाता है एवं 'सात्म्य' रूप हेतु में साध्याविशिष्टता भी नहीं है। चक्रदत्त ने तो दोनों हेतुओं को मिलाकर एक करके व्याख्या की है। वह कहता है कि 'स्वभावतः सात्म्य होने के कारण विरुद्ध गुण वाले होने पर भी दोष परस्पर उपघात नहीं करते' इत्यादि। दृढ़बल के कहे हुए दोनों हेतुओं में दोष देखकर गयदास ने इसकी सिद्धि में और ही हेतु दिये हैं। वह कहता है कि दोषों के सान्निपातिक रोग करने में दैव से वा दोषों के स्वभाव से विरुद्ध गुणों का परस्पर कोई उपघात नहीं होता।

वक्तव्य—इसका संक्षिप्त भाव यह है कि वात पित्त कफ एक दूसरे से विरुद्ध गुण वाले हैं, और जो पदार्थ एक दूसरे से विरुद्ध गुण वाले होते हैं वे मिलकर एक कार्य को नहीं कर सकते; जब वे मिलकर एक कार्य को नहीं कर सकते, तो परस्पर विरुद्ध गुण वाले दोष मिलकर सन्निपात ज्वर आदि रोगों को कैसे उत्पन्न कर सकते हैं? इस पर दृढ़बल कहता है कि यद्यपि यह ठीक है परन्तु दोषों में यह नियम नहीं घटता। क्योंकि ये परस्पर विरुद्ध गुण वाले होने पर भी सहज और सात्म्य होने से एक दूसरे का उपघात नहीं करते, जैसे कि घोर विष भी सहज और सात्म्य होने से सर्पों को नहीं मारता एवं जब ये परस्पर उपघात नहीं करते तो सान्निपतिक ज्वर आदि रोग इनसे हो सकते हैं। इस समाधान का दूसरे आचार्य खण्डन करते हैं कि नहीं, दोष सहज और सात्म्य होने से एक दूसरे का अभिघात नहीं करते, यह कथन ठीक नहीं। क्योंकि जो हेतु इसकी सिद्धि में दिये हैं, वे हेतु नहीं, प्रत्युत हेत्वाभास हैं। जैसे पहला हेतु—'सहज होने से एक दूसरे का उपघात नहीं करते' यह दिया है, इसका भाव यह निकला कि जो सहज होंगे वे परस्पर उपघातक न होंगे। यदि ऐसा है तो दोषों की तरह धातु भी तो सहज ही हैं, फिर दोष उनका उपघात क्यों करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि 'सहज परस्पर उपघातक नहीं होते' यह ठीक नहीं। इस प्रकार के हेतु को अनैकान्तिक हेतु कहते हैं। दूसरा हेतु—'सात्म्य होने से ये एक दूसरे का उपघात नहीं करते' यह दिया है। और यहां सात्म्य शब्द का अर्थ है बाधित न करना। एवं सारे वाक्य का यह अर्थ निकला कि 'बाधित न करने वाले होने से ये एक दूसरे को बाधित नहीं करते'। यहां बाधित नहीं करते, इसे ही हमने सिद्ध करना है और यही साध्य है। साध्य को हेतु रूप से रखना ठीक नहीं होता। क्योंकि जिसे सिद्ध करना होता है, वह हेतु नहीं हो सकता। परन्तु यहां साध्य ही हेतु रूप से रक्खा गया है, अतः यह हेतु साध्याविशिष्ट हेत्वाभास है। अथवा—दोष परस्पर बाधित नहीं करते क्योंकि वे सात्म्य हैं। यहां बाधित नहीं करते इसकी सिद्धि में, 'सात्म्य' हेतु दिया है, परन्तु हेतु साध्य में नहीं घटता। कारण कि अश्मरी आदि में दोषों को परस्पर बाधक माना है अतः साध्याविशिष्ट है। एवं इन दोनों हेतुओं के दुष्ट होने के कारण 'विरुद्ध गुण वाले उपघात नहीं करते' यह सिद्ध नहीं हो सकता। जब यह सिद्ध नहीं हो सकता तो

सान्निपातिक रोगों की उत्पत्ति भी सिद्ध नहीं हो सकती। इस पर विजयरक्षित जी कहते हैं कि ये हेतु हेत्वाभास नहीं है। कारण कि दोषदर्शक अनुपघात शब्द का अर्थ विपरीत समझ रहे हैं, जिससे उपर्युक्त हेतु उन्हें हेत्वाभास प्रतीत होते हैं। यदि अनुपघात शब्द का अर्थ परस्पर विकृति का न करना लें तब तो उक्त दोष ठीक हैं परन्तु उसका यह अर्थ नहीं है. क्योंकि दोष परस्पर भी विकृति करते हैं; जैसे चरक ने अश्मरी रोग की सम्प्राप्ति में और वाग्भट ने ऊरुस्तम्भ की सम्प्राप्ति में स्पष्ट कहा है। एवं जैसे दोष सहज धातुओं को विकृत करते हैं, वैसे ही सहज दोषों को भी विकृत करते हैं, जब दोनों में समानता है तो 'सहजत्वात्' यह हेतु अनैकान्तिक नहीं हो सकता प्रत्युत 'अनुपघात' का यह अर्थ करने से तो यह हेतु भी नहीं हो सकता। क्योंकि दोषों का परस्पर विकृतिकर होने से साध्य में ही नहीं घटता। अतः इस (अनुपघात) का यह अर्थ नहीं है। इस (अनुपघात) का अर्थ तो सर्वथा नाश न करना है, एवं यह अर्थ निकला कि 'सहज होने से दोष परस्पर सर्वथा नष्ट नहीं करते। इस प्रकार 'सहजत्वात्' यह हेतु अनैकान्तिक नहीं होता। क्योंकि दोष जैसे सहज दोषों को सर्वथा नष्ट नहीं करते, वैसे ही सहज धातुओं को भी नष्ट नहीं करते। और न ही उनके नाश में कोई प्रमाण मिलता है। यदि नष्ट कर दें तो मनुष्य की मृत्यु हो जाती है, क्योंकि दोष भी देहधारण में कारण हैं। इस प्रकार उक्त दृष्टान्त भी दुष्ट नहीं होता। क्योंकि जैसे यहां सर्वथा दोषों का नाश नहीं होता, वैसे सर्प भी नहीं मरते। परन्तु विकृति दोनों स्थानों में होती है, सर्पों में भी कुछ न कुछ विषाद होता है और दोषों में भी विकृति आती है। दूसरा हेतु 'सात्म्यत्वात्' दिया है, यह भी साध्याविशिष्ट नहीं है। कारण कि इसका अर्थ सात्म्य के समान प्रतीत होना है एवं यह अर्थ निकला कि अनुपघातक प्रतीत होने के कारण दोष परस्पर उपघात (सर्वथा नाश) नहीं करते। इसी कारण 'सात्म्यत्वात्' यह निर्देश किया है। क्योंकि जैसी प्रतीति होती है, वैसा ही निर्देश होता है, जैसे धूम अग्नि का कार्य प्रतीत होता है, अतः अग्नि के कार्य रूप से निर्दिष्ट किया जाता है। एवं 'सात्म्यत्वात्' इस निर्देश से यह हेतु साध्याविशिष्ट हेत्वाभास नहीं होता।

तस्य प्रत्याख्येयतां दर्शयति—

दोषे विबद्धे नष्टेऽग्नौ सर्वसम्पूर्णलक्षणः। [वा० ३।२]
सन्निपातज्वरोऽसाध्यः—

वातादि दोषों के तथा मलों के विबद्ध होने पर, जठराग्नि के अत्यन्त मन्द हो जाने पर और सम्पूर्ण लक्षणों के प्रबल होने पर सन्निपात ज्वर असाध्य होता है। अब यहाँ शंका होती है कि जब उक्त श्लोक में 'सर्वसम्पूर्णलक्षणः' इस वाक्य के स्थान पर 'सर्वलक्षणः' वा 'सम्पूर्णलक्षणः' इस एक विशेषण के देने से ही 'सब लक्षणों वाला' यह अर्थ निकल आता है तो फिर एकार्थवाची दो विशेषण क्यों दिए ? एकार्थवाची दो शब्द देने से 'पुनरुक्तत्वमर्थस्य नूक्तस्य वचनं पुनः' इस साहित्य शास्त्र के वचनानुसार यहां पौनरुक्त्य दोष आता है। (समाधान—) यहां दोनों विशेषणों के 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' के अनुसार

१ नु उक्तस्य अर्थस्य पुनर्वचनं पुनरुक्तत्वमित्यर्थः. २ 'यत्परः शब्द स शब्दार्थः' का अर्थ सामान्यतः यह है कि शब्द जिस अर्थ का बोध कराने के लिये प्रयुक्त किया जाता है, वही अर्थ उस

भिन्न २ अर्थ हैं। पहले सर्व शब्द का अर्थ सब लक्षणों वाला है और दूसरे सम्पूर्ण शब्द का अर्थ बलवान् लक्षणों वाला है, एवं उक्त दोष नहीं आता। कारण कि दोनों सम्मिलित विशेषणार्थ असाध्यता प्रतिपादक हैं।

कष्टसाध्यसन्निपातज्वरस्य लक्षणमाह—

—कृच्छ्रसाध्यस्ततोऽन्यथा ॥२४॥

उक्त असाध्य सन्निपात लक्षणों से भिन्न लक्षणों वाला अर्थात् अविबद्ध दोषों और मलों वाला, अमन्द वा मन्द जठराग्नि लक्षण वाला और असम्पूर्ण एवं अप्रबल लक्षणों वाला वा केवल सम्पूर्ण अथवा केवल प्रबल लक्षणों वाला सन्निपात ज्वर कष्टसाध्य होता है ॥२४॥

प्रत्याख्येयाप्रत्याख्येययोः कालावधिमाह—

(सप्तमे दिवसे प्राप्ते दशमे द्वादशेऽपि वा ।
पुनर्घोरतरो भूत्वा प्रशमं याति हन्ति वा ॥१॥ [सु. उ. ३६]
सप्तमी द्विगुणा चैव नवम्येकादशी तथा ।
एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च ॥२॥)

(उपर्युक्त दोनों पद्य प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं। कारण कि कई हस्तलिखित प्रतियों में इनका उल्लेख नहीं हैं और न ही विजयरक्षित ने इनकी व्याख्या की है। अतः हम ने भी इन्हें पृथक् पढ़कर कोष्ठों में दे दिया है। श्लोक उपयुक्त हैं, अतः इनकी व्याख्या समुचित प्रतीत होती है। इनमें से प्रथम श्लोक सुश्रुत का और दूसरा भालुकि का है।) वात, पित्त और कफ क्रमशः शीघ्र मध्य और मन्द शक्ति वाले होने के कारण वा क्रमशः शीघ्रतम, शीघ्रतर और शीघ्रशक्ति वाले होने के कारण क्रमशः सातवें, दसवें और बारहवें दिन अत्यन्त क्रुद्ध होकर मलपाक हो जाने के कारण शान्त हो जाते हैं, वा धातुपाक हो जाने के कारण मार देते हैं। इसका भाव यह है कि वातोल्बण शीघ्र वा शीघ्रतम शक्ति वाला होने के कारण सातवें दिन यदि मलपाक हो जावे तो शान्त हो जाता है और यदि धातुपाक हो जावे तो मार डालता है। एवं पित्तोल्बण मध्य वा शीघ्रतर शक्तिवाला होने के कारण दसवें दिन यदि मलपाक हो जावे तो शान्त हो जाता है और यदि धातुपाक हो जावे तो मार डालता है। इसी प्रकार कफोल्बण सन्निपात मन्द वा शीघ्र शक्तिवाला होने के कारण बारहवें दिन यदि मलपाक हो जावे

शब्द का अर्थ है। एवं प्रकृत में सर्व शब्द 'सब लक्षणों वाले' इस अर्थ को बोधित करने के लिये, और सम्पूर्ण शब्द 'बलवान् लक्षणों वाले' इस अर्थ को बोधित करने के लिये प्रयुक्त किया है। अतः इनके यही अर्थ हैं, एवं इनके परस्पर भिन्न अर्थ होने से पौनरुक्त्य दोष नहीं आता। यही 'यत्परः शब्दः ...' की संक्षिप्त व्याख्या है। इसका विशेष विवरण काव्यप्रकाश साहित्यदर्पण प्रभृति ग्रन्थों से ...।

तो शान्त हो जाता है और यदि धातुपाक हो जावे तो मार डालता है। इसमें मलपाक होना वा धातुपाक होना यह कर्मानुसार है। यदि मनुष्य के दीर्घ जीवन के कर्म होंगे तो मलपाक होगा, जिससे वह बच जावेगा और यदि दीर्घ जीवन के कर्म नहीं हैं तो धातुपाक होगा, जिससे कि वह रोगी मर जावेगा। इसमें कई आचार्य पूर्व प्रसङ्ग को लेकर कहते हैं कि अभिन्यास ज्वर सातवें दिन, हतौजस दसवें दिन और संन्यास बारहवें दिन मलपाक होने पर शान्त हो जाता है वा धातुपाक होने पर मार देता है। दो सप्ताह के १४ दिन के बाद वातोल्बण सन्निपात शीघ्र वा शीघ्रतम शक्ति वाला होने के कारण मलपाक हो जाने पर छोड़ देता है वा धातुपाक होने पर मार डालता है एवं दो नवाह (१८ दिन) के बाद पित्तोल्बण सन्निपात मध्य वा शीघ्रतर शक्ति वाला होने के कारण मलपाक हो जाने पर छोड़ देता है वा धातुपाक होने पर मार डालता है। इसी प्रकार दो द्वादशाह (२४ दिन) के बाद कफोल्बण सन्निपात मन्द वा शीघ्र शक्ति वाला होने के कारण मलपाक हो जाने पर छोड़ देता है वा धातुपाक होने पर मार डालता है। यहां भी मलपाक वा धातुपाक कर्माधीन है। अब यहां यह शंका होती है कि सुश्रुत सातवें, दसवें और बारहवें दिन वातादि क्रम से मोक्ष वा मारण और भालुकि दो सप्ताह, दो नवाह और दो द्वादशाह के दिन वातादिक्रम से मोक्ष वा मारण मानता है, परस्पर यह विरोध क्यों? इसका उत्तर यह है कि 'स्मृतिद्वैधं हि यत्र स्यात् तत्र धर्मावुभावपि' के अनुसार जहां दो आप्तवचन भिन्न २ हों वहां समय आदि के अनुसार दोनों ही प्रमाणित होते हैं। दूसरा यह विरोध आता ही नहीं है, क्योंकि सुश्रुतोक्त पद्य में पठित 'द्वादशेऽपि वा' वाक्य में पड़ा हुआ अपि शब्द भालुकि प्रोक्त मोक्ष और मारण की मर्यादा का संकेत करता है।

मधु०—तस्य सन्निपातज्वरस्यासाध्यलक्षणमाह–दोषे विबद्ध इत्यादि। दोषो मलं वातादिश्च, जेज्जटस्तु मलमेवाह, विबद्ध इति वचनात्। नष्टाग्नित्वम् आहारापाकगम्यम्। यदुक्तं चरके–"अग्निं जरणशक्त्या"–(च. वि. स्था. अ. ४)–इति। असाध्यकृच्छ्रसाध्याभिधानेन सुखसाध्यो न भवतीति दर्शितम्। उक्तं हि चरके–"सन्निपातो दुश्चिकित्स्यानाम्" (च. सू. स्था. अ. २५)–इति। तथा भालुकिः–"मृत्युना सह योद्धव्यं सन्निपातं चिकित्सता" इति। सर्वसम्पूर्णलक्षण इति सर्वाणि समग्राणि, सम्पूर्णानि बलीयांसि, लक्षणानि यस्य स तथा ॥२४॥

सन्निपात के केवल असाध्य और कृच्छ्रसाध्य लक्षण कहने से आचार्य ने यह प्रकट किया है कि सुखसाध्य सन्निपात नहीं होता। चरक में भी कहा है कि 'स[illegible] ज्वर दुश्चिकित्स्यों में अग्रणी अर्थात् सब से बढ़कर है'। इसी को भा[illegible] भी कहता है कि 'सन्निपात ज्वर की चिकित्सा करना मृत्यु के साथ युद्ध [illegible] जो इसकी चिकित्सा करता है, वह मृत्यु से युद्ध करता है।

तस्यैव प्रत्याख्येयताभिव्यञ्जकमुपद्रवविशेषमाह—

सन्निपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः।
शोथः संजायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते ॥२५॥[च० ॥]

अभिन्यासज्वरस्य संप्राप्तिं लक्षयति—

(त्रयः प्रकुपिता दोषा उरःस्रोतोऽनुगामिनः।
आमाभिवृद्ध्या ग्रथिता बुद्धीन्द्रियमनोगताः ॥१॥
जनयन्ति महाघोरमभिन्यासं ज्वरं दृढम्।

अभिन्यासज्वरस्य लक्षणं तदसाध्यताञ्चाह—

श्रुतौ नेत्रे प्रसुप्तिः स्यान्न चेष्टां कांचिदीहते ॥२॥
न च दृष्टिर्भवेत्तस्य समर्था रूपदर्शने।
न घ्राणं न च संस्पर्शं शब्दं वा नैव बुध्यते ॥३॥
शिरो लोठयतेऽभीक्ष्णमाहारं नाभिनन्दति।
कूजति तुद्यते चैव परिवर्तनमीहते ॥४॥
अल्पं प्रभाषते किंचिदभिन्यासः स उच्यते।
प्रत्याख्यातः स भूयिष्ठः कश्चिदेवात्र सिध्यति ॥५॥)

सन्निपात ज्वर की अन्तिम अवस्था में कानों के मूल में अतिदारुण शोथ हो जाता है, जिससे कि कोई ही रोगी बचता है। इसका भाव यह है कि यह शोथ सन्निपात ज्वर की अन्तिम अवस्था में प्रायः सभी मनुष्यों को हो जाता है। इसका अर्थ यह भी है कि सन्निपात ज्वर की अन्तिम अवस्था में कानों के मूल में अतिदारुण शोथ हो जाता है, जिसके कारण कोई २ मनुष्य ही बचता है अर्थात् इससे प्रायः रोगी मर जाते हैं। उरःस्रोत के अनुगामी प्रकुपित तीनों दोष आम की वृद्धि से ग्रथित होकर जब बुद्धिवाही, इन्द्रियवाही और मनोवाही स्रोतों में चले जाते हैं, तब अत्यन्त भयानक अभिन्यास ज्वर को कर देते हैं जिसमें कि रोगी के कानों और नेत्रों में प्रसुप्ति रोग हो जाता है, वह (रोगी) किसी भी चेष्टा को नहीं चाहता, उसकी दृष्टि में रूप को देखने की शक्ति नहीं रहती। न वह सूंघ सकता है, न वह स्पर्श ज्ञान कर सकता है और नहीं वह शब्द जान सकता है। परन्तु बार २ सिर को चलाता है, खाता कुछ भी नहीं, कूजन करता है, सुई के चुभान की सदृश पीड़ा का अनुभव करता है। करवट बदलना चाहता है और कभी २ थोड़ा सा बोलता है। यह अभिन्यास ज्वर कहलाता है, और अधिकतर प्रत्याख्येय हैं, क्योंकि इससे कोई ही रोगी बचता है।

मधु०—सन्निपातज्वरोपद्रवमाह—सन्निपातेत्यादि ॥२५॥

सामान्यत आगन्तुज्वरस्य लक्षणमाह—

अभिघाताभिचाराभ्यामभिशापाभिषङ्गतः।

ऐड्वेन्टिशिअस् फीवर (Adventitious fever).

आगन्तुर्जायते दोषैर्यथास्वं तं विभावयेत् ॥२६॥

विषजागन्तुज्वरस्य स्वरूपमाह—

श्यावास्यता विषकृते तथाऽतीसार एव च।
भक्तारुचिः पिपासा च तोदश्च सह मूर्च्छया ॥२७॥ [सु० ६।३६]

भेषजगन्धोत्थागन्तुज्वरस्य लक्षणमाह—

ओषधिगन्धजे मूर्च्छा शिरोरुग्वमथुः क्षवः।

कामजागन्तुज्वरलक्षणमाह—

कामजे चित्तविभ्रंशस्तन्द्राऽऽलस्यमभोजनम् ॥२८॥ [सु० ६।३६]
(हृदये वेदना चास्य गात्रं च परिशुष्यति।)

भयादिजन्यागन्तुज्वराणां लक्षणानि व्याचष्टे—

भयात्प्रलापः शोकाच्च भवेत्कोपाच्च वेपथुः।
अभिचाराभिशापाभ्यां मोहस्तृष्णा च जायते ॥२९॥ [सु० ६।३६]

भूताभिषङ्गजमागन्तुज्वरं लक्षयति—

भूताभिषङ्गादुद्वेगो हास्यरोदनकम्पनम्। [सु० ६।३६]

ज्वर निज और आगन्तुज भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें से निज ज्वर के वातादिज सात भेद बताकर आचार्य अब क्रमप्राप्त आगन्तुज ज्वर को तथा उसके उपलक्षणमात्र भेदों को बताते हैं—आगन्तुज ज्वर चोट आदि से, श्येनादि यागों से, ब्राह्मण-गुरु-सिद्धादि के शाप से तथा भूतादि वा कामादि से होता है। उत्पत्ति के अनन्तर इनमें वातादि के लक्षणों को देखकर उनका ज्ञान करे। विषजन्य ज्वर में मुख श्वेतता लिए हुए काले वर्ण का सा हो जाता है, अतिसार लग जाते हैं, भोजन में इच्छा नहीं होती, प्यास अधिक लगती है, सुइयों की सी चुभान होती है, और मूर्च्छा हो जाती है। ओषधियों के गन्ध से होने वाले ज्वर में मूर्च्छा, सिर में पीड़ा, वमन और छींकें आती हैं। कामोद्भव ज्वर में चित्त में विक्षेप हो जाता है, तन्द्रा आती है, आलस्य होता है, और भोजन करने को मन नहीं चाहता [एवं इसमें हृदय में पीड़ा होती है और शरीर सूखने लगता है]। भय और शोक से उत्पन्न ज्वर में प्रलाप होता है, तथा क्रोध से उत्पन्न ज्वर में प्रलाप और कँपकँपी होती है। अभिचार और अभिशाप से होने वाले ज्वर में मूर्च्छा और तृष्णा होती है। भूताभिषंगज ज्वर में रोगी के मन में घबड़ाहट हो जाती है, कभी वह हँसता, कभी रोता और कभी काँपता है ॥२६-२९॥

मधु०—आगन्तुज्वरमाह—अभिघातेत्यादि। अभिघातोऽभिहननं शस्त्रलोष्टमुष्टिलगुडादिभिः, अभिचारः श्येनादियागकृतः, अथवा विपरीतैर्मन्त्रैर्लोहस्रुचा सर्षपादिहोम इत्याहुः।

१ ओषधिगन्धज ज्वर (Hay fever). २ काम-भय-शोक-क्रोध ज्वर (Pyrexia of emotions fever).

तस्यैव प्रत्याख्येयताभिव्यञ्जकमुपद्रवविशेषमाह—

सन्निपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः ।
शोथः संजायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते ॥२५॥[च० ६।३]

अभिन्यासज्वरस्य संप्राप्तिं लक्षयति—

(त्रयः प्रकुपिता दोषा उरःस्रोतोऽनुगामिनः ।
आमाभिवृद्धया ग्रथिता बुद्धीन्द्रियमनोगताः ॥१॥
जनयन्ति महाघोरमभिन्यासं ज्वरं दृढम् ।

अभिन्यासज्वरस्य लक्षणं तदसाध्यताश्चाह—

श्रुतौ नेत्रे प्रसुप्तिः स्यान्न चेष्टां कांचिदीहते ॥२॥
न च दृष्टिर्भवेत्तस्य समर्था रूपदर्शने ।
न घ्राणं न च संस्पर्शं शब्दं वा नैव बुध्यते ॥३॥
शिरो लोठयतेऽभीक्ष्णमाहारं नाभिनन्दति ।
कूजति तुद्यते चैव परिवर्तनमीहते ॥४॥
अल्पं प्रभाषते किंचिदभिन्यासः स उच्यते ।
प्रत्याख्यातः स भूयिष्ठः कश्चिदेवात्र सिध्यति ॥५॥)

सन्निपात ज्वर की अन्तिम अवस्था में कानों के मूल में अतिदारुण शोथ हो जाता है, जिससे कि कोई ही रोगी बचता है। इसका भाव यह है कि यह शोथ सन्निपात ज्वर की अन्तिम अवस्था में प्रायः सभी मनुष्यों को हो जाता है। इसका अर्थ यह भी है कि सन्निपात ज्वर की अन्तिम अवस्था में कानों के मूल में अतिदारुण शोथ हो जाता है, जिसके कारण कोई २ मनुष्य ही बचता है अर्थात् इससे प्रायः रोगी मर जाते हैं। उरःस्रोत के अनुगामी प्रकुपित तीनों दोष आम की वृद्धि से ग्रथित होकर जब बुद्धिवाही, इन्द्रियवाही और मनोवाही स्रोतों में चले जाते हैं, तब अत्यन्त भयानक अभिन्यास ज्वर को कर देते हैं, जिसमें कि रोगी के कानों और नेत्रों में प्रसुप्ति रोग हो जाता है, वह (रोगी) किसी भी चेष्टा को नहीं चाहता, उसकी दृष्टि में रूप को देखने की शक्ति नहीं रहती। न वह सूंघ सकता है, न वह स्पर्श ज्ञान कर सकता है और नहीं वह शब्द जान सकता है। परन्तु बार २ सिर को चलाता है, खाता कुछ भी नहीं, कूजन करता है, सुई के चुभान की सदृश पीड़ा का अनुभव करता है। करवटें बदलना चाहता है और कभी २ थोड़ा सा बोलता है। यह अभिन्यास ज्वर कहलाता है, और अधिकतर प्रत्याख्येय हैं, क्योंकि इससे कोई ही रोगी बचता है।

मधु०—सन्निपातज्वरोपद्रवमाह—सन्निपातेत्यादि ॥२५॥

सामान्यत आगन्तुज्वरस्य[1] लक्षणमाह—

अभिघाताभिचाराभ्यामभिशापाभिषङ्गतः ।

---

१ ॲड्व्हेन्टिशिअस् फीवर (Adventitious fever).

आगन्तुर्जायते दोषैर्यथास्वं तं विभावयेत् ॥२६॥

विषजागन्तुज्वरस्य स्वरूपमाह—

श्यावास्यता विषकृते तथाऽतीसार एव च ।
भक्तारुचिः पिपासा च तोदश्च सह मूर्च्छया ॥२७॥ [सु० ६।३६]

भेषजगन्धोत्थागन्तुज्वरस्य लक्षणमाह—

ओषधिगन्धजे मूर्च्छा शिरोरुग्वमथुः क्षवः ।[1]

कामजागन्तुज्वरलक्षणमाह—

कामजे चित्तविभ्रंशस्तन्द्राऽऽलस्यमभोजनम् ॥२८॥ [सु० ६।३६]
(हृदये वेदना चास्य गात्रं च परिशुष्यति ।)

भयादिजन्यागन्तुज्वराणां लक्षणानि व्याचष्टे—

भयात्प्रलापः शोकाच्च भवेत्कोपाच्च वेपथुः ।
अभिचाराभिशापाभ्यां मोहस्तृष्णा च जायते ॥२९॥ [सु० ६।३६]

भूताभिषङ्गजमागन्तुज्वरं लक्षयति—

भूताभिषङ्गादुद्वेगो हास्यरोदनकम्पनम् । [सु० ६।३६]

ज्वर निज और आगन्तुज भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें से निज ज्वर के वातादिज सात भेद बताकर आचार्य अब क्रमप्राप्त आगन्तुज ज्वर को तथा उसके उपलक्षणमात्र भेदों को बताते हैं—आगन्तुज ज्वर चोट आदि से, श्येनादि यागों से, ब्राह्मण-गुरु-सिद्धादि के शाप से तथा भूतादि वा कामादि से होता है। उत्पत्ति के अनन्तर इनमें वातादि के लक्षणों को देखकर उनका ज्ञान करे। विषजन्य ज्वर में मुख श्वेतता लिए हुए काले वर्ण का सा हो जाता है, अतिसार लग जाते हैं, भोजन में इच्छा नहीं होती, प्यास अधिक लगती है, सुइयों की सी चुभान होती है, और मूर्च्छा हो जाती है। ओषधियों के गन्ध से होने वाले ज्वर में मूर्च्छा, सिर में पीड़ा, वमन और छींकें आती हैं। कामोद्भव ज्वर में चित्त में विक्षेप हो जाता है, तन्द्रा आती है, आलस्य होता है, और भोजन करने को मन नहीं चाहता [एवं इसमें हृदय में पीड़ा होती है और शरीर सूखने लगता है]। भय और शोक से उत्पन्न ज्वर में प्रलाप होता है, तथा क्रोध से उत्पन्न ज्वर में प्रलाप और कँपकँपी होती है। अभिचार और अभिशाप से होने वाले ज्वर में मूर्च्छा और तृष्णा होती है। भूताभिषंगज ज्वर में रोगी के मन में घबड़ाहट हो जाती है, कभी वह हँसता, कभी रोता और कभी काँपता है ॥२६-२९॥[2]

मधु०—आगन्तुज्वरमाह—अभिघातेत्यादि । अभिघातोऽभिहननं शस्त्रलोष्टमुष्टिलगुडादिभिः, अभिचारः श्येनादियागकृतः, अथवा विपरीतैर्मन्त्रैर्लोहस्रुचा सर्षपादिहोम इत्याहुः ।

---

१ ओषधिगन्धज ज्वर (Hay fever). २ काम-भय-शोक-क्रोध ज्वर (Pyrexia of emotions fever).

अभिषङ्गः कामादीनां भूतानां च संबन्धः, यदुक्तं चरके—"कामशोकभयक्रोधैरभिषक्तस्य यो ज्वरः। सोऽभिषङ्गज्वरो ज्ञेयो यश्च भूताभिषङ्गजः॥" (च. चि. स्था. अ. ३)-इति। अभिशापो ब्राह्मणगुरुवृद्धसिद्धानामनिष्टाभिशंसनम्। तं चागन्तुज्वरं यथास्वं दोषैर्जानीयात्। यदुक्तम्—"कामशोकभयाद्वायुः"—इत्यादि। अयं च दोषसंबन्धः पश्चाद्भावी नत्वारम्भक इति संप्राप्त्यवसरे निरूपितम्। श्यावास्यतेति श्यावः शुक्लानुविद्धः कृष्णो वर्णः; शाकवर्ण इत्येके। विषकृते स्थावरविषभक्षणादिकृते; अतीसारः तद्विषस्याधोगत्वात्। ओषधिगन्धज इति तीव्रौषधिगन्धघ्राणजे, "पुष्पेभ्यो गन्धरजसी ओजस्विभ्यो यदाऽनिलः"—इत्यादिवृद्धसुश्रुतेन पठितं तृणपुष्पाख्यं ज्वरमत्रैवान्तर्भावयन्ति। कामज इत्यादि अभिमतकामिन्याद्यप्राप्तिनिमित्ते। चित्तविभ्रंशो भ्रमादिः। यदाह वाग्भटः—"कामाद्भ्रमोऽरुचिर्दाहो ह्रीनिद्राधीधृतिक्षयाः।" (वा. नि. स्था. अ. २) इत्यादि। भयादिति भयाज्जाते ज्वरे। एवं शोकात् कोपादित्येतयोर्बोद्धव्यम्, शोकाच्च प्रलाप इति संबन्धः; प्रलापश्चात्र वातकार्यः, तस्य वातकोपितपित्तकार्यत्वात्। विशेषनिश्चयस्तु निदानात्, निदानमपि लक्षणं भवति। उक्तं च—"कामशोकभयाद्वायुः क्रोधात्पित्तं त्रयो मलाः॥" इत्यादि। यद्येवं तत्कुतः क्रोधजे वेपथुः ? तस्य वातकार्यत्वात्। उच्यते—"एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्॥" इति वचनात्पित्तकोपितवातजन्य एवात्र वेपथुः; अथवा क्रुद्धश्च वेपमानो दृश्यत इति नहि दृष्टेरनुपपन्नं नामेति जेज्जटः। क्रोधः पित्तमिव वातं च कोपयतीति, तद्युक्तम्। यदाह विदेहः—"क्रोधशोकौ स्मृतौ वातरक्तपित्तप्रकोपणौ॥" इति। कोपाच्चेति चकारेण शिरोरुजं समुच्चिनोति। यदाह वाग्भटः—"क्रोधात्कम्पः शिरोरुक् च प्रलापो भयशोकजः॥" (वा. नि. स्था. अ. २) इति। मानसत्वाविशेषेऽपि भयजादीनां पृथगुपादानं हेतुभेदात्, हेतुभेदाच्च भेदाभिधानं हेतुप्रत्यनीकचिकित्सार्थमिति। अभिचारेत्यादि। तृष्णा चेति चकारेणाभिचारजे दाहादिकं समुच्चिनोति। यदुक्तं हारीतदर्शिना[1] वाग्भटेन—"तत्राभिचारिकैर्मन्त्रैर्हूयमानस्य तप्यते। पूर्वं चेतस्ततो देहस्ततो विस्फोटतृड्भ्रमैः॥ सदाहमूर्च्छैर्ग्रस्तस्य प्रत्यहं वर्धते ज्वरः॥" इति। भूताभिषङ्गादिति भूतानि देवग्रहादय उन्मादनिदाने वक्ष्यमाणाः, तेषामभिषङ्गः संबन्धः उद्वेग उद्विग्नचित्तता॥२६-२९॥

शस्त्र, लोष्ट, मुष्टि, डण्डे आदि से मारने को अभिघात कहते हैं। शत्रु को मारने के लिये किये हुए श्येन आदि याग से उत्पन्न ज्वर को वा लोहे के स्रुवे से विपरीत मन्त्रों द्वारा सर्षपादि होम से उत्पन्न ज्वर को अभिचारज कहते हैं। कामादि के वा भूतादि के सम्बन्ध होने पर जो ज्वर होता है, वह अभिषंगज कहलाता है। जैसे चरक ने कहा भी है कि—काम शोक भय क्रोध और भूतों के सम्बन्ध से जो ज्वर होता है, वह भूताभिषङ्गज कहलाता है। (च. चि. स्था. अ. ३)। ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध और सिद्ध पुरुषों के दिये हुए शाप को अभिशाप कहते हैं। उस आगन्तुज्वर को ठीक २ दोषों के द्वारा निश्चय करे। जैसा कि कहा है—'काम, शोक और भय से वात कुपित होता है' इत्यादि। यह दोषों का सम्बन्ध ज्वर पैदा होने के उपरान्त होता है न कि यहां ज्वर के दोष आरम्भ (उत्पन्न) करने वाले होते हैं, यह सम्प्राप्ति के वर्णन समय में पीछे बता दिया गया है। श्यावास्यता से शुक्लयुक्त काला रंग लिया जाता है, कोई सागौन का सा रंग लेते हैं। विष से यहां पर स्थावर

---

१ हारीतार्थानुवादिना.

विष के भक्षण से उत्पन्न अतीसार ग्रहण करना चाहिये क्योंकि उस विष को अधोगामी माना है। ओषधि गन्ध से अर्थात् तीव्र ओषधियों की गन्ध के सूँघने से जानना चाहिये क्योंकि वृद्ध सुश्रुत ने 'ओजयुक्त (तीव्रगन्ध वाले) पुष्पों से गन्ध और पराग को लेकर वायु' इत्यादि वाक्य से तृणपुष्प नामक जो ज्वर कहा है उसका भी अन्तर्भाव इसी ज्वर (ओषधिगन्धजन्य आगन्तुज्वर) में हो जाता है। कामज इत्यादि से अभिलषित कामिनी आदि का प्राप्त न होना कारण माना गया है। चित्तविभ्रंश का अर्थ भ्रम आदि है। जैसा कि वाग्भट निदान स्थान अध्याय, २ में कहा है कि 'काम से भ्रम आदि होते हैं' इत्यादि। यदि 'काम, शोक और भय से वायु प्रकुपित होता है' इस शास्त्र वचन से वात के कार्य प्रलाप को शोक का लक्षण सिद्ध करते हो तो 'क्रोध से पित्त प्रकुपित होता है' इस शास्त्र वचन के अनुसार क्रोध का लक्षण वेपथु कैसे हो सकता है ? क्योंकि क्रोध से तो पित्त प्रकुपित होता है, और वेपथु वात का कार्य है, वात के कार्य को पित्त अपना कार्य नहीं बना सकता। (उत्तर—) प्रकुपित हुआ 'एक दोष सभी दोषों को प्रकुपित कर देता है'—इस शास्त्रवचन के अनुसार यहाँ वेपथु पित्त से कोपित वात का कार्य है, अथवा क्रुद्ध मनुष्य काँपता हुआ दीखता है, अतः यह प्रत्यक्ष है। जब यह प्रत्यक्ष है, तो 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्' के अनुसार प्रमाणानन्तर होने पर भी क्रोध से कँपकँपी होती ही है, यह जेज्जट के मत से सिद्ध होता है। क्रोध पित्त की तरह वात को भी प्रकुपित करता है, अतः क्रोध से वेपथु का होना युक्तियुक्त है। जैसे विदेह ने कहा भी है कि—'क्रोध और शोक वात, रक्त और पित्त को प्रकुपित करते हैं'। 'भवेत्कोपाच्च वेपथुः' में चकार से सिर पीड़ा भी लेनी चाहिये, जैसे वाग्भट ने भी कहा है कि—'क्रोध से कँपकँपी और शिरोव्यथा तथा भय और शोक से प्रलाप होता है'। भय आदि से उत्पन्न होने वाले ज्वर भी यद्यपि मानसिक ही हैं, तथापि उनका पृथक् निर्देश कारण भेद होने के कारण किया गया है, और कारण भेद से पृथक् कहना हेतुविपरीत चिकित्सा के लिये है। अभिचारज ज्वर निर्देश में 'मोहात्तृष्णा च जायते' कहा है, यहां भी 'च' से दाहादि का ग्रहण करना चाहिये, और इसी अभिप्राय से आचार्य ने यहां चकार का निर्देश किया है। और इसी बात को हारीतानुगामी वाग्भट ने लिखा है कि—'जिसके लिये आभिचारिक मन्त्रों से हवन किया जाता है, पूर्व उसका मन संतप्त होता है और तदनु शरीर संतप्त होता है, एवं तदनन्तर विस्फोट, तृषा, भ्रम, दाह और मूर्च्छा से युक्त उस मनुष्य का ज्वर दिन प्रति दिन बढ़ता ही जाता है'।

आगन्तुज्वरेष्वपि दोषानुबन्धितां निरूपयति—

कामशोकभयाद्वायुः क्रोधात्पित्तं त्रयो मलाः ॥३०॥ [च० ६।३]
भूताभिषङ्गात्कुप्यन्ति भूतसामान्यलक्षणाः।

काम शोक और भय से वायु, क्रोध से पित्त और भूताभिषङ्ग[1] से जिस भूत (देवग्रहादि) के जो लक्षण हों उन लक्षणों को प्रकट करते हुए तीनों दोष प्रकुपित होते हैं।

मधु०—आगन्तुज्वरेष्वपि प्रतिनियतदोषानुबन्धप्रदर्शनार्थमाह—कामशोकेत्यादि। त्रयो मला भूताभिषङ्गात्कुप्यन्तीति भूतप्रभावात्। यच्च चरकेण निदानस्थाने—"अभिषङ्गजः पुनर्वात-

---

१ भूताभिषङ्गज्वर (Fever of Evil spirits).

पित्ताभ्याम् ॥" (च. नि. स्था. अ. १) इत्युक्तं, तत्प्रायिकं मन्तव्यमिति जेज्जटः। चक्रस्त्वाह- "अभिषङ्गज इत्यनेन कामाद्यभिषङ्गज उच्यते नतु भूताभिषङ्गजः॥" इति। भूतसामान्यलक्षणा इति यस्य भूतस्य देवग्रहादेरभिषङ्गात्कुप्यन्ति तस्य यल्लक्षणं रोदनादि तेन सह सामान्यं सदृशं लक्षणं येषां ते तथा, इति व्याचक्षते जेज्जटादयः। दोषलक्षणानि भूतलक्षणानि च भवन्तीत्यर्थः ॥३०॥

आगन्तु ज्वरों में प्रत्येक नियत दोषों के सम्बन्ध को बतलाने के लिये कहते हैं— 'कामशोक' इत्यादि। भूतों के प्रभाव से भूताभिषङ्ग ज्वर में तीनों दोष प्रकुपित होते हैं, और जो चरक ने निदानस्थान अध्याय प्रथम में 'अभिषङ्गज ज्वर वातपित्त से होता है' ऐसा कहा है, वह प्रायिक जानना चाहिये, यह जेज्जट का मत है। परन्तु चक्रपाणि तो यह कहता है कि उक्त वाक्य में अभिषङ्गज शब्द से कामाभिषङ्गज कहा है, न कि भूताभिषङ्गज। अन्य स्पष्ट है।

विषमज्वरस्य संप्राप्तिं लक्षयति—

दोषोऽल्पोऽहितसंभूतो ज्वरोत्सृष्टस्य वा पुनः ॥३१॥ [सु० ६।३६]
धातुमन्यतमं प्राप्य करोति विषमज्वरम्।
(सन्ततः सततोऽन्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकौ ॥)

ज्वरमुक्त मनुष्य का अवशिष्ट अल्प दोष पुनः मिथ्या आहारादि से बढ़कर रस आदि धातुओं में से किसी एक वा एक से अधिक धातुओं में जाकर विषम ज्वर को करता है। 'वा' शब्द का अभिप्राय यह है कि कभी २ प्रारम्भ में ही विषमज्वर हो जाता है।

यद्यपि यहां अन्यतम शब्द बहुतों में से एक का ग्रहण कराता है परन्तु उक्त श्लोक में 'तमप्' प्रत्यय "बाहुल्येन व्यपदेशा भवन्ति" के अनुसार बहुलतापरक है। एवं यह अर्थ हुआ कि प्रायः उक्त दोष किसी एक धातु वा धातुओं को प्राप्त कर विषम ज्वर करता है। प्रायः शब्द का अभिप्राय यह है कि कभी २ अधिक धातुओं को प्राप्त करके भी दोष विषम ज्वर को कर देते हैं, यथा अस्थि और मज्जा धातुगत दोष चातुर्थिक विषम ज्वर को उत्पन्न करते हैं। जैसा कहा है—त्वस्थिमज्जगतः पुनः। कुर्याच्चतुर्थकम्'। अथवा ठीक ही है, क्योंकि जब दोष केवल अस्थि धातु में जावेंगे तब भी चतुर्थक ज्वर और जब केवल मज्जा धातु में जावेंगे तब भी चतुर्थक ज्वर होगा, और उभयगत चतुर्थकविपर्यय होगा। जैसा तन्त्रान्तर में कहा है—"अस्थिमज्जोभयगते चतुर्थकविपर्ययः। समध्ये ज्वरयत्यह्नी ह्यादावन्ते च मुञ्चति" ॥ पराशरवचनञ्चापि यथा—"अस्थिमज्जोभयगते चतुर्थकविपर्ययः। त्र्यहाद्द्व्यहं ज्वरयतीत्यादावन्ते च मुञ्चति" ॥ (सन्तत, सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक और चतुर्थक ये विषम ज्वर के सामान्यतः पांच भेद हैं)।

मधु०—अथ विषमज्वरसंप्राप्तिमाह—दोषोऽल्प इत्यादि। अल्प इत्यनेनानतिबलत्वात्कालविशेषमवाप्य लब्धबलो ज्वरयति, यस्तु बलवान् स नित्यज्वरमेव करोति। अहितसंभूत इति अहिताहाराचारादिसंभूतो वृद्धः। ज्वरोत्सृष्टस्य सहसा निवृत्तज्वरस्य। वाशब्देन प्रथमतोऽपि

विषमज्वरो भवतीति दर्शयति। यदुक्तम्—"आरम्भाद्विषमो यस्तु॥" इत्यादि। धातुमन्यतमं रसरक्तादिकम्। विषमज्वरं तृतीयकादिकम्। विषमज्वरसामान्यलक्षणं च भालुकिना पठितम्—"यः स्यादनियतात्कालाच्छीतोष्णाभ्यां तथैव च। वेगतश्चापि विषमो ज्वरः स विषमः स्मृतः॥" इति॥३१॥

अब विषम ज्वर की संप्राप्ति को कहते हैं। उक्त श्लोक में अल्प शब्द यह प्रकट करता है कि अल्प दोष ही काल विशेष को प्राप्त कर बलवान् होकर विषम ज्वर को करता है। क्योंकि जो महाबल दोष होता है, वह तो नित्य ज्वर ही करता है। उक्त पद्य में कहे 'वा' शब्द से यह भाव निकलता है कि विषम ज्वर पहले भी हो सकता है। जैसे कहा भी है कि 'जो ज्वर आरम्भ से ही विषम है' इत्यादि। विषम ज्वर का लक्षण 'जो ज्वर अनियत समय पर शीत लगकर वा गरमी लगकर आवे तथा जिसका वेग भी विषम हो, वह विषम ज्वर होता है'।

विषमज्वराणां प्रतिनियतदूष्यान् धातून् दर्शयति—

सन्ततं रसरक्तस्थः, सोऽन्येद्युः पिशिताश्रितः॥३२॥ [सु० ६।३६]
मेदोगतस्तृतीयेऽह्नि त्वस्थिमज्जगतः पुनः।
कुर्याच्चतुर्थकं घोरमन्तकं रोगसंकरम्॥३३॥ [सु० ६।३६]

उपर्युक्तानुसार प्रकुपित अल्पदोष जब रस नामक धातु का आश्रय लेता है तब सन्तत, जब रक्त नामक धातु का आश्रय लेता है तब सतत, जब मांस नामक धातु का आश्रय लेता है तब अन्येद्युष्क और जब मेदोनामक धातु का आश्रय लेता है तब तृतीयक ज्वर को करता है। एवं जब वही प्रकुपित दोष अस्थि वा मज्जा में जाता है तब अनेक रोगों के समूह अति भयानक तथा मारक चतुर्थक ज्वर को करता है। इस पद्य में रसस्थ दोष संतत ज्वर को और रक्तस्थ दोष सतत ज्वर को करता है, यह अर्थ अध्याहार से निकलता है। कारण कि इसमें सतत शब्द का निर्देश नहीं है, अतः उसका अध्याहार करना पड़ता है। अन्यथा 'रक्तधात्वाश्रयः प्रायो दोषः सततकं ज्वरम्' (च. चि. स्था. अ. १) से उक्त सतत ज्वर रह जाता है, साथ ही संतत ज्वर दोष के रसस्थ होने पर ही होता है, रक्तस्थ होने पर नहीं होता। जैसे कि चरक ने उसकी सम्प्राप्ति में कहा भी है कि 'स्रोतोभिर्विसृता दोषा गुरवो रसवाहिभिः। सर्वगात्रानुगाः स्तब्धा ज्वरं कुर्वन्ति सन्ततम्॥' (च. चि. स्था. अ. ३)। इसमें कई आचार्य पहली युक्ति को तो मानते हैं, परन्तु दूसरी युक्ति को नहीं मानते। क्योंकि "यथा धातुं तथा मूत्रं पुरीषं चानिलादयः। युगपच्चानुपद्यन्ते नियमात्सन्तते ज्वरे॥" इस तथा "द्वादशैते समुद्दिष्टाः सन्ततस्याश्रयास्तदा"–(च. चि. स्था. अ. ३) इस शास्त्र वचन के अनुसार सन्तत ज्वर में दोष एक ही समय में नियमपूर्वक सभी ही धातुओं में आश्रित होते हैं, अतः 'दोषों के रक्तस्थ होने पर सन्तत ज्वर नहीं होता' यह सिद्ध नहीं होता। कई आचार्य सतत शब्द का निरन्तर अर्थ लेकर 'सन्ततौ रसरक्तस्थौ' ऐसा पाठ मानते हैं, परन्तु यह

कारण कि यहां 'सन्तत' और 'सतत' शब्द निरन्तरवाचक नहीं हैं, प्रत्युत संज्ञा-परक हैं। अतः सन्तत शब्द से सतत का बोध नहीं हो सकता। जब सतत शब्द का संतत शब्द से (एकार्थवाची न होने के कारण) बोध नहीं हो सकता तो 'विरूपाणामपि समानार्थानाम्' इस कात्यायन वचन के अनुसार एक-शेष कैसे हो सकता है? इस प्रकार 'सन्ततसततौ' ऐसा तो हो सकता है परन्तु एकशेष अर्थात् एक (सतत) शब्द का लोप कर दिया और एक (सन्तत) शब्द रहने दिया, यह नहीं हो सकता। कई आचार्य 'सन्ततं रसरक्तस्थः' ऐसा पाठ पढ़कर यह अर्थ करते हैं कि रस और रक्त में ठहरा हुआ दोष सतत ज्वर को करता है। रस में स्थित दोष भी सतत ज्वर को करता है। इसमें 'रक्तधात्वाश्रयः प्रायः' इत्यादि में पढ़ा हुआ 'प्रायः' शब्द यह बतलाता है कि दोष के रसाश्रित होने पर भी सतत ज्वर होता है, यह ज्ञापन देते हैं। परन्तु यह मन्तव्य भी ठीक नहीं है। क्योंकि इस प्रकार मानने से सन्तत ज्वर का निर्देश रह जाता है, और आचार्यों ने उसे माना है। जैसा चरक ने कहा है—'स्रोतोभिर्विसृताः'-(च. चि. अ. ३) इत्यादि, तथा वाग्भट ने भी कहा है कि 'धातुमूत्रशकृद्वाहि-स्रोतसां व्यापिनो मलाः। तापयन्तस्तनुं सर्वां तुल्यदूष्यादिवर्धिताः ॥ बलिनो गुरवः स्तब्धा विशेषेण रसाश्रिताः। संततं निष्प्रतिद्वन्द्वं ज्वरं कुर्युः सुदुःसहम्'॥ (वा. नि. स्था. अ. २)। इस पर पुनः कई अन्य आचार्य यह कहते हैं कि 'सततं रसरक्तस्थः' यही पाठ ठीक है। इसे मानने से यदि सन्तत ज्वर का निर्देश नहीं होता तो कोई दोष नहीं। कारण कि वह तो विषम ज्वर ही नहीं है। जैसे खरनाद ने कहा भी है कि—"ज्वराः पूर्वं मयोक्ता ये पञ्च सन्ततकादयः। चत्वारः सन्ततं हित्वा ज्ञेयास्ते विषमज्वराः"। एवं जब वह विषम ज्वर ही नहीं तो उसके निर्दिष्ट न होने से कोई हानि नहीं, यह मन्तव्य भी ठीक नहीं है। कारण कि सन्तत ज्वर विषम ज्वर है, क्योंकि विषम ज्वर का लक्षण है—"मुक्तानुबंधित्वं विषमत्वम्" अर्थात् छोड़ २ कर आने वाला ज्वर विषमज्वर कहलाता है, और यह लक्षण सन्तत ज्वर में घटता है, जैसे चरक ने कहा भी है कि-"विसर्गं द्वादशे कृत्वा दिवसेऽव्यक्तलक्षणः। दुर्लभोपशमः कालं दीर्घमप्यनु-वर्तते ॥"-(च. चि. स्था. अ. ३)। और जो खरनाद का "ज्वराः पूर्वं मयोक्ता ये" इत्यादि वाक्य है, वह एक बार मुक्तानुबन्धित्व होने के कारण कहा है। जैसे एक तण्डुल के खाने पर भी कह दिया जाता है कि मैंने कुछ नहीं खाया। दूसरा यदि आचार्यों को सन्तत की विषमज्वरता अभीष्ट न होती तो इसका पाठ विषमज्वरों में क्यों करते? तीसरा यदि उक्त श्लोक के वक्ता सुश्रुत को सन्तत ज्वर का निर्देश न करना अभीष्ट होता तो वह आगे "सप्ताहं वा दशाहं वा"-(सु. उ. तं. अ. ३९) इत्यादि श्लोक में इसका लक्षण क्यों कहता। इससे यह सिद्ध होता है कि 'सततं रसरक्तस्थः' यह पाठ ठीक नहीं है।

अन्य आचार्य यहां 'सतत' इस शब्द को लुप्त मानकर यह अर्थ करते हैं कि रसस्थ दोष सन्तत ज्वर को और रक्तस्थ दोष सतत ज्वर को करता है।

मधु०—सन्ततादिज्वराणां प्रतिनियतदूष्यान् धातूनाह—सन्ततमित्यादि । सन्तत-शब्दः सततस्योपलक्षणः । तेनैतदुक्तं भवति—रसस्थः सन्ततं, रक्तस्थः सततमिति; यदुक्तं चरके—"रक्तधात्वाश्रयः प्रायो दोषः सततकं ज्वरम्" (च. चि. स्था. अ. ३) इति । प्रायोग्रहणात्सततको रक्तव्यतिरिक्तं रसधातुमाश्रयते । रसग्रहणं चात्र विशेषपरं, सर्वज्वरेषु रसस्यावश्यदूष्यत्वात् । अन्ये तु सततग्रहणार्थं 'सन्ततौ रसरक्तस्थौ'–इति पठन्ति । तन्नातियुक्तम्, अत्र हि सन्ततसततशब्दौ संज्ञापरौ, नतु सातत्यवचनौ; तेन सन्ततशब्देन सततकस्यानभिधानात् कथमेकशेष इति दोषः । अन्येद्युरिति अन्येद्युष्कम् । घोरं दुःसहम् । अन्तकं यममिव, मारकत्वात् । रोगसंकरमनेकरोगसंकुलम् ॥३२,३३॥

सन्ततादि ज्वरों के निश्चित दूष्यों को कहते हैं—सन्तत शब्द सतत का भी द्योतक है। इससे यह बात कही जाती है कि रसस्थ दोष सन्तत ज्वर को, और रक्तस्थ दोष सततक को करता है; जैसा कि चरक चिकित्सा स्थान अध्याय ३ में कहा है कि दोष रक्तधातु का आश्रय करके सततक को करता है। यहां प्रायः शब्द के ग्रहण से यह बात कही गई है कि सततक को दोष, रक्त से भिन्न रसधातु का भी आश्रय करके करता है। यहां रस का ग्रहण विशेषता का द्योतक है। क्योंकि रस तो सब ही ज्वरों में अवश्य दूपित होता है। कोई 'सतत' को ग्रहण करने के लिये 'सन्ततौ रसरक्तस्थौ' ऐसा पाठ करते हैं,जो कि ठीक नहीं। क्योंकि यहाँ सन्तत और सतत शब्द रोगों के नाम हैं न कि नित्य अर्थ के वाची। अतः सन्तत शब्द से सतत का ग्रहण न होने के कारण 'सन्ततौ' यहां एकशेष दोष आ जावेगा। 'अन्येद्युः' अर्थात् अन्येद्युष्क को। 'घोरं' का अर्थ दुःसह है। 'अन्तक' इसलिये कहा कि यम के समान मारक है और अनेक रोगों से युक्त है।

सन्ततज्वरस्य संप्राप्तिमाह—

(स्रोतोभिर्विसृता दोषा गुरवो रसवाहिभिः।
सर्वदेहानुगाः स्तब्धा ज्वरं कुर्वन्ति संततम् ॥) [च० ६।३]

तस्य लक्षणं निरूपयति—

सप्ताहं वा दशाहं वा द्वादशाहमथापि वा।
सन्तत्या योऽविसर्गी स्यात्सन्ततः स निगद्यते ॥३४॥ [सु० ६।३६]

सततकज्वरस्य लक्षणमाह—

अहोरात्रे सततको[२] द्वौ कालावनुवर्तते।

अन्येद्युष्कज्वरस्य लक्षणमाह—

अन्येद्युष्कस्त्वहोरात्रे एककालं प्रवर्तते ॥३५॥ [सु० ६।३६]

तृतीयकचतुर्थकयोर्लक्षणमाह—

तृतीयकस्तृतीयेऽह्नि, चतुर्थेऽह्नि चतुर्थकः।

१ संतत ज्वर (Malarial Remittent fever). २ सतत ज्वर (Double Quotidian fever). ३ अन्येद्युष्क ज्वर (Quotidian fever) ४ तृतीयक ज्वर (Tertian fever). ५ चतुर्थक ज्वर (Quartan fever).

(रसवाही स्रोतों से विस्तृत होकर दुःसह दोष सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होने के बाद वहां स्तब्ध होकर (ठहर कर) सन्तत ज्वर को करते हैं।) जो ज्वर सात दिन, दस दिन वा बारह दिन क्रमशः वातादि के अनुसार निरन्तर अविसर्गी रूप से रहे, वह सन्तत ज्वर कहलाता है। जो ज्वर दिन और रात्रि के, पूर्वाह्ण मध्याह्न अपराह्ण प्रदोष अर्धरात्रि और रात्रि के अन्तिम तृतीयांश इन छः समयों में आता है, वह सतत ज्वर होता है। यहां भी ज्वर दोषों के अनुसार ही इन २ समयों में आता है, यथा पूर्वाह्ण और रात्रि के प्रथम तृतीयांश में श्लैष्मिक, मध्याह्न और मध्यरात्र में पैत्तिक एवं अपराह्ण और रात्रि के अन्तिम तृतीयांश में वातिक सतत ज्वर होता है। क्योंकि इन २ कालों में इन दोषों की प्रधानता होती है, जैसे आगे कहा भी है और कहेगा भी कि "काले यथास्वं सर्वेषां प्रवृत्तिर्वृद्धिरेव वा"। अन्येद्युष्क ज्वर दिन और रात्रि के छः कालों में से एक काल में आता है। यहां यह भी प्रायः पूर्वोक्त कालों में प्रधान दोष से ही आता है। तृतीयक ज्वर हर तीसरे दिन आता है और चतुर्थक ज्वर हर चौथे दिन आता है।

मधु०—अथैषां लक्षणान्याह–सप्ताहमित्यादि। एते विकल्पा यथाक्रमं वातपित्तकफोल्बणत्वेन ज्ञेयाः। यथोक्तम्—"पित्तकफानिलवृद्धया दशदिवसद्वादशाहसप्ताहात्। हन्ति विमुञ्चति वाऽऽशु त्रिदोषजो धातुमलपाकात्॥" इति। अयं च सन्तत्रिदोषज एव द्वादशाश्रयत्वेन। यदुक्तं चरकेण–"यथा धातूंस्तथा मूत्रं पुरीषं चानिलादयः। युगपच्चानुपद्यन्ते नियमात्सन्तते ज्वरे॥" इति। (च. चि. स्था. अ. ३)। सन्तत्या अविच्छेदेन सप्ताहादीन् व्याप्य अविसर्गी अपरित्यागी, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। ननु यद्येवं कथमस्य विषमज्वरप्रकरणे पाठः? मुक्तानुबन्धित्वं विषमत्वं, तच्चात्र नास्ति। नैवम्, अस्यापि तथाभावात्। तथाच तल्लक्षणे चरकः–"विसर्गं द्वादशे कृत्वा दिवसेऽव्यक्तलक्षणः[1]। दुर्लभोपशमः कालं दीर्घमप्यनुवर्तते॥" इति (च. चि. स्था. अ. ३)। यत्तूक्तं खरनादेन–"ज्वराः पूर्वं मयोक्ता ये पञ्च सन्ततकादयः। चत्वारः सन्ततं हित्वा ज्ञेयास्ते विषमज्वराः॥" इति; तत्सन्तते मुक्तानुबन्धित्वस्यैकदाभावित्वेनाल्पत्वान्न तद्व्यपदेशः, एकतण्डुलाभ्यवहारेऽनशनशब्दस्य व्यपदेशवत्, नहि तृतीयकादिवदावृत्त्या मुक्तानुबन्धित्वमस्येत्याभिप्रायेण द्रष्टव्यम्। अथवा या विषमज्वरोल्लेखेनोक्ता चिकित्सा सा सन्ततवर्जं[2] सततादिषु कार्येति प्रतिपादनार्थम्। हरिचन्द्रेणापि "कर्म साधारणं जह्यात्तृतीयकचतुर्थकौ[3]" इति (च. चि. स्था. अ. ३) चरकवचनाद्विषमज्वरोक्तचिकित्सा तृतीयकचतुर्थकयोरेव, अन्येषु दोषप्रत्यनीकचिकित्सा कार्येति व्याख्यातम। अस्यां हरिचन्द्रव्याख्यायां कर्म साधारणं सर्वत्रैव विषमज्वरे कार्यं विशेषेण तृतीयकचतुर्थकयोरिति द्रष्टव्यम्, अन्यथोक्ततन्त्रान्तरविरोधः। अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्तत-इति अह्नि द्वौ कालौ रात्रौ द्वौ कालौ वा; अह्नि एककालं रात्रावेककालमेवं वा; द्वौ कालौ–इतीशानदेवः, नियमानभिधानात् तथा दर्शनाच्च। अनुवर्तते वेगं करोति। तृतीयेऽह्नि तृतीयक इति वेगदिनापेक्षया तृतीयेऽह्नि यो भवति स तृतीयकः, एवं चतुर्थकेऽपि वाच्यम्॥३४॥३५॥

१ लक्षणम्. २ सन्तते वर्ज्या. ३ कुर्यात् तृतीयकचतुर्थके.

सन्तत ज्वर के ये सात दिन आदि वाले विकल्प 'व्यपदेशस्तु भूयसा' (वा. सू. स्था. अ. १५) के अनुसार वात, पित्त, कफ की उल्बणता से जानने चाहियें । जैसे कहा भी है कि—'पित्त, कफ और वात की वृद्धि से दस, बारह और सात दिन के बाद त्रिदोषज ज्वर अतिशीघ्र धातुपाक[1] होने पर मार देता है और मलपाक होने पर छोड़ देता है'। यह सन्तत ज्वर द्वादशाश्रय[2] होने से त्रिदोषज ही है । जैसे चरक ने कहा भी है कि—'सन्तत ज्वर में अनिलादि जैसे रसादि सातों धातुओं को नियम से एक ही समय में आश्रय करते हैं उसी तरह मूत्र और पुरीष का भी आश्रय लेते हैं' । (शंका—) यदि सन्तत ज्वर सात आदि दिन तक निरन्तरगामी है तो इसका निर्देश विषम ज्वर के प्रकरण में क्यों किया है ? विषम ज्वर छोड़ २ कर आने वाला होता है, और इसमें यह भाव है नहीं, अतः यह विषम ज्वर नहीं है । (उत्तर—) नहीं, यह भी छोड़कर आता है । अतः विषम ज्वर है । जैसे इसके लक्षण में चरक ने कहा भी है कि—'सन्तत ज्वर बारहवें दिन छोड़ फिर अस्फुट लक्षणों वाला होकर पुनः दीर्घकाल तक दुर्लभ शान्ति वाला होकर रहता है'। और जो खरनाद ने कहा है कि—'पूर्व मैंने जो पांच सन्तत आदि ज्वर कहे हैं, उनमें से सन्तत ज्वर को छोड़कर शेष चार विषमज्वर हैं' यह भी एक बार मुक्तानुबन्ध होने के कारण ही कहा है । क्योंकि तृतीयकादि में मुक्तानुबन्ध कई बार होता है और इसमें केवल एक बार, अतः अल्प है । जिस प्रकार एक तण्डुल खाने पर भी कह दिया जाता है कि मैंने कुछ नहीं खाया, उसी प्रकार केवल एक बार मुक्तानुबन्ध होने से खरनाद ने यह कहा है परन्तु वस्तुतः मुक्तानुबन्ध है अवश्य । अथवा जो विषम ज्वर की चिकित्सा बताई है, वह सन्तत ज्वर को छोड़कर शेष सततादि ज्वरों में करनी चाहिये, यह बताने के लिये खरनाद ने सततादि से उसे पृथक् किया है, परन्तु वस्तुतः वह विषम ज्वर ही है । हरिचन्द्र ने भी, तृतीयक और चतुर्थक ज्वर में साधारण कर्म करे, अर्थात् भूतानुबन्ध में दैवव्यपाश्रय बलिमङ्गलादि रूप, और दोषानुबन्ध में युक्तिव्यपाश्रय दोषानुकूलकषाय-पानादि रूप साधारण चिकित्सा करे इस चरक वचन के अनुसार विषमज्वरोक्त चिकित्सा तृतीयक और चतुर्थक में ही करे और दूसरों में दोषप्रत्यनीक चिकित्सा करे, यह व्याख्या की है । परन्तु इस हरिचन्द्र की व्याख्या में साधारण कर्म सारे ही विषम ज्वरों में करे, विशेषतः तृतीयक और चतुर्थक में, यह जानना चाहिये अन्यथा 'ज्वराः पूर्वम्' इत्यादि तन्त्रान्तर से विरोध आ जाता है ।

केषाञ्चिन्मतेन विषमज्वराणां भूताभिषङ्गजत्वं दर्शयति—

केचिद्भूताभिषङ्गोत्थं ब्रुवते विषमज्वरम् ॥३६॥ [सु. ६।३९]

कोई आचार्य विषम ज्वर को भूताभिषङ्गज कहते हैं ।

मधु०—विषमज्वरस्यैकीयमतेन भूताभिषङ्गजत्वमाह—केचिदित्यादि । परवचनमप्रतिषिद्धमनुमतं सुश्रुतेन; अत एव विषमज्वरे दैवव्यपाश्रयं बलिहोमादिभूतोचितं, युक्तिव्यपाश्रयं कषायपानादि दोषोचितं च विधीयते । यदाह चरकः—"कर्म साधारणं जह्यात्तृतीयकचतुर्थकौ । आगन्तुरनुबन्धो हि प्रायशो विषमज्वरे ॥"—इति (च. चि. स्था. अ. ३) । अत्र साधारणमिति दैवयुक्तिव्यपाश्रयमिति व्याचक्षत इति ॥३६॥

---

१ धातुपाकलक्षणं यथा—'सम्बाध्यमानो हृदि नाभिदेशे गात्रेषु वा पाकरुजान्वितेषु । पक्केषु वा तेषु रुजं ज्वरार्तः स धातुपाकी कथितो भिषग्भिः. २ त्रयो दोषास्तथा सप्त धातवो द्वे च विण्मूत्रे । सन्ततस्य त्विमे ज्ञेया आश्रया खलु द्वादश ॥. ३ कर्म साधारणं कुर्यात्तृतीयकचतुर्थकौ. ४ आगन्तुरनुबन्धो हि.

दूसरों का वचन यदि आचार्य खण्डन न करें तो जानना चाहिये कि यह उन्हें स्वीकार है। इसी न्याय के अनुसार प्रतीत होता है कि सुश्रुत ने भी भूताभिषङ्गोत्थ विषम ज्वर को माना[1] है और इसी लिये उसने विषम ज्वर में दैवव्यपाश्रय बलि मङ्गल होम आदि भूतोचित कर्म का और युक्तिव्यपाश्रय कषायपानादि दोषोचित कर्म का विधान किया है। चरक ने भी कहा है कि तृतीयक और चतुर्थक ज्वर को साधारण कर्म नष्ट कर देता है क्योंकि प्रायः विषम ज्वर में आगन्तु का अनुबन्ध होता है (च. चि. स्था. अ. ३)। यहां साधारण शब्द से दैवव्यपाश्रय और युक्तिव्यपाश्रय दोनों लिये जाते हैं।

दोषोल्बणत्वे तृतीयकज्वरस्य लक्षणान्तरमाह—

कफपित्तात्त्रिकग्राही पृष्ठाद्वातकफात्मकः।
वातपित्ताच्छिरोग्राही त्रिविधः स्यात्तृतीयकः॥३७॥ [च० ६।३]
चतुर्थको दर्शयति प्रभावं द्विविधं ज्वरः।
जङ्घाभ्यां श्लैष्मिकः पूर्वं शिरस्तोऽनिलसंभवः॥३८॥ [च० ६।३]

कफपित्तात्मक तृतीयक ज्वर त्रिक में, वातकफात्मक पृष्ठ में और वातपित्तात्मक शिर में होने से पूर्व पीड़ा करता है। यह ज्वर तीन प्रकार का होता है। चतुर्थक ज्वर दो प्रकार से अपने प्रभाव को दर्शाता है—यदि श्लैष्मिक होगा तो पूर्व जङ्घाओं को पीड़ित करता हुआ और यदि वातिक होगा तो पूर्व शिर को पीड़ित करता हुआ ज्वर को करेगा। चातुर्थिक ज्वर पैत्तिक नहीं होता, यह इसका स्वभाव ही है जैसे पैत्तिक गलगण्ड नहीं होता। परन्तु हारीत चातुर्थिक ज्वर मानता है।

मधु०—उल्बणदोषभेदेन तृतीयकचतुर्थकयोर्लक्षणान्तरमाह—कफपित्तादित्यादि। त्रिकग्राही वेदनया त्रिकव्यापी, त्रिकस्य वातस्थानत्वेन तद्गतौ पित्तकफावन्यस्थानगतत्वेन दुर्बलौ तृतीयदिने वेगं कुरुतः, यदि तु स्वस्थानस्थितौ स्यातां तदा सन्ततज्वरमेव कुर्यातामिति जेज्जटः। एवं शिरसि कफस्थाने, पृष्ठे च पित्तस्थाने बोद्धव्यम्। पृष्ठादिति ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी, पृष्ठं वेदनया व्याप्येत्यर्थः। नच वाच्यं यदि त्रिकं वातस्थानं तत्कथं तत्र पित्तकफाविति; प्रकृतिस्थानां दोषाणां स्थाननियमो नतु प्रकुपितानां, तेषां सर्वदेहगतत्वात्। यदाह सुश्रुतः—"कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्। यत्र सङ्गः स्व(ख)वैगुण्याद्व्याधिस्तत्रोपजायते॥" इति (सु. सू. स्था. अ. २४)। एवमन्यस्थानगतत्वेन दोषदौर्बल्यादि चतुर्थकेऽपि वाच्यम्। प्रभावं रुजारूपशक्तिम्। द्वैविध्यं विवृणोति—जङ्घाभ्यामित्यादि। जङ्घाभ्यां शिरस्त इत्येतच्च पञ्चमीद्वयं पूर्ववत्। पूर्वमिति प्रथमं, तत्र भूत्वा निखिलं देहं व्याप्नोति। श्लैष्मिक इति श्लेष्मोल्बणः, सन्ततसततकान्येद्युष्कतृतीयकचतुर्थकानां पञ्चानां सन्निपातजत्वात्। यदुक्तं चरके—"प्रायशः सन्निपातेन दृष्टः पञ्चविधो ज्वरः। सन्निपाते तु यो भूयान् स दोषः परिकीर्तितः॥" (च. चि. स्था. अ. ३) इति। अथवा प्रायोग्रहणादेकदोषजा द्विदोषजा अपि भवन्ति। अन्ये त्वाहुः—

१ दोषजविषमज्वरप्रस्तावेऽपि सुश्रुतेनैकीयमतमप्युपन्यस्तम्। तद्यथा—'परो हेतुस्स्वभावो वा विषमे कैश्चिदीरितः। आगन्तुरनुबन्धो हि प्रायशो विषमज्वरे॥' (सु. उ. तं. अ. ३९) इति। इदमपि ... तदनुमतमिति मन्तव्यम्.

विकृतिविषमसमवायारब्धाः सन्ततादयः सन्निपातजाः, तेषामेवोद्भूतदोषेण व्यपदेशः; प्रकृतिसम-समवायारब्धास्त एकदोषजद्विदोषजा अपि भवन्तीति जेज्जटः ।

त्रिक के वातस्थान होने से उसमें गए हुए पित्त और कफ दूसरे के स्थान में ठहरे होने के कारण दुर्बल होने से हर तीसरे दिन वेग करते हैं, और यदि वे पित्त कफ अपने २ स्थान में स्थित हों तो अवश्य सन्तत ज्वर को ही करेंगे, यह जेज्जट मानता है। इसी प्रकार कफ के स्थान शिर में स्थित वात पित्त और पित्त के स्थान पृष्ठ में स्थित वात कफ दुर्बल होने से हर तीसरे दिन वेग करते हैं। यदि ये भी अपने २ स्थान में स्थित रहें तो सन्तत ज्वर को ही करेंगे । यदि त्रिक वात का स्थान है, शिर कफ का स्थान है और पृष्ठ पित्त का स्थान है तो उसमें (उनमें) क्रमशः पित्तकफ, वातपित्त और वात-कफ कैसे जा सकते हैं ? इसका उत्तर यह है कि—नियतस्थान प्रकृतिस्थ दोषों का होता है न कि प्रकुपित दोषों का । क्योंकि प्रकुपित दोष सर्वशरीरव्यापी होते हैं । जैसे सुश्रुत में कहा भी है कि 'शरीर में इधर उधर शीघ्र गति से चलते हुए प्रकुपित दोष अपनी वा इन्द्रियों की विगुणता से जहां ठहर जा वहीं व्याधि उत्पन्न हो जाती है' । इसी प्रकार दूसरे के स्थान में जाने से चतुर्थक ज्वर में भी दोष के दुर्बल होने के कारण यह ज्वर चतुर्थ दिन में होता है अन्यथा सन्तत ज्वर होता है । श्लैष्मिक शब्द से श्लेष्मोल्बण लेना चाहिये । क्योंकि सन्तत, सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक और चतुर्थक ये पांचों ही सन्निपात से होते हैं। एवं इस (चतुर्थक वा तृतीयक) में जब श्लेष्मा अधिक होगा और वह उपर्युक्त स्थान में जावेगा तो उपर्युक्त ज्वर होगा। इसी प्रकार दूसरे दोषों की भी यथासम्भव योजना होती है। विषम ज्वर सन्निपातज हैं, इसे चरक ने भी कहा है कि—सन्निपात से प्रायः पाँच प्रकार का ज्वर दीखता है, परन्तु फिर भी उनमें जिस दोष की अधिकता होती है उसी दोष से कहा जाता है अर्थात् उस दोष से उनका व्यपदेश किया जाता है । उपर्युक्त पद्य में पढ़े हुए प्रायः शब्द से यह भाव निकलता है कि ये सान्निपातिक सन्ततादि उल्बणता के अनुसार एकदोषज वा द्विदोषज भी होते हैं, अथवा वैसे ही एकदोषज और द्विदोषज होते हैं। दूसरे आचार्य कहते हैं कि विकृतिविषमसमवाय से उत्पन्न सन्तत आदि सन्निपातज हैं, और उन्हीं में उल्बण दोष से व्यपदेश होता है। प्रकृतिसमसमवाय से होने वाले सन्तत आदि एकदोषज और द्विदोषज भी होते हैं, ऐसा जेज्जट का कथन है।

मधु०—प्रकृतिसमसमवायारब्धश्चतुर्थकस्तु पित्तेन न क्रियत एव, व्याधिस्वभावात्; पित्तजगलगण्डवत् । ननु, अस्ति पैत्तिकोऽपि चतुर्थकः, तथाच हारीताचार्यो व्याहरति—"चतुर्थको नाम गदो दारुणो विषमज्वरः । शोषणः सर्वधातूनां बलवर्णाग्निनाशनः ॥ त्रिदोषजो विकारः स्यादस्थिमज्जगतोऽनिलः । कुपितं पित्तमेवं तु कफश्चैवं स्वभावतः ॥ शीतदाह-करस्तीव्रस्त्रिकालं चानुवर्तते । स सन्निपातसंभूतो विषमो विषमज्वरः ॥ ऊर्ध्वं कायस्य गृह्णाति यः पूर्वं सोऽनिलात्मकः । पूर्वं गृह्णात्यधःकायं श्लेष्मवृद्धश्चतुर्थकः ॥" इति । अत्राहुः—अनुबन्धरूपमत्र पित्तं, नत्वारम्भकं; कथमेषा प्रतीतिरिति चेत्, स्थानविशेषानभि-धानात्; अत एव हारीतेनापि स्थानं नोदाहृतमेव जङ्घादिवदिति चरकटीकाकृतो व्याचक्षते । किंत्वेषा व्याख्या तदा संगच्छते यदि पित्तलिङ्गं नोद्भूतं दृश्यते, दृश्यते च; तथापि कथ्यते—भेडेऽपि पैत्तिकः पठ्यते—"आमाशयस्थः पवनो ह्यस्थिमज्जगतोऽपि वा । कुपितः श्लेष्माणं पित्तमेव च ॥" इति । किंच नागभर्तृतन्त्रे स्थानमप्युक्तमेव—"

गृह्णाति सोऽनिलात्मकः। मध्यकायं तु गृह्णाति पूर्वं यस्तु स पित्तजः॥ पूर्वं गृह्णात्यधःकायं श्लेष्मवृद्धश्चतुर्थकः॥" इति। तस्मात्प्रायेण कफवाताभ्यां भवतीति पैत्तिकश्चतुर्थकश्चरकादिभिर्नोदाहृतः, न त्वसंभवादिति मन्तव्यम्।

प्रकृतिसमसमवाय से होने वाला चतुर्थक ज्वर पित्त से नहीं होता, यह इस व्याधि का स्वभाव ही है, जैसे पैत्तिक गलगण्ड नहीं होता। (शंका—) चतुर्थक ज्वर पैत्तिक भी होता है, जैसे आचार्य हारीत कहता है कि 'चतुर्थकविषमज्वर नामक दारुण व्याधि सब धातुओं की शोषक तथा बलवर्ण और अग्निनाशक है, यह विकार त्रिदोषज है, जब अस्थि और मज्जा में कुपित वायु, कुपित पित्त वा कुपित कफ जाता है तो शीत और दाह को करने वाला यह ज्वर तीव्रता से तीनों कालों में होता है। यही सन्निपात से होने वाला भयानक विषम ज्वर है। जो पूर्व ऊर्ध्वकाय में पीड़ा करता है, वह वातात्मक और जो पूर्व अधःकाय में पीड़ा करता है, वह श्लेष्मात्मक चतुर्थक ज्वर है'। इससे सिद्ध है कि यह प्रकुपित पित्त से भी होता है। इस पर कई कहते हैं कि यहां पित्त अप्रधान रूप से है, न कि प्रधानरूप से। क्योंकि वात कफ की तरह इसका स्थान विशेष नहीं बताया और यही कारण है कि हारीत ने भी इसके स्थान का निर्देश नहीं किया। यही चरक के टीकाकार भी कहते हैं, परन्तु उनकी यह व्याख्या तब संगत हो सकती है, यदि पित्त के लक्षण स्फुट न दीखते हों। परं वे दीखते हैं, अतः यह व्याख्या ठीक नहीं है। भेड ने भी पैत्तिक चतुर्थक ज्वर का उल्लेख किया है। तद्यथा—'आमाशय में स्थित कुपित वायु अस्थि और मज्जा में जाकर शीघ्र ही श्लेष्मा को तथा पित्त को प्रकुपित कर देता है'। यदि कहा जाय कि स्थान का निर्देश पैत्तिक चतुर्थक विषम ज्वर में नहीं है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि नागभर्तृ के शास्त्र में स्थान निर्देश भी है। जैसा कि कहा है—'जो चतुर्थक ज्वर पूर्व ऊर्ध्वकाय को पीडित करता है, वह वातात्मक और जो चतुर्थकज्वर पूर्व मध्यकाय को पीड़ित करता है, वह पित्तात्मक, एवं जो अधःकाय को पूर्व पीडित करता है, वह श्लेष्मात्मक चतुर्थक ज्वर है'। इससे यह सिद्ध होता है कि चतुर्थक ज्वर प्रायः वात कफ से होता है, और इसी लिये चरक ने पैत्तिक चतुर्थक का निर्देश नहीं किया, न कि इस भाव से निर्देश नहीं किया कि वह होता ही नहीं, अन्यथा उक्त नागभर्तृ आदि के शास्त्र से विरोध होगा।

मधु०—एषां चोत्पत्तिक्रमो वृद्धसुश्रुतादवगन्तव्यः। स यदाह—"अहोरात्रादहोरात्रात् स्थानात्स्थानं प्रपद्यते। ततश्चामाशयं प्राप्य करोति विषमज्वरम्॥ कफस्थानविभागेन यथासंख्यं करोति हि। सततान्येद्युष्कत्र्याख्यचतुर्थान् सप्रलेपकान्॥" (सु. उ. तं. अ. ३९) इति। अस्यायमर्थः—आमाशयहृदयकण्ठशिरःसन्धयः पञ्च कफस्थानानि, एषु स्थितैर्दोषैर्यथासंख्यं सततादयः क्रियन्ते। तत्रामाशयस्थितेन दोषेण सततकः क्रियते द्विकालं; न चामाशयप्राप्त्या सर्वदा प्रसङ्गः, अहोरात्रेषु प्रकोपकालापेक्षया ज्वरोत्पत्तेः। हृदयस्थितेन दोषेण आमाशयमागत्यान्येद्युष्कः क्रियते एककालं, नच सर्वदा, सततारम्भकदोषापेक्षयाऽस्य व्यवहितत्वात्। कण्ठस्थितेन दोषेणैकस्मिन् दिने हृदयमागम्यते, अपरस्मिन्नामाशयमागत्य ज्वर आरभ्यते तृतीयकः। एवं शिरःस्थितेन दोषेण कण्ठहृदयामाशयान् त्रीन् त्रिभिर्दिनैः क्रमेण प्राप्य चतुर्थकः क्रियते। पुनः स्वस्थानगमनं तु दोषाणां हतवेगत्वेन लाघवाद्वेगदिन एव भवति। सन्धिस्थितेन दोषेण प्रलेपकः क्रियते, सन्धयश्चामाशयेऽपि सन्तीति स सर्वदा भवति। अयं चाविषमोऽपि विषमसहचरितः

१ प्रायोऽसम्भवाद्.

पठितः, कफस्थानोत्पादानुरोधात्। उक्तं हि सुश्रुते—"प्रलेपकस्त्वविषमः प्रायः क्लेशाय शोषिणाम्॥" इति (सु. उ. तं. अ. ३९) ॥३७,३८॥

इन सतत आदि का उत्पत्तिक्रम वृद्धसुश्रुत से जानना चाहिये। उसने जैसे कहा भी है कि—दोष एक २ अहोरात्र के बाद एक स्थान से दूसरे स्थान में जाते हैं, और जब आमाशय में पहुँच जाते हैं, तो विषम ज्वर को करते हैं। सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक, चतुर्थक और प्रलेपक ये कफ के अनुसार यथाक्रम होते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि आमाशय, हृदय, कण्ठ, शिर और सन्धियां ये पांच कफ के स्थान हैं। इनमें ठहरे हुए दोष यथाक्रम सतत आदि ज्वरों को करते हैं। उनमें से आमाशय में स्थित दोष, अहोरात्र के दो समयों में सतत ज्वर को उत्पन्न करते हैं। अब यहां शंका होती है कि जब दोष आमाशय में हैं तो वे सर्वदा वहीं रहने के कारण ज्वर को सर्वदा सन्तत रूप में क्यों नहीं करते? इसका उत्तर यह है कि सतत ज्वर जिस दोष की अधिकता से होता है, उसी दोष के प्रधान समय की अपेक्षा रखता है। अतः उसी दोष के प्रधान समय में होता है और वह समय अहोरात्र में प्रत्येक दोष का दो बार आता है। इस कारण वह ज्वर उन दो समयों में ही होता है। यदि द्वन्द्वोल्बण हो तो वह अहोरात्र के छः कालों में से चार कालों में आता है और दो कालों में नहीं आता एवं तब यह सतत विपर्यय हो जाता है। इसकी द्वन्द्वोल्बणता 'प्रायशः सन्निपातेन' (च. चि. स्था. अ. ३) इत्यादि श्लोक में पठित प्रायः शब्द से सिद्ध ही है। जब यह सिद्ध है तो उन दोनों दोषों के समयों में ज्वर होगा क्योंकि इसमें दोष तो सर्वदा ही आमाशय में रहते हैं, केवल समय की अपेक्षा रखते हैं, तो वह उन्हें द्वन्द्वोल्बणता में मिल ही जावेगा, एवं इस प्रकार सततविपर्यय भी हो सकता है। हाँ, 'कफस्थानेषु वा दोषस्तिष्ठन् द्वित्रिचतुर्षु वा। विपर्ययाख्यान् कुरुते विषमान् कृच्छ्रसाधनान्॥' (सु. उ. तं. अ. ३९) के अनुसार नहीं हो सकता। क्योंकि यह केवल एक ही कफस्थान में स्थित दोष से होता है। मेरा विचार है कि जो सततविपर्यय का अभाव कहा गया है, वह भी इसी 'कफस्थानेषु' इत्यादि श्लोक के भाव से कहा गया है, उससे पहले श्लोक के भाव के अनुसार नहीं कहा गया। तदनुसार सतत विपर्यय हो सकता है। अनुभव में भी आता है कि कोई २ शीतपूर्वक वा उष्णपूर्वक चढ़ने वाला ज्वर अहोरात्र में किन्हीं दो समयों में उतर जाता है और शेष समयों में रहता है। एवं इसमें मुक्तानुबन्धित्व होने से यह विषम ज्वर है, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं। एवं जब यह विषम ज्वर है तो कौन सा विषम ज्वर है? सन्ततादि तो हो नहीं सकते क्योंकि उनके लक्षण नहीं घटते। कारण कि उनमें से कोई भी ऐसा ज्वर नहीं है जो कि इस समय के विभाग से रहे। इसी प्रकार अन्येद्युष्क आदि के विपर्यय भी इस समय विभाग के अनुसार नहीं हो सकते। अतः यह द्वन्द्वोल्बणता सतत ही है, जो कि सतत विपर्यय की आकृति धारण करता है। हृदयस्थ दोष आमाशय में आकर अन्येद्युष्क नामक ज्वर को अहोरात्र में एक समय करता है, सर्वदा नहीं करता। कारण कि सतत ज्वर को आरम्भ करने वाले दोष की अपेक्षा से यह व्यवहित है, कण्ठस्थ दोष एक दिन में हृदय में आता है और पुनः दूसरे दिन आमाशय में आकर तृतीयक ज्वर को करता है, एवं शिर में स्थित दोष कण्ठ, हृदय और आमाशय इन तीनों को क्रम से तीन दिनों में प्राप्त कर चतुर्थक ज्वर को करता है। पुनः दोषों का अपने २ स्थान में जाना वेग के नष्ट होने से लाघव हो जाने के कारण वेग के दिन ही हो जाता है। सन्धियों में स्थित दोष प्रलेपक ज्वर को करता है। सन्धियाँ आमाशय में भी होती हैं, अतः प्रलेपक ज्वर सर्वदा रहता है। यह प्रलेपक ज्वर

१ तथा प्रलेपको ज्ञेयः शोषिणां प्राणनाशनः.

विषम ज्वर न होने पर भी कफस्थान से उत्पन्न होने के कारण विषम ज्वर के साथ ही पढ़ दिया है। जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—प्रलेपक ज्वर विषम ज्वर नहीं है और यह शोषरोगियों को होता है, एवं प्रायः प्राणहर होता है। अब यहां यह शंका होती है कि सतत आदि विषम ज्वरों के वेग दूर हो जाने पर भी सतत आदि का आरंभक दोष तो रहता ही है फिर वह सर्वदा रोग क्यों नहीं करता? केवल उस २ समय पर ही क्यों करता है? उसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार तेज, पृथ्वी, वायु और जल इनके होने पर भी बीज अपने कालविशेष पर ही अंकुर उत्पन्न करता है, उसी प्रकार रोग भी अपने २ कालविशेष में ही उत्पन्न होते हैं, क्योंकि उन (बीजों तथा रोगों) की उत्पत्ति में काल भी सहकारी कारण होता है। इस पर सुश्रुत का वचन भी है कि—'देवे वर्षत्यपि यथा भूमौ बीजानि कानिचित्। शरदि प्रतिरोहन्ति तथा व्याधिसमुच्छ्रयाः॥' (सु. उ. तं. अ. ६१)। अतएव यहां भी सतत के लिये दोषप्रकोपक काल और अन्येद्युष्क, तृतीयक तथा चतुर्थक को अपने २ कफस्थान से आमाशय में पहुँचने के लिये विशेष काल अपेक्षित है। क्योंकि उनके दोष, वेग के तत्काल बाद अपने २ स्थान पर आ जाते हैं, अतः सर्वदा सततादि नहीं होते।

Quartan.

चतुर्थकविपर्ययं लक्षयति—

विषमज्वर एवान्यश्चतुर्थकविपर्ययः। [च० ६।३]
स मध्ये ज्वरयत्यह्नी आदावन्ते च मुञ्चति॥३९॥

चतुर्थकविपर्यय नामक ज्वर भी एक विषम ज्वर ही है। वह मध्य में दो दिन ज्वर करके आदि और अन्त के दिन छोड़ देता है।

मधु०—चतुर्थकविपर्ययमाह—विषमेत्यादि। अत्र तन्त्रान्तरम्—"अस्थिमज्जोभयगते चतुर्थकविपर्ययः। स मध्ये ज्वरयत्यह्नी ह्यादावन्ते च मुञ्चति॥" इति। आदावेकदिनं मुक्त्वा, मध्ये दिनद्वयं भूत्वा, अन्ते एकदिनं न भवतीति व्याचक्षते गेज्जटादयः। "अस्थिमज्जोभयगते चतुर्थकविपर्ययः। त्र्यहाद्द्व्यहं ज्वरयत्यादावन्ते च मुञ्चति॥" इति पराशरवचनस्यापि स एवार्थः; त्र्यहादिति त्र्यहस्यादिदिनं विमुञ्चति, दिनद्वयं ज्वरयति, त्र्यहस्यान्ते चतुर्थदिनं मुञ्चतीति तात्पर्यार्थं व्याचक्षते। हरिचन्द्रस्त्वाह—द्वे अहनी निरन्तरं ज्वरयित्वा उपरम्यैकमहः पुनर्ज्वरयतीत्येषश्चतुर्थकविपर्यय इति। आदिदिनाभावश्चोत्तरोत्तरपातिदिवसेष्ववधार्यः। चतुर्थकविपर्ययस्योपलक्षणत्वेन तृतीयकादिविपर्ययोऽप्यूह्य इत्याहुः। तद्यथा—मध्ये एकदिनं ज्वरयति, आद्यन्तयोर्मुञ्चतीति तृतीयकविपर्ययः; एककालं विमुच्य सर्वमहोरात्रं व्याप्नोतीत्यन्येद्युष्कविपर्ययः; कालद्वये मुञ्चति, सर्वमहोरात्रं ज्वरयतीति सततकविपर्ययः। अत्र दोषविकृतिरेव नानाविधा हेतुरिति। "कफस्थानेषु वा तिष्ठन् दोषो द्वित्रिचतुर्षु च। विपर्ययाख्यान्कुरुते विषमान्कृच्छ्रसाधनान्॥" (सु. उ. तं. अ. ३९)—इति वृद्धसुश्रुतवाक्यं व्याचक्षाणो गेज्जटोऽन्येद्युष्कतृतीयचतुर्थकमात्रस्य विपर्ययमुदाहरति। तद्यथा—आमाशयहृदयस्थदोषेण यथोदाहृत एवान्येद्युष्कविपर्ययः; आमाशयहृदयकण्ठस्थितेन तृतीयकविपर्ययः, तत्रैकस्मिन्

१ चतुर्थकविपर्यय (Double Quartan fever). २ 'त्र्यहाद् द्व्यहं ज्वरयति' इति आतङ्कदर्पणसंमतः पाठः.

दिने हृदयस्थो दोष आमाशयमागत्य तत्स्थेन सह ज्वरयति, तद्दिने कण्ठस्थितश्च हृदयमायाति, अपरदिने सोऽप्यामाशयमागत्य ज्वरयति, एवं दिनद्वयं भूत्वा पश्चादेकदिनं न भवतीति तृतीयकविपर्ययः; आमाशयहृदयकण्ठशिरःस्थेन दोषेण चतुर्थकविपर्ययः क्रियते, तत्र यस्मिन् दिने हृदयस्थो दोष आमाशयमागत्य ज्वरयति तस्मिन्नेव कण्ठस्थो हृदयं शिरःस्थश्च कण्ठमायाति, अपरदिने हृदयस्थ आमाशयमागत्य ज्वरयति कण्ठस्थितश्च हृदयमायाति, अपरदिने हृदिस्थ एवामाशयमागत्य ज्वरयति, एवं दिनत्रये भूत्वा पश्चादेकदिनं न भवतीति चतुर्थकविपर्यय इति। एते च सर्व एव ज्वरा न विरुद्धाः, सर्वेषामेव मुनिप्रणीतत्वात्। यथोक्तं स्मृतिशास्त्रे—"स्मृतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ मतौ॥" इति। दृश्यन्ते च नानाविधा एव विषमज्वराः; एष एव न्यायश्चरकसुश्रुतयोः कुष्ठवैषम्ये वाप्यचन्द्रेण दर्शितः, न वा चिकित्साभेदोऽप्येषामुक्तः; यैव तृतीयकादौ चिकित्सा सैव तद्विपर्ययेऽपीति॥३६॥

ज्वर का लक्षण 'विषमज्वर एवान्यः' इत्यादि है। इसमें दूसरे शास्त्र का प्रमाण भी है कि 'जब ज्वर युक्त मनुष्य का अवशिष्ट अन्य दोष पुनः मिथ्या आहार आदि से प्रकुपित हो अस्थि और मज्जा इन दोनों धातुओं में व्याप्त हो जाता है तो चतुर्थक विपर्यय ज्वर को करता है, और वह ज्वर मध्य के दो दिन रहता है और आदि तथा अन्त के दिन छोड़ देता है'। यही जेज्जट आदिकों ने इसकी व्याख्या में लिखा है। इसमें 'विषमज्वरकारक दोष जब अस्थि और मज्जा इन दोनों धातुओं में व्याप्त होता है, तो चतुर्थक विपर्यय ज्वर होता है, जो कि तीन दिनों के आदि के दिन को छोड़ तदनु दो दिन आकर पुनः (तीसरे दिन के बाद वाले) चौथे दिन नहीं आता' इस पराशरवचन का भी अर्थ उपर्युक्त ही है, और आदि तथा अन्त के दो दिनों में न आना और मध्य के दो दिनों में आना, यही इसका तात्पर्यार्थ है। इस पर हरिचन्द्र तो यह कहता है कि दोष दो दिन निरन्तर ज्वर करके तदनु एक दिन ठहर कर पुनः (दोष) ज्वर करता है, यही चतुर्थक विपर्यय है। इसमें जो प्रथम दिन का अभाव है, वह बाद में आने वाले दिनों में जानना चाहिए। चतुर्थक विपर्यय यह कहना तो एक उपलक्षणमात्र है। इससे तृतीयक आदि के विपर्यय भी जानने चाहियें। जैसे—जो मध्य में एक दिन तो आवे और आदि अन्त के दो दिन छोड़ दे, वह तृतीयक विपर्यय होता है; जो दिन रात के छः समयों में से किसी एक समय को छोड़कर शेष पाँच समयों में रहे, वह अन्येद्युष्क विपर्यय होता है; और जो दिन रात के छः समयों में से कोई से दो समय छोड़कर शेष चार समयों में आता है, वह सतत विपर्यय है। यहां दोषों की अनेक प्रकार की विकृति ही कारण है। कफ के दो, तीन वा चार स्थानों में ठहरा हुआ विषमज्वरारम्भक दोष कठिनता से ठीक होने वाले विषम ज्वरों के विपर्ययों को करता है, अथवा कठिनता से ठीक होने वाले दुःखप्रद विपर्ययों को करता है। वृद्ध सुश्रुत वाक्य की व्याख्या करता हुआ जेज्जट अन्येद्युष्क, तृतीय और चतुर्थक मात्र का ही विपर्यय बताता है। तद्यथा—आमाशय और हृदय में स्थित दोष पूर्वप्रतिपादित अन्येद्युष्क विपर्यय को करता है, आमाशय, हृदय और कण्ठ में स्थित दोष तृतीयक विपर्यय को करता है। यहाँ एक दिन में हृदयस्थ दोष आमाशय में आकर वहाँ ठहरे हुए दोष के साथ मिलकर ज्वर करता है, और उसी दिन कण्ठस्थ दोष हृदय में आ जाता है। पुनः दूसरे दिन वह भी आमाशय में आकर

१ कण्ठवैषम्ये.

ज्वर करता है, एवं दो दिन ज्वर होकर तीसरे दिन नहीं होता, यही तृतीयक विपर्यय है। आमाशय हृदय कण्ठ और शिर में स्थित दोष चतुर्थक विपर्यय को करता है। यहां जिस दिन हृदयस्थ दोष आमाशय में आकर ज्वर करता है, उसी दिन कण्ठस्थ दोष हृदय में और शिरःस्थ कण्ठ में आ जाता है, दूसरे दिन वही हृदयस्थ दोष, जो कि पहले दिन कण्ठ से हृदय में आया था। आमाशय में आकर ज्वर करता है और कण्ठस्थ दोष, जो कि पहले दिन शिर से कण्ठ में आया था, हृदय में आ जाता है। पुनः दूसरे अर्थात् तीसरे दिन हृदयस्थ दोष, जो कि शिर से चलकर दो दिन में हृदय में आया था, आमाशय में आकर ज्वर करता है। एवं तीन दिन होकर बाद में एक दिन नहीं आता। यह चतुर्थक विपर्यय है। अब यहां यह शंका होती है कि पूर्व—'विषमज्वर एवान्यश्चतुर्थकविपर्ययः। स मध्ये ज्वरयत्यही ह्यादावन्ते च मुञ्चति'–इस पद्य में, तथा तन्त्रान्तरोक्त—'अस्थिमज्जोभयगते चतुर्थकविपर्ययः। स मध्ये ज्वरयत्यही ह्यादावन्ते च मुञ्चति' इस श्लोक में एवं 'अस्थिमज्जोभयगते चतुर्थकविपर्ययः। त्र्यहाद्द्व्यहं ज्वरयति ह्यादावन्ते च मुञ्चति'–इस पराशरवचन में चतुर्थक विपर्यय के लिये यही लिखा है कि यह मध्य के दो दिन आता है और आदि तथा अन्त को एक २ दिन में नहीं आता, परन्तु 'कफस्थानेषु वा तिष्ठन् दोषो द्वित्रिचतुर्षु वा। विपर्ययाख्यान् कुरुते विषमान् कृच्छ्रसाधनान्॥' (सु. उ. तं. अ. ३९) इसके अनुसार चतुर्थक विपर्यय तीन दिन आता है और पुनः चौथे दिन नहीं आता, यह सिद्ध होता है। एवं उक्त दोनों वाक्यों में परस्पर विरोध आता है, और विरोधी वाक्य प्रमाणित नहीं होते। अतः ये दोनों ही वाक्य अप्रमाणित सिद्ध होते हैं। किञ्च—'विषमज्वर एवान्यश्चतुर्थकविपर्ययः'–(च. चि. स्था. अ. ३) में चतुर्थकविपर्यय को उपलक्षणमात्र मानकर सतत, अन्येद्युष्क और तृतीयक का भी विपर्यय सिद्ध होता है, परन्तु 'कफस्थानेषु वा तिष्ठन्'–इत्यादि (सु. उ. तं. अ. ३९) से सतत का विपर्यय सिद्ध नहीं होता। अतः यहां भी विरोध होने से दोनों वाक्य अप्रमाणित होते हैं। इस पर रक्षित जी कहते हैं कि ये सम्पूर्ण ज्वर मुनिप्रणीत होने से परस्पर विरुद्ध नहीं हैं। जैसे स्मृतिशास्त्र में कहा भी है कि—'जहां दो स्मृतियों की परस्पर भिन्नता होती है, वहां दोनों ही धर्म (पक्ष) प्रमाणित होते हैं'। साथ ही अनुभव से भी विषम ज्वर के अनेक प्रकार दीखते हैं, अतः सभी माननीय हैं, और यही न्याय वाप्यचन्द्र ने चरक और सुश्रुत के कहे हुए कुष्ठ के विरोध में दिखाया है। इनमें चिकित्सा का भेद नहीं है। अतः जो चिकित्सा तृतीयक की होती है, वही तृतीयकविपर्यय की भी होती है। वस्तुतः यहां अभिसन्धान यह है कि चिकित्सा तीन प्रकार की होती है—दैवी, मानवी और राक्षसी। दैवी चिकित्सा मन्त्रादि द्वारा, मानवी कषाय आदि द्वारा, और राक्षसी भेदनादि शस्त्र द्वारा होती है। इसी प्रकार चिकित्सक भी तीन ही प्रकार के होते हैं—दैवचिकित्सक, कायचिकित्सक और शल्यचिकित्सक। एवं प्रकृत में 'विषमज्वर एवान्यश्चतुर्थकविपर्ययः' (च. चि. अ. ३) इत्यादि प्रतिपादित विपर्यय, कायचिकित्सक अग्निवेश आदि के मत से है, ये चतुर्थक विपर्यय, मध्य में दो दिन आने वाले और आदि तथा अन्त के एक २ दिन छोड़ने वाले ज्वर को, कहते हैं; किञ्च, ये सततविपर्यय को भी मानते हैं, और 'कफस्थानेषु वा तिष्ठन्' (सु. उ. तं. अ. ३९) इत्यादि प्रतिपादित विपर्यय, भोज भालुकि पुष्कलावत आदि शल्यचिकित्सकों के मत से है, अतः इसमें विरोध नहीं है। किञ्च, विषम ज्वरों के विपर्यय भी दो प्रकार से होते हैं। एक, जब कि ज्वरमुक्त मनुष्य के अल्प दोष पुनः मिथ्या आहार आदि से बढ़कर किन्हीं दो धातुओं में जाते हैं। जैसे चतुर्थक विपर्यय को उपलक्षण मानकर चरक ने कहा भी है कि—'विषमज्वर एवान्यश्चतुर्थकविपर्ययः। त्रिविधो

धातुरेकैको द्विधातुस्थः करोत्ययम्' (च. चि. स्था. अ. ३)। दूसरा, जब कि दोष कफ के दो, तीन वा चार स्थानों में ठहरते हैं। जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—'कफस्थानेषु वा तिष्ठन्' (सु. उ. तं. अ. ३९) इत्यादि। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि जब दोष धातुओं में होंगे तब भी विषम ज्वर यथासम्भव होंगे, और जब दोष कफस्थानों में होंगे तब भी विषमज्वर यथासम्भव होंगे। एवं दोषों के द्विधातुस्थ होने पर चतुर्थक विपर्यय मध्य के दो दिन आवेगा और आदि तथा अन्त का एक २ दिन छोड़ेगा, और दोषों के द्विधातुस्थ होने पर सतत विपर्यय भी होगा; और दोषों के कफ स्थानों (चार) में होने पर चतुर्थक विपर्यय तीन दिन आकर अन्त के एक (अर्थात्) चौथे दिन छोड़ेगा, तथा दोषों के कफस्थान गत होने पर सतत विपर्यय नहीं होगा। सततविपर्यय में यह भी विशेषता है कि वह एक धातुगत होने पर भी जब द्व्युल्बणारब्ध होगा तब भी हो जावेगा। इस प्रकार उपर्युक्त वाक्यों से प्रतिपादित विषमज्वर विपर्यय में परस्पर विरोध नहीं आता। इसी बात को लक्ष्य में रखकर सुश्रुत ने विषम ज्वरों का निरूपण दो बार किया है, अन्यथा वहां पुनरुक्ति दोष आता है। यह दिग्दर्शनमात्र है।

वातबलासकज्वरस्य स्वरूपमाह—

नित्यं मन्दज्वरो रूक्षः शूनकस्तेन सीदति।
स्तब्धाङ्गः श्लेष्मभूयिष्ठो नरो वातबलासकी ॥४०॥

वातबलासक वाला मनुष्य मन्दज्वरयुक्त, रूक्ष और शोथी होता है तथा नित्य ही उस ज्वर से पीड़ित रहता है। एवं उसके अङ्ग स्तब्ध होते हैं, और वह कफ-प्रधान होता है। अब यहां यह शंका होती है कि और जगह यह ज्वर वातप्रधान माना गया है परन्तु यहां इसे श्लेष्मभूयिष्ठ क्यों माना है? इसका उत्तर यह है कि जहां इसे वातप्रधान माना है, वहां प्रेरक होने से वात को प्रधानता दी गई है। परन्तु यहां वायु से प्रेरित सर्वसन्धिस्थकफ से उत्पन्न होने के कारण इसे श्लेष्मप्रधान माना गया है। प्रधानता वक्ता के भावों पर निर्भर होती है। कोई किसी भाव को लेकर प्रधानता देता है और कोई किसी भाव को लेकर; एवं यहां कोई दोष नहीं। यह वात से प्रेरित कफ से उत्पन्न होने के कारण ही वातबलासक इस नाम से पुकारा जाता है, और यही वातश्लैष्मिक ज्वर से इसका भेद है। और यह प्रायः उपद्रवरूप में ही होता है।

मधु०—उक्तसंगत्या प्रलेपकादनूपद्रवत्वेन तत्सधर्मिणि वातबलासके वाच्ये प्रतिलोम-तन्त्रयुक्त्या वातबलासकमेवाह—नित्यमित्यादि। वातबलासकाख्यो ज्वरोऽस्यास्तीति वातबला-सकी नरः, तेन ज्वरेण, शूनकः शोथी, सीदत्यवसन्नो भवति, शोथिनः स उपद्रव इत्यर्थः। 'शूनः कृच्छ्रेण सिध्यति' इति पाठान्तरे 'तेन' इति शेषः। वातबलासकमेके कुम्भाह्वयपाण्डुरोग-विषयमाहुरिति गदाधरः। वातबलासकारब्धत्वाद्वातबलासकः; बलासकः श्लेष्मा पित्तमप्यत्र बोद्धव्यम्। यदुक्तं तन्त्रान्तरे—"वायुः प्रकुपितो दोषावुदीर्यौभौ विधावति। स शिरःस्थः शिरःशूलम्" इत्यादि। यच्चोक्तं सुश्रुतेन—"प्रलेपकं वातबलासकं वा कफाि[illegible] दन्ति तज्ज्ञाः" इति (सु. उ. तं. अ. ३९) तत्तु श्लेष्मणो नित्यानुषक्तत्वेनेति रूक्षत्वं चास्य वातपित्ताभिभूतत्वात्कफस्नेहस्य, व्याधिप्रभावाद्वेति ॥४०॥

विषम ज्वरों के अनन्तर, उनकी तरह कफस्थान के विभाग से उत्पन्न होने के कारण, प्रलेपक ज्वर के कहने के बाद उसमें उपद्रव रूप से होने वाले वातबलासक को कहना चाहिये था, परन्तु आचार्य प्रतिलोमतन्त्र की युक्ति से वातबलासक को ही प्रथम कहते हैं—नित्यमित्यादि । वातबलासकमेके इति । आचार्य गदाधर कहता है कि कई आचार्य वातबलासक को कुम्भकामला (पाण्डु) रोग का विषय मानते हैं, अर्थात् यह कुम्भाह्वय पाण्डुरोग में होता है, नकि केवल शोथ में । अथवा कुम्भाह्वय पाण्डुरोग में भी शोथ अत्यधिक होता है और उसमें ज्वर भी होता है । जैसे कहा भी है कि 'भेदस्तु तस्याः खलु कुम्भसाह्वः शोफो महांस्तत्र च पर्वभेदः । ज्वराङ्गमर्दभ्रमसादतन्द्रा' (सु. उ. तं. अ. ३९) इत्यादि । इस कारण इस रोग में यही होता है और उसमें होने वाला जो ज्वर है वह यही है । वात और बलास (श्लेष्मा) से होने वाला ज्वर वातबलासक होता है । इसमें पित्त भी होता है । जैसे तन्त्रान्तर में कहा भी है कि 'प्रकुपित वायु पित्त और कफ इन दोनों दोषों को प्रकुपित कर चलता है । एवं जब वह शिर में जाता है तो शिर में शूल करता है' इत्यादि । सुश्रुत ने 'प्रलेपक और वातबलासक को कफ की अधिकता से विद्वानों ने माना है' जो यह कहा है, वह श्लेष्मा के नित्य संबन्ध होने के कारण कहा है, ऐसा जेज्जट का कथन है । इसमें रूक्षता श्लैष्मिक स्नेह के वात और पित्त से अभिभूत होने के कारण है, अथवा व्याधि के प्रभाव से है ।

त्रिदोषजं प्रलेपकज्वरं लक्षयति—

प्रलिम्पन्निव गात्राणि घर्मेण गौरवेण च ।
मन्दज्वरविलेपी च सशीतः स्यात्प्रलेपकः ॥४१॥

स्वेद वा ऊष्मा तथा गौरव से गात्रों को लीपने वाला मन्दज्वरविलेपी होता है; तथा जब वह शीतयुक्त होता है तो प्रलेपक कहलाता है । कई इस प्रकार व्याख्या करते हैं, परन्तु स्वेद तथा गौरव से गात्रों को लीपन सा करने के कारण विलेपी मन्दज्वर प्रलेपक कहलाता है और वह शीत युक्त होता है । इसका भाव यह है कि गौरव तथा शीत स्वेद से गात्रों को लीपने वाला मन्द ज्वर प्रलेपक होता है । यह व्याख्या समीचीन जँचती है ॥४१॥

मधु०—प्रलेपकमाह–प्रलिम्पन्नित्यादि । मन्दज्वरश्चासौ विलेपी चेति मन्दज्वरविलेपी, विलेपित्वं[2] चास्य यस्माद्धर्मगौरवाभ्यां लिम्पति संवध्नातीत्यर्थः । अयं च कफपित्तजः । यदुक्तं सुश्रुतेन–"प्रलेपकं वातबलासकं वा"–(सु. उ. तं. अ. ३९) इत्यादि । तथा यक्ष्मणि "ज्वरो दाहोऽतिसारश्च पित्ताद्रक्तस्य चागमः" (सु. उ. तं. अ. ४१)–इत्युक्तं, यक्ष्मणि चायं भवतीति । अन्ये तु त्रिदोषजयक्ष्मजनितत्वेन त्रिदोषज एवायम्, उद्भूतत्वेन तु कफपित्त-व्यपदेशः ॥४१॥

अर्थ सब स्पष्ट ही है ।

अर्द्धाङ्गस्थितशैत्यौष्ण्ययोः कारणं समुपवर्णयति—

विदग्धेऽन्नरसे देहे श्लेष्मपित्ते व्यवस्थिते ।
तेनार्धं शीतलं देहे चार्धं चोष्णं प्रजायते ॥४२॥

---

१ प्रलेपक ज्वर (Hectic fever). २ मन्दज्वरत्वम्.

शरीरौष्ण्यशाखाशैत्यहेतुं दर्शयति—

काये दुष्टं यदा पित्तं श्लेष्मा चान्ते व्यवस्थितः।
तेनोष्णत्वं शरीरस्य शीतत्वं हस्तपादयोः ॥४३॥

शरीरशैत्यशाखौष्ण्यहेतुमवतारयति—

काये श्लेष्मा यदा दुष्टः पित्तं चान्ते व्यवस्थितम्।
शीतत्वं तेन गात्राणामुष्णत्वं हस्तपादयोः ॥४४॥

शीतादिदाहान्तज्वरस्य हेतुमाह—

त्वक्स्थौ श्लेष्मानिलौ शीतमादौ जनयतो ज्वरे।
तयोः प्रशान्तयोः पित्तमन्ते दाहं करोति च ॥४५॥ [सु० ६।३९]

दाहादिशीतान्तज्वरस्य हेतुमाह—

करोत्यादौ तथा पित्तं त्वक्स्थं दाहमतीव च।
तस्मिन् प्रशान्ते त्वितरौ कुरुतः शीतमन्ततः ॥४६॥ [सु० ६।३९]

तयोः साध्यताकष्टसाध्यते व्याचष्टे—

द्वावेतौ दाहशीतादिज्वरौ संसर्गजौ स्मृतौ।
दाहपूर्वस्तयोः कष्टः कृच्छ्रसाध्यतमश्च सः ॥४७॥ [सु० ६।३९]

अन्नरस के विदग्ध होने पर तथा देह में श्लेष्मा और पित्त के व्यवस्थित होने पर आधा शरीर शीतल और आधा उष्ण हो जाता है । यह भाव प्रत्येक विषम ज्वर में हो सकता है, जिसमें कि दोषों की स्थिति उक्त प्रकार से हो। इसमें आहार रस, पित्त और श्लेष्मा की दुष्टता ही हेतु है। अर्ध शरीर की शीतोष्णता अर्धनारीश्वर के आकार से वा नृसिंह के आकार से होती है। इनमें उन २ के अनुकूल दोष ही व्यवस्थापक हैं ।।४२।। जब शरीर में (मध्ये कोष्ठे वा) दुष्ट पित्त और अन्त में अर्थात् हाथ पांव में दुष्ट श्लेष्मा ठहर जाता है तो उससे शरीर उष्ण तथा हाथ पांव शीत हो जाते हैं । एवं जब दुष्ट श्लेष्मा शरीर में और दुष्ट पित्त अन्त में ठहर जाता है तो शरीर शीत और हाथ पांव उष्ण हो जाते हैं। इसमें भी दोषों का प्रभाव ही कारण है। यह भी प्रत्येक विषम ज्वर में हो सकता है ।।४३,४४।। त्वचा में वा रस में स्थित श्लेष्मा और वायु ज्वर में पहले शीत उत्पन्न करते हैं और बाद में उनके शान्त वेग हो जाने पर पित्त दाह करता है। एवं त्वचा में वा रस में स्थित पित्त ज्वर में पहले अत्यन्त दाह करता है और बाद में उसके शान्त वेग हो जाने पर श्लेष्मा और वायु शीत करते हैं। ये दोनों शीतपूर्वक और दाहपूर्वक ज्वर अग्निसोमात्मक दोषों के सम्बन्ध से होते हैं। इनमें से दाहपूर्वक ज्वर कष्टप्रद तथा अत्यन्त कृच्छ्रसाध्य है ।।४५-४७।।

मधु०—विषमज्वरविशेषानाह—विदग्धेऽन्नरसे दुष्ट आहाररसे तथा दुष्टे पित्ते श्लेष्मणि च व्यवस्थिते सति, तेन हेतुना देहेऽर्धं शीतलं कफेनार्धं चोष्णं पित्तेन प्रजायते।

चार्धनारीश्वराकारेण नरसिंहाकारेण वा, यथादोषं व्यवस्थाननियमहेतोरभावादिति । काय इत्यादि ।—कायेऽन्तरग्नौ, कोष्ठ इति यावत् । अन्ते हस्तपादयोः । उक्तार्थस्य विपर्ययेण ज्वरान्तरमाह—काये श्लेष्मेत्यादि । त्वक्स्थावित्यादि ।—त्वक्शब्देन त्वक्स्थो रस उच्यते, तत्स्थस्य तदुपचारेणेति गदाधरः; जेज्जटस्तु त्वचमेवाह । एतदभिप्रायेणैव चरकेण ज्वरेऽभ्यङ्गार्थं तैलादीन्यभिधायोक्तम्—"तैराशु प्रशमं याति बहिर्मार्गगतो ज्वरः" इति (च. चि. स्था. अ. ३)। तयोः श्लेष्मानिलयोः । प्रशान्तयोरिति प्रशान्तवेगयोः, नहि विषमेषु दोषस्य प्रशान्तिर्भवति, पुनर्वेगागमात् । यदाह सुश्रुतः–"स चापि विषमो देहं न कदाचिद्विमुञ्चति । ग्लानिगौरवकार्श्येभ्यः स यस्मान्न प्रमुच्यते ॥ वेगे तु समतिक्रान्ते गतोऽयमिति लक्ष्यते । धात्वन्तरस्थो लीनत्वात्सौक्ष्म्यान्नैवोपलभ्यते ॥" इति (सु. उ. तं. अ. ३९) । इतरौ वातकफौ । दाहशीतादीति एको दाहादिः, अपरः शीतादिः । ननु, एतयोः संप्राप्तौ त्रिदोषजत्वमुक्तं तत्कथं संसर्गजावित्युक्तं, संसर्गो हि द्वयोर्भवति त्रयाणां सन्निपात इति स्थितिः । उच्यते, संसर्गः संबन्धः स च द्वयोर्बहूनां च भवति, अत्र त्रयाणामुक्तः, नचैवं सर्वत्र; अथवा संसर्गः सौम्याग्नेयदोषकोटिद्वयमेलापः । तत्र शीतादौ ज्वरे पित्तमनुबन्धः, दाहादौ वातकफावनुबन्धौ; अनुबन्ध्यश्च प्राधान्येन चिकित्स्योऽनुबन्धाविरोधेनेति प्रयोजनमेतस्य । तयोर्दाहशीतादिज्वरयोर्मध्ये दाहपूर्वो दाहादिः कष्ट इति दुःखप्रदः । दाहादेः कष्टसाध्यत्वाभिधानेन शीतादेरर्थतोऽकष्टत्वमिति । उक्तविषमज्वराणामुपलक्षणत्वादन्येऽपि विषमज्वरा रात्रिज्वरादयो बोद्धव्या इति जेज्जटः । उक्तं च तन्त्रान्तरे–"समौ वातकफौ यस्य क्षीणपित्तस्य देहिनः । प्रायो रात्रौ ज्वरस्तस्य दिवा हीनकफस्य तु"–इति । सर्वेषु च विषमज्वरेष्ववश्यंभावी वायुः । यदाह वृद्धसुश्रुतः–"नर्तेऽनिलाद्धि विषमज्वरः समुपजायते । कफपित्ते हि निश्चेष्टे चेष्टयत्यनिलः सदा ॥" इति । एषां च ज्वराणामृत्वादिहेत्वन्तरलाभादन्यथाभावोऽपि दृश्यते । तद्यथा–सन्ततः स्वरूपं त्यक्त्वा सततादीनामन्यतमत्वं प्रतिपद्यते, तथा चतुर्थकस्तृतीयकादिरूपत्वम्[1] । यदाह चरकः–"ऋत्वहोरात्रदोषाणां मनसश्च बलाबलात् । कालमर्थवशाच्चैव ज्वरस्तं तं प्रपद्यते ॥" इति (च. चि. स्था. अ. ३)। अस्यार्थः–बलाबलादिति ऋत्वादिमनोन्तेन संबध्यते, बलं चाबलं च बलाबलम्; अर्थशब्दोऽत्र प्राक्तनकर्मवाची, तं तं कालं सततकाद्युक्तं, ज्वरः प्रतिपद्यते इति योजना । उदाहरणं च ऋत्वहोरात्रबलाबलाद्यथा–यदा निदाघोत्पन्नो वातप्रधानश्चतुर्थको वर्षासमयमाप्नोति तदा तेनर्तुनाऽऽप्यायितबलस्तृतीयकान्तानां सततकादीनामन्यतमत्वं[2] प्राप्नोत्युत्कर्षात् । एवं वर्षासमुत्पन्नः सन्ततः शरदं प्राप्यापकृष्टबलः सततादीनामन्यतमत्वमेत्यपकर्षात् । एवं पित्तकफयोरप्युत्कर्षापकर्षावृतुकृतौ व्याख्येयौ । अहोरात्रशब्देन कतिपयान्यहोरात्राणि गृह्यन्ते, नह्येकस्मिन्नहोरात्रे सततादीनामुत्कर्षापकर्षाभ्यामन्यथाभाव उपपद्यते; किंतु कतिपयैरेव । यदा वर्षाशरद्वसन्तप्रारम्भे वातादेया ज्वरं चतुर्थकमारभन्ते तथा मध्यानि कतिपयदिनान्यवाप्य स एव तृतीयकपूर्वत्वेन विपरिणमते उत्कर्षात्; अपकर्षात्तु यदाऽन्त्यानि दिनान्याप्नोति तदा सन्ततो वातारब्धः प्रावृषः, पित्तारब्धः शरदो, वसन्तस्य च श्लेष्मारब्धः, प्रतनुकत्वाद्दोषस्य सततादीनामन्यतमत्वेन विपरिणमत इति । दोषबलाबलाद्यथा—यदा सततादीनामन्यतमकारी दोषः श्लेष्मा

१ तृतीयकचतुर्थकादिरूपत्वम्. २ तृतीयकादीनामन्यतमत्वम्.

मधुरस्निग्धादीन् दिवास्वप्नादींश्च हेतूनाप्नोति तदा सन्ततकादीन् करोति । एवं वातपित्तयोरप्यूह्यम् । मनोबलाबलाद्यथा–यदा सन्ततज्वरी सत्त्वगुणोद्रेकात्प्रहर्षावष्टम्भबहुलो भवति तदा सततादीनामन्यतमत्वं प्राप्नोति; यदा चतुर्थकज्वरी तमोगुणभूयिष्ठत्वाद्विषादादिभिरभिभूयते तदा तृतीयकादीनामन्यतमो भवति, "विषादो रोगवर्धनानाम्" (च. सू. स्था. अ. २५)–इत्यागमात् । अन्ये तु मनःशब्देन बुद्धिं व्याख्यानयन्ति, कारणे कार्योपचारात् । तस्याश्च बलाबलं यथा–यदा चतुर्थकज्वरी प्रज्ञापराधाद्देवादीनभिभूयाहितान्याचरति तदा तृतीयकपूर्वेषामन्यतमत्वमाप्नोति; यदा तु शुद्धसत्त्वोत्कर्षाद्विवेकिन्या बुद्धया युक्तः स्यात्तदा शुभानि देवताराधनेष्टिबल्युपहारादीन्याचरति तदा सन्ततज्वरी सततादीनामन्यतमत्वं प्राप्नोति । अर्थवशाद्यथा—सन्ततज्वरिणोऽपि यदि चतुर्थकवेदनीयं कर्म स्यात्तदा सन्ततोऽपि चतुर्थकत्वेन विपरिणमते; अथ चतुर्थकज्वराविष्टस्य यदि तत्कालपरिपाकि कर्म बलीयो भवति तदा सन्ततत्वेन परिणमते । एतच्च कर्मवशत्वमृत्वहोरात्रदोषबलाबलेष्वपि बोद्धव्यं, तदनन्तरं तन्निर्देशादिति ॥४२–४७॥

७– 'त्वक्' शब्द से त्वचा में रहने के कारण उपचार से त्वक्स्थ रस लिया जाता है, यह गदाधर का मन्तव्य है । परन्तु जेज्जट त्वक् शब्द से त्वचा को ही लेता है । इसी अभिप्राय के अनुसार चरक ने ज्वर में अभ्यङ्ग के लिये तैलादि बताकर कहा है कि— 'इन तैलादि से बाहर के मार्ग अर्थात् त्वचा में स्थित ज्वर शीघ्र ही शान्त हो जाता है' । 'प्रशान्तयोः' में प्रशान्त शब्द का अर्थ 'प्रशान्त वेग वाले' लेना चाहिये । क्योंकि विषम ज्वरों में दोष प्रशान्त नहीं होते प्रत्युत वेग प्रशान्त हो जाते हैं, जो कि पुनः दोषों के अनुसार आते हैं । यदि दोष प्रशान्त हो जावें तो वेग नहीं आने चाहिये । इसमें सुश्रुत का प्रमाण भी है कि 'वह विषमज्वर वा विषमज्वरारम्भक दोष देह को कभी छोड़ता नहीं है । क्योंकि ग्लानि, गौरव और कृशता से वह मुक्त नहीं होता, परन्तु वेगों के दूर हो जाने पर यह निश्चय सा हो जाता है कि वह चला गया है, परं वस्तुतः वह किसी दूसरी धातु में स्थित वा लीन होने से तथा सूक्ष्म होने से प्रतीत नहीं होता' । इन दोनों की सम्प्राप्ति में इन्हें त्रिदोषज कहा है, और यहां इन्हें संसर्गज कहा है । एवं संसर्ग दो दो दोषों का होता है, और तीन दोषों का सन्निपात होता है, यह आचार्यों की व्यवस्था है । जब ऐसा है तो प्रकृत में इन्हें संसर्गज क्यों कहा है ? इसका उत्तर यह है कि यहां संसर्ग शब्द का अर्थ केवल सम्बन्धमात्र है और सम्बन्ध दो का भी हो सकता है और बहुतों का भी । एवं यहां तीनों का सम्बन्ध (संसर्ग) कहा है, परन्तु संसर्ग शब्द का यह अर्थ सर्वत्र नहीं होता; अथवा संसर्ग से यहां सौम्य और आग्नेय कोटि के दोषों का मिलाप लिया जाता है । इस प्रकार सौम्य कोटि में कफ और वात तथा आग्नेय कोटि में पित्त आ जाता है, और उपर्युक्त दोष भी नहीं आता । यहां भी यह शंका होती है कि क्या यह भाव सर्वसामान्य है वा विशेष ? यदि सर्वसामान्य है तो सर्वत्र लिया जाना चाहिये, और यदि विशेष है तो यहां किस आधार पर विशेष है । इसका उत्तर यह है कि यह विशेष ही है, और इसका आधार यह है कि आचार्य शब्दों का प्रयोग अभिप्राय के अनुसार करते हैं । अतः कहीं प्रकरणानुसार, कहीं लिङ्गानुसार और कहीं २ सामान्य शब्दोपचारादि के अनुसार अर्थ करना चाहिये । अर्थबोधक विषय में तन्त्रान्तर का वचन भी है कि— 'संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता । अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥ सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः । शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥' (भर्तृहरि) । इसी अभिप्राय

को लेकर आचार्यों ने कई स्थानों पर ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जिनका अर्थ उपर्युक्तानुसार ही ठीक हो सकता है; अन्यथा ठीक नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ जैसे 'प्रतिग्रहांश्चोपहारयेदिति' (च. सू. उपकल्पनीये) यहां प्रतिग्रह शब्द का प्रकरणानुसार तथा आवश्यकतानुसार 'पात्र' अर्थ है, ग्रहणरूप प्रतिग्रह नहीं हैं। अतएव अर्थज्ञान के लिये आचार्य भी कहते हैं कि 'कर्तुरभिप्रायः पृथग्विधः। अतश्च प्रकृतं बुद्ध्वा देशकालान्तराणि च। तन्त्रकर्तुरभिप्रायानुपायांश्चार्थमादिशेत्' (च. सू. स्था. अ. २५)। अब पुनः यह शंका होती है कि मान लिया, संसर्ग का अर्थ यहां सामान्य सम्बन्ध वा सौम्याग्नेय सम्बन्ध ही है परन्तु फिर भी सौम्य और आग्नेय में तीनों दोष नहीं आते। कारण कि पित्त तो आग्नेय में आ जावेगा और कफ सोम में आ जावेगा, परन्तु वायु दोनों में नहीं आता क्योंकि वह योगवाही है, अपने आप न वह आग्नेय है और न सौम्य है। जैसे कहा भी है कि 'योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्। दाहकृत् तेजसा युक्तः शीतकृत्सोमसंश्रयात्॥' (च. चि. स्था. अ. ३)। इसका उत्तर यह है कि वायु अग्नि और सोम से पृथक् नहीं हो सकता क्योंकि जगत् अग्निषोमीय है। जैसे कहा भी है कि—'अग्निषोमीयत्वाज्जगतः' (सु. सू. अ. ४०)। एवं वायु के अग्निषोमीय के अन्तर्गत होने से उनके मेल में वह भी आ जाता है, एवं तीनों दोष इसमें आ जाते हैं। वैसे यद्यपि यह सोमात्मक कफ से प्रकोपक शमक द्रव्यों (रसों) की विरुद्धता के अनुसार महा अत्यय वाला, और आग्नेयात्मक पित्त से प्रकोपकशमक द्रव्यों (रसों) की कुछ अनुकूलता के अनुसार अल्पसादृश्य वाला है, तथापि प्रकृत में वह कफ संयुक्त है। अतः 'शीतकृत् सोमसंश्रयात्' के अनुसार कफ के गुणों को बढ़ाने वाला होने से सोमात्मक ही माना जावेगा। एवं सोम से वात कफ दोनों लिये जावेंगे। वास्तव में एकान्ततः इसमें कोई भी नहीं रहता, दोनों के मिश्रित भाव मिलते हैं, जैसे शीतादि सोम के सम्बन्ध से और शोषणादि अग्नि के सम्बन्ध से मिलते हैं। पुनः परिस्थिति के अनुसार यह अग्नि वा सोम में से किसी एक का योगवाही हो सकता है, जैसे प्रकृत में सोमात्मक कफ का वायु योगवाही है। प्रकृत में शीतपूर्वक ज्वर में पित्त अनुबन्ध (अप्रधान) रूप से है, और दाहपूर्वक में वात कफ अनुबन्ध रूप से हैं। अनुबन्ध और अनुबन्ध्य (प्रधान) निर्देश का प्रयोजन अनुबन्ध अविरुद्ध अनुबन्ध्य की प्रधानता से चिकित्सा करना है। उक्त विषम ज्वरों को उपलक्षण मानकर और भी रात्रिज्वर आदि विषमज्वर जानने चाहियें, यह जेज्जट का कथन है। तन्त्रान्तर में कहा भी है कि 'जिस मनुष्य का पित्त क्षीण और वातकफ सम हैं, उसे प्रायः रात्रि को ज्वर आता है; एवं जिस मनुष्य का कफ क्षीण और वात पित्त सम हैं उसे प्रायः दिन को ज्वर आता है'। यहां योगवाही होने से वायु

यथासम्भव किसी एक में परिवर्तित हो जाता है। एवं ऋतु आदि की निर्बलता होने पर सन्तत, सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक और चतुर्थक इनमें से जो ज्वर उस समय होगा वह आगे के ज्वरों में से यथासम्भव किसी एक में परिवर्तित हो जाता है। ऋतु अहोरात्र के बलाबल के उदाहरण—जैसे जब निदाघ ऋतु में उत्पन्न वातप्रधान चतुर्थक वर्षा ऋतु को प्राप्त होता है तब वह उस (निदाघ) ऋतु से समृद्ध बल वाला तृतीयकान्त सन्ततादि में से किसी एक में उत्कृष्ट होने के कारण परिवर्तित हो जाता है। एवं वर्षा ऋतु में उत्पन्न सन्तत जब शरद् ऋतु को प्राप्त होता है तब अवकृष्ट होने के कारण संततादि में से किसी एक में परिवर्तित हो जाता है। इसी प्रकार पित्त और कफ के ज्वरों का भी ऋतु के उत्कर्षापकर्ष के अनुसार परिवर्तन जानना चाहिये। अहोरात्र शब्द से कुछ एक अहोरात्र लिये जाते हैं। क्योंकि एक ही अहोरात्र में सततादि का उत्कर्षापकर्ष से परिवर्तन नहीं हो सकता, किन्तु कुछ एक अहोरात्रों में ही हो सकता है। जब वर्षा शरद् वा वसन्त के प्रारम्भ में वात, पित्त वा कफचतुर्थक ज्वर को प्रारम्भ करते हैं, तब बीच के कुछ एक दिनों को लेकर उत्कृष्ट होने से वही ज्वर तृतीयक आदि में परिवर्तित हो जाता है, एवं अपकर्ष होने से उनके अन्तिम दिनों को प्राप्त होता है तब प्रावृट् का वातारब्ध, शरद् का पित्तारब्ध और वसन्त का श्लेष्मारब्ध सन्तत ज्वर दोष के अल्प हो जाने से सतत आदि में से किसी एक में परिवर्तित हो जाता है। दोषबलाबल से जैसे—जब सतत आदि में से किसी एक को उत्पन्न करने वाला कफ दोष, मधुर स्निग्धादि तथा दिवास्वप्न आदि हेतुओं को प्राप्त करता है, तब सन्तत आदि को कर देता है। यही वात और पित्त का भी क्रम जानना चाहिये। मन के बलाबल से जैसे—जब सन्तत ज्वर वाला मनुष्य सत्त्वगुण की वृद्धि से हर्षादियुक्त हो जाता है, तब सतत आदि में से किसी एक को प्राप्त कर लेता है, और जब चतुर्थक ज्वर वाला मनुष्य तमोगुण की वृद्धि से विषाद आदि युक्त हो जाता है, तब तृतीयकादि में से किसी एक को प्राप्त कर लेता है। इसमें 'विषाद रोगवर्धकों में से सब से बढ़कर है' यह प्रमाण भी है। दूसरे आचार्य कारण में कार्य का उपचार करके मनःशब्द से बुद्धि को लेते हैं। उसका बलाबल जैसे—जब चतुर्थकज्वरी देवता आदि का तिरस्कार कर अहित आचरण करता है तब तृतीयक आदि में से किसी एक को प्राप्त कर लेता है; और जब शुद्ध मन की उत्कृष्टता से कार्याकार्य विचार वाली बुद्धि से युक्त हो जाता है तब देवपूजा यज्ञ बलि उपहार आदि कर सतन्तज्वरी सततादि में से किसी एक को प्राप्त कर लेता है। पूर्व कृत्यों की सबलता वा निर्बलता से जैसे—यदि सन्ततज्वरी का कर्म चतुर्थक ज्वर को करने वाला हो तब वह सन्तत ज्वर चतुर्थक में परिणत हो जाता है; और यदि चतुर्थकज्वरी का कर्म उस ज्वर के परिपाक वाला कर्म बलिष्ट होता है, तो वह (चतुर्थक) ज्वर सन्तत में परिवर्तित हो जाता है। यह कर्मवशता ऋतु, अहोरात्र और दोषों की सबलता वा निर्बलता में भी जानना चाहिये, क्योंकि उक्त श्लोक में कर्म का निर्देश ऋतु आदि के बाद कहा है।

रसस्थज्वरं लक्षयति—

गुरुता हृदयोत्क्लेशः सदनं छर्द्यरोचकौ।
रसस्थे तु ज्वरे लिङ्गं दैन्यं चास्योपजायते ॥४८॥

रक्तधातुगतज्वरं लक्षयति—

रक्तनिष्ठीवनं दाहो मोहश्छर्दनविभ्रमौ।
प्रलापः पिडका तृष्णा रक्तप्राप्ते ज्वरे नृणाम् ॥४९॥

मांसगतज्वरस्य लक्षणमाह—

पिण्डिकोद्वेष्टनं तृष्णा सृष्टमूत्रपुरीषता ।
ऊष्माऽन्तर्दाहविक्षेपौ ग्लानिः स्यान्मांसगे ज्वरे ॥५०॥

मेदोगतज्वरलक्षणं व्याचष्टे—

भृशं स्वेदस्तृषा मूर्च्छा प्रलापश्छर्दिरेव च ।
दौर्गन्ध्यारोचकौ ग्लानिर्मेदःस्थे चासहिष्णुता ॥५१॥

अस्थिगतज्वरस्वरूपं निरूपयति—

भेदोऽस्थ्नां कूजनं श्वासो विरेकश्छर्दिरेव च ।
विक्षेपणं च गात्राणामेतदस्थिगते ज्वरे ॥५२॥

मज्जगतज्वरलक्षणमाह—

तमःप्रवेशनं हिक्का कासः शैत्यं वमिस्तथा ।
अन्तर्दाहो महाश्वासो मर्मच्छेदश्च मज्जगे ॥५३॥

शुक्रगतज्वरं लक्षयति—

मरणं प्राप्नुयात्तत्र शुक्रस्थानगते ज्वरे ।
शेफसः स्तब्धता मोक्षः शुक्रस्य तु विशेषतः ॥५४॥

एतेषां साध्यत्वादिकं दर्शयति—

(रसरक्ताश्रितः साध्यो मांसमेदोगतश्च यः ।
अस्थिमज्जगतः कृच्छ्रो शुक्रस्थस्तु न सिध्यति ॥१॥)

जब ज्वर रसनामक धातु में स्थित हो जाता है तो गौरव, हृदय में उत्क्लेश, साद, वमन, अरुचि और मन में दीनता होती है। यद्यपि सभी ज्वर पूर्व रस को दूषित करते हैं परन्तु यह निर्देश प्रधानता से है। जब ज्वर रक्तनामक धातु में स्थित हो जाता है तो थूक में रक्त आता है, दाह होता है, मूर्च्छा वमन विभ्रम प्रलाप और पिडिकायें होती हैं तथा तृष्णा अधिक लगती है। जब ज्वर मांसनामक धातु में स्थित हो जाता है तो पिण्डलियों में उद्वेष्टन, पिपासा, मलमूत्र की अधिक प्रवृत्ति, बाहर ऊष्मा और अन्तर्दाह, विक्षेप और ग्लानि होती है। जब ज्वर मेदोधातु में स्थित होता है तो स्वेद अधिक आता है, तृषा मूर्च्छा प्रलाप और छर्दि होती है, शरीर वा मुख से दुर्गन्ध आती है, अरुचि और ग्लानि बढ़ जाती है तथा सहनशीलता नहीं रहती। जब ज्वर अस्थि धातु में स्थित होता है तो अस्थियों में भेद (उनके टूटने की सी पीड़ा), कूजन, श्वास, विरेचन, वमन और अङ्गों में विक्षेप होता है। जब ज्वर मज्जा धातुगत हो जाता है तो आंखों के आगे अंधेरा सा प्रतीत होता है, हिक्का, कास, शीतता, वमन, अन्तर्दाह, महाश्वास और मर्मों में पीड़ा होती है। एवं जब ज्वर शुक्र के धातु में पहुंचता है तो लिङ्ग स्तब्ध हो जाता है, शुक्र बार २ गिरता है एवं रोगी मर जाता है। उक्त ज्वरों में रस और

रक्तनामक धातु में स्थित ज्वर साध्य, मांस मेद अस्थि और मज्जानामक धातु में स्थित ज्वर कृच्छ्रसाध्य एवं शुक्रनामक धातु में स्थित ज्वर असाध्य होता है।

मधु०—उक्तवातादिज्वराणां धातुविशेषदूष्यतयाऽधिकलक्षणानि भवन्ति। यदुक्तम्—"वातपित्तकफोत्थानां ज्वराणां लक्षणं यथा। तथा तेषां भिषग्ब्रूयाद्रसादिष्वपि बुद्धिमान्॥" इति। एतदभिधानं च रसादिधात्वविरोधेन वातादिचिकित्साकरणार्थम्। अतस्तानाह—गुरुतेत्यादि। हृदयोत्क्लेशः हृदयस्थितस्य दोषस्योपस्थितवमनत्वमिव, रसस्य हृदयस्थत्वात्। रसस्थ इत्यनेन विशेषेणात्र रसो दूष्यः, सर्वेषामेव ज्वराणां रसानुगत्वात्। दैन्यं क्लान्ताचित्तत्वम्। पिण्डिकेत्यादि। पिण्डिका जान्वधो जङ्घामांसपिण्डः, तस्या उद्वेष्टनं दण्डादिना पीडनेनेव वेदना पिण्डिकोद्वेष्टनम्, एवमन्यत्रापि। सृष्टमूत्रपुरीषता प्रवर्तमानमूत्रपुरीषता। ऊष्मा बहिः; एतच्च विशेषपरं, प्रायः सर्वज्वरेषु तथाभावात्। 'ऊष्माऽन्तर्मोहविक्षेपौ'—इति पाठान्तरे, ऊष्माऽन्तः अन्तर्दाह इत्यर्थः, विक्षेपो हस्तादिचालनम्। भृशं स्वेद इति घर्मस्य मेदोमलत्वात्; तद्विकृत्यैव दौर्गन्ध्यं गात्रे। असहिष्णुता वेदनाया असहत्वं, क्रोधनत्वमिति कार्तिकः। भेदोऽस्थ्नामिति भेद इव भेदः भङ्गवत्पीडेत्यर्थः, परपदार्थेषु प्रयुज्यमानाः शब्दा वृत्ति(वति)मन्तरेणापि वृत्त्य(वत्य)र्थं गमयन्ति, यथा—अग्निर्माणवकः। एवमन्यत्रापि भेदादौ द्रष्टव्यम्। कूजनं अस्फुटध्वनिः; 'कुञ्चनम्' इति पाठान्तरेऽस्थ्नामेव संकोच इत्यर्थः। तमःप्रवेशनम् अन्धकारप्रविष्टस्येवासंवित्तिः। महाश्वासः श्वासाधिकारे वक्ष्यमाणलक्षणः। मर्मशब्देन हृदयमुच्यते, प्राधान्यादिति कार्तिकः; तस्य छेद इव मर्मच्छेदः। मरणमित्यादि शुक्रगतस्य। तत्रैतेषु रसादिधातुगतज्वरेषु मध्ये शुक्रस्थानगते मरणं प्राप्नुयादिति योज्यम्। शुक्रं च तत्स्थानं चेति शुक्रस्थानं; नतु शुक्रस्य स्थानं शुक्रस्थानं, शुक्रस्य सर्वदेहगत्वेन नियतस्थानासंभवादिति कार्तिकः। यदुक्तम्—"यथा पयसि सर्पिस्तु गुडश्चेक्षुरसे[1] यथा। शरीरेषु तथा नृणां शुक्रं विद्याद्भिषग्वरः॥" इति (सु. शा. स्था. अ. ४)। विशेषत इति पदेन शुक्रस्य बाहुल्येन विसर्गः, अन्यस्यापि रक्तादेरिति वदन्ति॥४८–५४॥

पूर्वप्रतिपादित वातादि ज्वरों के जब विशेष २ धातु दूषित होते हैं तो उनके लक्षण अधिक होते हैं। जैसे कहा भी है कि—'वात पित्त और कफ से होने वाले ज्वरों के जैसे लक्षण होते हैं, विद्वान् वैद्य को रसादिधातुगत ज्वरों के भी वैसे ही लक्षण कहने चाहिएँ'। रसादि धातुगत ज्वरों के निर्देश का फल उन २ धातुओं के अप्रतिकूल चिकित्सा करना है। अस्थियों के भेद की तरह भेद अर्थात् पीड़ा होनी, परपदार्थों में प्रयुज्यमान शब्द अविधावृत्ति के बिना भी लक्षण से उसके अर्थ को बता देते हैं। यथा—'अग्निर्माणवकः' यहां अग्नि रूप परपद को अग्नित्व रूप अर्थ के समान अधिकरण (स्थान) वाले तथा लक्षणावृत्ति द्वारा बतलाए जाने वाले तेजस्विता आदि धर्म अग्नि शब्द के परार्थ अर्थात् माणवक रूप के अभिधा द्वारा बोधन में शक्यतावच्छेदकपन को प्राप्त होते हैं। भाव यह है कि अग्नि शब्द से पहले लक्षणा वृत्ति द्वारा तेजस्वितादि की उपस्थिति होगी तदनु अभिधा द्वारा माणवक का बोध होगा, ऐसा कोई कहते हैं। अग्नित्व के समान स्थानीय तेजस्वितादि गुणों के सजातीय होने से माणवकगत (तेजस्वितादि) गुण ही लक्षणा द्वारा प्रतीत होते हैं परन्तु माणवक अर्थ अविधा द्वारा ज्ञात नहीं होता, सजातीय

---

१ गुडश्चेक्षौ रसो.

तेजस्वितादि गुणों के आश्रय होने से माणवक ही लक्षणा वृत्ति द्वारा ज्ञात होता है, ऐसा कोई कहते हैं। सार यह है कि किसी के मत से यहां पूर्व अग्नि शब्द से लक्षणा द्वारा तेजस्विता आदि की उपस्थिति होगी तदनु अभिधा द्वारा माणवक का बोध होगा। दूसरों के मत से तेजस्विता आदि गुण ही लक्षणा से ज्ञात होते हैं परन्तु माणवक का ज्ञान अभिधा से नहीं होता; अन्य आचार्य 'तेजस्विता आदि गुणविशिष्ट वाहिक लक्षणा द्वारा प्रतीत होता है' यह मानते हैं। एवं इनमें और बातों में से मतभेद है परन्तु तेजस्विता आदि गुणों का ज्ञान तीनों के मत में लक्षणा से ही होता है। एवं प्रकृत में—'अस्थ्नां भेदः' यह कहा। इसका मुख्यार्थ (अभिधा द्वारा ज्ञात अर्थ) अस्थियों का टूटना है, जो कि यहां प्रत्यक्षविरुद्ध है। एवं मुख्यार्थ के बाधित होने पर लक्षणा द्वारा टूटने की तरह पीड़ा रूप गुण उक्त तीनों मतों से ज्ञात होता है; अतः यही अर्थ लेकर अर्थ सङ्गति करनी चाहिये। उक्त मतों में भी अन्तिम मत ही ठीक है। इसमें और आचार्यों की भी सम्मति है। यथा—'मानान्तरविरुद्धे तु मुख्यार्थस्य परिग्रहे। अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते॥' एवं टूटने रूप अर्थ के प्रत्यक्ष सिद्ध न होने से अर्थसङ्गतिरूप प्रयोजन को रखकर लक्षणा द्वारा भेद संवहित भेद की सी पीड़ा ज्ञात होती है, अन्यथा भेद (टूटने) का ज्ञान न होने से उससे होने वाली पीड़ा का भी ज्ञान नहीं हो सकता। इसका विशेष विस्तार अलङ्कारशास्त्र में 'अग्निर्माणवकः' वा 'गौर्वाहीकः' के प्रसङ्ग में देखना चाहिये। 'शुक्रस्थान' शब्द का अर्थ 'शुक्ररूपी स्थान में' करना चाहिये। 'शुक्र के स्थान में' यह अर्थ ठीक नहीं है। कारण कि सर्वशरीरव्यापी होने से शुक्र का कोई विशेष स्थान नहीं है। जैसे कहा भी है कि जिस प्रकार दूध में घृत, इक्षुरस में गुड़ रहता है उसी प्रकार मनुष्यों के शरीर में शुक्र रहता है।

प्राकृतवैकृतज्वरलक्षणं तत्साध्यत्वादिकञ्च निरूपयति—

वर्षाशरद्वसन्तेषु वाताद्यैः प्राकृतः क्रमात्।
वैकृतोऽन्यः स दुःसाध्यः प्राकृतश्चानिलोद्भवः॥५५॥ [वा० ३।२]

वर्षा शरद् और वसन्त में होने वाला क्रमशः वात पित्त और कफ का ज्वर प्राकृत है और वर्षा में पित्त वा कफ का, शरद् में वात वा कफ का एवं वसन्त में पित्त वा वात का ज्वर वैकृत है। वैकृत ज्वर तथा वातिक प्राकृत भी दुःसाध्य होता है।

मधु०—उक्तवातादिज्वराणां कालप्रकृतिमुद्दिश्य प्राकृतत्वं वैकृतत्वं चाह—वर्षेत्यादि। वर्षादिषु वाताद्यैः क्रमाद्यो ज्वरः स प्राकृतः; वर्षासु वातिकः, शरदि पैत्तिकः, वसन्ते श्लैष्मिकः। अस्मादन्यो वैकृतः, यथा—वर्षासु पैत्तिक इत्यादि। स इति वैकृतो दुःसाध्यः, अर्थात्सुखसाध्यः प्राकृत इति। यदुक्तम्—"प्राकृतः सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भवः॥" (च. चि. स्था. अ. ३) इत्यादि। अत्र वाग्भटेन वातजस्य प्राकृतत्वप्रणयनं यत्कृतं तदन्ये नानुमन्यन्ते, दुःसाध्यत्वेन वैकृतादभिन्नत्वात्। जतूकर्णेनाप्यसौ न पठितः। यदाह—"वसन्तशरदोः प्राकृतोऽन्यत्र वैकृतः॥" इति। अत्रोच्यते—न प्राकृतत्वं सुखसाध्यत्वख्यापनपरा संज्ञा, किंतु कुम्भकारादिवद्यौगिकत्वं; यतो यथर्तुकुपितो दोषः प्रकृतिरुच्यते, तत उद्भूतः प्राकृतः, तेन प्राकृतत्वेऽपि दोषस्वभावाद्वातिकस्य दुःखसाध्यत्वं वैकृतवदिति। दुःखसाध्यत्वेन वैकृतसाधर्म्यात्तु चरकजतूकर्णाभ्यां नोक्तः, ननु प्राकृत-

त्वाभावादित्यभिप्रायो वाग्भटस्येति। अन्यरोगेषु प्राकृतत्वेन दुःसाध्यत्वं, ज्वरस्य तु व्याधिप्रभावात्सुखसाध्यत्वम्। तन्त्रान्तरं हि—"ज्वरे तुल्यर्तुदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता। रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्॥" इति ॥५५॥

यहां वाग्भट ने वातिक को जो प्राकृत ज्वर माना है वह अन्य आचार्य नहीं मानते। क्योंकि उसके दुःसाध्य होने के कारण वैकृत से कोई भेद नहीं है। जतूकर्ण ने भी वातिक ज्वर को प्राकृत नहीं माना, वह कहता है कि वसन्त और शरद् ऋतु में होने वाला क्रमशः कफ और पित्त का ज्वर प्राकृत है, और उससे भिन्न वैकृत होता है। इस पर कहते हैं कि प्राकृतपन सुखसाध्यता को बताने वाली संज्ञा नहीं है किन्तु कुम्भकार की तरह 'कुम्भं करोतीति' के अनुसार कार्मनामिक है। क्योंकि अपनी २ ऋतु में कुपित दोष प्रकृति कहलाता है। उससे होने वाला (ज्वर) प्राकृत होता है। एवं वर्षा में होने वाला वातिक ज्वर भी प्राकृत है और उसके प्राकृत होने पर भी दोष के स्वभाव से उसमें वैकृत की तरह दुःसाध्यता है। जतूकर्ण और चरक ने तो दुःसाध्यत्वरूप साधर्म्य को लेकर उसका निर्देश नहीं किया नकि प्राकृत न होने से निर्देश नहीं किया, यह वाग्भट का अभिप्राय है। और रोगों में प्राकृतपन होने से उसकी दुःसाध्यता होती है परन्तु ज्वर की व्याधि के प्रभाव से सुखसाध्यता है। इसमें तन्त्रान्तर का वचन भी है कि—'ज्वर में ऋतु और दोष का तुल्य होना, प्रमेह में दूष्यों का तुल्य होना, रक्त गुल्म में पुरानापन सुखसाध्यता में कारण है'।

प्राकृतज्वरेषु अन्यदोषानुबन्धं प्रदर्शयति—

वर्षासु मारुतो दुष्टः पित्तश्लेष्मान्वितो ज्वरम्।
कुर्यात्पित्तं च शरदि तस्य चानुबलः कफः ॥५६॥ [वा० ३।२]
तत्प्रकृत्या विसर्गाच्च तत्र नानशनाद्भयम्।
कफो वसन्ते तमपि वातपित्तं भवेदनु ॥५७॥ [वा० ३।२]

वर्षा ऋतु में प्रकुपित वायु पित्त और श्लेष्मा से युक्त होकर ज्वर करता है। शरद् ऋतु में प्रकुपित पित्त वात और कफ से युक्त होकर ज्वर करता है। यहां चकार से वात का ग्रहण होता है। एवं वसन्त ऋतु में वातपित्तान्वित श्लेष्मा ज्वर करता है। इनमें से कफ और पित्त के ज्वर में स्वाभाविकता तथा विसर्ग काल होने के कारण लंघन करने से कोई भय नहीं है। यहां वातिक में लंघन से वातवृद्धि होने के कारण इसका निर्देश नहीं किया। जैसे कहा भी है कि—'तत्तु मारुतक्षुत्तृष्णामुखशोषभ्रमान्विते। कार्यं न बाले वृद्धे वा न गर्भिण्यां न दुर्बले॥' (च. चि. स्था. अ. ३)। किञ्च—'ज्वरे लंघनमेवादावुपदिष्टमृते ज्वरात्। क्षयानिलभयक्रोधकामशोकश्रमोद्भवात्॥' (च. चि. स्था. अ. ३)। पैत्तिक तथा श्लैष्मिक में तो उपर्युक्तानुसार तथा 'कफपित्ते द्रवे धातू सहेते लंघनं महत्। आमक्षयादूर्ध्वमतो वायुर्न सहते क्षणम्॥' (च. चि. अ. ३) के अनुसार लंघन देना विहित है और लाभदायक है।

मधु०—तेषामेव प्राकृतज्वराणां चिकित्साविशेषार्थमुत्पत्तिक्रममाह—वर्षास्वित्यादि। दुष्ट इति कुपितः, ग्रीष्मे संचितत्वात्। पित्तश्लेष्मान्वित इति तत्कालोचितपित्तकफानुबन्धः। यदुक्तम्—"भूबाष्पान्मेघनिष्यन्दात्पाकादम्लाज्जलस्य च। वर्षास्वग्निबले क्षीणे कुप्यन्ति पवना-

दयः ॥" (च. सू. स्था. अ. ६) । कुर्यादिति छेदः, पित्तं च शरदीति दुष्टं ज्वरं कुर्यादिति पूर्वोक्तेन संबध्यते; एवं कफो वसन्ते इत्यत्रापि योज्यम् । पित्तदुष्टिश्च शरदि वर्षासु संचितत्वात् । अनुवलोऽनुबन्धः, तस्य च हेतुर्वार्षिकक्लेदानुवृत्तिरेव । तत्प्रकृत्येति तयोः पित्तश्लेष्मणोः प्रकृत्या स्वभावेन; तत्कृतयोर्ज्वरयोरनशनाल्लङ्घनाच्च भयं भवति । यदुक्तम्—"कफपित्ते द्रवे धातू सहेते लङ्घनं महत् । आमक्षयादूर्ध्वमतो वायुर्न सहते क्षणम् ॥" इति । विसर्गाच्च हेतोर्नानशनाद्भयम् । वर्षाशरद्धेमन्ता विसर्गः, तत्रोपचितबलाः प्राणिनो भवन्ति, सोमबलत्वात्; शिशिरवसन्तग्रीष्मास्त्वादानं, तत्रापचितबलाः प्राणिनः, सूर्यस्य बलवत्त्वादिति व्युत्पादितं शास्त्रे । 'तत्प्रकृत्या विसर्गस्य'—इति पाठान्तरे तत्प्रकृत्या कफपित्तप्रकृत्या, विसर्गस्य च प्रकृत्येति योज्यम् । कफ इत्यादि । तं कफमनु वातपित्ते भवतः, अनुबन्धरूपे भवत इत्यर्थः । हेतुश्चात्र वसन्तस्यादानमध्यत्वेनाग्नेयरूक्षत्वाद्वातपित्तप्रकोपकत्वम् । यदुक्तं चरके—"आदानमध्ये तस्यापि वातपित्तं भवेदनु ।" इति (च. चि. स्था. अ. ३) । अत्र कफपित्तप्रकृत्या लंघनं युक्तमेव, किंत्वादानमध्यत्वेन निर्भयं तन्न कार्यम् । अत एव 'तत्र नानशनाद्भयम्' इत्येतस्मात् पूर्वमेव पठितम्, अन्यथा सर्वशेषे पठितं स्यादिति ॥५६,५७॥

वसन्त में होने वाले प्राकृत ज्वर में कफ पित्त प्रकृति की द्रव के अनुसार लंघन देना ठीक ही है, किन्तु वसन्त ऋतु में आदान का मध्य समय होने के कारण लंघन निर्भय होकर नहीं कराना चाहिये । इसी लिये तो 'वहां लंघन से कोई भय नहीं हैं' यह इससे पूर्व कहा है अन्यथा इसे पूर्व कहकर उसे सब के बाद कहना चाहिये था । शेष सुगम ही है ।

प्राकृतज्वरेषु कालकृतदोषविशेषानुबन्धित्वमाह —

काले यथास्वं सर्वेषां प्रवृत्तिर्वृद्धिरेव वा ।

जिस दोष का जो प्रकोप काल होता है उस काल में उस दोषज से उत्पन्न ज्वर की प्रवृत्ति (प्रकोप) वा वृद्धि होती है। यथा—वर्षा में वायु, शरद् में पित्त और वसन्त में कफ प्रकुपित होता है। एवं वर्षा में वातिक ज्वर की, शरद् में पैत्तिक ज्वर की और वसन्त में श्लैष्मिक ज्वर की प्रवृत्ति होती है । यदि ज्वर पूर्व ही से प्रवृत्त हो तो वृद्धि हो जाती है अर्थात् यदि ग्रीष्म ऋतु में वातिक ज्वर आरम्भ हुआ हो वा वर्षा ऋतु में पैत्तिक ज्वर आरम्भ हुआ हो अथवा शिशिर ऋतु में श्लैष्मिक ज्वर आरम्भ हुआ हो और बाद ज्वरावस्था में ही क्रमशः वात पित्त कफ की प्रकोपक वर्षा, शरद् और वसन्त ऋतु आ जावे तो वह ज्वर बढ़ जाता है । एवं दिन रात भुक्त आदि में यही व्याख्या जाननी चाहिये । अथवा दिन रात भुक्त (आहार) आदि के अन्त, मध्य और आदि में क्रमशः वात, पित्त और कफ प्रकुपित होते हैं । यही इनके प्रकोपक काल हैं । अतः इन्हीं में उन २ दोषों के नित्य ज्वरों की प्रवृत्ति और विषम ज्वरों की वृद्धि होती हैं । यथा—दिन रात और भुक्त के अन्त में (परिणाम में) वात, मध्य में पित्त और आदि में कफ प्रकुपित होता है । एवं इन समयों में वातिक, पैत्तिक और श्लैष्मिक नित्य ज्वर की प्रवृत्ति और विषम ज्वर की वृद्धि होती है । यही क्रम ऋतु आदि का भी होता है ।

मधु०—कालोऽपि दोषविशेषस्य लक्षणमित्याह—काल इत्यादि । यथास्वं काले यस्य वातादेर्यः प्रकोपकालस्तत्र तज्जन्यज्वरस्य प्रवृत्तिरुत्पादो वृद्धिर्वा भवति; अथवा प्रवृत्तिर्नित्यज्वरस्य, वृद्धिर्विषमज्वरस्येति ॥—

यहां काल शब्द से 'नक्तंदिनर्तुभुक्तांशैर्व्याधिकालो यथामलम्' इससे तथा 'ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः । वयोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात्' ॥ (वा. सू. स्था. अ १), इससे प्रतिपादित काल लिया जाता है । शेष सुगम ही है ।

उपशयानुपशययोरपि दोषविशेषानुबन्धबोधकत्वमाह—

निदानोक्तानुपशयो विपरीतोपशायिता ॥५८॥

जो मिथ्या आहार विहार आदि जिस रोग के निदान रूप से बताए हैं उन्हीं मिथ्या आहार विहार आदि का उस रोग में सेवन करना अनुपशय कहलाता है, और जो इससे विपरीत अर्थात् जिन आहार विहारों से वह रोग न हो सके उन आहार विहारों का उस रोग में सेवन करना, हेतु व्याधि वा हेतु व्याधि के विपरीत अथवा विपरीतार्थकारी होने से उपशय कहलाता है । यथा-अतिसार में 'गुर्वतिस्निग्धरूक्षोष्णद्रवस्थूलातिभोजनैः' (सु. उ. तं. अ. ४०) इत्यादि के अनुसार गुरु आदि पदार्थ अतिसार की उत्पत्ति में कारण कहे हैं । एवं जब इनके सेवन से अतिसार हो जावे तो पुनः उस (अतिसार) में इनका सेवन करना व्याधिवर्धक होने से अनुपशय होगा । यदि इनसे विपरीत वा विपरीतार्थकारी पदार्थों का सेवन किया जायगा तो वे हेतुप्रत्यनीक, व्याधि-प्रत्यनीक वा उभयप्रत्यनीक होने से उपशय कहलावेंगे ।

मधु०—तथोपशयानुपशयावपि लक्षणमित्याह—निदानेत्यादि । निदानत्वेन ये उक्ता आहाराचारादयस्तैरनुपशयो दुःखं निदानोक्तानुपशयः । विपरीतैर्दोषादिविपरीताहाराचारैरुपशायिता सुखजननशीलत्वं विपरीतोपशायितेति ॥५८॥

अर्थ स्पष्ट ही है ।

अन्तर्वेगज्वरस्य लक्षणं प्राह—

अन्तर्दाहोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः ।
सन्ध्यस्थिशूलमस्वेदो दोषवर्चोविनिग्रहः ॥५९॥ [च० ६।३]
अन्तर्वेगस्य लिङ्गानि ज्वरस्यैतानि लक्षयेत् ।

जब ज्वर का वेग अभ्यन्तर हो अर्थात् ज्वर गम्भीर वा त्वचा के नीचे की धातु में स्थित हो तो उसके, शरीर के भीतर अधिक दाह, पिपासा, प्रलाप, श्वास, भ्रम, अस्थि और सन्धियों में शूल, स्वेद का न आना, वायु का न सहना और मल का न निकलना-ये लक्षण होते हैं । ये गम्भीर धातुगत होने के कारण कृच्छ्र-साध्य वा अतिगम्भीर धातुगत होने से असाध्य होते हैं ।

बहिर्वेगज्वरस्य लक्षणमाह—

सन्तापो ह्यधिको बाह्यस्तृष्णादीनां च मार्दवम् ॥६०॥ [च० ६।३]
बहिर्वेगस्य लिङ्गानि सुखसाध्यत्वमेव च ।

बाहर अर्थात् त्वचा में सन्ताप अधिक होता है; तृष्णा, प्रलाप, श्वास, भ्रम, सन्धिशूल, अस्थिशूल आदि लक्षण कम पड़ जाते हैं। ये बहिर्वेग ज्वर के लक्षण हैं। यह ज्वर सुखसाध्य होता है।

मधु०—उक्तज्वराणां मध्ये संप्राप्तिवशात्कश्चिदन्तर्वेगो भवति कश्चिद्बहिर्वेगस्तयोर्लक्षणमाह—अन्तर्दाह इत्यादि। श्वसनं श्वासः; सदनमिति पाठान्तरम्, तन्न युक्तमिति जेज्जटः, यतोऽन्तर्वेग एव सुश्रुते गम्भीराख्यः पठितः, तत्र च श्वास एव पठित इति। विनिग्रहोऽप्रवृत्तिः। तृष्णादीनामित्यादिशब्देनोक्तप्रलापादीनां ग्रहणम्। मार्दवं स्वल्पत्वम्। अस्य सुखसाध्यत्वाभिधानेनान्तर्वेगस्य कृच्छ्रसाध्यतां सूचयति, असाध्यतां वा "गम्भीरतीक्ष्णवेगार्तं ज्वरितं परिवर्जयेत्"–इति (सु. उ. तं. ३९) सुश्रुतवचनादिति ॥५९,६०॥

बहिर्वेग ज्वर की सुखसाध्यता के निर्देश से यह सूचित होता है कि अन्तर्वेग ज्वर कृच्छ्रसाध्य वा असाध्य है। असाध्यता में सुश्रुत का प्रमाण भी है कि—'गम्भीर और तीक्ष्ण वेग वाले ज्वरी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये'। मेरे विचार में बहिर्वेग ज्वर बाहर की धातु त्वचा (त्वक् वा रस) वा रक्त में आश्रित होता है, और इसी कारण इसमें बाह्य दाह भी अधिक होता है, तथा इसी (अगम्भीर धातुगत होने के) कारण वह सुखसाध्य भी है। एवं अन्तर्वेग ज्वर का प्रभाव गम्भीर मांस मेद अस्थि और मज्जा धातुगत होता है। अतएव इसमें अन्तर्दाह होता है एवं यह कृच्छ्रसाध्य है। इसी प्रकार जब अन्तर्वेग ज्वर अति गम्भीर शुक्रधातुगत हो जाता है तो उसमें अन्तर्दाह अत्यधिक होता है और वह असाध्य हो जाता है। विषम ज्वरों की तरह सामान्य ज्वर भी धातुगत होते हैं। जैसे कि सुश्रुत ने कहा भी है कि—'वातपित्तकफोत्थानां ज्वराणां लक्षणं यथा। तथा तेषां भिषग्रूपाद्रसादिष्वपि बुद्धिमान्॥'। (सु. उ. तं. अ. ३९) इनके धातुगत होने से इनकी भी सुखसाध्य, कृच्छ्रसाध्य और असाध्य ये तीन अवस्थाएं हैं और वे उपर्युक्त ही हैं। इसमें 'रसरक्ताश्रितः साध्यो मेदोमांसगतश्च यः। अस्थिमज्जगतः कृच्छ्रः शुक्रस्थो नैव सिध्यति' ॥ (च. चि. स्था. अ. ३) यह प्रमाण भी घटता है। 'गम्भीरतीक्ष्ण' इत्यादि से सुश्रुतोक्त गम्भीर ज्वर शुक्रगत जानना चाहिये।

आमज्वरस्य स्वरूपं दर्शयति—

लालाप्रसेको हृल्लासहृदयाशुद्ध्यरोचकाः ॥६१॥
तन्द्रालस्याविपाकास्यवैरस्यं गुरुगात्रता।
क्षुन्नाशो बहुमूत्रत्वं स्तब्धता बलवान् ज्वरः ॥६२॥
आमज्वरस्य लिङ्गानि न दद्यात्तत्र भेषजम्।
भेषजं ह्यामदोषस्य भूयो ज्वलयति ज्वरम् ॥६३॥

मुख से लाला स्राव होना, वमन की सी प्रतीति होनी, हृदय (छाती का) भरा सा वा भारी सा प्रतीत होना, अरोचक, तन्द्रा और आलस्य होना, भोजन का वा दोषों का न पकना, मुख विरस होना, शरीर भारी होना, क्षुधानाश, मूत्रबाहुल्य, स्तब्धता एवं ज्वर बलवान् होना आम ज्वर के लक्षण हैं। इनमें भेषज नहीं देनी चाहिये। क्योंकि आम दोष में दी हुई भेषज ज्वर को और भी तीव्र कर देती

है। कारण इसमें यह है कि एक तो पूर्व ही अपक्क दोष शरीर में होते हैं जिन्हें अग्नि निर्बल होने से पका नहीं सकती उस पर यदि औषध सेवन कर ली जाय तो वह जीर्ण तो न हो सकेगी प्रत्युत अपक्क रहने से आम दोषों को और भी उत्कृष्ट कर ज्वर को बढ़ा देती है।

पच्यमानज्वरस्य लक्षणमाह—

ज्वरवेगोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः।
मलप्रवृत्तिरुत्क्लेशः पच्यमानस्य लक्षणम् ॥६४॥ [च० ६।३]

पच्यमान ज्वर में ज्वर का वेग तीक्ष्ण होता है, पिपासा अधिक लगती है, प्रलाप श्वास और भ्रम होता है, मल की प्रवृत्ति एवं उत्क्लेश होता है। यही पच्यमान ज्वर के लक्षण हैं।

निरामज्वरलक्षणं वर्णयति—

क्षुत्क्षामता लघुत्वं च गात्राणां ज्वरमार्दवम्।
दोषप्रवृत्तिरष्टाहो[१] निरामज्वरलक्षणम् ॥६५॥ [च० ६।३]

आठ दिन के बाद जब ज्वर निराम हो जाता है तो उसमें भूख लगने लगती है, गात्र कृश एवं लघु हो जाते हैं, ज्वर मृदु हो जाता है, और अपानवायु सरने लगती है, ये लक्षण होते हैं। यही लक्षण निराम ज्वर के परिचायक हैं। 'अष्टाहो' के स्थान पर आतंकदर्पणकार 'उत्साह' पढ़कर कहता है कि उसमें उत्साह बढ़ने लगता है। उपर्युक्त अष्टाह शब्द में लक्षणों के शीघ्र वा विलम्ब में होने पर अपवाद भी आ जाता है।

मधु०—चिकित्साविशेषार्थमामपच्यमानपक्वलक्षणमाह—लालेत्यादि। ननु, न दद्यात्तत्र भेषजमिति विरुद्धं, द्विविधं हि भेषजमुक्तं चरकेण, द्रव्यभूतमद्रव्यभूतं चेति; तत्र द्रव्यभूतं कषायादि, अद्रव्यभूतं लङ्घनस्वेदादि, अत्र लङ्घनादिकं षडङ्गार्थशृतं च प्रयुज्यते। उच्यते, भेषजशब्देनात्रान्नपानसाधनव्यतिरिक्ता कल्पनोच्यते, नतु सामान्येनौषधमात्रं; कथमेषा प्रतीतिरिति चेत्, तरुणज्वरे भेषजपाननिषेधेऽपि भेषजविधानदर्शनात्। एवं पच्यमानेऽपि बोद्धव्यं, तत्रापि सामतायाः सद्भावात्। क्षुदित्यादि।—असमासकरणात् क्षुदादयो व्यस्ताः समस्ताश्च बोद्धव्याः। अष्टाहः पक्वलक्षणमिति जेज्जटः। हरिचन्द्रस्त्वाह—असत्यप्यष्टाहे क्षुदादिभिर्निरामत्वं दोषप्रवृत्त्या वा क्षुदाद्यभावेऽप्यष्टाहेनैव शिष्यहितैषितया कालं लक्षणं च निर्दिष्टवानिति। द्विविधा हि सामता—एका रसस्य, अपरा दोषस्य; रससामता तु मुखवैरस्यादिलक्षणा, दोषसामता तरुणत्वरूपा, साऽष्टाहेनैवापैति। अत्र च हरिचन्द्रेण हेतुरुक्तः "सप्ताहेनैव पच्यन्ते सप्तधातुगता मलाः। निरामश्चाप्यतः प्रोक्तो ज्वरः प्रायोऽष्टमेऽहनि" ॥ इति। सप्तानां धातूनां धात्वग्निना सप्ताहेनामपाकादष्टाहेनैव निरामत्वमिति। रससामता त्वष्टाहात्परतोऽप्यनुवर्तते। एनमर्थं जेज्जटोऽपीच्छति, यदेवं लिखति चरकसुश्रुतटीकायाम्—"तरुणा सामताऽष्टाहादपैति, रससामता तु परतोऽप्यनुवर्तते।" इति। एतत्प्रयोजनं च तरुणसामतायामौषधं नोपयुज्यते, रससामतायां तु ।।च

१ दोषप्रवृत्तिरुत्साहो.

दीयते। अत एवाह चरकः—"ज्वरितं षडहेऽतीते लघ्वन्नप्रतिभोजितम्। पाचनं शमनीयं वा कषायं पाययेत्तु तम्॥" इति। (च. चि. स्था. अ. ३)। तथा—"मृदौ ज्वरे लघौ देहे प्रचलेषु मलेषु च। पक्वं दोषं विजानीयाज्ज्वरे देयं तदौषधम्॥" (सु. उ. तं. अ. ३६)—इत्यभिधायापि यत्सुश्रुतेन पठितम्—"सप्तरात्रात्परं केचिन्मन्यन्ते देयमौषधम्। दशरात्रात्परं केचिद्दातव्यमिति निश्चिताः॥" (सु. उ. तं. अ. ३६)—इति, तेनैवं ज्ञापयति—सप्ताहादर्वाक् पाचनमपि न दीयते इति कार्तिककुण्डेनापि व्याख्यातमिति। ननु, "ज्वरितं षडहेऽतीते" (च. चि. स्था. अ. ३)—इति चरकवचनस्य "सप्तरात्रात्परम्" (सु. उ. तं. अ. ३६)—इत्यादिना सुश्रुतवचनेन विरोधः, यतः षडहेऽतीते सप्तमदिनं भवति, तत्र कषायं विधत्त इति। उच्यते, षडहेऽतीते सप्तमे लघ्वन्नप्रतिभोजितमष्टमे कषायं पाययेदित्यष्टमपदलोपाद्योज्यं रसौदनवदिति चक्रः, "भेषजं ह्यामदोषस्य भूयो ज्वलयति ज्वरम्" (च. चि. स्था. अ. ३)—इति दोषश्रुतेरुक्तसुश्रुतविरोधाच्च। प्रकारान्तरेणैनमर्थं कार्तिककुण्डोऽप्याह, तद्यथा—षडहेऽतीते इति ज्वरोत्पाददिनं परित्यज्य गणना, वस्तिदानदिनपरिहारेण परिहारकालगणनावत्। एवं "पाययेदातुरं साममौषधं सप्तमे दिने। शमनेनाथवा दृष्ट्वा निरामं तमुपाचरेत्॥" इत्येतदपि वचनं व्याख्येयम्। भट्टारहरिचन्द्रेणापि सप्तमदिने कषायपानं यद्व्याख्यातं तस्यायमेवाभिप्रायो गवेषणीयः, सुश्रुतादिविरोधात्। चन्द्रिकाकारेणापि व्याख्यातम्—"अचिरोगे दिनचतुष्टयवज्ज्वरस्य सप्ताहं सामताकालः, तत्र न पाचनं न वा शमनं न शोधनम्॥" इति। यत्तु पेयाद्यनन्तरं हारीतेनोक्तम्—"एतां क्रियां प्रयुञ्जीत षड्रात्रं सप्तमेऽहनि। पिबेत् कषायसंयोगान् ज्वरघ्नान् साधुसाधितान्॥" इति; तथा—"इति षड्रात्रिकः प्रोक्तो नवज्वरहितो विधिः। अतः परं पाचनीयं शमनं वा ज्वरे हितम्॥" इति खरनादवचनं च पूर्ववदष्टाहप्रतिपादकं द्रष्टव्यम्। अथवा पित्तज्वराभिप्रायेणैव तद्वचनद्वयम्। यदाह सुश्रुतः—"सप्तरात्रात्परम्।" इत्यारभ्य, यावत्—"पैत्तिके वा ज्वरे देयमल्पकालसमुत्थिते। अचिरज्वरितस्यापि भेषजं दोषपाकतः॥" इति (सु. उ. त. अ. ३६)। सप्ताहादर्वागपि यदेतत्पाचनकषायपानमुक्तं तन्नात्युद्भूतसामतायां द्रष्टव्यम्। यदाह वाग्भटः—"सप्ताहादौषधं केचिदाहुरन्ये दशाहतः। केचिल्लघ्वन्नभुक्तस्य योज्यमामोल्बणे न तु॥ तीव्रज्वरपरीतस्य दोषवेगोदयो यतः। दोषेऽथवाऽतिनिचिते तन्द्रास्तैमित्यकारिणि॥ अपच्यमानं भेषज्यं भूयो ज्वलयति ज्वरम्॥" इति (वा. चि. स्था. अ. १)। "अयमर्थोऽभियुक्तैश्च कैश्चिदुक्तश्चिकित्सकैः। सप्ताहात्परतोऽस्तब्धे सामे स्यात्पाचनं ज्वरे॥ निरामे शमनं, स्तब्धे सामे नौषधमाचरेत्॥" इति संक्षेपः। विस्तरस्तु कषायनिर्णयप्रकरणे द्रष्टव्यः। पक्वज्वरलक्षणेन जीर्णज्वरलक्षणमपि चिकित्सोचितं बोद्धव्यम्। यदुक्तं तन्त्रान्तरे—"आसप्तरात्रम्" इत्यादि। जतूकर्णेनाऽप्युक्तम्—"जीर्णस्त्रयोदशदिवसः।" इति। "त्रिसप्ताहे व्यतीते तु ज्वरो यस्तनुतां गतः। प्लीहाग्निसादं कुरुते स जीर्णज्वर उच्यते॥" इति तु तन्त्रान्तरमतिपुराणाभिप्रायेण द्रष्टव्यम्॥६१—६५॥

उक्त आमज्वर के प्रतिपादन में जो यह कहा है कि आमज्वर में भेषज नहीं देनी चाहिये, यह विरुद्ध है। क्योंकि भेषज दो प्रकार की चरक ने कही है—एक द्रव्यरूप और दूसरी

अद्रव्यरूप। इनमें से द्रव्य रूप तो कषाय आदि और अद्रव्य रूप लंघन स्वेदादि है। यहां अद्रव्यरूप लंघनादि और द्रव्यरूप षडङ्ग पानीय आदि प्रयुक्त होती है। एवं उक्त आमज्वर में भेषज नहीं देनी चाहिये, यह कहना ठीक नहीं बन सकता। इस पर आचार्य कहते हैं कि भेषज शब्द से यहां पर अन्नपान की साधना से व्यतिरिक्त कल्पना की जाती है, न कि सामान्यतः औषधमात्र। यदि यह कहो कि इसकी प्रतीति कैसे हुई तो इसका उत्तर यह है कि तरुण ज्वर में भेषज पीने का निषेध होने पर भी भेषज का विधान दीखता है। यदि आचार्य को भेषजमात्र का ही निषेध अभिप्रेत होता तो वह पूर्व निषेध कर पुनः विधान क्यों करते। अतः सिद्ध होता है कि भेषज शब्द से अन्नपान की सिद्धि से भिन्न कल्पना की जाती है न कि, सामान्यतः औषधमात्र, अन्यथा उनमें 'वदतो व्याघात' दोष आता है। एवं पच्यमान अवस्था में भी सामता होने के कारण ऐसा ही जानना चाहिये। (क्षुदित्यादि—) इसमें समास न करने से यह प्रतीत होता है कि क्षुधा आदि अकेले २ भी और मिलकर भी निराम अवस्था के बोधक हैं। (आठ दिन) पक्व दोष का लक्षण है, यह जेज्जट कहता है। परन्तु हरिचन्द्र तो कहते हैं कि आठ दिन के न होने पर भी क्षुधा आदि लक्षणों से निरामपन, वा क्षुधा आदि के न होने पर भी अधोवायु के सरने से निरामपन अष्टाह पर ही होता है, यह कालात्मक और लक्षणात्मक निर्देश शिष्य के हित के लिये किया है, अर्थात् इससे शिष्यों को शीघ्र एवं निर्भ्रान्त बोध हो जाता है इसलिये उक्त निर्देश किया है। सामता दो प्रकार की होती है—एक रससामता और दूसरी दोषसामता। रससामता का ज्ञान मुख की विरसता आदि से होता है और दोषसामता तरुणत्व रूप होती है जो कि अष्टाह से ही जाती है। इसमें हरिचन्द्र ने हेतु दिया है कि—'सातों धातुओं में स्थित दोष सात दिन में ही पच जाते हैं, अतः प्रायः आठवें दिन ज्वर निराम कहलाता है'। सातों धातुओं में स्थित आम दोष धात्वग्नि से पचकर आठवें दिन में निराम होते हैं परं रससामता तो अष्टाह के बाद भी रहती है। इसी अर्थ को जेज्जट भी मानता है, और चरक सुश्रुत की टीका में भी लिखता है कि–तरुणसामता अष्टाह से ही दूर हो जाती है परन्तु रससामता तो उसके बाद भी रहती है। इसका प्रयोजन तरुणसामता में औषध प्रयोग न करना है और रससामता में पाचन देना है। इसी लिये भगवान् चरक भी कहते हैं कि 'ज्वरी को छः दिन के अनन्तर लघु भोजन कराने के बाद उसे पाचन और शमन कषाय पिलाना चाहिये'। इसी प्रकार 'ज्वर के मृदु होने तथा शरीर के लघु होने और मलों के प्रचलित होने पर आम दोषों को पक्व जानना चाहिये और तभी ज्वर में औषध देनी चाहिये' यह कहकर भी सुश्रुत ने जो 'ज्वर में कई सात दिन के अनन्तर औषध देनी मानते हैं और कई दस दिन के अनन्तर देनी निश्चित करते हैं' यह पढ़ा है, उससे यह सिद्ध होता है कि, सात दिन के पूर्व पाचन भी नहीं देना चाहिये। यही व्याख्या कार्तिककुण्ड ने भी की है। अब यहां शंका होती है कि 'ज्वरी को छः दिन के बाद लघु भोजन कराने के अनन्तर पाचन वा शमन कषाय पिलाना चाहिये' इस चरक के वचन का 'कई सात दिन के बाद और कई दस दिन के बाद औषध देनी मानते हैं' इस सुश्रुतवचन के साथ विरोध आता है। क्योंकि छठे दिन के बाद सातवां दिन आता है और उसमें इसने कषाय का विधान किया है। इस पर कहते हैं कि छठे दिन के बाद सातवें दिन लघु अन्न देकर आठवें दिन कषाय पिलावे, चरक का यह भाव है। इसमें रसौदनवत् अष्टम पद का लोप है, अतः उसकी योजना कर लेनी चाहिये, यह चक्रपाणि मानता है; अन्यथा 'आम दोष वाले ज्वरी को दी हुई भेषज

उसके ज्वर को और भी बढ़ा देती है' इससे तथा उक्त सुश्रुत वचन से विरोध आता है। प्रकारान्तर से इसी अर्थ को कार्तिककुण्ड भी कहता है कि 'षडहेऽतीते' इसमें बस्तिदान दिन के परिहार से परिहार समय की गणना की तरह, ज्वर की उत्पत्ति के दिन को छोड़कर गणना करनी चाहिये। इसी प्रकार 'आमदोष वाले रोगी को सातवें दिन औषध पिलावे, अथवा उसे नीरोग देखकर शमन देवे' इस वचन की भी व्याख्या करनी चाहिये। भट्टार हरिचन्द्र ने भी सातवें दिन कषायपान का जो विधान किया है उसमें भी यही अभिप्राय जानना चाहिये, अन्यथा सुश्रुत आदि से विरोध आता है। चन्द्रिकाकार ने भी कहा है कि 'चक्षु रोग में चार दिन की तरह ज्वर में भी सात दिन तक सामता का समय है। उसमें न पाचन, न शमन और नही शोधन उपयुक्त है'। पेया आदि कहने के बाद जो हारीत ने कहा है कि 'छः दिन तक इस क्रिया का उपयोग कर सातवें दिन ज्वरनाशक सुसिद्ध कषाय योगों को पीवे' यह, तथा—'यह नव ज्वर में हितकर छः दिन की विधि कही है, इसके अनन्तर ज्वर में पाचन वा शमनविधि हितकर है' यह खरनाद का वचन पूर्ववद् आठ दिन को बतलाने वाला ही जानना चाहिये, अथवा ये दोनों (हारीत तथा खरनाद का) वचन पित्त के ज्वर को लक्ष्य में रख कर कहे हुए जानने चाहिये। जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि 'कई सात रात्रि के बाद और कई दशरात्रि के बाद औषध देनी चाहिये, यह मानते हैं' अतः ऐसे ही करना चाहिये, अथवा अल्प समय से उत्पन्न पैत्तिक ज्वर में जो औषध देनी उचित हो वह दोषों के पक जाने पर शीघ्र उत्पन्न ज्वर वाले को उपर्युक्त अवधि से पूर्व भी दे देनी चाहिये। सप्ताह से पूर्व भी जो यह पाचन कषाय का प्रयोग कहा है, वह अधिक सामतापरक नहीं है प्रत्युत अल्पसामतापरक है। क्योंकि अल्पोत्पन्न साम दोष शीघ्र पच जाते हैं। इसमें वाग्भट का प्रमाण भी है कि—'कई आचार्य सात दिन के अनन्तर, दूसरे दश दिन के अनन्तर और कई आम की उल्बणता न होने पर लघु अन्न खिलाने के बाद औषध देनी चाहिये यह मानते हैं। जो तीव्र ज्वर से ग्रस्त होता है उसमें दोषों के वेग आदि होते हैं, इस कारण; अथवा तन्द्रा और स्तिमितता करने वाले दोष के अत्यधिक सञ्चित होने पर दी हुई औषध न पक कर ज्वर को और भी बढ़ा देती है'। एवं 'कई विद्वान् चिकित्सकों ने यह अर्थ कहा है कि सात दिन के अनन्तर ज्वर में सामदोष के स्तब्ध न होने पर पाचन, और निराम होने पर शमन देना चाहिये, परन्तु साम दोषों के स्तब्ध होने पर औषध नहीं देनी चाहिये' यह संक्षेप है। यदि विस्तार देखना हो तो वह कषाय के निर्णय वाले प्रकरण में देखना चाहिये। पक्वज्वर लक्षण के समान जीर्णज्वर का लक्षण भी चिकित्सा के लिये उपयुक्त जानना चाहिये। जैसे शास्त्र में कहा भी है कि 'विद्वान् मनुष्य ज्वर को सात दिन तक तरुण, बारह दिन तक मध्य और इसके बाद पुराण (जीर्ण) कहते हैं'। जतूकर्ण ने भी कहा है कि 'तेरह दिन का ज्वर जीर्ण होता है'। 'तीन सप्ताहों के बीत जाने पर जो ज्वर सूक्ष्म (धातुओं में प्राप्त) हो गया है, और प्लीहा की वृद्धि तथा अग्नि का नाश करता है वह जीर्ण ज्वर कहलाता है' यह तन्त्रान्तर का यह वचन अतिपुराण ज्वर के संबन्ध में है।

ज्वरस्य साध्यतां लक्षयति—

बलवत्स्वल्पदोषेषु ज्वरः साध्योऽनुपद्रवः। [वा० ३।२]

अल्प प्रदुष्ट दोषों वाले बलवान् मनुष्य का कास, मूर्च्छा, अरुचि, छर्दि, तृष्णा, अतिसार, विबन्ध, हिक्का, श्वास और अङ्गभेद रूप इन उपद्रवों से रहित ज्वर साध्य होता है।

मधु०—ज्वरस्य साध्यलक्षणमाह–बलवत्स्वित्यादि। बलवत्सु पुरुषेषु साध्यः, यदुक्तं– "बलाधिष्ठानमारोग्यम् ॥" इति (च. चि. स्था. अ. ३)। अल्पदोषेषु नातिप्रबलदोषेषु। अनुपद्रव इति ज्वरस्योपद्रवाः कासादयः। यदुक्तं तन्त्रान्तरे–"कासो मूर्च्छाऽरुचिच्छर्दिस्तृष्णा-तीसारविड्ग्रहाः। हिक्काश्वासाङ्गभेदाश्च ज्वरस्योपद्रवा दश ॥" इति ॥—

अर्थ स्पष्ट ही है।

ज्वरस्य प्रत्याख्येयतां सविस्तरं लक्षयति—

हेतुभिर्बहुभिर्जातो बलिभिर्बहुलक्षणः ॥६६॥ [च० ६।३]
ज्वरः प्राणान्तकृद्यश्च शीघ्रमिन्द्रियनाशनः।
ज्वरः क्षीणस्य शूनस्य गम्भीरो दैर्घरात्रिकः ॥६७॥ [च० ६।३]
असाध्यो बलवान् यश्च केशसीमन्तकृज्ज्वरः।
गम्भीरस्तु ज्वरो ज्ञेयो ह्यन्तर्दाहेन तृष्णया ॥६८॥ [सु० ६।३६]
आनद्धत्वेन चात्यर्थं श्वासकासोद्गमेन च।
आरम्भाद्विषमो यस्तु यश्च वा दैर्घरात्रिकः ॥६९॥
क्षीणस्य चातिरूक्षस्य गम्भीरो यस्य हन्ति तम्।
विसंज्ञस्ताम्यते यस्तु शेते निपतितोऽपि वा ॥७०॥
शीतार्दितोऽन्तरुष्णश्च ज्वरेण म्रियते नरः।
यो हृष्टरोमा रक्ताक्षो हृदि संघातशूलवान् ॥७१॥
वक्त्रेण चैवोच्छ्वसिति तं ज्वरो हन्ति मानवम्।
हिक्काश्वासतृषायुक्तं मूढं विभ्रान्तलोचनम् ॥७२॥
सन्ततोच्छ्वासिनं क्षीणं नरं क्षपयति ज्वरः।
हतप्रभेन्द्रियं क्षीणमरोचकनिपीडितम् ॥७३॥
गम्भीरतीक्ष्णवेगार्तं ज्वरितं परिवर्जयेत् ॥

बलवान् बहुत (तीनों) दोषों से उत्पन्न तथा बहुत से लक्षणों वाला ज्वर प्राणनाशक होता है। एवं क्षीण मनुष्य का जो ज्वर शीघ्र ही इन्द्रियों को नष्ट करने वाला होता है, वह भी प्राणनाशक होता है। शोथी मनुष्य का गम्भीर (अन्तर्धातुस्थ वा अन्तर्वेग वाला) ज्वर मारक होता है, वा मारक होने के कारण असाध्य होता है अथवा दीर्घरात्रानुबंधी (बहुत समय रहने वाला) होने से असाध्य होता है और जो केशों में सीमन्त अर्थात् प्रसाधित की तरह केश विभक्त करने वाला बलवान् ज्वर होता है, वह असाध्य होता है वा सीमन्त करने वाला ज्वर बलवान् असाध्य अर्थात् अतिशीघ्र असाध्य वा मारक होता है। इसकी बलवती असाध्यता इसलिये कही है कि यह अरिष्ट लक्षण है; और अरिष्ट 'ध्रुवं त्वरिष्टे मरणम्' इस सुश्रुत वाक्य के, तथा 'नत्वरिष्टस्य जातस्य नाशोस्ति मरणादृते' (च. इ. स्था. अ. १) इस चरक वाक्य के अनुसार नियतमरणख्यापक होते हैं, एवं इसे बलवान् असाध्य कहा है। केश सीमन्त के रिष्टपन में चर

प्रमाण भी है कि 'जटाः पक्ष्मसु जायन्ते सीमन्ताश्चापि मूर्धनि' इति (च. इ. स्था. अ. ८)। (गम्भीरस्त्विति—) अन्तर्दाह, तृष्णा, मलों की विबद्धता तथा श्वास कास की उत्पत्ति से गम्भीर (अन्तर्वेग) ज्वर जानना चाहिये। जो गम्भीर ज्वर आरम्भ से ही विषम ज्वर हो अर्थात् गम्भीर भी हो और प्रारम्भतः ही सन्ततादि रूप से विषम भी हो, वह तथा जो दीर्घरात्रानुबन्धी वा शीघ्रमारक हो वह असाध्य होता है, अथवा जो गम्भीरज्वर आरम्भ से ही विषम (ज्वर) हो वह मारक होता है। एवं जिस क्षीण और रूक्ष मनुष्य को गम्भीर ज्वर होगा उस मनुष्य को भी वह (गम्भीर ज्वर) मार देता है। (विसंज्ञ इति—) जो मनुष्य विह्वल हुआ २ मूर्च्छित हो जाता है, और गिरते ही सोया सा प्रतीत होता है, एवं जो बाहिर शीत से और आभ्यन्तर ऊष्मा से पीड़ित होता है वह ज्वर से मर जाता है। जो रोमाञ्चित गात्र, लोहित नेत्र, नानाविधशूल पीड़ित हृदय वाला हो और मुख से श्वास वा खर श्वास लेता है, वह मनुष्य ज्वर से मर जाता है। हिक्का, श्वास और तृषा से युक्त मोह वाले, विभ्रान्त नेत्र, निरन्तर खरश्वासी मनुष्य को ज्वर नष्ट कर देता है। जिसकी चक्षु आदि इन्द्रियों की शक्ति नष्ट हो गई है, उस क्षीण, अरोचकार्त गम्भीर तथा तीक्ष्ण वेग पीड़ित वा तीक्ष्ण अन्तर्वेग पीड़ित ज्वरी मनुष्य को छोड़ देना चाहिये क्योंकि वह असाध्य होता है।

मधु०—ज्वरस्यासाध्यलक्षणान्याह—हेतुभिरित्यादि। ननु, यो हेतुभिर्बलिभिर्बहुभिश्चोपजायते स बहुलक्षण एव भवति, तत्किं बहुलक्षणवचनेन? उच्यते, यथास्वहेतुकुपिता दोषाः सर्वस्यैव रोगस्य हेतवो भवन्ति, प्राक्तनकर्मापेक्षया तु यदा विशिष्टां सामग्रीं संप्राप्तिलक्षणामासादयन्ति तदा ज्वरमापादयन्ति, तथा दूष्यादिसहकारिकारणसान्निध्यासान्निध्याभ्यां बहुलक्षणतामल्पलक्षणतां च कुर्वन्ति। तथा हि तन्त्रान्तरं—"एकं द्वौ त्रीन् बहून्वाऽपि देहे धात्वादियोगतः। दर्शयन्ति विकारांस्ते कुपिताः पवनादयः॥" इति। अपि च विकृतिविषमसमवायाद्बहुहेतुकोऽप्यल्पलक्षणोऽल्पहेतुकोऽपि बहुलक्षण इति। प्राणान्तकादिति छेदः। शीघ्रमिन्द्रियनाशन इति उत्पन्नमात्र एव चिकित्स्यमानोऽपीन्द्रियशक्तिं रूपादिग्रहणलक्षणामुपहन्ति सोऽप्यसाध्यो नतूपेक्षया; अन्येऽपि रोगा उपेक्ष्यमाणा इन्द्रियशक्तिमुपघ्नन्ति असाध्यतां चाधिरोहन्ति। एवं बहुलक्षणोऽप्यादावेव चिकित्स्यमान एव बोद्धव्यः। इन्द्रियाण्यत्रैकादश बोद्धव्यानि सांख्यसिद्धान्तेन, तथा चरकसुश्रुतनिर्दिष्टत्वात्; चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं स्पर्शनं चेति धीन्द्रियाणि, हस्तपादगुदोपस्थजिह्वाः कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकं मनः; एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम्। ज्वरः क्षीणस्य शूनस्येत्यपरमसाध्यलक्षणम्। गम्भीरो दैर्घरात्रिक इति गम्भीरोऽन्तर्धातुस्थः; अथवा गम्भीर इव गम्भीरः, यत्र वातादीनां निश्चयः कर्तुं न शक्यते; अन्ये त्वाहुः—गम्भीरोऽन्तर्वेगः। दैर्घरात्रिक इति "दीर्घरात्रानुबन्धी।" इति जेज्जटः, "दीर्घां मरणरूपां रात्रिमनुवर्तते इति दैर्घरात्रिकः॥" इति चक्रः, असाध्य इत्यर्थः। अत्र पक्षे दैर्घरात्रिक इति पूर्वेण संबध्यते, असाध्य इति परेण। केशसीमन्तकादिति अकस्मात् केशेषु सीमन्तान् यः करोति। उक्तं हि तन्त्रान्तरे—"केशाः सीमन्तिनो यस्य संक्षिप्ते विनते भ्रुवौ। लुनन्ति चाक्षिपक्ष्माणि सोऽचिराद्याति मृत्यवे॥" इति।

गम्भीरार्था ये जेज्जटादिभिर्व्याख्यातास्तेषु मध्येऽत्र गम्भीरोऽन्तर्वेग इत्ययमर्थो माधवकरस्याभिमतः, अत एवासौ एतदनन्तरं सौश्रुतं गम्भीरलक्षणं लिखति—गम्भीर इत्यादि। य एव चरकेऽन्तर्वेगः स एव सुश्रुते गम्भीरः पठितः, समलक्षणत्वात्, पृथक्पाठाभावाच्चेति। आनद्धत्वेन चेति विबद्धमलत्वेन। आरम्भादित्यादि।—आरम्भादुत्पादात्प्रभृति यस्य विषमज्वरः सोऽसाध्यः, यस्य तु नित्यज्वरिणो ज्वरोत्सृष्टस्य वाऽपचारादिना विषमः स साध्य एव। एतच्च विषमत्वं सन्ततादिरूपं बोद्धव्यं, नतु विषमत्वमात्रेण, वातिकज्वरेऽपि प्रसङ्गादिति। दैर्घरात्रिको व्याहत एव; न चास्य पुनरुक्तत्वं, तन्त्रान्तरीयवाक्यत्वात्, अधिकार्थप्रतिपादनार्थं बुद्ध्वाऽपि लिखितम्; एवं गम्भीरेऽपि वाच्यम्। 'अतिरूक्षस्य' इत्यत्र 'अनिमिषाक्षस्य' इति पाठान्तरे सदा स्फारितनेत्रस्येत्यर्थः। विसंज्ञः विह्वलः, ताम्यते मुह्यति। शेते निपतित इति शयितो निपतित एवास्ते नोत्थातुं समर्थः। शीतार्दितोऽन्तरुष्णश्चेति शीतार्दितो बहिः, अन्तरुष्णोऽन्तर्दाहवान्। हृष्टरोमा रोमाञ्चितगात्रः। हृदि संघातशूलवानिति संघातरूपेण वस्तुना अष्ठीलिकादिनाऽऽक्रान्तमिव हृदयं मन्यते यः स तथा; अन्ये त्वाहुः—नानाप्रकारकशूलवानिति। वक्त्रेण चैवोच्छ्वसितीत्येवकारेण नासिकां व्यवच्छिनत्ति व्यादितास्यप्रतिपादनार्थं, खरश्वास इत्यर्थः। हिक्केत्यादि।—हिक्कादिभिर्मिलितैरेकेनाप्यतिबलवताऽसाध्यत्वम्। मूढं मोहयुक्तम्। विभ्रान्तलोचनं भ्रान्तप्रेक्षणं, चलितनेत्रं वा। सन्ततोच्छ्वासिनं, निरन्तरखरश्वासयुक्तम्। हतेत्यादि।—हतप्रभाणि हतशक्तीनि स्वविषयाग्राहीणि चक्षुरादीनि यस्य स तथा; अथवा हता प्रभा दीप्तिरिन्द्रियाणि च यस्य स तथा। 'अरोचकनिपीतम्' इत्यत्र जेज्जटः पाठान्तरद्वयं पठति—'दुरात्मानमुपद्रुतम्' इति, व्याचष्टे च—दुरात्मानं दुष्टान्तःकरणम्, उपद्रुतमिति श्वासादिभिरुपद्रवैरुपद्रुतं; 'दुरात्मभिरुपद्रुतम्' इति पाठान्तरे तु राक्षसादिभिर्जुष्टमित्यर्थः।

जो ज्वर बलवान् तथा बहुत कारणों से उत्पन्न होता है, वह बहुत लक्षणों वाला ही होता है। इस कारण पुनः उसे बहुत लक्षणों वाला कहने का क्या प्रयोजन है? इसका उत्तर यह है कि अपने २ हेतुओं से प्रकुपित दोष यथासम्भव सभी रोगों के कारण होते हैं, परन्तु पूर्वकृत कर्मानुसार जब वे सम्प्राप्ति रूप सामग्रीविशेष प्राप्त कर लेते हैं, तब ज्वर को उत्पन्न करते हैं, तथा दूष्य आदि सहकारी कारणों की पूर्ण प्राप्ति वा स्वल्प प्राप्ति के अनुसार सम्पूर्णलक्षणता वा असम्पूर्णलक्षणता को करते हैं। जैसे तन्त्रान्तर में लिखा भी है कि 'एक दो तीन वा बहुत से धातु आदि के सम्बन्ध से प्रकुपित हुए वायु आदि दोष विकारों को दिखाते हैं' अर्थात् जितना धातुओं के साथ सम्बन्ध होगा उतने ही लक्षण होंगे। अतः यह सिद्ध होता है कि बहुत से हेतु बहुत लक्षणों में कारण नहीं हैं प्रत्युत धातुओं का सम्बन्ध कारण है, एवं बली और बहुत हेतुओं के साथ बहुत लक्षणों वाला कहना दुष्टिदुष्ट नहीं है। विकृति विषम समवाय से बहुत हेतुओं वाला अल्प लक्षण और अल्प हेतुओं वाला बहुलक्षण हो जाता है, एवं बहुहेतुक रोग बहुलक्षण होता है, यह नियम नहीं है। अतः यहां बहुहेतुक बहुलक्षण दोनों कहे हैं, क्योंकि असाध्य लक्षण दोनों मिलकर ही हैं। 'शीघ्रमिन्द्रियनाशनः' इस पद का अर्थ, जो ज्वर चिकित्सा किये जाने पर भी होते ही इन्द्रियों को नष्ट कर देता है वह 'शीघ्रमिन्द्रियनाशनः' है। एवं बहुलक्षण का भी यही अर्थ है। अवशिष्ट सब सरल ही है।

मधु०—एषामसाध्यलक्षणानामुपलक्षणत्वादन्यान्यपि तन्त्रान्तरेषु द्रष्टव्यानि। तद्यथा—"प्रेतैः सह पिबेन्मद्यं स्वप्ने यः कृष्यते शुना। सुघोरं ज्वरमासाद्य स जीवमपसृज्यते॥ ज्वरः

पौर्वाह्णिको यस्य शुष्ककासश्च दारुणः । बलमांसविहीनस्य यथा प्रेतस्तथैव सः ॥ ज्वरो यस्यापराह्णे तु श्लेष्मकासश्च दारुणः । बलमांसविहीनस्य यथा प्रेतस्तथैव सः ॥ सहसा ज्वरसन्तापस्तृष्णा मूर्च्छा बलक्षयः । विश्लेषणं च सन्धीनां मुमूर्षोरुपजायते ॥ गोसर्गे वदनाद्यस्य स्वेदः प्रच्यवते भृशम् । लेपज्वरोपसृष्टस्य दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ मृत्युश्च तस्मिन् बहुपिच्छिलत्वाच्छीतस्य जन्तोः परितः सरत्वात् । स्वेदो ललाटे हिमवन्नरस्य शीतार्दितस्यैति सुपिच्छिलश्च ॥ कण्ठे स्थितो यस्य न याति वक्षो नूनं यमस्यैति गृहं स मर्त्यः ॥ स्रुतस्वेदो ललाटाद्यः श्लथसन्धानबन्धनः । मुह्येदुत्थाप्यमानस्तु स स्थूलोऽपि न जीवति ॥ यस्य स्वेदोऽतिबहुलः पिच्छिलो याति सर्वतः । रोगिणः शीतगात्रस्य तदा मरणमादिशेत् ॥" इति । "आधानजन्मनिधने प्रत्यर्याख्ये विपत्करे । नक्षत्रे व्याधिरुत्पन्नः क्लेशाय मरणाय वा ॥ ज्वरस्तु जातः षड्भ्रात्रादश्विनीषु निवर्तते ॥" इत्यादिना ग्रन्थेन नक्षत्रभेदेन ज्वरस्य साध्यत्वासाध्यत्वं यदभिहितं, तद्धारीतवृद्धवाग्भटयोर्द्रष्टव्यम्, इह तु विस्तरभयान्न लिखितम् । सन्निपातासाध्यप्रकरणं यथा—"पित्तकफानिलवृद्ध्या दशदिवसद्वादशाहसप्ताहात् । हन्ति विमुञ्चति वाऽऽशु, त्रिदोषजो धातुमलपाकात् ॥" इति । सप्ताहाद्वाताधिकः, दशाहात्पित्ताधिकः, द्वादशाहात्कफाधिकः; पित्ताधिकवद्वातपित्ताधिकः, कफाधिकवद्वातकफाधिकः, योगवाहित्वाद्वायोः । यदाह चरकः—"योगवाही परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत् । दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत्सोमसंश्रयात् ॥" इति (च. चि. स्था. अ. ३) धातुपाकाद्धन्ति, मलपाकाद्विमुञ्चतीति व्यवस्थितविकल्पः; धातुमलपाकविकल्पे च दैवमेव हेतुः । उत्तरोत्तररोगवृद्धिबलहानिभ्यां शुक्रादिधातुसहितमूत्रादिना च धातुपाको ज्ञेयः, यदुक्तं—"निद्रानाशो हृदि स्तम्भो विष्टम्भो गौरवारुची । अरतिर्बलहानिश्च धातूनां पाकलक्षणम् ॥" इति; अन्यथा च मलपाकः—"दोषप्रकृतिवैकृत्यं लघुता ज्वरदेहयोः । इन्द्रियाणां च वैमल्यं दोषाणां पाकलक्षणम् ॥" इति । ननु, तरतमादिभावव्यवस्थितशीघ्रमध्यमन्दशक्तित्वाद्दोषाणां कथं सप्ताहादिनियम इति चेत् । न, तथा-स्वभावाद्व्याधेः, विचित्रा हि प्रतिरोगं स्वभावाः; यथाऽग्निरोहिणी सप्ताहेन हन्ति न तथाऽन्ये विकारा इति । अतः—"सप्तमी द्विगुणा यावन्नवम्येकादशी तथा । एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च ॥" (वा. नि. स्था. अ. २) इति हारीतवचनसंवादार्थमेवं व्याचक्षते,—दशमीप्रत्यासत्त्या नवमी, द्वादशीप्रत्यासत्त्या एकादशी च गृह्यते; ततो वृद्ध्येति पदमावर्त्य सर्वत्र द्वैगुण्यं कार्यम् । एवं, "सप्तमे दिवसे प्राप्ते दशमे द्वादशेऽपि वा । पुनर्घोरतरो भूत्वा प्रशमं याति हन्ति वा ॥" (सु. उ. तं अ. ३६) इत्यत्र सुश्रुतवाक्ये पुनःशब्देन द्वैगुण्यमिति व्याख्यातवान् कार्तिककुण्डः । एवं, "दशद्वादशसप्ताहैः पित्तश्लेष्मानिलाधिकः । दग्ध्वोष्मणा धातुमलान् हन्ति मुञ्चति वा ज्वरः ॥" (वा. नि. स्था. अ. २) इत्यत्राधिकशब्दमावर्त्य क्रियाविशेषणं कृत्वा द्वैगुण्यं बोद्धव्यम् । तथा, "वातपित्तकफैः सप्तदशद्वादशवासरान् । प्रायोऽनुयाति मर्यादा मोक्षाय च वधाय च ॥" (वा. नि. स्था. अ. २)—इत्यत्राग्निवेशमते प्रायोग्रहणेन द्वैगुण्यमिति । ननु, सप्तमीत्यादौ कथं तर्हि दशविंशतिद्वादशचतुर्विंशतीनां ग्रहणमिति चेत् । उच्यते, एकादशीत्यत्र एकेति पदमावर्तनीयं, तेन नवमी एकेति दशमी लभ्यते, एकादशी एकेति द्वादशी, ततः सर्वत्र द्वैगुण्यम् ।

तुशब्दः समुच्चये, तेन सप्तमी गृह्यते सा द्विगुणा च; एवं नवम्यादिषु योज्यम् । चतुर्विंशत्यधिकस्तु मर्यादादिवसो नास्ति, तत्प्रतिपादकागमादर्शनात् ॥६६-७३॥

माधवोक्त असाध्य लक्षणों को उपलक्षण मानकर तन्त्रान्तरों में कथित अन्य असाध्य लक्षण भी जानने चाहिये, और वे लक्षण 'प्रेतैः सह पिबेन्मद्यम्' इत्यादि से 'रोगिणः शीतगात्रस्य तदा मरणमादिशेत्' यहां तक हैं । 'आधानजन्मनिधने' इत्यादि ग्रन्थ से नक्षत्र भेद से जो साध्यपन वा असाध्यपन कहा है, वह हारीत तथा वृद्ध वाग्भट में देखना चाहिये, विस्तार के भय से उसका निर्देश यहां नहीं किया जाता । सन्निपात का असाध्य प्रकरण, जैसे—'पित्त कफ और वायु की वृद्धि से त्रिदोषज ज्वर क्रमशः दस, बारह और सात दिन के अनन्तर धातुपाक होने पर मार देता है, तथा मलपाक होने पर छोड़ देता है'। एवं वात पित्तोल्बण सन्निपात ज्वर पित्त की तरह दस दिन बाद और वात कफोल्बण सन्निपात ज्वर कफ की तरह बारह दिन बाद धातुपाक होने पर मार देता है और मलपाक होने पर छोड़ देता है, द्वन्द्वोल्बण सन्निपात में योगवाही होने से वात की दिन की व्यवस्था नहीं लगती । वायु के योगवाहीपन के विषय में जैसे चरक ने कहा भी है कि 'वायु परम योगवाही है, अतः वह संयोग से पित्त और कफ दोनों के अर्थों (गुणों वा कार्यों) को करता है । जब वह पित्त से युक्त होता है तो दाहादि पित्त के धर्म करता है और जब कफ से युक्त होता है, तब कफ के शीतादि धर्म करता है' । धातुपाक से मारना और मलपाक से छोड़ना, विकल्प की यह व्यवस्था है, और इसमें कारण दैव ही है । उत्तरोत्तर रोग की वृद्धि और बल की हानि तथा शुक्र आदि धातुओं के सहित मूत्र आदि का पाक होना धातुपाक कहलाता है । जैसे कहा भी है कि—निद्रानाश, हृदयस्तम्भ, विष्टम्भ, गुरुता, अरुचि, पीड़ा, और बलहानि इनका होना धातुपाक का लक्षण है । इससे अन्यथा मलपाक होता है । तद्यथा—'जिस दोष की प्रकृति का अर्थात् जिस भाव में जाकर दोष ने रोग उत्पन्न किया हो, उससे विपरीत होना, ज्वर और शरीर हल्का होना, इन्द्रियों का अपने २ विषयों के ग्रहण में समर्थ होना मलपाक का लक्षण है' । जब कि दोष तरतम की व्यवस्था के अनुसार शीघ्र, मध्य और मन्दगति वाले हैं तो उपर्युक्त सप्ताह आदि नियम कैसे हो सकता है ? इस पर कहते हैं कि इस प्रकार सप्ताह आदि नियम व्याधि के स्वभावानुसार होते हैं, और वे स्वभाव प्रत्येक व्याधि के पृथक् २ होते हैं; जैसे अग्नि रोहिणी रोग सात दिन में ही मार देता है, वैसे दूसरे रोग नहीं मारते, यह उसका विचित्र स्वभाव है । एवं प्रत्येक व्याधि का पृथक् २ स्वभाव होने के कारण वात, पित्त और कफ इन दोषों के ज्वरों की क्रमशः चौदह, अठारह, बाईस दिन की मर्यादा मानी गई है । तदनन्तर वे मलपाक होने पर छोड़ देते हैं और धातुपाक होने पर मार देते हैं । इस वाग्भट के वाक्य की हारीत के वाक्य के साथ एकवाक्यता मिलाने के लिये कई आचार्य इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि 'पित्तकफानिलवृद्धया' इत्यादि प्रतिपादित दशाहादि व्यवस्था में दशाह से, उसके निकट होने के कारण नवाह और द्वादशाह से, उसके निकट होने के कारण एकादशाह लिये जाते हैं । तदनु 'वृद्धि से' इस पद का आवर्तन कर 'पित्तकफानिल' आदि श्लोक से निस्सरित दशाह आदि की प्रत्यासत्ति से प्राप्त नवाह आदि दिनों को द्विगुण करना चाहिये । एवं उसके इस अर्थ की कि 'पित्त कफ और वातोल्बण सन्निपात ज्वर क्रमशः दस, बारह और सात दिन के अनन्तर धातुपाक होने पर मार देता है और मलपाक होने पर छोड़ देता है' वाग्भट से एकवाक्यता करने के लिये यह बनता है कि पित्त कफ और वातोल्बण सन्निपात ज्वर क्रमशः दशम के समीपवर्ती नवाह की और द्वादशाह के समीपवर्ती एकादशाह की एवं सप्ताह की

वृद्धि अर्थात् द्विगुणता पर धातुपाक होने से मार देता है और मलपाक होने से छोड़ देता है। इस प्रकार हारीत के वाक्य की वाग्भट के वाक्य के साथ एकवाक्यता बनती है। यहां सप्ताह में प्रत्यासत्ति से षडाह (छः दिन) नहीं लेना। क्योंकि इसमें एक तो कोई प्रमाण नहीं है, दूसरा सप्ताह दोनों को ही अभिमत है । एवं 'सप्तमे दिवसे प्राप्ते' इत्यादि सुश्रुतवाक्य में दशम और द्वादश से समीप होने के हेतु नवम और एकादश अर्थ लेकर 'पुनः' शब्द के निर्देश से द्विगुण करने पर एकवाक्यता मिलती है, यह कार्तिककुण्ड का कथन है। एवं 'दशद्वादशसप्ताहैः' इत्यादि श्लोक में भी पूर्ववत् प्रत्यासत्ति से दश और द्वादश का नव और एकादश अर्थ लेकर तथा अधिक पद आवर्तन कर यहां भी द्विगुणता जाननी चाहिये। तथा 'वातपित्तकफैः' इत्यादि श्लोक से प्रतिपादित अग्निवेश के मत में 'प्रायः' शब्द को लेकर द्विगुण करना चाहिये। अब शंका होती है कि यह तो एकवाक्यता बन गई परन्तु 'सप्तमी द्विगुणा चैव नवम्येकादशी तथा' इत्यादि में दस, बीस, बारह और चौबीस का ग्रहण कैसे हो सकता है ? अन्यथा इनकी एकवाक्यता नहीं बनती । इसका उत्तर यह है कि 'एकादशी' यहां पर 'एक' इस पद की आवृत्ति करनी चाहिये। इससे नवमी में एक मिलाने से दशमी और एकादशी में एक मिलाने से द्वादशी बन जाती है तब सब जगह द्विगुण करने से दश के बीस और बारह के चौबीस बन जाते हैं, एवं एकवाक्यता होती है। 'तु' शब्द को समुच्चयार्थक मानकर सप्तमी का ग्रहण होता है एवं वह द्विगुणित भी ली जाती है। चौबीस दिनों से अधिक मर्यादा का दिन नहीं है। क्योंकि इसमें कोई शास्त्र का प्रमाण नहीं मिलता।

ज्वरमोक्षस्य प्राग्रूपं दर्शयति—

दाहः स्वेदो भ्रमस्तृष्णा कम्पविड्भिदसंज्ञिता।
कूजनं चास्यवैगन्ध्यमाकृतिर्ज्वरमोक्षणे ॥७४॥

दाह, स्वेद, भ्रम, पिपासा, कँपकँपी, विड्भेद, बेहोशी और गले में अस्फुट शब्द होना, एवं शरीर से वा मुख से दुर्गन्धि आना ज्वरमुक्ति के पूर्वरूप हैं।

मधु०—ज्वरविमुक्तिपूर्वरूपमाह—दाह इत्यादि । विड्भिदिति विड्भेदः; संपदादिपाठात् भावे क्विप् । असंज्ञिता संज्ञानाशः । कूजनं अस्फुटध्वनिः । यदुक्तम्—"ज्वरप्रमोक्षे पुरुषः कूजेद्वमति चेष्टते ॥" इति । वाग्भटोऽप्याह—"धातून् प्रक्षोभयन् दोषो मोक्षकाले बलीयते । ततो नरः श्वसन् स्विद्यन् कूजन्वमति चेष्टते ॥" (वा. नि. स्था. अ. २) इति । वैगन्ध्यं दुर्गन्धता गात्रे । ज्वरमोक्षणे भविष्यति आकृतिर्लक्षणं 'भवति' इति शेषः । ननु, दोषक्षयं विना न व्याधिनिवृत्तिः, क्षीणश्च दोषः कथमेवंविधं लक्षणं कुर्यात् ? उच्यते, कश्चिद्भावः क्षीणोऽपि विनाशकाले स्वशक्तिं दर्शयति, यथा—निर्वाणावस्थो दीपो विशेषात्प्रज्वलति; अथवा दोषाभिभूतानां धातूनां दोषापगमेन क्षोभाद्दाहादयः तरलतरवानरपरिहीयमानतरुणतरुवल्लरीशिखरकम्पवदिति ॥७४॥

(ननु—) दोषक्षय के विना व्याधि शान्त नहीं हो सकती एवं जब व्याधि शान्त होने लगेगी तो दोष क्षीण हो चुकते हैं। पुनः क्षीण दोष दाह आदि लक्षणों को कैसे कर सकते हैं? इस पर कहते हैं कि कोई भाव क्षीण हुआ २ भी विनाश के समय अपनी शक्ति को दिखाता है, जैसे बुझने वाला दीपक बुझते समय विशेष प्रकाश करता है, इसी प्रकार शान्त होने वाले क्षीण दोष भी अपने विशेष प्रभाव से दाह आदि करते हैं; अथवा अतिचञ्चल वानर से छोड़ा हुआ

नये वृक्ष की शाखा का अग्रभाग जैसे काँपता है उसी प्रकार दोषों से व्याप्त धातुओं को जब दोष छोड़ते हैं तो वहां भी क्षोभ होता है, जिससे दाहादि लक्षणों की उत्पत्ति होती है।

ज्वरमुक्तस्य लक्षणमाह—

स्वेदो लघुत्वं शिरसः कण्डूः पाको मुखस्य च ।
क्षवथुश्चान्नलिप्सा च ज्वरमुक्तस्य लक्षणम् ॥७५॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने ज्वरनिदानं समाप्तम् ॥२॥

स्रोतों के खुल जाने से स्वेद का आना, शरीर का हलका होना, सिर में खुजली होनी, मुख का पक जाना, छींकें तथा अन्न में रुचि होनी ये ज्वरमुक्ति के लक्षण हैं।

मधु०—ज्वरमुक्तिलक्षणमाह—स्वेद इत्यादि । स्वेदो घर्मागमनं, स्रोतसां स्फुटत्वात् । लघुत्वं गात्रस्य । शिरसः कण्डूरिति सर्वो हि ज्वरस्तैजसः, विरोधिव्यपगमात् सौम्यः श्लेष्मा लब्धबलः सन् शिरसि स्वस्थानेऽसाधारणात्मलक्षणं कण्डूं करोति, व्याधिमहिम्ना तु नान्यत्र कफस्थाने इति वदन्ति । पाको मुखस्येति ज्वरोष्मकोपितात्पित्तात्, यत्तु पूर्वं नाकार्षीदन्यत्र वा तदपि व्याधिमहिम्नैव । एतच्च दाहमारभ्य लक्षणं त्रिदोषजेऽन्तर्वेगे ज्वरे भवति नतु सर्वत्र । तथाचैतदनन्तरं भालुकिः प्राह—"त्रिदोषजे ज्वरे ह्येतदन्तर्वेगे च धातुगे । लक्षणं मोक्षकाले स्यादन्यस्मिन् स्वेददर्शनम् ॥" इति । ननु, ज्वरस्य प्रत्यक्षत्वात्तस्याभावोऽपि प्रत्यक्षः, तत्किं तल्लक्षणपाठेन ? तथाऽपि वा पठितव्यं, तर्हि सर्वविकारेषु पठ्यताम् ? उच्यते, विषमज्वरशङ्कानिरासार्थं, विषमज्वरे हि निवृत्तोऽपि ज्वरः पुनरायाति, दोषाणां धातुलीनत्वात्; एतल्लक्षणे तु निःशेषदोषनिवृत्त्या न पुनरागमः । यत्र चैवंविधा शङ्का तत्रैव लक्षणं पठति न सर्वत्र, यथा प्रमेहातीसारादिष्विति सर्वं सुस्थम् ॥७५॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां ज्वरनिदानं समाप्तम् ॥२॥

सभी ज्वर तैजस होते हैं। उनके चले जाने पर विरोध का अभाव होने से सौम्य श्लेष्मा प्रवल होकर अपने स्थान सिर में कण्डू रूप विशेष लक्षण को करता है। व्याधि के प्रभाव से यह सिर में ही होता है, दूसरे कफस्थानों में नहीं होता । मुख में पाक ज्वर की ऊष्मा से पित्त के प्रकुपित होने पर होता है। जो यह पूर्व नहीं हुआ वा अन्यत्र नहीं होता, यह व्याधि का ही प्रभाव है। यह दाह को आरम्भ करके जो मुखपाक रूप लक्षण है, वह त्रिदोषज अन्तर्वेग ज्वर में होता है, अन्यत्र नहीं होता। अतः इसके बाद भालुकि कहता है कि यह लक्षण त्रिदोषज अन्तर्वेग वा धातुगत ज्वर के मोक्ष समय में होता है, दूसरे ज्वरों में पसीना आता है। जो वस्तु प्रत्यक्ष से जानी जाती है, उसका अभाव भी प्रत्यक्ष से ही जाना जाता है। एवं ज्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान होने से इसका अभाव भी प्रत्यक्ष जाना जा सकता है, तो ज्वर के नाश का लक्षण पढ़ने की क्या आवश्यकता है ? यदि आवश्यकता न होने पर भी पढ़ना ही है तो सभी विकारों के अभाव का लक्षण पढ़ना चाहिये। इसका उत्तर यह है कि विषमज्वर की आशंका को दूर करने के लिये ज्वर मुक्ति का लक्षण पढ़ा है क्योंकि विषम ज्वर में गया हुआ ज्वर फिर भी आ जाता है। कारण कि तब दोष धातुओं में लीन होते हैं, परन्तु ज्वर मुक्ति के लक्षण होने पर दोष अच्छी तरह निवृत्त हो जाने के कारण पुनः नहीं लौटते, अतः पुनः ज्वर वेग भी नहीं होता, और इसी कारण

इन लक्षणों का निर्देश किया है। एवं अन्यत्र भी जहां ऐसी शंका होती है, वहां भी उस रोग की मुक्ति के लक्षण पढ़े हैं, जैसे प्रमेह अतिसार आदि में।

अथातीसारनिदानम्[१]।

अतीसारस्य कारणानि विवृणोति—

गुर्वतिस्निग्धरूक्षोष्णद्रवस्थूलातिशीतलैः।
विरुद्धाध्यशनाजीर्णैर्विषमैश्चापि भोजनैः ॥१॥ [सु० ६।४०]
स्नेहाद्यैरतियुक्तैश्च मिथ्यायुक्तैर्विषैर्भयैः।
शोकाद्दुष्टाम्बुमद्यातिपानैःसात्म्यर्तुपर्ययैः ॥२॥ [सु० ६।४०]
जलाभिरमणैर्वेगविघातैः क्रिमिदोषतः।
नृणां भवत्यतीसारो लक्षणं तस्य वक्ष्यते ॥३॥ [सु० ६।४०]

गुरु (मात्रागुरु वा स्वभावगुरु), अति स्निग्ध, अति रूक्ष, अति उष्ण, अति द्रव (पतले), अति स्थूल और अति शीतल पदार्थों के सेवन से; संयोग विरुद्ध, देश विरुद्ध, मात्रा विरुद्ध, काल विरुद्ध भोजन से; पूर्व (दिन में) भुक्त अन्न के पचने से पूर्व ही पुनः भोजन करने से; अपक्व अन्न के खाने से; अधिक अल्प, एवं असमय में भोजन करने से; स्नेह, स्वेद, वमन, विरेचन, अनुवासन और निरूहण इनके अतियोग वा मिथ्यायोग के प्रयोग से; विष (स्थावर वा दूषी विष) और भय से शोक, दुष्ट जल वा अति जलपान तथा अतिमद्य सेवन से सात्म्यविपर्यय और ऋतुविपर्यय से जलक्रीड़ा, वेगावरोध, और उदर में क्रिमियों के हो जाने से मनुष्यों को अतिसार होता है। आगे इस अतिसार का लक्षण कहते हैं।

मधु०—पित्तज्वरेऽतीसारपाठाज्ज्वरातीसारयोरन्योन्योपद्रवत्वाच्च ज्वरानन्तरमतीसारमाह—गुर्वतिस्निग्धेत्यादि। गुरुशब्देन मात्रागुरुर्गृह्यते, यथाऽतिमात्रोपयुक्तो रक्तशाल्यादिः, तथा स्वभावगुरु च माषादि; अथवा गुणतः पाकतश्च। अतिशब्दः स्थूलान्तैः सह संबध्यते। स्थूलं संहतावयवं, यथा लड्डुकपिष्टकादि। शीतलं स्पर्शाद्वीर्याच्च। विरुद्धमिति संयोगदेशकालमात्रादिभिर्विरुद्धं, यथा क्षीरमत्स्यादि; तच्च बहुप्रकारं सुश्रुते हिताहितीयेऽध्याये (सु. सू. स्था. अ. २०); चरके चात्रेयभद्रकाप्यीयाध्याये (च. सू. स्था. अ. २६) द्रष्टव्यम्। अध्यशनं पूर्वदिनाहाराजीर्णे भोजनम्। उक्तं हि चरके—"भुक्तं पूर्वान्नशेषे[२] तु पुनरध्यशनं मतम्॥" (च. चि. स्था. अ. १५) इति। एवं सर्वत्र। अजीर्णमपक्वमन्नम्। विषममकालभोजनादि। उक्तं हि सुश्रुते—"बहुस्तोकमकाले च तज्ज्ञेयं विषमाशनम्।" (सु. सू. स्था. अ. ४६) इति। 'विषमैः' इत्यत्र स्थाने 'असात्म्यैः' इति पाठान्तरम्। भोजनैरिति विरुद्धादिभिः सर्वैः संबध्यते। स्नेहाद्यैरिति स्नेहः स्नेहपानं, स्नेह आद्यो येषां ते स्नेहाद्याः स्वेदवमनविरेचनानुवासननिरूहाः, तैरतियुक्तैरिति अति-

१ नाम—सं० अतिसार, पं० दस्त, अ० इसहाल, इ० डायरिया (Diarrhoea). २ पूर्वाह्णशेषे.

योगयुक्तैः। एतच्च यथायोग्यं बोध्यं, वमनातियोगस्यातिसारकारणत्वायोगात् । मिथ्यायुक्तैरिति हीनयोगयुक्तैः, वमनादिकर्मणां मिथ्यायोगाभावात्, हीनयोगात्तु ते दोषानुत्क्लेश्यातीसाराय स्युः। ननु, कदाचिद्वमनं प्रयुक्तं विरेकं करोति, विरेकश्च वमनमिति दर्शनात्तेषां मिथ्यायोगः संभवत्येव। न, सोऽप्ययोग एवेति सिद्धान्तः। यदुक्तं चरके—"योगः सम्यक् प्रवृत्तिः स्यादतियोगोऽतिवर्तनम्। अयोगः प्रातिलोम्येन न चाल्पं वा प्रवर्तनम् ॥" इति (च. सि. स्था. अ. ६)। विषमत्र स्थावरमुच्यते, अधोगत्वात्; कार्तिककुण्डस्त्वाह—विषं दूषीविषं, तल्लक्षणेष्वतीसारपाठात्। दुष्टाम्बुमद्यातिपानैरिति दुष्टं व्यापन्नं, दुष्टयोरम्बुमद्ययोः पानात्, अदुष्टयोरप्यतिपानात्। तथाह चरकः—"दुष्टमद्यपानीयातिपानात्।" इति (च. चि. स्था. अ. १९)। सात्म्यर्तुपर्ययैरिति सात्म्यविपर्ययैर्ऋतुविपर्ययैश्च; सात्म्यविपर्ययोऽसात्म्यम् । नच पूर्वोक्तेन 'असात्म्यैः' इत्यनेन पौनरुक्त्यम्, उक्तं हि चरके आत्रेयभद्रकाप्यीये "द्विविधं हि सात्म्यं प्रकृतिसात्म्यमभ्याससात्म्यं च ॥" (च. सू. स्था. अ. २६) इति। आहाराचारभेदादन्नपानभेदाद्वा न पौनरुक्त्यमित्यन्ये। जलाभिरमणैरिति जलक्रीडादिभिः । वेगविघातैरिति मूत्रपुरीषादीनाम्। क्रिमिदोषत इति क्रिमिभिः पक्वामाशयदूषणात्, क्रिमिजनितवातादिकोपाद्वा। एतानि च निदानानि यथासंभवं वातादीनां बोद्धव्यानि, दोषव्याधिहेतुत्वख्यापनार्थं पठितानि। एवमन्यत्रापि निदानविशेषपाठे प्रायो द्रष्टव्यमिति ॥१-३॥

(एतच्चेति—) स्नेहादि के अतियोग से अतिसार होता है यह यथासंभव जानना चाहिये। क्योंकि वमन का अति योग अतिसार करने में असमर्थ होता है। 'मिथ्यायुक्तैः' का अर्थ हीन योग से युक्त है। कारण कि वमनादि का मिथ्या योग होता ही नहीं। योग से तो वे दोषों को उत्क्लिष्ट कर अतिसार कर देते हैं। कभी २ वमन दिया हुआ विरेचन और विरेचन वमन कर देता है। जैसे कहा भी है कि—'अजीर्णे वर्धते ग्लानिर्विबन्धश्चैव जायते । पीतसंशोधनञ्चैव विपरीतं प्रवर्तते॥' (च. सि. स्था. अ. ६)। इस प्रकार जब दृष्टिगोचर होता है तो यह सिद्ध है कि उनका मिथ्या योग होता है। इसका उत्तर यह है कि नहीं, वस्तुतः यह भी हीन योग ही है। जैसे चरक में कहा है कि—सम्यक् प्रवृत्ति योग कहलाता है और अति प्रवृत्ति अतियोग और प्रतिलोम प्रवृत्ति, अप्रवृत्ति वा अल्प प्रवृत्ति अयोग होता है। यदि 'असात्म्यर्तुपर्ययैः' का अर्थ सात्म्यविपर्यय अर्थात् असात्म्य, और ऋतुविपर्यय, यह लिया जावे तो पाठान्तर में पठित 'असात्म्यैश्चापि भोजनैः' के साथ पौनरुक्त्य दोष आता है। इस पर आचार्य कहते हैं कि नहीं, दोष नहीं आता। कारण कि चरक ने आत्रेयभद्रकाप्यीय अध्याय में 'प्रकृति सात्म्य और अभ्यास सात्म्य भेद से दो प्रकार का सात्म्य' कहा है, अतः वह दोष नहीं है। आहाराचार भेद से वा अन्न पान भेद से उपर्युक्त में दोष नहीं है, कई यह समाधान करते हैं। अन्य स्पष्ट है।

अतीसारस्य संप्राप्तिं षड्भेदांश्च निरूपयति—

संशम्यापां धातुरग्निं प्रवृद्धः शकृन्मिश्रो[१] वायुनाऽधः प्रणुन्नः।
सरत्यतीवातिसारं तमाहुर्व्याधिं घोरं षड्विधं तं वदन्ति ॥
एकैकशः सर्वशश्चापि दोषैः शोकेनान्यः षष्ठ आमेन चोक्तः ॥४॥ [सु० ६।४०]

---

१ वर्चोमिश्रो.

वायु से नीचे की ओर प्रेरित किया हुआ प्रदुष्ट रस, जल, मूत्र, स्वेद, मेद, कफ, पित्त, रक्तादि रूप जलीय धातु के जठराग्नि को मन्द करके मल के साथ मिश्रित होकर अधोमार्ग (गुद) से अत्यधिक निकलने को आचार्य 'अतिसार' व्याधि कहते हैं। यही व्याधि वात, पित्त, कफ, सन्निपात, शोक और आम से होने के कारण छः प्रकार की होती है।

मधु०—सर्वातीसारसाधारणीं संप्राप्तिमाह–संशम्येत्यादि। संशम्य शमयित्वा; अत्रान्तर्भावितो ण्यर्थ इति गदाधरः, अग्निं मन्दीकृत्येत्यर्थः। प्रवृद्धः प्रदुष्टः। अपां धातुरित्य(नेना)समासकरणेन रसजलमूत्रस्वेदमेदःकफपित्तरक्तादयो ग्राह्याः। चरकेऽप्युक्तम् "शोणितादीन् धातून् दूषयन्त"–इति (च. चि. स्था. अ. १६)। अधः प्रणुन्नः प्रेरितः, सरति गच्छत्यतीवेत्यनेन निरुक्तिमुक्तवान्, गुदेन बहुद्रवसरणमतिसार इत्यर्थः। निरुक्तिरपि लक्षणं भवति, एतेनाधोद्रवसरणत्वाविशेषेऽपि ग्रहण्यादीनां व्यवच्छेदः, वातातीसारे त्वल्पत्वं कफपित्तातीसारापेक्षया, नतु ग्रहण्यपेक्षया इति। उक्तषड्विधत्वं विभजते—एकैकश इत्यादि। ननु, चरकादौ दोषैरेकैकशस्त्रयः, सन्निपातेनैकः, भयशोकजौ द्वौ, एवं षड्विधः; अत्र त्वन्यथेति कोऽभिप्रायः? उच्यते,–चरके भयशोकजौ लक्षणसंज्ञाकार्यभेदाद्भिन्नावुक्तौ, आमजस्त्वन्नाजीर्णकुपितत्रिदोषजत्वेन सन्निपातेनावरुद्ध इति न संख्यातिरेकः; सुश्रुते तु हेतुप्रत्यनीकचिकित्सार्थं शोकजामजौ पठितौ वातजत्वसन्निपातजत्वाभेदेऽपि, यथा वातादिजत्वाभेदेऽपि मृत्तिकाजः पाण्डुरोग इति; एवं भयशोकजावपि चरके हेतुप्रत्यनीकचिकित्सार्थं पृथक् पठितौ; सुश्रुते भयजः केवलवातिकेऽवरुद्धः, मानसत्वाविशेषाद्वा शोकजेऽवरुद्ध इति जेज्जटः। ननु, षष्ठ आमेन चोक्त इति पृथक्करणमसंगतं; यतः सर्वेषामेवातीसाराणां प्रागवस्था आमशब्दवाच्या, जीर्णावस्था पक्वशब्दवाच्या; अत एव सर्वातीसारगोचरमुदाहरन्ति–"आमपक्वक्रमं हित्वा नातिसारे क्रिया हिता। अतः सर्वातिसारेषु ज्ञेयं पक्वामलक्षणम्॥" (सु. उ. तं. अ. ४०) इति। नैवम्, आमेनैवारभ्यत इति आमजः, दोषास्तु संसर्गिणः प्रेरयितारश्च, नत्वारम्भकाः। आमश्च दुष्टान्नकार्यो दोषधातुमलव्यतिरिक्तो वातादिसंसृष्टो वातादिप्रेरितो वा रक्तादिवद्व्याध्यारम्भक इति। द्वन्द्वजास्त्वतीसाराः प्रकृतिसमसमवायारब्धत्वान्न पृथग्गणिताः; विकृतिविषमसमवायारब्धास्तु न संभवन्त्येव, व्याधिस्वभावात्। शैली चेयमाचार्याणां प्रायः प्रकृतिसमसमवायारब्धान् द्वन्द्वान् सन्निपातांश्च न गणयन्ति, विकृतिविषमसमवायारब्धांश्चावश्यं लिखन्ति। यथा चरके–"पञ्च गुल्मा" इत्यभिधाय, "संसृष्टरूपानपरांस्तु गुल्मांस्त्रीनादिशेदौषधकल्पनार्थम्॥" (च. चि. स्था. अ. ५) इत्युक्तं; तथा सुश्रुते–"षडर्शांसि" इत्यभिधाय, "अर्शःसु दृश्यते रूपं यदा वै दोषयोर्द्वयोः। संसर्गं तं विजानीयात्संसर्गः षड्विधश्च सः॥" (सु. नि. स्था. अ. २) इत्युक्तम्॥४॥

उक्त श्लोक में 'अब्धातु' ऐसा समास न करने से प्रतीत होता है कि आचार्य को यहां 'अप्' शब्द से रस आदि भी अभिप्रेत थे। चरक आदि ग्रन्थों में, अतिसार वातादि के भेद से तीन, सन्निपात से एक, और भय शोक से दो; एवं छः प्रकार का कहा है।

१ षड्. २ लक्षणशक्त्या.

यदि ऐसा है तो यहां उससे विरुद्ध क्यों कहा है ? इसका उत्तर यह है कि चरक में भय और शोक से उत्पन्न दोनों अतिसार लक्षण संज्ञा और कार्य भेद से पृथक् कहे हैं, परन्तु आमातिसार अन्नाजीर्ण से कुपित त्रिदोष से उत्पन्न होने वाला होने के कारण सन्निपात में आ जाता है, अतः संख्या वृद्धि नहीं हो सकती। सुश्रुत ने तो वातज व त्रिदोषज में भेद न होने पर भी हेतुविरुद्ध चिकित्सा के लिये मृज्ज पाण्डुरोग की तरह शोक अतिसार और आमातीसार कहे हैं। एवं चरक में भय और शोक से होने वाले अतिसार हेतुप्रत्यनीक चिकित्सा करने के लिये पृथक् कहे हैं, परन्तु सुश्रुत में तो भयज अतीसार केवल वातिक अतिसार में आ जाता है। इस पर जेज्जट कहता है कि भय और शोक दोनों में ही मन के प्रभावित होने से भयज अतिसार शोक अतिसार में आ जाता है। अब यहां पुनः शंका होती है कि 'आम से छठा अतिसार होता है' यह पृथक् कहना संगत नहीं है, क्योंकि सभी अतीसारों की पहली अवस्था आमावस्था और दूसरी जीर्णावस्था कहलाती है। अतः सभी अतीसारों को लक्ष्य में रखकर कहा भी है कि 'आम और पक्व के क्रम को छोड़कर दूसरी कोई भी क्रिया करनी अतीसार में हितकर नहीं है। अतः सभी अतिसारों में आम और पक्व के लक्षण को जानना चाहिये'। इस पर कहते हैं कि यहां यह भाव नहीं है, यहां तो आम से आरब्ध किया हुआ आमज कहलाता है। इसमें दोष तो संसर्गी और प्रेरक होते हैं, आरम्भक नहीं होते। आम दोष धातु और मलों से पृथक् है और यह दुष्ट अन्न का कार्य है, वह वातादि से संसृष्ट वा प्रेरित होकर रक्त आदि की तरह व्याधि उपजाता है। 'द्वन्द्वजास्त्वतीसाराः' इत्यादि सरल ही है।

अतीसारस्य पूर्वरूपं निरूपयति—

हृन्नाभिपायूदरकुक्षितोदगात्रावसादानिलसन्निरोधाः ।
विट्सङ्ग आध्मानमथाविपाको भविष्यतस्तस्य पुरःसराणि ॥५॥ [सु० ६।४०]

हृदय, नाभि, गुदा, उदर और कुक्षि में सुइयों की सी चुभान; शरीर में पीड़ा; अधोवायु तथा मल का न निकलना; पेट का फूलना एवं अन्न का न पकना; ये लक्षण होने वाले अतिसार के पूर्व लक्षण हैं।

मधु०—सर्वातीसारपूर्वरूपमाह—हृन्नाभीत्यादि।—तोदः सर्वैर्हृदादिभिः संबध्यते, अत्र कुक्षिशब्द उदरैकदेशवाची, तेन न पौनरुक्त्यम्। अनिलसन्निरोध इति वायोरप्रवृत्तिः। विट्सङ्गः पुरीषाप्रवृत्तिः; एतच्च दोषदूष्यसंमूर्च्छनावस्थाप्रतिनियतं पूर्वरूपं तेन रूपावस्थायां नानुवर्तते, यद्यनुवर्तेत तदा तत्र व्याधिरेव नोत्पद्येत, विट्सङ्गातिप्रतिषेधात्। अविपाकोऽन्नस्य। पुरःसराणि पूर्वरूपाणीति ॥५॥

मल का न आना यह पूर्वरूप इसका दोष दूष्य की सम्मूर्च्छनावस्था के अनुसार होता है, परन्तु रूप में परिवर्तित नहीं होता, क्योंकि यदि यह रूप में परिवर्तित हो जाय तो अतिसार हो ही नहीं सकता। अन्य सरल ही है।

वातिकातिसारस्य लक्षणमाह—

अरुणं फेनिलं रूक्षमल्पमल्पं मुहुर्मुहुः ।
शकृदामं सरुक्शब्दं मारुतेनातिसार्यते ॥६॥

वायु के अतिसार में अरुण वर्ण, झागयुक्त, रूक्ष एवं आम मल बार २

थोड़ा २ करके पीड़ा और शब्द के साथ गुद मार्ग से निकलता है। अर्थात् उपर्युक्त अरुणादि लक्षण वातातिसार के हैं।

मधु०—वातिकमाह—अरुणमित्यादि। अरुणमिति वायोररूपस्यापि दोषदूष्यसंमूर्च्छनाद्भवति, एवमन्यत्रापि। फेनिलं सफेनं; फेनादिलच्। शकृत् पुरीषम्। सरुक्शब्दमिति सशूलं सशब्दं चेति ॥६॥

अर्थ स्पष्ट है।

पित्तातीसारलक्षणमाह—

पित्तात्पीतं नीलमालोहितं वा तृष्णामूर्च्छादाहपाकोपपन्नम्। [सु० ६।४०]

पैत्तिक अतिसार में पुरीष पीला नीला वा अत्यन्त लाल सा आता है, और इसमें रोगी को तृष्णा और मूर्च्छा होती है। उसके सर्वाङ्ग में दाह और गुदा में पाक होता है।

मधु०—पैत्तिकमाह—पित्तादित्यादि। दाहपाकोपपन्नमिति दाहः सर्वाङ्गे, पाको गुद एव। उक्तं हि तन्त्रान्तरे—"तृष्णादाहस्वेदमूर्च्छाबुध्नसन्तापपाकपरीतः।" इति। बुध्नो गुदः। अत्राप्यतिसार्यते शकृदित्यनुवर्तते; एवं श्लैष्मिकेऽपि ॥

अर्थ स्पष्ट है।

कफातीसारस्य स्वरूपमाह—

शुक्लं सान्द्रं श्लेष्मणा श्लेष्मयुक्तं विस्रं शीतं हृष्टरोमा मनुष्यः ॥७॥

श्लैष्मिक अतिसार में मल श्वेत, गाढ़ा श्लेष्मावाला, आमगन्धी और शीत होता है, और श्लेष्मातीसारी मनुष्य रोमाञ्चित हो जाते हैं।

मधु०—श्लैष्मिकमाह—शुक्लमित्यादि। शुक्लमित्यादिना हृष्टरोमा इत्यन्तेन श्लैष्मिकः। विस्रमामगन्धि ॥७॥

त्रिदोषातीसारलक्षणमाह—

वराहस्नेहमांसाम्बुसदृशं सर्वरूपिणम्।
कृच्छ्रसाध्यमतीसारं विद्याद्दोषत्रयोद्भवम् ॥८॥

शूकर की मेदा वा मज्जा के समान अथवा मांसोदक के समान, वात पित्त कफ इन तीनों के रूप वाला अतिसार त्रिदोषज तथा कृच्छ्रसाध्य होता है।

मधु०—सान्निपातिकमाह—वराहेत्यादि। वराहस्नेहः शूकरस्य मेदो मज्जा वा, मांसाम्बु मांसप्रक्षालनोदकं, तैः सदृशम्। सर्वरूपिणमिति उक्तवाताद्यतीसारत्रयलक्षणयुक्तम्। एवंविधमतीसारं दोषत्रयोद्भवं विद्यात्; तं च कृच्छ्रसाध्यं, त्रिदोषजत्वादेव ॥८॥

शोकजातीसारस्य लक्षणं दर्शयति—

तैस्तैर्भावैः शोचतोऽल्पाशनस्य बाष्पोष्मा वै वह्निमाविश्य जन्तोः।
कोष्ठं गत्वा क्षोभयेत्तस्य रक्तं तच्चाधस्तात्काकणन्तीप्रकाशम् ॥९॥ [सु० ६।४०]
निर्गच्छेद्वै विड्विमिश्रं ह्यविड्वा निर्गन्धं वा गन्धवद्वाऽतिसारः।
शोकोत्पन्नो दुश्चिकित्स्योऽतिमात्रं रोगो वैद्यैः कष्ट एष प्रदिष्टः ॥१०॥

धन दारा बन्धु आदि के वियोगादि से शोकातुर अल्पभोजी मनुष्य की अति बाष्प के त्याग से उत्पन्न ऊष्मा उसके कोष्ठ में जाकर जठराग्नि को दूषित कर रक्त को क्षुब्ध करती है, जिससे कि क्षुब्ध हुआ २ वह रक्त गुदा मार्ग से रत्तियों की लालिमा की तरह मल से युक्त वा मल से रहित गन्धयुक्त वा निर्गन्ध रूप से निकलता है। यही शोकज अतीसार नामक रोग अत्यन्त दुश्चिकित्स्य होने के कारण कष्टप्रद कहा है। यह दुश्चिकित्स्य इसलिये है कि यह आगन्तुज है, अतः इसमें मानसिक दोषों की भी चिकित्सा करनी पड़ती है। मन में से वे भाव भी दूर करने पड़ते हैं, जिनसे कि इसकी प्रवृत्ति होती है। इसलिये यह दुश्चिकित्स्य है इसे कई रक्तातिसार भी कहते हैं।

मधु०—शोकजमाह—तैस्तैरित्यादि। तैस्तैर्भावैर्धनबन्धुनाशादिभिः। शोचतः शोकं कुर्वतः। अल्पाशनस्य शोकादेवाल्पं भुञ्जानस्य; एतेन धातुक्षयोऽप्यस्य स्यादित्युक्तम्। बाष्पोऽत्युद्गतनेत्रनासागलादिगतं जलम्, तत्सहित ऊष्मा शोकजं देहतेजो बाष्पोष्मा; स कोष्ठं गत्वा वह्निमाविश्य व्याकुलीकृत्य, क्षोभयेत्तस्य रक्तम् ऊष्मत्वद्रवत्वाभ्यां समानगुणत्वात्, तच्च रक्तं काकणन्तीप्रकाशं गुञ्जाफलसंकाशम्, अधस्तान्निर्गच्छेत्। पक्तिमाविश्येति पाठान्तरे स एवार्थः। गदाधरस्तु वह्निशब्देन पित्तमाह। तच्च रक्तं विड्विमिश्रं निर्गच्छेत्; अविड्वा अल्पविट्, अल्पाशनत्वात्। निर्गन्धं गन्धवद्वेति विकल्पोऽविड्सविड्भ्यामिति कार्तिकः; अन्ये तु पित्तस्य पूतित्वात्प्रबलगन्धवत्ता, तस्य नातिदुष्ट्या निर्गन्धत्वमिति; गन्धश्च विस्र इत्याहुः। क्षोभयेत्तस्य रक्तमित्यत्र 'शोषयेत्तस्य भुक्तम्'—इति पाठान्तरमयुक्तं, काकणन्तीप्रकाशत्वे हेत्वन्तराभावात्; तस्मादाद्य एव पाठो ज्यायान्, व्याख्यातश्च जेज्जटादिभिः सर्वैरेव। अयं वातपित्तज उक्तः। दुश्चिकित्स्योऽतिमात्रमिति शोकापनोदं विना केवलेन भेषजेनानुपशमात्। अत एवाह—कष्ट एष प्रदिष्ट इति। वैद्यैर्ब्रह्मादिभिः। गदाधरस्त्वाह—'एष' इत्यनेनैवंसंप्राप्तिक एव कष्टो नत्वन्यः शोकज इति ॥९,१०॥

आमातीसारं लक्षयति—

अन्नाजीर्णात्प्रद्रुताः क्षोभयन्तः कोष्ठं दोषा धातुसंघान्मलांश्च।
नानावर्णं नैकशः सारयन्ति शूलोपेतं षष्ठमेनं वदन्ति ॥११॥

अजीर्ण अन्न से (अन्नाजीर्ण से) प्रकुपित दोष कोष्ठ, रक्तादि धातुओं तथा पुरीषादि मलों को दूषित कर अनेक वर्ण वाले पीड़ा सहित मल को वार २ निकालते हैं, और इसे ही वैद्य लोग छठा अतिसार कहते हैं। इसमें संख्यावाचक छठा पद देने से यह सिद्ध होता है कि यही छठा अतिसार है तथा अतिसार छः ही होते हैं। इस नियम से यह भी सिद्ध होता है कि भय, स्नेहाजीर्ण, विसूचिका, अर्श और अजीर्ण आदि से होने वाले अतिसार पृथक् नहीं हैं, प्रत्युत वे दोषों में ही अन्तर्गत होकर इन छओं में ही आ जाते हैं।

मधु०—आमातीसारमाह—अन्नाजीर्णादित्यादि। अन्नं च तदजीर्णं चेति अन्नाजीर्णम्। अत एवाह क्षारपाणिः—"यथाभुक्तमशनमुपविशति।" इति। प्रद्रुता विमार्गगाः। क्षोभयन्तो दूषयन्तः। धातुसंघान् रक्तादीन्। मलान् पुरीषादीन्। नैकशो बहुशः ॥११॥

थोड़ा २ करके पीड़ा और शब्द के साथ गुद मार्ग से निकलता है। अर्थात् उपर्युक्त अरुणादि लक्षण वातातिसार के हैं।

मधु०—वातिकमाह—अरुणमित्यादि। अरुणमिति वायोररूपस्यापि दोषदूष्यसंमूर्च्छनाद्भवति, एवमन्यत्रापि। फेनिलं सफेनं; फेनादिलच्। शकृत् पुरीषम्। सरुक्शब्दमिति सशूलं सशब्दं चेति ॥६॥

अर्थ स्पष्ट है।

पित्तातीसारलक्षणमाह—

पित्तात्पीतं नीलमालोहितं वा तृष्णामूर्च्छादाहपाकोपपन्नम्। [सु० ६।४०]

पैत्तिक अतिसार में पुरीष पीला नीला वा अत्यन्त लाल सा आता है, और इसमें रोगी को तृष्णा और मूर्च्छा होती है। उसके सर्वाङ्ग में दाह और गुदा में पाक होता है।

मधु०—पैत्तिकमाह—पित्तादित्यादि। दाहपाकोपपन्नमिति दाहः सर्वाङ्गे, पाको गुद एव। उक्तं हि तन्त्रान्तरे—"तृष्णादाहस्वेदमूर्च्छाबुध्नसन्तापपाकपरीतः।" इति। बुध्नो गुदः। अत्राप्यतिसार्यते शकृदित्यनुवर्तते; एवं श्लैष्मिकेऽपि ॥

अर्थ स्पष्ट है।

कफातीसारस्य स्वरूपमाह—

शुक्लं सान्द्रं श्लेष्मणा श्लेष्मयुक्तं विस्रं शीतं हृष्टरोमा मनुष्यः ॥७॥

श्लैष्मिक अतिसार में मल श्वेत, गाढ़ा श्लेष्मावाला, आमगन्धी और शीत होता है, और श्लेष्मातीसारी मनुष्य रोमाञ्चित हो जाते हैं।

मधु०—श्लैष्मिकमाह—शुक्लमित्यादि। शुक्लमित्यादिना हृष्टरोमा इत्यन्तेन श्लैष्मिकः। विस्रमामगन्धि ॥७॥

त्रिदोषातीसारलक्षणमाह—

वराहस्नेहमांसाम्बुसदृशं सर्वरूपिणम्।
कृच्छ्रसाध्यमतीसारं विद्याद्दोषत्रयोद्भवम् ॥८॥

शूकर की मेदा वा मज्जा के समान अथवा मांसोदक के समान, वात पित्त कफ इन तीनों के रूप वाला अतिसार त्रिदोषज तथा कृच्छ्रसाध्य होता है।

मधु०—सान्निपातिकमाह—वराहेत्यादि। वराहस्नेहः शूकरस्य मेदो मज्जा वा, मांसाम्बु मांसप्रक्षालनोदकं, तैः सदृशम्। सर्वरूपिणमिति उक्तवाताद्यतीसारत्रयलक्षणयुक्तम्। एवंविधमतीसारं दोषत्रयोद्भवं विद्यात्; तं च कृच्छ्रसाध्यं, त्रिदोषजत्वादेव ॥८॥

शोकजातीसारस्य लक्षणं दर्शयति—

तैस्तैर्भावैः शोचतोऽल्पाशनस्य बाष्पोष्मा वै वह्निमाविश्य जन्तोः।
कोष्ठं गत्वा क्षोभयेत्तस्य रक्तं तच्चाधस्तात्काकणन्तीप्रकाशम् ॥९॥ [सु० ६।४०]
निर्गच्छेद्वै विड्भिमिश्रं ह्यविड्वा निर्गन्धं वा गन्धवद्वाऽतिसारः।
शोकोत्पन्नो दुश्चिकित्स्योऽतिमात्रं रोगो वैद्यैः कष्ट एष प्रदिष्टः ॥१०॥

धन दारा बन्धु आदि के वियोगादि से शोकातुर अल्पभोजी मनुष्य की अति बाष्प के त्याग से उत्पन्न ऊष्मा उसके कोष्ठ में जाकर जठराग्नि को दूषित कर रक्त को क्षुब्ध करती है, जिससे कि क्षुब्ध हुआ २ वह रक्त गुदा मार्ग से रत्तियों की लालिमा की तरह मल से युक्त वा मल से रहित गन्धयुक्त वा निर्गन्ध रूप से निकलता है। यही शोकज अतीसार नामक रोग अत्यन्त दुश्चिकित्स्य होने के कारण कष्टप्रद कहा है। यह दुश्चिकित्स्य इसलिये है कि यह आगन्तुज है, अतः इसमें मानसिक दोषों की भी चिकित्सा करनी पड़ती है। मन में से वे भाव भी दूर करने पड़ते हैं, जिनसे कि इसकी प्रवृत्ति होती है। इसलिये यह दुश्चिकित्स्य है इसे कई रक्तातिसार भी कहते हैं।

मधु०—शोकजमाह—तैस्तैरित्यादि। तैस्तैर्भावैर्धनबन्धुनाशादिभिः। शोचतः शोकं कुर्वतः। अल्पाशनस्य शोकादेवाल्पं भुञ्जानस्य; एतेन धातुक्षयोऽप्यस्य स्यादित्युक्तम्। बाष्पोऽत्युद्गतनेत्रनासागलादिगतं जलम्, तत्सहित ऊष्मा शोकजं देहतेजो बाष्पोष्मा; स कोष्ठं गत्वा वह्निमाविश्य व्याकुलीकृत्य, क्षोभयेत्तस्य रक्तम् ऊष्मत्वद्रवत्वाभ्यां समानगुणत्वात्, तच्च रक्तं काकणन्तीप्रकाशं गुञ्जाफलसंकाशम्, अधस्ताभ्निर्गच्छेत्। पक्तिमाविश्येति पाठान्तरे स एवार्थः। गदाधरस्तु वह्निशब्देन पित्तमाह। तच्च रक्तं विड्विमिश्रं निर्गच्छेत्; अविड्वा अल्पविट्, अल्पाशनत्वात्। निर्गन्धं गन्धवद्वेति विकल्पोऽविड्सविड्भ्यामिति कार्तिकः; अन्ये तु पित्तस्य पूतित्वात्प्रबलगन्धवत्ता, तस्य नातिदुष्ट्या निर्गन्धत्वमिति; गन्धश्च विस्र इत्याहुः। क्षोभयेत्तस्य रक्तमित्यत्र 'शोषयेत्तस्य भुक्तम्'–इति पाठान्तरमयुक्तं, काकणन्तीप्रकाशत्वे हेत्वन्तराभावात्; तस्मादाद्य एव पाठो ज्यायान्, व्याख्यातश्च जेज्जटादिभिः सर्वैरेव। अयं वातपित्तज उक्तः। दुश्चिकित्स्योऽतिमात्रमिति शोकापनोदं विना केवलेन भेषजेनानुपशमात्। अत एवाह–कष्ट एष प्रदिष्ट इति। वैद्यैर्ब्रह्मादिभिः। गदाधरस्त्वाह–'एष' इत्यनेनैवंसंप्राप्तिक एव कष्टो नत्वन्यः शोकज इति ॥९,१०॥

आमातीसारं लक्षयति—

अन्नाजीर्णात्प्रद्रुताः क्षोभयन्तः कोष्ठं दोषा धातुसंघान्मलांश्च।
नानावर्णं नैकशः सारयन्ति शूलोपेतं षष्ठमेनं वदन्ति ॥११॥

अजीर्ण अन्न से (अन्नाजीर्ण से) प्रकुपित दोष कोष्ठ, रक्तादि धातुओं तथा पुरीषादि मलों को दूषित कर अनेक वर्ण वाले पीड़ा सहित मल को बार २ निकालते हैं, और इसे ही वैद्य लोग छठा अतिसार कहते हैं। इसमें संख्यावाचक छठा पद देने से यह सिद्ध होता है कि यही छठा अतिसार है तथा अतिसार छः ही होते हैं। इस नियम से यह भी सिद्ध होता है कि भय, स्नेहाजीर्ण, विसूचिका, अर्श और अजीर्ण आदि से होने वाले अतिसार पृथक् नहीं हैं, प्रत्युत वे दोषों में ही अन्तर्गत होकर इन छओं में ही आ जाते हैं।

मधु०—आमातीसारमाह–अन्नाजीर्णादित्यादि। अन्नं च तदजीर्णं चेति अन्नाजीर्णम्। अत एवाह क्षारपाणिः–"यथाभुक्तमशनमुपविशति।" इति। प्रद्रुता विमार्गगाः। क्षो०– दूषयन्तः। धातुसंघान् रक्तादीन्। मलान् पुरीषादीन्। नैकशो बहुशः ॥११॥

आममललक्षणमाह—

संसृष्टमेभिर्दोषैस्तु न्यस्तमप्स्ववसीदति ।
पुरीषं भृशदुर्गन्धि पिच्छिलं चामसंज्ञितम् ॥१२॥ [सु० ६।४०]

इन वातादि दोषों से युक्त तथा जल में डालने पर डूब जाने वाला अत्यन्त दुर्गन्धित एवं पिच्छिल मल (पुरीष) आम कहलाता है ।

पक्वमलस्य लक्षणमाह—

एतान्येव तु लिङ्गानि विपरीतानि यस्य वै ।
लाघवं च विशेषेण तस्य पक्वं विनिर्दिशेत् ॥१३॥ [सु० ६।४०]

उपर्युक्त आम लक्षणों से जो विपरीत अर्थात् वातादि स अदूषित, जल में न डूबने वाला, अत्यन्त दुर्गन्धित और पिच्छिल न हो, वह तथा जिसमें कोष्ठ और शरीर लघु हो, वह मल पक्व होता है ।

मधु०—सर्वातिसाराणां चिकित्सोपयोगित्वेनामलक्षणं पक्वलक्षणं चाह—संसृष्टमित्यादि । संसृष्टं संबद्धम्, एभिर्दोषैर्दुष्टिभिरुक्तवाताद्यतीसारलिङ्गैः । दुष्टयश्चात्र यथासंभवं व्यस्ताः समस्ताश्च बोद्धव्याः; तेन सर्वातिसाराणां न सान्निपातिकत्वप्रसङ्गः । न्यस्तमप्सु जले क्षिप्तम्; अवसीदति निमज्जति, आमस्य गौरवात् । भृशशब्दः पिच्छिलेनापि संबध्यते । दुर्गन्धि विस्रम् । पिच्छिलमामसंबन्धात् । एतानीति जलनिमज्जनादीनि । लाघवं कोष्ठस्य शरीरस्य च, चकारेण कफशैत्यदुष्ट्यादिकं विनाऽप्यम्बुनिमज्जनं लक्षणमिति समुच्चीयते । यदुक्तम्—"मज्जत्यामा गुरुत्वाद्विट् पक्वा तूत्प्लवते जले । विनाऽतिद्रवसंघातशैत्यश्लेष्मप्रदूषणात् ॥" इति । अथवा आमलिङ्गवैपरीत्येनैव लाघवे सिद्धे पुनर्लाघवकरणं तत् कफदुष्ट्यादिव्यतिरेकं बोधयतीति ॥१२,१३॥

अतीसारस्य प्रत्याख्येयतालक्षणानि सविस्तरं वर्णयति—

पक्वजाम्बवसंकाशं यकृत्खण्डनिभं तनु ।
घृततैलवसामज्जवेशवारपयोदधि- ॥१४॥
मांसधावनतोयाभं कृष्णं नीलारुणप्रभम् ।
मेचकं स्निग्धकर्बूरं चन्द्रकोपगतं घनम् ॥१५॥
कुणपं मस्तुलुङ्गाभं सुगन्धि कुथितं बहु ।
तृष्णादाहतमःश्वासहिक्कापार्श्वास्थिशूलिनम् ॥१६॥
संमूर्च्छारतिसंमोहयुक्तं पक्वबलीगुदम् ।
प्रलापयुक्तं च भिषग्वर्जयेदतिसारिणम् ॥१७॥
असंवृतगुदं क्षीणं दूराध्मातमुपद्रुतम् ।
गुदे पक्वे गतोष्माणमतिसारकिणं त्यजेत् ॥१८॥ [सु० ६।४०]
श्वासशूलपिपासार्तं क्षीणं ज्वरनिपीडितम् ।
विशेषेण नरं वृद्धमतीसारो विनाशयेत् ॥१९॥

पके हुए जामुन के फल के सदृश स्निग्धकृष्ण रंग वाला, यकृत् के टुकड़े की तरह कृष्णलोहित, पतला, घृत तैल वसा मज्जा वेशवार (अस्थिरहित पिष्टमांस के रस वाला)

दुग्ध दधि वा मांसोदक के समान, अञ्जन की तरह कृष्ण, चाष पक्षी के पक्ष की त
नीलारुण, मेचक, स्निग्धतायुक्त अनेकवर्ण, मोर की पूछ की तरह चन्द्रिकायु
अन्य धातुओं से मिश्रित होने के कारण गाढ़ा, मुर्दे जैसी गन्धयुक्त, मस्तुलङ्ग
समान, सुगन्धित, तथा सड़ा गला और मात्रा में अधिक मल जिस अतिसार
निकल रहा हो तथा रोगी तृष्णा, दाह, तम, श्वास, हिक्का, पार्श्वशूल, अस्थिश
मनोमोह, पीड़ा और इन्द्रिय मोह इनसे युक्त, एवं परिपक्व गुदवली वाला
प्रलापयुक्त हो तो ऐसे अतिसार के रोगी को छोड़ देना चाहिये, क्योंकि वह अस
होता है। एवं जो मनुष्य अपनी गुदवलियों को संकुचित नहीं कर सकता,
क्षीण है, जिस का पेट अत्यन्त फूल गया है और जो शोथादि उपद्रवों से युत
उसे तथा गुदा के पक जाने पर ऊष्मा रहित अर्थात् गुदापाक करने वाले पि
होने पर भी जिसका शरीर ऊष्मा रहित हो उस अतिसारी को भी छोड़
चाहिये। श्वास, शूल और तृषा से व्याकुल, क्षीण शक्ति, ज्वरग्रस्त पुरुष
विशेषतः वृद्ध को अतिसार नष्ट कर देता है।

मधु०—असाध्यलक्षणान्याह—पक्वेत्यादि। पक्वजाम्बवसंकाशं पक्वजम्बूफलसद
स्निग्धकृष्णमित्यर्थः। यकृत्खण्डनिभं कृष्णलोहितम्। तनु स्वच्छ(ल्प)म्। घृतादीनां मां
नतोयान्तानामिवाभाः प्रतिभासो यस्य तत्तथा। वेशवारो "निरस्थिपिशितं पिष्टम्" इ
परिभावितमांसप्रकारः। कृष्णमञ्जनप्रख्यम्। एतच्च कृष्णत्वादिकं पित्तातिसारवर्जं बोद्धव्यं
रूपत्वेन पठितत्वात्। नीलारुणं चाषपक्षवर्णम्। मेचकं मर्दनाञ्जनपिण्डवदीषत्कृष्णारुक्षम्
नानावर्णं, तच्च स्निग्धं स्नेहद्रवधातुयोगात्। चन्द्रकोपगतं मयूरपिच्छचन्द्रकैरिव धातुस्नेहैरुपग
उक्तं हि करवीराचार्येण—"चन्द्रकैः शिखिपिच्छाभैर्नीलपीतादिराजिभिः। आवृतं
वाराम्बुमज्जक्षीरोपमं त्यजेत्॥" इति। तदेव घनं धात्वन्तरव्यामिश्रत्वात्। कुणपं शवदु
मस्तुलुङ्गाभं मस्तुलुङ्गं मस्तकाभ्यन्तरस्नेहः घृतकेति ख्यातं, तत्सदृशम्। कुथितं पूति। तृष्णेत
तृष्णादीनां पार्श्वास्थिशूलान्तानां द्वन्द्वं कृत्वा मत्वर्थीय इनिः, तृष्णादियुक्तमित्यर्थः। अत्र स
मनोमोहः, संमोह इन्द्रियमोह इत्यपौनरुक्त्यम्। चकाराच्चरकोक्तः सहसोपरतातीसारश्च
बोद्धव्यः। पक्वलीगुदं पक्वा वलयो गुदे यस्य तं पक्ववलीगुदम्। असंवृतगुदं गुदसंवरणाच
तमेव क्षीण वलोपचयरहितम्। दूराध्मातं भृशमाध्मानयुक्तम्, तस्य विरेकसाध्यत्वेनातिसारि
पक्रमत्वात्; दुरात्मानमिति पाठान्तरे दुष्टान्तःकरणम्, अजितेन्द्रियमिति जेज्जटः, उपद्रुतमतिसा
शोथादिभिर्युक्तम्। यदुक्तम्—"शोथं शूलं ज्वरं तृष्णां श्वासं कासमरोचकम्। छर्दिं
च हिक्कां च दृष्ट्वाऽतीसारिणं त्यजेत्॥"—इति। गुदे पक्वे गतोष्माणमिति गुदे पाकार
पित्ते वर्तमानेऽपि गतोष्माणं शीतगात्रं नष्टाग्निं वा। अतिसारकिणम् अतिसारयुक्तम्। "वा
साराभ्यां कुक् च॥" (पा. अ. अ. ५ पा. २ सू. १२६) इति कुक्, चादिनिः। विशे
वचनाद्बालस्याप्यतिसारोऽसाध्य इति बोधयति। यदाह सुश्रुतश्चिकित्सायाम्—"कृच्छ्रश्चायं
वृद्धेष्वसाध्यः॥" (सु. उ. त. अ. ४०) इति। एतच्चाबलत्वे सति बोद्धव्यम्॥१४—

पित्तातीसारस्य अवस्थाविशेषे रक्तातीसारमाह—

पित्तकृन्ति यदाऽत्यर्थं द्रव्याण्यश्नाति पैत्तिके।
तदोपजायतेऽभीक्ष्णं रक्तातीसार उल्बणः॥२०॥

पैत्तिक अतिसार में वा उसके पूर्वरूप में यदि पित्तकारक पदार्थों का अत्यन्त सेवन निरन्तर किया जावे तो प्रबल रक्तातिसार हो जाता है।

मधु०—ननु, रक्तजोऽप्यतिसारोऽस्ति त स सप्तमत्वापत्तेरुक्तं षट्त्वं विरुध्यते, इत्याशङ्क्य पैत्तिकस्यायमवस्थाविशेष इत्याह–पित्तेत्यादि। पैत्तिकेऽतीसारे विद्यमाने भविष्यति वा पित्तकृन्ति पित्तकारकाणि द्रव्याण्यत्यर्थं प्रभूतमभीक्ष्णं निरन्तरमश्नाति तदा रक्तातीसार उल्बणो महानुपजायत इति संबन्धः। अत्र चारुणकृष्णपाण्डुत्वादिना वातादयो दूषका बोद्धव्याः। यदुक्तम्—"दोषलिङ्गेन मतिमान् संसर्गं तत्र लक्षयेत्॥" इति। एवं स्नेहाजीर्णविसूचिकाविषार्शः-क्रिमिप्रभृतिजन्येष्वतीसारेषु षट्कातिरिक्तत्वं प्रतिक्षिप्तं बोद्धव्यम्, अव्यभिचरितदोषलिङ्गत्वादिति जैज्जटः॥२०॥

जब कि एक रक्तातिसार भी है तो वह पहले छः अतिसारों से मिलकर सातवाँ होगा एवं षड्विध अतिसार की प्रतिज्ञा से विरोध आवेगा। इसी आशंका को लक्ष्य कर आचार्य रक्तातिसार को पित्तातिसार की अवस्था विशेष ही बोधित करते हुए कहते हैं कि—पित्तेत्यादि। (अत्रेति—) रक्तातिसार में अरुण आदि वर्णों को देख वातादि को दूषक जानना चाहिये। जैसे कहा भी है कि, बुद्धिमान् मनुष्य दोषों के लिङ्गों को देख दोषों का अनुमान करे। इसी प्रकार स्नेहाजीर्ण आदि से होने वाले अतिसार भी छओं में ही आ जाते हैं, क्योंकि उनमें अव्यभिचरित (सदा) दोषों के लक्षण उपलब्ध होते हैं।

प्रवाहिकायाः संप्राप्तिं निरूपयति—

वायुः प्रवृद्धो निचितं बलासं नुदत्यधस्तादहिताशनस्य।
प्रवाहतोऽल्पं बहुशो मलाक्तं प्रवाहिकां तां प्रवदन्ति तज्ज्ञाः॥२१॥

प्रकुपित वायु प्रवाहण से अहितभोजी मनुष्य में संचित विष्ठायुक्त कफ को गुदमार्ग से बार २ थोड़ा २ निकालता है, वा प्रकुपित वायु प्रवाहणशील अहिताशी मनुष्य में संचित मल युक्त कफ को गुदमार्ग से थोड़ा २ करके बहुत बार निकालता है। इस रोग को वैद्य प्रवाहिका कहते हैं।

मधु०—अथ द्रवसरणादामपक्वलक्षणयोगात्प्रवाहिकातीसारयोः साधर्म्यम्। अतोऽतीसाराधिकारे प्रवाहिकासंप्राप्तिमाह—वायुरित्यादि। अतीसारे नानाविधद्रवधातुसरणं, प्रवाहिकायां तु कफमात्रसरणमिति भेदः। निचितं बलासमहिताशनस्य संचितं कफं, मलाक्तं पुरीषसहितं वायुर्वातः, अधस्तान्नुदति गुदेन पातयति। प्रवाहतः प्रवाहणं कुर्वतः। भोजादौ त्वियं विस्रंसीति नाम्ना पठ्यते, पराशरे त्वन्तर्ग्रन्थिरिति, हारीतस्तु निश्चारकाख्यामेतां पठति। यदाह—"प्रवाहिकेति सा ज्ञेया कैश्चिन्निश्चारकस्तु सः॥" इति॥२१॥

१ अयं रोगो युनानीवैद्यके 'इसहाल उल दम' नाम्ना, पञ्जाबभाषायां 'मरोड़' पेचिशनामभ्याम्, आंग्लभाषायाञ्च डिसेन्ट्री (Dysentery) इति नाम्ना प्रसिद्धः. २ अन्तर्ग्रन्थि. ३ निःसारकाख्यां. निःसारकस्तु.

अतिसार और प्रवाहिका में परस्पर द्रव का निकलना तथा आमपक्क लक्षण आदि साधर्म्य होने से अब अतीसार के बाद इसी अधिकार में आचार्य प्रवाहिका की सम्प्राप्ति कहते हैं। अतिसार और प्रवाहिका का परस्पर वैधर्म्य (भेद) यह है कि अतिसार में अनेक प्रकार के द्रवधातु गुदा से निकलते हैं और प्रवाहिका में केवल कफ ही सरता है। भोजादि ने इसे विस्रंसी, पराशर ने अन्तर्ग्रन्थि और हारीत ने निश्चारका इस नाम से पढ़ा है।

प्रवाहिकाया दोषभेदेन स्वरूपमाह—

प्रवाहिका वातकृता सशूला पित्तात्सदाहा सकफा कफाच्च।
सशोणिता शोणितसंभवा च ताः स्नेहरूक्षप्रभवा मतास्तु।
तासामतीसारवदादिशेच्च लिङ्गं क्रमं चामविपक्कतां च॥२२॥

वातिक प्रवाहिका शूलयुक्त, पैत्तिक दाहयुक्त, श्लैष्मिक कफयुक्त और रक्तज रक्तयुक्त होती है। ये सभी भेद स्नेह और रूक्ष से होते हैं। यहां 'तु' शब्द से तीक्ष्णोष्ण भी गृहीत होते हैं। एवं श्लैष्मिक प्रवाहिका स्नेह से, वातिक प्रवाहिका रूक्ष से, और पैत्तिक तथा रक्तज प्रवाहिका तीक्ष्णोष्ण पदार्थों से होती है। इनका लिङ्गक्रम, आमपन तथा पक्कपन अतिसार की तरह ही कहना चाहिये अर्थात् लिङ्गादि अतिसार की तरह है।

मधु०—तस्या वातादिभेदेन रूपमाह–प्रवाहिकेत्यादि। ननु, वायुः प्रवृद्धो निचितं बलासमित्युक्तं तत्कथं वातकृतेति? उच्यते, आधिक्येन व्यपदेशात्। ननु, तथाऽपि पित्तरक्तसंभवा कुतः? उच्यते, अहिताशनस्येत्युक्तम्, आहारो हि विरुद्धस्तस्यामवस्थायां पित्तं रक्तं च कोपयति, ते च पश्चाद्वातस्यानुबले स्वलिङ्गं यदा दर्शयतस्तदा ताभ्यां व्यपदेशः। स्नेहरूक्षप्रभवा इति स्नेहप्रभवा कफजा, रूक्षप्रभवा वातजा; तुशब्दाच्च तीक्ष्णोष्णप्रभवा पित्तजा रक्तजा च। लिङ्गं वातादिभेदेन लक्षणम्। क्रममामपक्कभेदेन चिकित्साक्रममिति॥२२॥

ऊपर सम्प्राप्ति में 'प्रवृद्ध संचित कफ को' इत्यादि कहा है। जब ऐसा है तो फिर यह वातकृत कैसे हो सकती है। कारण कि ऊपर तो संचित श्लेष्मा का गुदद्वार से सरना लिखा है और यहां केवल वातिक कैसे हो सकती है? इस पर आचार्य कहते हैं कि 'व्यपदेशस्तु भूयसा'[1] के अनुसार वायु की अधिकता से वात का निर्देश और श्लेष्मा की अधिकता होने पर कफ का निर्देश किया है। इस पर पुनः यह शंका होती है कि यदि ऐसा ही है तो सम्प्राप्ति में पित्त वा रक्त का व्यपदेश ही नहीं है। अतः पैत्तिक वा रक्तज प्रवाहिका कैसे सम्भव हो सकती है? इस पर भी आचार्य कहते हैं कि सम्प्राप्ति में जो 'अहिताशनस्य' पद दिया है, उससे यह सिद्ध होता है कि जब पित्तकर आहार सेवन किया जाता है तो वह पित्त वा रक्त को प्रकुपित करता है, जिससे वे प्रकुपित दोष बाद में वात के अनुबल होकर जब अपने २ लक्षण प्रकट करते हैं तो उन (पित्त वा रक्त) का व्यपदेश होता है, इस प्रकार उक्त दोष नहीं आता।

निवृत्तातीसारस्य लक्षणमाह—

यस्योच्चारं विना मूत्रं सम्यग्वायुश्च गच्छति।
दीप्ताग्नेर्लघुकोष्ठस्य स्थितस्तस्योदरामयः॥२३॥

१ वा. सू. स्था. अ. ६.

ज्वरातिसारस्य निदानमाह—

(ज्वरातीसारयोरुक्तं निदानं यत्पृथक् पृथक् ।
तत्स्याज्ज्वरातिसारस्य तेन नात्रोदितं पुनः ॥१॥)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदानेऽतीसारनिदानं समाप्तम् ॥३॥

जिसका मूत्र और अधोवायु मल की प्रवृत्ति के विना ही भली प्रकार प्रवृत्त हो जाता है और जिसकी जठराग्नि दीप्त तथा कोष्ठ हल्का होता है, वह मनुष्य अतिसार से मुक्त जानना चाहिये (जो निदान ज्वर और अतिसार का कहा है, वही ज्वरातिसार का भी है अतः मैंने उसे पुनः नहीं कहा) ।

मधु०—वातविष्टम्भादुदावर्ताद्वा मलाप्रवृत्तावतीसारनिवृत्तिरिति शङ्कानिरासार्थमतीसारनिवृत्तिलक्षणमाह—यस्येत्यादि । उच्चारं विना यस्य मूत्रं प्रवर्तते, सम्यगिति सम्यग्वृत्त्या न हीनयोगेनेत्यर्थः । वायुश्च गच्छति, गुदेनेति शेषः । स्थितो निवृत्तिं गतः । उदरामयोऽतीसारः, प्रकरणात् । एतेन संप्राप्तिभङ्ग उक्तः । अतीसारे हि संप्राप्तिरियं—यन्मूत्रोचितोऽपि द्रवधातुर्गुदेनैव प्रवर्तते, सर्वस्यैवाब्धातोर्गुदप्रवृत्तत्वात् ; यदा तु मूत्रमार्गेण प्रवर्तते, तदाऽपि पुरीषप्रवृत्तिसमकालमिति ॥२३॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामतीसारनिदानं समाप्तम् ॥३॥

(एतेनेति—) इस श्लोक से अतिसार की सम्प्राप्ति का विश्लेष बताया है, और सम्प्राप्ति के विश्लेष से ही व्याधि का नाश होता है । कारण कि सम्प्राप्ति व्याधि रूप कार्य के प्रति असमवायि कारण है । अतः कपालमाला संयोग के नष्ट होने से घट के नाश की तरह सम्प्राप्ति के नष्ट होने से रोग का भी नाश होता है । एवं प्रकृत में भी आचार्य ने संप्राप्ति भङ्ग ही दिखाया है । जब सम्प्राप्ति (असमवायि कारण) ही टूट गई तो ('असमवायिकारणनाशात् कार्यनाशः' के अनुसार) अतिसार भी नहीं रह सकता । पूर्व इस विषय को पर्याप्त स्पष्ट किया जा चुका है ।

अथ ग्रहणीरोगनिदानम् ।

अथ ग्रहणिकायाः संप्राप्तिं दर्शयति—

अतीसारे निवृत्तेऽपि मन्दाग्नेरहिताशिनः ।
भूयः संदूषितो वह्निर्ग्रहणीमभिदूषयेत् ॥१॥

अतिसार के शान्त हो जाने पर भी मन्दाग्नि वाले अहितभोजी मनुष्य की जठराग्नि पुनः वातादि दोषों से दूषित होकर ग्रहणी को दूषित कर देती है, और उसी के दूषित होने पर उक्त रोग होता है । ग्रहणी क्या है? इस पर सुश्रुत कहते हैं कि 'षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्तिता । पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्तिता ॥' (सु. उ. तं. अ. ४०) ।

---

१ नातिवृत्त्या. २ नाम—सं. ग्रहणी, हि. संग्रहणी, अ. झलक उल अमआ, इ. क्रॉनिक डायरिया, स्प्रू, (Chronic Diarrhoeak. Sprue).

मधु०—द्रवसरणसाधर्म्यात्परस्परानुबन्धित्वाच्चातीसारानन्तरं ग्रहणी, तस्याः संप्राप्तिमाह-अतीसार इत्यादि। अपिशब्दादनिवृत्तेऽप्यतीसार इति व्याचक्षते। मन्दाग्नेरित्यनेन दीप्ताग्नेरहिताशनमपि न विकारकारीति बोधयति। उक्तं हि-"दीप्ताग्नेर्विरुद्धं वितथं भवेत्" (सु. सू. स्था. अ. २०) इति। भूय इति पुनरत्यर्थे वा, संदूषितः पूर्वमतीसारेऽपि दूषितत्वात्, अभिदूषयेत् समन्ताद्दूषयेत्। एतेन निवृत्तातीसारेणाहिताहारपरिहारः करणीयः, आवह्निबललाभादित्युक्तं भवति। अत एवाह सुश्रुतः—"तस्मात्कार्यः परीहारस्त्वतीसारे विरिक्तवत्। यावन्न प्रकृतिस्थः स्याद्दोषतः प्राणतस्तथा॥" (सु. उ. तं. अ. ४०) ॥१॥

उक्त पद्य में पठित 'अपि' शब्द से यह भाव स्फुट होता है कि अतिसार के शान्त न होने पर भी उक्त प्रकार से पुनः अत्यर्थ सन्दूषित वह्नि ग्रहणी को दूषित कर देती है, जिससे यह रोग होता है। इसका भाव यह है कि यह ग्रहणी रोग स्थान की व्यवस्था से है। नामकरण में व्यवस्था चरक ने कही भी है कि 'व्यवस्थाकरणं तेषां यथा स्थूलेषु संग्रहः। रुजावर्णसमुत्थानस्थानसंस्थाननामभिः॥' (च. सू. स्था. अ. १८)। जब अग्नि के मन्द हो जाने पर भी मनुष्य अहितभोजी रहता वा हो जाता है, तो अतिसार होने पर वा बंद होने पर भी जठराग्नि पुनः और भी दूषित हो जाती है। उसके दूषित हो जाने पर छठी पित्तधरा ग्रहणी नामक कला भी दूषित हो जाती है, क्योंकि ग्रहणी और अग्नि का परस्पर आधाराधेय सम्बन्ध है। जैसे कहा भी है कि—'ग्रहण्यां बलमग्नेर्हि स चापि ग्रहणीं श्रितः। तस्मात्सन्दूषिते वह्नौ ग्रहणी संप्रदुष्यति॥' (सु. उ. तं. अ. ४०)। एवं आधेय (अग्नि) के दूषित होने पर आधार (ग्रहणी कला) भी दूषित हो जाती है, जिससे उक्त रोग उत्पन्न हो जाता है। मन्दाग्नि कहने का अभिप्राय यह है कि दीप्ताग्नि मनुष्य अहितभोजी होने पर भी रोगी नहीं होता।

ग्रहण्याः सामान्यलक्षणं समुपवर्णयति—

एकैकशः सर्वशश्च दोषैरत्यर्थमूर्च्छितैः।
सा दुष्टा बहुशो भुक्तमाममेव विमुञ्चति॥२॥
पक्वं वा सरुजं पूति मुहुर्बद्धं मुहुर्द्रवम्।
ग्रहणीरोगमाहुस्तमायुर्वेदविदो जनाः॥३॥

वातादि में से किसी एक के वा सभी के अत्यन्त प्रकुपित हो जाने से दूषित हुई वह ग्रहणीकला भुक्त पदार्थ को अपक्वावस्था में ही वा पक्वावस्था में भी बहुत वार त्यागती है। इसमें वह अपक्व वा पक्व पुरीष दुर्गन्धयुक्त मल (वात से) वार २ घन (सख्त) और (पित्त से) बार २ तरल रूप में पीड़ा करता हुआ आता है। इन्हीं लक्षणों सहित उक्त सम्प्राप्ति वाले रोग को आयुर्वेदज्ञ मनुष्य ग्रहणी रोग कहते हैं।

मधु०—तस्याः संप्राप्तिपूर्वकं सामान्यलक्षणमाह-एकैकश इत्यादि। मूर्च्छितैरतिवृद्धैः, 'मूर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोः'-इति धात्वर्थात्। 'उच्छ्रितैः'-इति पाठान्तरे स एवार्थः। सा ग्रहणी दोषैर्दुष्टा सती भुक्तमाहारमाममपक्वमेव पक्वं वा विमुञ्चति। वाशब्दश्चार्थे, एवकारः समुच्चियमानाव-धारणे, यथा-"नरं च नारायणमेव चोभौ स्वतःसुतौ संजनयांबभूवतुः"। अथवा एव-

कारो विकल्पार्थः, निपातानामनेकार्थत्वादिति । सरुजं सशूलं, पूति दुर्गन्धि । वातेन मुहुर्बद्धं, पित्तेन मुहुर्द्रवम् । ग्रहणीरोगमिति ग्रहण्या रोगो ग्रहणीरोगः । ग्रहणी चाग्न्यधिष्ठानं नाडी। यदाह चरकः—"अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद्ग्रहणी मता । नाभेरुपरि सा ह्यग्निबलोपस्तम्भबृंहिता ॥ अपक्वं धारयत्यन्नं पक्वं सृजति चाप्यधः ॥" (च. चि. स्था. अ. १५) इति। सुश्रुतेऽप्येतदुक्तम् "षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्तिता । पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्तिता ॥" (सु. उ. तं. अ. ४०) इति। कला धात्वाशयान्तरमर्यादा, पक्वामाशयमध्यस्था पच्यमानाशयरूपेत्यर्थः ॥२,३॥

'मूर्च्छितैः' का अर्थ 'उच्छ्रितैः' है क्योंकि मूर्च्छा धातु का अर्थ मोह और समुच्छ्राय दोनों ही हैं। ग्रहणी अग्नि की आश्रय नाड़ी को कहते हैं। जैसे चरक ने कहा भी है कि—'अग्न्यधिष्ठानम्' इत्यादि । एवं सुश्रुत ने भी 'षष्ठी' इत्यादि से यही कहा है । कला शब्द का अर्थ धातु और आशयों के मध्य में स्थित मर्यादा (सीमा वा झिली) विशेष को कहते हैं ।

ग्रहण्याः पूर्वरूपमवतारयति—

पूर्वरूपं तु तस्येदं तृष्णाऽऽलस्यं बलक्षयः ।
विदाहोऽन्नस्य पाकश्च चिरात्कायस्य गौरवम् ॥४॥ [च० ६।१५]

प्यास लगनी, आलस्य होना, बल का नाश होना, आहार की विदग्धता होने के कारण अधिक विलम्ब से पकना और शरीर का भारी होना ये ग्रहणी का पूर्वरूप है ।

पूर्वरूपमाह—पूर्वरूपमित्यादि । तृष्णा पिपासा । विदाहोऽन्नस्य अग्निमान्द्येनाहारस्य विदग्धत्वम्, अत एव चिरात् पाकश्चान्नस्यैव । कायस्य गौरवं सामत्वादिति ॥४॥

वातिकग्रहण्याः समुत्थानं संप्राप्तिञ्च दर्शयति—

कटुतिक्तकषायातिरूक्षसंदुष्टभोजनैः[1] ।
प्रमितानशनात्यध्ववेगनिग्रहमैथुनैः ॥५॥ [च० ६।१५]
मारुतः कुपितो वह्निं संछाद्य कुरुते गदान् ॥

वातिकग्रहण्याः स्वरूपमवतारयति—

तस्यान्नं पच्यते दुःखं शुक्तपाकं खराङ्गता ॥६॥ [च० ६।१५]
कण्ठास्यशोषोऽक्षुत्तृष्णा[2] तिमिरं कर्णयोः स्वनः ।
पार्श्वोरुवंक्षणग्रीवारुगभीक्ष्णं[3] विसूचिका ॥७॥ [च० ६।१५]
हृत्पीडाकार्श्यदौर्बल्यं वैरस्यं परिकर्तिका ।
गृद्धिः सर्वरसानां च मनसः सदनं तथा ॥८॥ [च० ६।१५]
जीर्णे जीर्यति चाध्मानं भुक्ते स्वास्थ्यमुपैति च ।
स वातगुल्महृद्रोगप्लीहाशङ्की च मानवः ॥९॥ [च० ६।१५]
चिराद्दुःखं द्रवं शुष्कं तन्वामं शब्दफेनवत् ।
पुनः पुनः सृजेद्वर्चः कासश्वासार्दितोऽनिलात् ॥१०॥ [च० ६।१५]

---

१ शीतल. २ कण्ठास्यशोषः क्षुत्तृष्णा. ३ रुजोऽभीक्ष्णं.

अति कटु अति तिक्त, अति कषाय, अति रूक्ष, और संयोग, देश, काल, मात्रा आदि से विरुद्ध भोजन करने से, एवं अल्पभोजन उपवास, अधिक पैदल चलने, अत्यन्त वेगावरोध तथा अति मैथुन से वायु प्रकुपित होकर अग्नि को दूषित कर निम्न रोगों को करता है। रोगी का खाया अन्न कठिनता से पचता है, वा अम्ल पाक हो जाता है। रोगी के अङ्ग कठोर हो जाते हैं; गला और मुख सूख जाता है, क्षुधा और तृष्णा अधिक लगती है, तिमिर रोग हो जाता है, कानों में साँय २ की सी ध्वनि सुनाई देने लगती है; पार्श्व, ऊरु, वंक्षण और ग्रीवा इनमें अधिक पीड़ा होती है, विसूचिका हो जाती है, हृदय में पीड़ा, शरीर में कृशता, हृदय में दुर्बलता, मुख में विरसता, और गुदा में काटने के सदृश पीड़ा होती है, सब रसों के खाने की इच्छा, मन में खिन्नता, अन्न के पक जाने पर वा पच्यमानावस्था में आध्मान और भोजन करने पर स्वस्थता की प्रतीति होती है, एवं वह रोगी अपने शरीर में वात गुल्म, प्लीहारोग (तिल्ली) तथा हृद्रोग हो जाने की शंका करने लगता है और कास श्वास युक्त वह रोगी बहुत देर तक कभी पतला और कभी सूखा मल शब्द और झाग से युक्त कच्चा थोड़ी मात्रा में छोड़ता है। ये वातिक ग्रहणी के लक्षण हैं। उक्त सातवें श्लोक में 'कण्ठास्यशोषोऽक्षुत्तृष्णा' यह पाठ भ्रम से छप गया प्रतीत होता है। चरक में तो 'कण्ठास्यशोषः क्षुत्तृष्णा' यह पाठ है, और यह है भी युक्तियुक्त। क्योंकि अनुभव से यह सिद्ध है कि इस रोग में क्षुधा का नाश नहीं होता प्रत्युत वह लगती है। इसमें वाग्भट का भी प्रमाण है कि—'रसेषु गृद्धिः सर्वेषु क्षुत्तृष्णा परिकर्तिका'-(वा. नि. स्था. अ. ८)।

मधु०—वातिकग्रहण्याः निदानसंप्राप्तिपूर्वकं रूपमाह—कट्वतिक्तेत्यादि । संदुष्टभोजनं संयोगादिविरुद्धभोजनम् । संदुष्टभोजनैरित्यत्र शीतादिभोजनैरिति पाठान्तरम् । प्रमितमल्पभोजनं; प्रमृतेति पाठान्तरे अतीतकालभोजनं बोद्धव्यम् । अनशनमुपवासः । एतैः कारणैः कुपितो मारुतः, वह्निं संछाद्य संदूष्य, गदान् करोति । कान् गदान् करोतीत्याह—तस्यान्नमित्यादि । शुक्तपाकम् अम्लपाकम्, एतच्चाग्निमान्द्यजनितान्नविदाहाद्भवति । खराङ्गता कर्कशशरीरत्वं, वातेन त्वग्गतस्नेह-शोषात् । तिमिरं मन्ददृष्टिता । रुक् पीडा, सा च पार्श्वादिभिः संबध्यते । विसूचिका ऊर्ध्वमधश्चा-मान्नप्रवृत्तिः[1] । वैरस्यं विरुद्धरसास्यता । परिकर्तिका गुदे कर्तनवत्पीडा । गृद्धिः काङ्क्षा, सर्वरसानां मधुरादीनां, कर्मणि षष्ठी; एतच्च वातदूषितान्तःकरणत्वेन, व्याधिमहिम्ना वा । मनसः सदनमवसादः । आध्मानं जीर्णे जीर्यति च 'अन्ने' इति शेषः । स वातगुल्महृद्रोगप्लीहाशङ्कीति वातगुल्मादिवत्पीडायुक्त-त्वात्तच्छङ्की । द्रवं शुष्कं कदाचित् द्रवं, कदाचित् शुष्कम् । तनु अल्पमिति ॥५–१०॥

पैत्तिकग्रहण्याः समुत्थानं संप्राप्तिं च निरूपयति—

कट्वजीर्णविदाह्यम्लक्षाराद्यैः पित्तमुल्बणम् ।
आप्लावयद्धन्त्यनलं जलं तप्तमिवानलम् ॥११॥ [च० ६।१५]

---

१ ऊर्ध्वमधश्चाममलप्रवृत्तिः.

तस्याः स्वरूपमाह—

सोऽजीर्णं नीलपीताभं पीताभः सार्यते द्रवम्।
पूत्यम्लोद्गारहृत्कण्ठदाहारुचितृडर्दितः ॥१२॥ [च० ६।१५]

जैसे तप्त जल अग्नि को शान्त कर देता है वैसे ही कटु, अजीर्ण, विदाही, अम्ल और क्षार आदि पदार्थों के सेवन से बढ़ा हुआ द्रव पित्त, अग्नि को आच्छादित करता हुआ उसे शान्त कर देता है। इससे रोगी का वर्ण पीले रंग का हो जाता है और वह नील वा पीत रंग वाले पतले कच्चे पुरीष को त्यागता है, एवं उसको दुर्गन्ध युक्त और खट्टे डकार आते हैं, हृदय और कण्ठ में दाह होता है, अरुचि और प्यास सताती है।

मधु०—पैत्तिकग्रहण्या निदानसंप्राप्तिपूर्वकं रूपमाह—कट्वित्यादि। विदाहि विदाहजनकं वंशकरीरादि। क्षारोऽपामार्गादिकृतः, तथा सक्षारं च द्रव्यं; क्षारोदकसाधितं हि व्यञ्जनमश्नन्ति कामरूपादौ। आद्यग्रहणाल्लवणतीक्ष्णोष्णानां ग्रहणं, तैर्वृद्धं पित्तमनलमाप्लावयदभिभवत्तं हन्ति। ननु, पित्तमाग्नेयमग्निरेव वा, ततश्च वृद्धिमेवाप्नोति, कथं हन्त्यत आह—जलं तप्तमिवानलमिति। यथा उष्णगुणयुक्तमपि जलमनलं हन्ति, तथा द्रवांशेन परिवृद्धं पित्तमूष्मरूपमग्निं हन्त्येवेति। स पीताभः पुरुषः सार्यते, 'वर्चः' इत्यनुवर्तते ॥११-१२॥

पित्त आग्नेय है वा अग्नि ही है। जब ऐसा है तो पित्त के संयोग से अग्नि की वृद्धि होती है। जब वृद्धि होती है तो उसकी शान्ति कैसे हो सकती है? इस पर कहते हैं कि जैसे उष्ण जल अग्नि को शान्त कर देता है उसी प्रकार द्रव भाग में बढ़ा हुआ पित्त ऊष्मारूप अग्नि को शान्त कर ही देता है। पित्त और अग्नि भिन्न हैं वा अभिन्न, इसका विचारपूर्वक निर्णय आगे पलितरोग की व्याख्या क्षुद्ररोगाधिकार में किया जावेगा।

श्लैष्मिकग्रहण्याः समुत्थानं संप्राप्तिश्च दर्शयति—

गुर्वतिस्निग्धशीतादिभोजनादतिभोजनात्।
भुक्तमात्रस्य च स्वप्नाद्धन्त्यग्निं कुपितः कफः ॥१३॥ [च० ६।१५]

तस्याः पूर्वरूपमाह—

तस्यान्नं पच्यते दुःखं हृल्लासच्छर्द्यरोचकाः।
आस्योपदेहमाधुर्यं कासष्ठीवनपीनसाः ॥१४॥ [च० ६।१५]
हृदयं मन्यते स्त्यानमुदरं स्तिमितं गुरु।
दुष्टो मधुर उद्गारः सदनं स्त्रीष्वहर्षणम् ॥१५॥ [च० ६।१५]

तस्याः स्वरूपमवतारयति—

भिन्नामश्लेष्मसंसृष्टगुरुवर्चःप्रवर्तनम्।
अकृशस्यापि दौर्बल्यमालस्यं च कफात्मके ॥१६॥ [च० ६।१५]

अति गुरु, अति स्निग्ध और अति शीत पदार्थों के सेवन से; मात्रा अधिक भोजन से; तथा दिन में भोजन के पश्चात् ही सो जाने से प्रकुपित कफ

जठराग्नि को शान्त कर देता है, जिससे मनुष्य की ग्रहणी कला भी दुष्ट हो जाती है। एवं जिस मनुष्य की कफ से ग्रहणी दुष्ट होती है उसका खाया अन्न वड़े कष्ट से पचता है और उसमें हृल्लास, वमन, अरोचक, मुख में चिपचिपाहट, मधुरास्यता, कास, थूकना, पीनस ये लक्षण होते हैं। वह (रोगी) अपने हृदय को घने तरल से जकड़ा हुआ मानता है और उदर को निश्चल तथा भारी मानता है। उसको डकार विकृत और मधुर आते हैं, अङ्गों में पीड़ा होती है, स्त्रियों के उपभोग की इच्छा नहीं होती, मल आम और श्लेष्म से युक्त और भारी आता है, और कृश न होने पर भी दुर्बलता (भीतरी कमज़ोरी) तथा आलस्य होता है। ये लक्षण कफात्मक ग्रहणी के रोगी को होते हैं। १५ वें श्लोक में आये हुए 'सदनम्' शव्द का अर्थ 'अग्निसाद' करना उचित नहीं है। कारण कि इसमें वह अर्थ तो स्वतः सिद्ध है क्योंकि उसके बिना यह रोग ही नहीं हो सकता। इस पर यदि कहा जावे कि यह तो इसका विशेष लक्षण है अतः इसका कथन अत्यावश्यक है तो भी इसकी आवश्यकता नहीं क्योंकि यह सम्प्राप्ति में पूर्व ही 'हन्त्यग्निम्' लिखकर कह दिया गया है। एवं 'सदनम्' का अर्थ 'सदनम् अङ्गानाम्' यह ठीक है और यह अनुभवसिद्ध भी है।

मधु०—श्लैष्मिकग्रहण्या निदानादिपूर्वकं रूपमाह—गुर्वित्यादि ।—आदिशब्दात् पिच्छिलमधुरादीनां ग्रहणम्। अतिभोजनादतिमात्रभोजनात्। ननु, भुक्तमात्रस्य च स्वप्नाद्धन्त्यग्निमिति विरुद्धं ? स्वप्नोऽत्र दिवास्वप्नो ग्राह्यः, रात्रिस्वापस्य स्वास्थ्यहेतुत्वात्; दिवास्वापश्च स्रोतः-संमीलनेन जठरानलं सन्धुक्षयति, अत एवाह—'अतीसारिणामजीर्णिनां च दिवास्वापो विहितः' इति। उच्यते, भुक्तवतां दिवास्वापोऽत्यन्तकफवृद्ध्याऽग्निं हन्ति, अभुक्तवतां तु संधुक्षयति। यदुक्तम्—"नराञ्शिरशनान् कामं दिवा स्वापयेत्॥" इति। आस्योपदेहमाधुर्यमिति मुखस्य लिप्तत्वं मधुरत्वं च श्लेष्मणैव। स्त्यानं घनद्रवापूरितमिव। स्तिमितं विवद्धं, निश्चलमित्यर्थः। गुरु जडम्। दुष्टो विकृतः। मधुरः मधुरत्वेनोपलक्षित उद्गारः। सदनमग्निसादः। स्त्रीष्वहर्षणं स्त्रीरिरंसाया अभावः। भिन्नं च तदामश्लेष्मभ्यां संसृष्टं चेति समासार्थः। दौर्बल्यमसामर्थ्यमिति ॥१३-१६॥

(ननु—) भोजनानन्तर ही सो जाने से कफ अग्नि को शान्त कर देता है, यह कहना प्रकृत में विरुद्ध ठहरता है। कारण कि सोने से यहां दिन में सोना लिया जाता है क्योंकि रात्रि में सोना तो स्वास्थ्यकर है, परन्तु यहां दिन में सोना भी स्रोतों के वन्द होने के कारण जठराग्निवर्धक होता है। जैसे कहा भी है कि—'अतिसारी और अजीर्णियों के लिये दिन में सोना विहित है'। जब ऐसा है तो प्रकृत में दिवास्वाप और रात्रिस्वाप दोनों ही ठीक हैं, यदि ऐसा ही है तो पुनः 'भुक्तमात्रस्य च स्वप्नाद्धन्त्यग्निम्' यह (विरुद्ध) क्यों कहा है ? इसका उत्तर यह है कि रात्रि में सोना तो प्रकृतिसिद्ध होने से लाभप्रद ही है, परन्तु दिवास्वाप भोजन के तत्काल वाद तो अत्यन्त कफवर्धक होने से अग्निशामक होता है, परं भोजन किये विना अग्निवर्धक होता है। जैसे कहा भी है 'जिन मनुष्यों ने भोजन न किया हो उन्हें यथेच्छ सुलाना चाहिये'। एवं 'भुक्तमात्रस्य च स्वप्नाद्धन्त्यग्निम्' यह कथन विरुद्ध नहीं है।

त्रिदोषजग्रहण्या लक्षणमाह—

पृथग्वातादिनिर्दिष्टहेतुलिङ्गसमागमे ।
त्रिदोषं निर्दिशेदेवं[1] तेषां वक्ष्यामि भेषजम् ॥१७॥ [च० ६।१५]

संग्रहग्रहण्या लक्षणमवतारयति—

(अन्त्रकूजनमालस्यं दौर्बल्यं सदनं तथा ।
द्रवं शीतं घनं स्निग्धं सकटीवेदनं शकृत् ॥१॥
आमं बहु सपैच्छिल्यं सशब्दं मन्दवेदनम् ।
पक्षान्मासाद्दशाहाद्वा नित्यं वाऽप्यथ मुञ्चति ॥२॥
दिवा प्रकोपो भवति रात्रौ शान्तिं व्रजेच्च सा ।
दुर्विज्ञेया दुश्चिकित्स्या चिरकालानुबन्धिनी ॥३॥
सा भवेदामवातेन संग्रहग्रहणी मता ।

घटीयन्त्रग्रहण्या लक्षणं दर्शयति—

स्वपतः पार्श्वयोः शूलं गलज्जलघटीध्वनिः ।
तं वदन्ति घटीयन्त्रमसाध्यं ग्रहणीगदम् ॥४॥)

जहां ग्रहणी रोग में पृथक् २ रूप से प्रतिपादित वातादि दोषों के कारण और लक्षण एकत्र मिल जावें वहां त्रिदोषज ग्रहणी जाननी चाहिये। अब उनकी चिकित्सा कही जाती है। प्रकृत में चतुर्थ पाद यद्यपि निरर्थक है परन्तु चरक के श्लोक को उद्धृत करने से चतुर्थ पाद भी रखना पड़ा, अन्यथा इसके तीन ही पाद रखने पड़ते थे, जो कि अनुचित है। चरक में तो इसके अनन्तर ही चिकित्सा प्रारम्भ कर दी है अतः ठीक है। अंत्रों में कूजन, किसी कर्म करने में सामर्थ्य होने पर भी अनुत्साह, शरीर में दुर्बलता और अङ्गों में पीड़ा तथा कटि पीड़ा के साथ २ तरल, शीतल, घन वा स्निग्ध आम मल का पिच्छिलता लिए हुए बहुत मात्रा में कुछ वेदना और शब्द के साथ पन्द्रह दिन बाद, महीने बाद वा दस दिन बाद अथवा प्रति दिन वेग के रूप में आना, एवं दिन में उसकी वृद्धि और रात्रि को शांति होना जिसमें होता है वह दुश्चिकित्स्य दुर्विज्ञेय और चिरकालानुबन्धी आम वात से होने वाली संग्रह ग्रहणी (संग्रहणी) होती है। सोने पर दोनों पार्श्वों में शूल और गिरते हुए जलपूर्ण घटी की सी ध्वनि जिसमें होती है, वह असाध्य घटीयन्त्र नाम वाली ग्रहणी होती है।

मधु०—शिष्यहितैषितया प्रकृतिसमसमवेतत्वेन सुगमाया अपि त्रिदोषजग्रहण्या अतिदेशेन लक्षणमाह—पृथगित्यादि। संपूर्णश्लोकानुरोधात् 'तेषां वक्ष्यामि भेषजम्—' इति लिखितम्। ग्रहणीदुष्ट्या ग्रहण्याश्रितवह्नेरपि दुष्टेरग्निमान्द्यादयोऽपि ग्रहणीविकारा उच्यन्ते। यदुक्तं चरके—"यश्चाग्निः पूर्वमुद्दिष्टो रोगानीके चतुर्विधः। तं चापि ग्रहणीरोगं समवर्जं प्रचक्षते॥" (च. चि. स्था. अ. १५)—॥१७॥

१ तेषां भेषजं शृण्वतः परम्.

ग्रहण्या आमनिरामतालक्षणमाह—

दोषं सामं निरामं च विद्यादत्रातिसारवत् ॥१८॥

ग्रहण्याः साध्यासाध्यतामाह—

लिङ्गैरसाध्यो ग्रहणीविकारो यैस्तैरतीसारगदो न सिध्येत् ।
वृद्धस्य नूनं ग्रहणीविकारो हत्वा तनूं नैव निवर्तते च ॥१९॥

धन्वन्तरिमतेन तस्याः साध्यासाध्यतामाह—

(बालके ग्रहणी साध्या यूनि कृच्छ्रा समीरिता ।
वृद्धे त्वसाध्या विज्ञेया मतं धन्वन्तरेरिदम् ॥१॥)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने ग्रहणीनिदानं समाप्तम् ॥४॥

ग्रहणी रोग में दोषों की सामता वा निरामता अतिसार की तरह जाननी चाहिये । अर्थात् जैसे अतीसार में जल में डूबने आदि लक्षणों से सामता और उनकी विपरीतता में निरामता का ज्ञान होता है वैसे ही ग्रहणी में भी सामता वा निरामता का ज्ञान होता है । जिन लक्षणों के होने से अतिसार रोग ठीक नहीं होता उन्हीं के होने पर ग्रहणी रोग भी असाध्य होता है । यदि ग्रहणी रोग वृद्ध पुरुष को हो जावे तो वह शरीर को नष्ट किये बिना निवृत्त नहीं होता (बालकों में ग्रहणी साध्य होती है, युवा पुरुषों में कृच्छ्रसाध्य और वृद्धों में असाध्य होती है—यह भगवान् धन्वन्तरि का मत है) ।

मधु०—यथाऽतीसारे जलनिमज्जनादिना आमं, तद्विपरीतेन निरामं ज्ञायते, तथाऽत्रापि ज्ञेयम् । यैर्लिङ्गैरतीसारगदो न सिध्येत्तैर्लिङ्गैर्ग्रहणीविकारोऽसाध्यः, अतीसारस्य यान्यसाध्यलिङ्गानि ग्रहण्या अपि तानि ॥१८–१९॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां ग्रहणीनिदानं समाप्तम् ॥४॥

(यैर्लिङ्गैरिति–) 'संसृष्टमेभिर्दोषैस्तु न्यस्तमप्स्ववसीदति । पुरीषं भृशदुर्गन्धि पिच्छिलञ्चामसंज्ञितम् ॥ एतान्येव तु लिङ्गानि विपरीतानि यस्य वै । लाघवं च विशेषेण तस्य पक्वं विनिर्दिशेत् ॥' इन अतिसार में कहे लक्षणों से ही ग्रहणी की भी सामता वा निरामता जाननी चाहिये ।

अथार्शोनिदानम्[1] (Piles) ।

अर्शसां सन्निकृष्टनिदानं भेदांश्चाह—

पृथग्दोषैः समस्तैश्च शोणितात्सहजानि च ।
अर्शांसि षट्प्रकाराणि विद्याद्गुदवलित्रये ॥१॥

वात पित्त और कफ से तीन, इनके सन्निपात से एक, रक्तज एक तथा सहज एक—इस प्रकार छः प्रकार की अर्श गुदा की तीन वलियों में होती है ।

१ नाम—सं० अर्श, मूल रोग, दुर्नाम; अ० ववासीर; इं० पाइल्स; हिमरॉइड्स.

मधु०—अतीसारग्रहण्यर्शसां परस्परानुबन्धित्वादतीसारग्रहण्यनन्तरमर्श उच्यते-पृथगित्यादि । अरिवत् प्राणान् शृणाति हिनस्तीत्यर्श इति पृषोदरादिपाठान्निरुक्तिमाहुः । सहजानीति सह शरीरेण जातानि, गुदवल्यारम्भकबीजभागस्य दूषितत्वात् । अत्र द्वन्द्वजानि प्रकृतिसमसमवायारब्धत्वान्न पृथग्गणितानि । उक्तं हि सुश्रुते—"अर्शःसु दृश्यते रूपं यदा वै दोषयोर्द्वयोः। संसर्गं तं विजानीयात्संसर्गः षड्विधश्च सः ॥" (सु. नि. स्था. अ. २) इति । षड्विधत्वं चात्र संसर्गस्य वातादिभिर्युग्मैस्त्रयः संसर्गाः, तैरेव रक्तयोगादपरे त्रय इति । सन्निपातजं त्वेकैकदोषजेष्वदृष्टस्यासाध्यत्वस्य योगाद्विकृतिविषमसमवायारब्धमिति संख्यया पृथग्गणितम् । गुदवलित्रय इति अर्धपञ्चाङ्गुलमानं गुदं, तस्यावयवभूतास्तिस्रो वलय उपर्युपरि व्यवस्थिताः शङ्खावर्तनिभाः प्रवाहणीविसर्जनीसंवरणीनामिकाः; तत्र गुदौष्ठमर्धाङ्गुलं, तदूर्ध्वमङ्गुलमाना प्रथमा वलिः सुश्रुतेन (सु. नि. स्था. अ. २) निर्दिष्टा, भोजेऽप्युक्तम्—"रोमान्तेभ्यो यवाध्यर्धं गुदौष्ठं परिचक्षते। गुदौष्ठादङ्गुलं चैकं प्रथमां तां वलीं विदुः ॥" सार्धाङ्गुलमाना द्वितीया तृतीया चेति ॥१॥

अर्श शब्द की निरुक्ति पृषोदरादि के पाठ से, जो अरि (शत्रु) की तरह प्राणों को शीर्ण (नष्ट) करे वह अर्श है, यह सिद्ध होता है । सहज अर्श वह होता है जो कि शरीर की उत्पत्ति के साथ ही उत्पन्न हो, अर्थात् शरीर के आरम्भक रज वा वीर्य के गुदवलि निर्माण करने वाले अंश के दुष्ट होने पर उससे जो शरीर बनता है उस शरीर की गुदवलि अर्श रोग से ग्रस्त होती है, यही अर्शोरोग सहजार्श है। यह सुश्रुत (सु. सू. स्था. अ. २४) प्रतिपादित सात प्रकार की व्याधियों में से आदिबलप्रवृत्त है, उसमें से भी यह मातृज है। कारण कि अर्श गुदवली में होता है और वह भाग मातृज है । जैसे चरक ने कहा है— 'यानि खल्वस्य गर्भस्य मातृजानि यानि चास्य मातृतः सम्भवतः सम्भवन्ति, तान्यनुव्याख्यास्यामः। तद्यथा त्वक् च लोहितं च मांसं च मेदश्च नाभिश्च हृदयञ्च क्लोम च यकृच्च प्लीहा च वृक्कौ च वस्तिश्च पुरीषाधानं चामाशयश्च पक्वाशयश्चोत्तरगुदश्चाधरगुदश्च क्षुद्रान्त्रश्च स्थूलान्त्रं च वपाच वपावहनं चेति मातृजानि।' (च. शा. स्था. अ. २६) । एवं जब गुदा सम्पूर्ण ही मातृज है तो वह रज से ही बनेगी, जब ऐसा है तो उसका आरम्भक मातृज रज ही है और उस रज के गुदभागारम्भक भाग के विकृत होने पर सहजार्श होता है । इस प्रकार युक्ति और प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि सहजार्श माता से ही सन्तान में आता है, पिता से नहीं। साथ ही यह 'शास्त्रसहितस्तर्कः साधनानाम्' (च. सू. स्था अ. २५) के अनुसार शास्त्रप्रमाण सहित युक्ति से सिद्ध होता है, अतः ठीक है । परन्तु अन्य आचार्य चूंकि शुक्र सर्व शरीर में रहता है तथा रज और वह मिलकर गर्भ की उत्पत्ति में कारण हैं, शरीर का कोई भी अङ्ग ऐसा नहीं है जिसमें शुक्र न हो, और न ही कोई ऐसा अङ्ग है जिसके निर्माण में शुक्र कारण न हो। जब ऐसा है तो गुद आदि भागों के निर्माण में भी शुक्र कारण सिद्ध होता है, एवं जब शुक्र का गुदनिर्मापक अंश दुष्ट होगा तो उससे भी सहजार्श हो सकता है । जो चरक का 'यानि खल्वस्य' इत्यादि उपर्युक्त निर्देश है वह 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' के अनुसार है । ये अङ्ग प्रधानतः मातृज हैं, वा ये प्रधानतः माता के अङ्गों के समान हैं । यही चरक का भाव है अन्यथा शुक्र शोणित व्यवायि वा सर्व शरीर संचारी नहीं बन सकते; तथा 'हेतुर्मातापित्रोरपचारः" (च. चि. स्था. अ. १४) इससे विरोध आता है । एवं सहज अर्श कारण भेद से दो प्रकार का होता है—१ बीजदोषज और २ पूर्वकृतकुकर्मज । जैसा चरक ने कहा है—'तत्र द्विविधबीजावुपतप्तौ हेतुर्मातापित्रोरपचारः पूर्वकृतञ्च कर्म'. (च. चि. स्था. अ. १४)।

(अत्रेति—) यहां अर्श के द्वन्द्वज भेद प्रकृतिसमसमवाय से आरम्भ होने के कारण पृथक् नहीं कहे। सुश्रुत में कहा भी है कि अर्शों में जब दो दोषों के रूप दीखने लगें तब उनमें संसर्ग जानना चाहिये और वह संसर्ग छः प्रकार का होता है। वे छः प्रकार पूर्व तीनों दोषों के परस्पर संसर्ग से तीन, शेष तीन रक्त के संसर्ग से होते हैं। सन्निपातज अर्श तो पृथक् २ दोपज अर्शों में न होने वाली असाध्यता, विलक्षणता तथा विकृतिविषमसमवायारब्ध होने से पृथक् गिना है। गुदा का प्रमाण साढ़े चार अङ्गुल होता है, जिसके कि तीन अवयव वलियों के रूप में होते हैं, जो कि शङ्ख के आवर्तों (घेरों) की तरह एक दूसरों के ऊपर होते हैं। उन भागों वा वलियों का नाम प्रवाहणी, विसर्जनी और संवरणी ये तीन हैं। उनमें से गुदौष्ठ आधी अंगुल के प्रमाण का है और उसके बाद एक अंगुल प्रमाण प्रथम वलि का सुश्रुत ने निदानस्थान द्वितीय अध्याय में कहा है। भोज ने भी कहा है कि 'जहां रोमों का अन्त होता है, वहां से डेढ़ यव प्रमित गुदौष्ठ होता है, और गुदौष्ठ से आगे प्रथम वलि एक अंगुल होती है'। उसके बाद डेढ़ अंगुल दूसरी और डेढ़ अंगुल तीसरी वलि होती है।

तेषां संप्राप्तिपूर्वकं सामान्यस्वरूपमाह—

दोषास्त्वङ्मांसमेदांसि संदूष्य विविधाकृतीन्।
मांसाङ्कुरानपानादौ कुर्वन्त्यर्शांसि तान् जगुः ॥२॥

वातादि दोष त्वचा, मांस, रक्त और मेद को दूषित कर गुदा और नासादि में अनेक प्रकार की आकृति वाले मांस के अंकुरों को उत्पन्न करते हैं और वे अंकुर ही अर्श कहलाते हैं।

मधु०—संप्राप्तिपूर्वकमर्शःस्वरूपमाह— दोषा इत्यादि। त्वङ्मांसग्रहणेन त्वङ्मांसाश्रितं रक्तमपि गृह्यते, चिकित्सायां रक्तस्रावणोपदेशात्। अपानं गुदम्, आदिशब्देन नासिकादीनां ग्रहणम्। कायचिकित्सकास्तु गुदजस्यैवार्शस्त्वमिच्छन्ति नासादिजानां त्वधिमांसत्वम्, तेषु 'पञ्चात्मा मारुतः'— इत्यादिसंप्राप्तेरभावात्, विष्टम्भ इत्यादिपूर्वरूपस्य चासंभवात्। यदाह चरकः—"शिश्न" इत्यारभ्य यावत् "अधिमांसव्यपदेश एव" (च. चि. स्था. अ. १४) इति। सुश्रुतेन तु मांसाङ्कुरत्वसाधर्म्यात् शस्त्रक्षाराग्निसाध्यत्वाच्च तेष्वर्शःशब्दप्रयोगः कृतः, सर्षपादिस्नेहे तैलव्यपदेशवत्; सुश्रुतानुवादिनो वाग्भटस्याप्ययमेवाभिप्राय इति ॥२॥

उक्त श्लोक में आदि शब्द से नासिका आदि का ग्रहण होता है। कायचिकित्सक तो अर्श को केवल गुदगत ही मानते हैं और नासादि में होने वाले अङ्कुरों को अधिमांस मानते हैं। क्योंकि उनके मत में 'पञ्चात्मा मारुतः पित्तं कफो गुदवलित्रयम्। सर्व एव प्रकुप्यन्ति गुदजानां समुद्भवे॥' यह वक्ष्यमाण सम्प्राप्ति नहीं होती और न ही उनके मत में वक्ष्यमाण विष्टम्भ आदि पूर्वरूप होते हैं। जैसे चरक ने कहा भी है कि 'केचित्तु भूयांसमेव देशमुपदिशन्त्यर्शसां शिश्नमपत्यपथं गलमुखनासाकर्णाक्षिवर्त्मानि त्वक् च। तदस्त्यधिमांसव्यपदेश एषः, गुदवलिजानां त्वर्शांसीति संज्ञातन्त्रेऽस्मिन्' (च. चि. स्था. अ. १४) अर्थात् कई आचार्य अर्श के बहुत से स्थान बताते हैं। जैसे—लिङ्ग, योनि, गला, मुख, नासिका, कर्ण, अक्षिवर्त्म तथा त्वचा। परन्तु ये अङ्कुर अधिमांस हैं और गुदवलिज अर्श हैं, यह इस शास्त्र की संज्ञा है। जैसे तैल शब्द से तिलों में होने वाला, वा तिलों से होने वाला, स्नेह विशेष गृहीत होने पर भी लक्षणावृत्ति के अनुसार सर्षपादि स्नेह ग्रहण किया जाता है, अर्थात् अन्वर्थकता के अनुसार तैल शब्द से तिलों

के स्नेह का व्यपदेश होना चाहिये। परन्तु स्नेहसमानता से सर्षपादि स्नेह में भी तैल शब्द का व्यपदेश होता है, वैसे ही सुश्रुत ने भी मांस के अंकुरों में परस्पर समानता होने से तथा दोनों शस्त्र क्षार और अग्निसाध्य होने से इनमें अर्श शब्द का व्यपदेश लक्षणा द्वारा किया है। और यही अभिप्राय सुश्रुत के अनुवादक वाग्भट का है।

वातिकार्शसः समुत्थानमाह—

कषायकटुतिक्तानि रूक्षशीतलघूनि च।
प्रमिताल्पाशनं तीक्ष्णं मद्यं मैथुनसेवनम् ॥३॥ [च० ६।१२]
लङ्घनं देशकालौ च शीतौ व्यायामकर्म च।
शोको वातातपस्पर्शो हेतुर्वातार्शसां मतः ॥४॥ [च० ६।१२]

कसैले, कड़ुवे, तीखे, रूखे, ठण्डे और हलके पदार्थों के सेवन से ठीक समय भोजन न करने से, बहुत थोड़ा खाने से, तीक्ष्ण मद्य पीने से, मैथुन से, लंघन करने से, शीतल देश और काल के सेवन से, व्यायाम और शोक के करने से तथा वायु और धूप में रहने से वातिक अर्श होता है।

मधु०—वातार्शसो निदानमाह—कषायेत्यादि। प्रमितमल्पतमम्। अल्पं मात्राहीनमशनम्। जेज्जटस्त्वाह—प्रमितमतीतकालभोजनं; प्रमृतेति पाठे तु नष्टशक्तिकं धान्यादिकमाहुः। प्रमिताशन- मेकरसाभ्यास इत्यन्ये। तन्नातियुक्तम्, एकरसाभ्यासः किं वातप्रकोपकस्य कट्वादेः, कफप्रकोपकस्य मधुरादेर्वा? नाद्यः, कट्वादेरत्रैवोपात्तत्वात्, द्वितीये मधुरादीनां त्वभ्यासो वातशामक एव, एकरसा- भ्यासाच्च दौर्बल्यमुक्तं नतु वातवृद्धिरिति चिन्त्यमेतत्। तीक्ष्णमिति मद्यविशेषणं, पैष्टिकादिमृदु- मद्यस्य वातप्रशमकत्वात्। शीतो देश आनूपः, कालो हेमन्तादिः। आतपस्योष्णगुणस्याप्युद्भूत- रौक्ष्याद्वातप्रकोपकत्वमिति ॥३-४॥

प्रमित शब्द का अर्थ 'प्रकृष्टेन मितम्' के अनुसार अत्यल्प है; जेज्जट, नियत काल के व्यतीत होने पर भोजन करने को कहते हैं। कई आचार्य प्रमित शब्द का अर्थ एक रस का अभ्यास करना मानते हैं, परन्तु यह अर्थ युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि 'एक रस का अभ्यास' यहां इससे क्या वातप्रकोपक कटुकादि का अभ्यास लिया जाता है? वा कफ- प्रकोपक मधुरादि का अभ्यास लिया जाता है? यदि कहें कि कटुकादि रसों का अभ्यास यहां अभिप्रेत है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि जब कटु, तिक्त और कषाय इनका स्पष्ट निर्देश कर दिया है तो प्रमिताशन कहकर पिष्टपेषण की क्या आवश्यकता थी? और यदि प्रमिताशन कहना था तो पूर्व कटुकादि का स्फुट पाठ क्यों दिया? और यदि कहें कि एकरसाभ्यास से यहां कफप्रकोपक मधुर, अम्ल और लवण इनमें से अन्यतम का अभ्यास लिया जाता है तो यह भी ठीक नहीं। कारण कि मधुरादि तो वात शामक हैं। जैसे कहा भी है 'मधुराम्ललवणा वायुम्' (चरकः) इत्यादि। साथ ही एक रस के अभ्यास से तो दुर्बलता होनी कही है, नकि वात का प्रकुपित होना कहा है। एवं प्रमित शब्द का अर्थ यदि एकरसा- भ्यास लिया जावे तो वह प्रकरणसङ्गत नहीं होता। विचारणीय इसमें एक यह बात भी आई है कि 'एक रस से दुर्बलता होती है, वात का प्रकोप नहीं होता' युक्ति प्रमाण से तो यह सिद्ध होता है कि एक रस के अभ्यास से न तो एकान्तता से दुर्बलता ही होती है

और न वातप्रकोप, परन्तु किसी रस के प्रयोग से वात का कोप और किसी से पित्त का तथा किसी से कफ का प्रकोप होता है। इसी प्रकार किसी रस के अभ्यास से दुर्बलता और किसी के अभ्यास से स्थूलता आदि भी होती है, परन्तु वह होती दोषप्रकोपणपूर्वक ही है। क्योंकि निज रोगों के कारण दोष हैं, अन्यथा उनकी कारणता नहीं रहती। अतः इसकी यह युक्ति ठीक नहीं है, परन्तु पहली युक्तियां ठीक हैं।

पैत्तिकगुदगदस्य समुत्थानमाह—

कट्वम्ललवणोष्णानि व्यायामाग्न्यातपप्रभाः।
देशकालावशिशिरौ क्रोधो मद्यमसूयनम् ॥५॥ [च० ६।१४]
विदाहि तीक्ष्णमुष्णं च सर्वं पानान्नभेषजम्।
पित्तोल्बणानां विज्ञेयः प्रकोपे हेतुरर्शसाम् ॥६॥ [च० ६।१४]

कड़वे, नमकीन, खट्टे और उष्ण पदार्थों का सेवन; व्यायाम, अग्नि और धूप का सेवन; उष्ण देश और काल का सेवन; क्रोध, मद्यपान और पराई सम्पत्ति में द्वेष करना; एवं विदाही, तीक्ष्ण और उष्ण अन्न, पान, भेषजादि सब का सेवन करना पित्तोल्बण अर्श के प्रकोप में कारण है।

मधु०—पित्तार्शोनिदानमाह–कट्वम्लेत्यादि। देशकालावशिशिराविति उष्णो देशो मरुः, उष्णः कालः शरद् ग्रीष्मश्च। असूयनं परसंपत्तौ द्वेषः, स क्रोधविशेष एव। पित्तोल्बणाना-मित्यनेन सर्वेषामर्शसां त्रिदोषजत्वम्, अधिकेन तु व्यपदेश इति दर्शितं चरकेण। यदाह स एव— "अर्शांसि नाम जायन्ते नासन्निपतितैस्त्रिभिः। दोषैर्दोषविशेषात्तु विशेषः कथ्यतेऽर्श-साम् ॥" (च. चि. स्था. अ. १४) इति ॥५–६॥

'पित्तोल्बणानाम्' में उल्बण शब्द के व्यपदेश से यह सिद्ध होता है कि सभी अर्श त्रिदोषज होते हैं। वातादि व्यपदेश 'व्यपदेशस्तु भूयसा' के अनुसार है। जैसे चरक ने कहा भी है कि सभी अर्श तीनों दोषों के सन्निपात के विना उत्पन्न नहीं होते, परन्तु सन्निपात होने पर भी दोष विशेष का कथन उस दोष की अधिकता के होने के कारण किया जाता है।

श्लैष्मिकगुदगदस्य समुत्थानमवतारयति—

मधुरस्निग्धशीतानि लवणाम्लगुरूणि च।
अव्यायामो दिवास्वप्नः शय्यासनसुखे रतिः ॥७॥ [च० ६।१४]
प्राग्वातसेवा शीतौ च देशकालावचिन्तनम्।
श्लैष्मिकाणां समुद्दिष्टमेतत्कारणमर्शसाम् ॥८॥ [च० ६।१४]

मीठे, स्निग्ध, शीतल, लवण, अम्ल और गुरु पदार्थों का खाना; व्यायाम न करना; दिन में सोना; लेटे ही रहने वा बैठे ही रहने से होने वाले सुख में प्रेम; पूर्व की वायु का सेवन; शीतल देश और शीतल काल में स्थिति एवं चिन्ता न करना श्लैष्मिक अर्श का कारण है।

मधु०—श्लेष्मार्शोनिदानमाह—मधुरेत्यादि। शय्यासनसुखे रतिरिति सुख रतिरासक्तिः। प्राग्वातसेवा पुरोवातसेवनम्। अचिन्तनं निश्चिन्तता ॥७–८॥

द्वन्द्वजगुदगदस्य निदानादिकमाह—

हेतुलक्षणसंसर्गाद्विद्याद् द्वन्द्वोल्बणानि च।

दो दोषों के मिलित निदान से उत्पन्न तथा दो दोषों के मिलित लक्षणों से युक्त अर्शोरोग को द्वन्द्वोल्वण (द्वन्द्वज) जानना चाहिये।

मधु०—द्वन्द्वजार्शोनिदानादिकमाह—हेत्वित्यादि।—हेतुलक्षणसंसर्गादिति दोषद्वयस्य निदानमेलकेन लक्षणमेलकेन च द्वन्द्वोल्बणानि द्वन्द्वजानि विद्यात्॥—

यहां भी द्वन्द्वोल्बण शब्द से सन्निपात में द्व्युल्बण लिया जाता है।

त्रिदोषजगुदगदस्य निदानमाह—

सर्वो हेतुस्त्रिदोषाणां सहजैर्लक्षणं समम् ॥९॥ [च० ६।१४]

वातादि के जो कारण कहे हैं, सम्मिलितरूप से उनका सेवन करना त्रिदोषज अर्श में हेतु है। इसका लक्षण सहज अर्श के समान ही है।

मधु०—त्रिदोषजार्शोनिदानमाह–सर्व इत्यादि। सर्वो हेतुरिति एकैकशो वाताद्यर्शसां यो हेतुरुक्तः स त्रिदोषजानां भवति, त्रयो दोषा जनकत्वेनैषां सन्तीति त्रिदोषजानि। सहजैर्लक्षणं सममिति तेषां लक्षणं सहजैरर्शोभिः सह समं सदृशं, सहजानां यल्लक्षणं तत्त्रिदोषजानामित्यर्थः। 'सहजैर्लक्षणैः समम्' इति पाठान्तरे तु सहजैः सहजार्शोभवैर्लक्षणैः समं सह सर्वो हेतुस्त्रिदोषाणामिति योज्यम्। सहजार्शोलक्षणं चात्र संग्रहेणो(हे नो)क्तं तन्त्रान्तरादनुस्मर्तव्यं; यदाह सुश्रुतः—"दुर्दर्शनानि परुषारुणपाण्डूनि दारुणान्तर्मुखानि, तैरुपद्रुतः कृशोऽल्पभुक् सिरासंततगात्रोऽल्पप्रजः क्षीणरेताः क्षामस्वरः क्रोधनोऽल्पाग्निर्घ्राणशिरोऽक्षिश्रवणरोगवान्, सततमन्त्रकूजनाटोपहृदयोपलेपारोचकप्रभृतिभिः पीड्यते॥" (सु. नि. स्था. अ. २) इति; चरके च–"कानिचिदणूनि॥" (च. चि. स्था. अ. १४) इत्यादिना प्रभूततरं लक्षणमुक्तम्। ननु, त्रिदोषजानीति विशेषाभिधानमनुपपन्नं, सर्वेषामेव रोगाणां त्रिदोषजत्वात्। यदुक्तम्—"द्रव्यमेकरसं नास्ति न रोगोऽप्येकदोषजः। योऽधिकस्तेन निर्देशः क्रियते रसदोषयोः॥" इति। नैवं, 'सर्वदेहचरास्तु वातपित्तश्लेष्माणः' इति वचनादेकस्मिन् धात्वादौ दोषेण दूषिते सति तद्गतेतरदोषेऽप्यवश्यंभाविनी काचिद्दुष्टिः, दुष्टदोषसंबन्धात्। किंच स्वकारणाद्वृद्धो वायुः शैत्याच्छीतस्य श्लेष्मणो बलमादधाति, लाघवात्तेजोरूपस्य पित्तस्य; पित्तं च कटुत्वाद्वातस्य, द्रवत्वात् श्लेष्मणः; कफश्च शैत्याद्वायोः, द्रवत्वात् पित्तस्येति। अत एवोक्तम्—"न रोगोऽप्येकदोषजः॥" इति। अनेनैवाभिप्रायेणोक्तम्–"एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्"–इति। यत्र तु स्वकारणात्त्रयोऽपि कुपितास्तत्र त्रिदोषव्यपदेश इति सिद्धान्तः; एवं सर्वत्र॥९॥

यह अर्श त्रिदोपज है, इस प्रकार का विशेप रूप से त्रिदोपजन्य मानना ठीक नहीं क्योंकि सभी रोग त्रिदोपज ही होते हैं। जैसे कहा भी है कि कोई द्रव्य ऐसा नहीं है जो कि एक रस वाला हो और न कोई ऐसा रोग है, जो कि एक दोप वाला हो। अतः जिस द्रव्य में जो रस और जिस रोग में जो दोप अधिक होता है उस द्रव्य और रोग में उसी रस और दोप का सम्वन्ध कहा जाता है। इस प्रकार जव सभी रोग त्रिदोपज हैं। पुनः इसे विशेप रूप से त्रिदोपज क्यों कहा? यह विशेपाभिधान नहीं वन सकता। इस

पर आचार्य कहते हैं कि नहीं; 'वात पित्त और श्लेष्मा सम्पूर्ण शरीर में विचरते हैं' इस वचन के अनुसार जब दोष समस्त शरीर में व्याप्त हैं, तो जिस समय किसी एक धातु में स्थित किसी एक दोष में विकृति आवेगी तो उस धातु में स्थित दूसरे दोष में भी दुष्ट दोष से सम्बन्धित होने के कारण अवश्य ही कोई न कोई दुष्टि होगी। और अपने कारण से बढ़ा हुआ वायु शीत गुण वाला होने के कारण शीतल श्लेष्मा के बल को और लघुपन से तेजो रूप पित्त के बल को बढ़ाता है; अपने कारण से बढ़ा हुआ पित्त कटुगुण से वायु के बल को और द्रव होने से श्लेष्मा के बल को बढ़ाता है; एवं अपने कारण से बढ़ा हुआ कफ शीतगुण से वायु के बल को और द्रवता से पित्त के बल को बढ़ाता है। इस प्रकार जब एक दोष के विकृत होकर दूसरे दोष को दूषित करने वाला माना गया है तो 'कोई भी रोग एक दोषज नहीं होता' और इसी अभिप्राय को लेकर 'एक प्रकुपित दोष दूसरे दोषों को भी प्रकुपित करता है' यह कहा है। एवं उपर्युक्तानुसार इनमें यद्यपि तीनों दोष कुछ न कुछ विकृत होते हैं परन्तु आरम्भक तथा अपने कारणों से कुपित एक ही दोष होता है। अतः इनमें त्रिदोषज होने पर भी प्रत्येक रोग को सन्निपातज नहीं कहा जाता। परन्तु जहां पर तीनों दोष अपने २ कारणों से कुपित होते हैं, वहां त्रिदोषज का व्यपदेश किया जाता है, यह सिद्धान्त है और इसी के अनुसार यहां त्रिदोषज विशेष रूप से कहा है। इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये।

अथ वातिकगुदगदस्य लक्षणमाह—

गुदाङ्कुरा बह्वनिलाः शुष्काश्चिमचिमान्विताः।
म्लानाः श्यावारुणाः स्तब्धा विशदाः परुषाः खराः ॥१०॥ [वा० ३।७]
मिथोविसदृशा वक्रास्तीक्ष्णा विस्फुटिताननाः।
बिम्बीखर्जूरकर्कन्धूकार्पासीफलसन्निभाः ॥११॥
केचित्कदम्बपुष्पाभाः केचित्सिद्धार्थकोपमाः।
शिरःपार्श्वांसकट्यूरुवङ्क्षणाद्यधिकव्यथाः ॥१२॥ [वा० ३।७]
क्षवथूद्गारविष्टम्भहृद्ग्रहारोचकप्रदाः।
कासश्वासाग्निवैषम्यकर्णनादभ्रमावहाः ॥१३॥ [वा० ३।७]
तैरार्तो ग्रथितं स्तोकं सशब्दं सप्रवाहिकम्।
रुक्फेनपिच्छानुगतं विबद्धमुपवेश्यते ॥१४॥ [वा० ३।७]
कृष्णत्वङ्नखविण्मूत्रनेत्रवक्त्रश्च जायते।
गुल्मप्लीहोदराष्ठीलासंभवस्तत एव च ॥१५॥ [वा० ३।७]

वातोल्वण अर्श के मस्से स्रावरहित, चिमचिमाहट वाले होते हैं, वे छोटे, श्याव वा अरुण वर्ण, वा कठिन, वा अपिच्छिल, वा कर्कश, वा ककोड़े के फल, के समान अनेक छोटे २ कण्टकों से युक्त, वा परस्पर विभिन्नरूप, वा धनुष की तरह टेढ़े वा बारीक नोक वाले, वा फटे मुख वाले और कन्दूरी फल, खजूर फल, छोटे बेर वा वनकपासीफल के समान होते हैं; कोई कदम्ब पुष्प के और कोई सर्षप के समान लघु होते हैं। सिर, पार्श्व, कंधे, कटि, आदि में पीड़ाकारक; छींकें, उद्गार, मलावरोध, हृत्पीड़ा, अरोचक,

विषमाग्नि, कर्णनाद और भ्रम को भी करते हैं। इनसे दुःखित रोगी पाषाण की तरह कठिन सुद्दों वाले, थोड़े से मल को शब्द और प्रवाहिका के साथ पीड़ा, झाग और द्रव के सहित त्यागता है। इसमें रोगी की त्वचा, नाखून, विष्ठा, मूत्र, नेत्र और मुख काला हो जाता है, और इसी वातार्श से गुल्म, प्लीहावृद्धि, उदर रोग और अष्ठीलारोग हो जाता है।

मधु०—पूर्वं निदानमुक्तम्, संप्रति वातादिभेदेनार्शसां लक्षणान्युच्यन्ते, तत्र प्रथमं वातार्शोलक्षणमाह–गुदेत्यादि।—गुदाङ्कुरा गुदे अङ्कुराकारा मांसप्ररोहाः, त एव अर्शांसि। वह्वनिला वातोल्बणाः। शुष्काः स्रावरहिताः। चिमचिमा वेदनाविशेषः। म्लाना अनुपचिताः। स्तब्धाः काठिन्यात्। विशदा अपिच्छिलाः, धूलिस्पर्शवत्। परुषाः कर्कशाः, गोजिह्वास्पर्शवत्। खराः कर्कोटफलवत्सूक्ष्मानेककण्टकान्विताः। एषु विकल्पेषु वक्ष्यमाणं केचिदिति पदं संबन्धनीयम्। मिथोविसदृशाः परस्परभिन्नरूपाः। वक्रा धनुःकाष्ठादिवत्। तीक्ष्णाः सूक्ष्माग्राः। फलसन्निभा इति बिम्ब्यादिभिः संबध्यते, बिम्ब्यादिसन्निभत्वं चाकृत्या ज्ञेयम्। बिम्बी ओष्ठोपमफला, 'तेलाकुचा' इति लोके ख्याता, कार्पासी वनकार्पासी, कदम्बपुष्पाभाः स्थूला अनेकसूक्ष्मशिखराः। सिद्धार्थकोपमाः सूक्ष्मपिडकारूपाः। हृदयं गृहीतमिवेति वेदना हृद्ग्रहः। ग्रथितं ग्रन्थिलं पाषाणवत्। रुक् शूलम्। पिच्छा पिच्छिलो द्रवभागः। उपवेश्यते वर्चस्त्याज्यते। कृष्णशब्दस्त्वगादिभिर्वक्त्रान्तैः प्रत्येकं संबध्यते। अस्योपद्रवमाह—गुल्मेत्यादि। अष्ठीला वातरोगविशेषः ॥१०–१५॥

पैत्तिकगुदगदस्य लक्षणमाह—

पित्तोत्तरा नीलमुखा रक्तपीतासितप्रभाः।
तन्वस्रस्राविणो विस्रास्तनवो मृदवः श्लथाः ॥१६॥ [वा० ३।७]
शुकजिह्वायकृत्खण्डजलौकोवक्त्रसन्निभाः।
दाहपाकज्वरस्वेदतृण्मूर्च्छारुचिमोहदाः ॥१७॥ [वा० ३।७]
सोष्माणो द्रवनीलोष्णपीतरक्तामवर्चसः।
यवमध्या हरित्पीतहारिद्रत्वङ्नखादयः ॥१८॥ [वा० ३।७]

पित्तोल्बण गुदांकुर नीलमुख, रक्त, लाल पीली वा काली कान्ति वाले होते हैं। उनमें जरा २ पतला रक्त भी निकलता है, और वे आम गन्धि वाले, छोटे, कोमल तथा ढीले होते हैं। उनकी आकृति तोते की जीभ वा यकृत के खण्ड अथवा जोंक के मुख जैसी होती है। वे दाह, पाक, ज्वर, पसीना, प्यास, मूर्च्छा (मनोमोह), अरुचि और मोह (इन्द्रियमोह) को उत्पन्न करते हैं; उनका स्पर्श उष्ण होता है और उनमें पतला, नीलवर्ण, उष्ण वा पीत अथवा रक्तवर्ण का आम शौच आता है। उनमें से कई जौं के मध्यभाग की तरह स्थूल मध्यभाग वाले होते हैं। इस रोग में रोगी के त्वचा, नख, नयन, मल, मूत्र, मुख आदि हरे पीले वा हल्दी के से वर्ण वाले हो जाते हैं।

मधु०—पित्तार्शोलक्षणमाह—पित्तोत्तरा इत्यादि। नीलमुखा नीलाग्राः। तनु अघनम् अस्रं रक्तं, स्रवन्तीति तन्वस्रस्राविणः। विस्रा आमगन्धिनः। तनवः स्वल्पाः। मृदवः कोमलाः।

श्लथा लम्बनशीला: । यवमध्या: यववन्मध्ये स्थूला: । हरितपत्रवर्णं, पीतं हरितालाभं, हारिद्रं हरिद्रावर्णम्; आदिशब्दाद्दिग्मूत्रनेत्रवक्त्राणां ग्रहणम् ॥१६-१८॥

श्लैष्मिकगुदगदस्य लक्षणं दर्शयति—

श्लेष्मोल्बणा महामूला घना मन्दरुजः सिताः ।
उत्सन्नोपचितस्निग्धस्तब्धवृत्तगुरुस्थिराः ॥१९॥ [वा० ३।७]
पिच्छिलाः स्तिमिताः श्लक्ष्णाः कण्ड्वाढ्याः स्पर्शनप्रियाः ।
करीरपनसास्थ्याभास्तथा गोस्तनसन्निभाः ॥२०॥ [वा० ३।७]
वङ्क्षणानाहिनः पायुबस्तिनाभिविकर्षिणः ।
सश्वासकासहृल्लासप्रसेकारुचिपीनसाः ॥२१॥ [वा० ३।७]
मेहकृच्छ्रशिरोजाड्यशिशिरज्वरकारिणः ।
क्लैब्याग्निमार्दवच्छर्दिरामप्रायविकारदाः ॥२२॥ [वा० ३।७]
वसाभसकफप्रायपुरीषाः सप्रवाहिकाः ।
न स्रवन्ति न भिद्यन्ते पाण्डुस्निग्धत्वगादयः ॥२३॥ [वा० ३।७]

श्लेष्मा से उत्पन्न अर्श बड़ी मूल (जड़ों) वाली, घनी, अल्पपीड़ा युक्त, श्वेत वर्ण, उठी हुई, मोटी, स्तब्ध, गोल, भारी, अचञ्चल, पिच्छिल, मन्द, श्लक्ष्ण, अधिक कण्डूवाली, खुजाने से सुखप्रद, करीर वा पनस की अस्थि के समान अथवा बांस के अंकुर वा कटहल की गुठली के समान, वा दाख के समान होती हैं। वे वंक्षण प्रदेश में अफारा सा करती हैं; गुदा, बस्ति और नाभि में पीड़ा करती हैं; श्वास, कास, हृल्लास, मुख प्रसेक, गुद प्रसेक, अरुचि, पीनस, प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, शिर में जकड़ाहट, शीतज्वर, नपुंसकता, अग्निमान्द्य, वमन और अतीसार ग्रहणी आदि आमरोग करती हैं। इस रोग में मल, वसा के समान कफ के सहित प्रवाहिका रूप में आता है। मस्से क्लेद वा रक्तादि का स्रवण नहीं करते और फूटते भी नहीं हैं। इसमें त्वचा नख, मुख, नेत्र और मल मूत्रादि पाण्डु (श्वेत पीत) तथा स्निग्ध हो जाते हैं।

मधु०—श्लेष्मार्शोलक्षणमाह—श्लेष्मोल्बणा इत्यादि । अत्र गुदाङ्कुरा इत्यनुवर्तते । महामूला दूरवास्त्ववगाहिनः[1] । घना निबिडावयवा: । उत्सन्ना दैर्घ्येणोद्गता:, उपचिता: परिणाहेन स्थूला:, स्तब्धा अनम्रा:, वृत्ता: परिणाहेन वर्तुला:, गुरवो गुरुद्रव्याक्रान्तमिव गुदं कुर्वते, स्थिरा अचञ्चला: । श्लक्ष्णा मणिवन्मसृणा: । कण्ड्वाढ्या: कण्डूबहुला:; कण्ड्व्यपगमार्थं स्पृश्यमाना: प्रीणयन्त्यर्शसमिति स्पर्शनप्रिया: । करीरो मरुजद्रुम:, पनस: कण्टकिफलं, तयोरस्थ्याभा:, अथवा करीरो वंशाङ्कुर:; तेन करीराभा:, पनसास्थ्याभाश्चेत्यर्थ: । तथा गोस्तनसन्निभा: गोस्तन-सदृशा इत्यर्थ: । वङ्क्षणौ आनद्धुं बद्धुमिव शीलं येषां ते तथा, गुदप्रत्यासत्त्या वङ्क्षणयो: प्रेरणादयसामर्थ्यकारिण इत्यर्थ: । पायुबस्तिनाभिविकर्षिण इति पाय्वादिष्वाकर्षवत्पीडाकारिण: ।

१ दूरपातवगाहिनः.

प्रसेको मुखस्य गुदस्य वा। कृच्छ्रं मूत्रकृच्छ्रं, शिरोजाड्यं शिरःस्तिमितता, शिशिरज्वरकारिणः शीतज्वरकारिणः। क्लैब्यं स्त्रीष्वनुत्साहः, अग्निमार्दवं वह्निमान्द्यं, छर्दिर्वमिः। आमप्रायविकारदाः आमबहुला ये रोगा अतीसारग्रहण्यादयस्तत्प्रदाः। प्रायःस्थाने 'प्राज्य' इति पाठान्तरे स एवार्थः, प्रायःप्राज्यशब्दयोः प्रचुरार्थत्वात्। वसाभं च सकफं च प्राज्यं च पुरीषं येषां ते तथा। न स्रवन्ति 'क्लेदरक्तादिकम्' इति शेषः। न भिद्यन्ते गाढविट्क्प्रपीडिता अपि न विदीर्यन्त इति॥१९-२३॥

त्रिदोषजस्य सहजस्य च गुदगदस्य लक्षणमाह—

सर्वैः सर्वात्मकान्याहुर्लक्षणैः सहजानि च।

वातादि अर्शों में होने वाले सभी लक्षण जिस अर्श में हों वह सान्निपातिक अर्श होती है और त्रिदोषज होने से सहजार्श भी उन्हीं लक्षणों से युक्त होती है।

मधु०—सन्निपातार्शसः सहजार्शसश्च लक्षणमाह—सर्वैरित्यादि।—सर्वैर्वातजाद्यर्शोभवैर्लक्षणैः, सर्वात्मकानि त्रिदोषजानि, तथा तैरेव लक्षणैः सहजान्यप्याहुः, तेषामपि त्रिदोषजत्वात्।

रक्तार्शसो लक्षणमाह—

रक्तोल्बणा गुदे कीलाः पित्ताकृतिसमन्विताः॥२४॥ [वा० ३।७]
वटप्ररोहसदृशा गुञ्जाविद्रुमसन्निभाः।
तेऽत्यर्थं दुष्टमुष्णं च गाढविट्कप्रपीडिताः॥२५॥ [वा० ३।७]
स्रवन्ति सहसा रक्तं तस्य चातिप्रवृत्तितः।
भेकाभः पीड्यते दुःखैः शोणितक्षयसंभवैः॥२६॥ [वा० ३।७]
हीनवर्णबलोत्साहो हतौजाः कलुषेन्द्रियः।
विट् श्यावं कठिनं रूक्षमधोवायुर्न वर्तते॥२७॥ [वा० ३।७]

रक्तोल्बण गुदाङ्कुर पित्त के लक्षणों के समान लक्षणों वाले होते हैं, तथा कई वटाङ्कुर के सदृश, कई रत्तियों के तुल्य और कई मूंगे (प्रवाल) जैसे होते हैं। कठोर मल के सुद्दे से पीडित होने पर वे सहसा दूषित उष्ण रक्त को अधिक मात्रा में छोड़ते हैं। जब रक्त अत्यधिक मात्रा में निकल जाता है तो मनुष्य मेंढ़क की सी पीली कान्ति वाला होकर रक्त क्षय से होने वाले सुश्रुत सूत्र अध्याय १५ में कहे 'त्वचा में कठोरता, अम्ल और ठण्डे पदार्थों की इच्छा, तथा शिराओं का शिथिल हो जाना' इन लक्षणों से भी युक्त हो जाता है। इस रोग से ग्रस्त हीनबल, हीनवर्ण और हीन उत्साह वाला व्याकुलेन्द्रिय मनुष्य श्याववर्ण, कठिन और रूक्ष मल त्यागता है, उसकी अपानवायु शुद्ध नहीं होती।

मधु०—रक्तार्शोलक्षणमाह—रक्तोल्वणा इत्यादि। गुदे कीलाः कीलवत् कीलाः अर्शांसि, 'हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्'—(पा. अ. ६. पा. ३ सू. ९) इत्यलुक्समासः। पित्ताकृतिसमन्विताः पैत्तिकार्शोलक्षणयुक्ताः। विद्रुमसन्निभाः प्रवालमणिवल्लोहिता इत्यर्थः। ते गाढविट्कप्रपीडिताः कठिनपुरीषयन्त्रिताः, दुष्टम् आविलम्, उष्णं च रक्तं स्रवन्ति। तस्येति रक्तस्य, अति-

प्रवृत्तितोऽतिक्षयात्, भेकाभः प्रावृषेण्यवर्षाभ्वाभः पीतच्छविः, 'पुरुष:' इति शेषः। दुःखैः रोगैः। शोणितक्षयसंभवैरिति त्वक्पारुष्याम्लशीतप्रार्थनासिराशैथिल्यैः सुश्रुतोक्तैः (सु. सू. स्था. अ. १५)। बलं स्थौल्यम्, उत्साहो हर्षः। हतौजाः हतशक्तिः। कलुषेन्द्रिय आविलचक्षुः, व्याकुलसर्वेन्द्रियो वा। विट् श्यावमिति विट्शब्दो नपुंसकोऽप्यस्ति, एतन्निर्देशादेव। काश्मीरास्तु चरके—"विट् श्यावा कठिना रूक्षा"—इत्येव पठन्ति। अधोवायुर्न वर्तते गुदेन, प्रतिलोमगत्वात् ॥२४–२७॥

अस्य (रक्तार्शसः) वाताद्यनुबन्धभेदेन लक्षणान्याह—

तनु चारुणवर्णं च फेनिलं चासृगर्शसाम्।
कट्यूरुगुदशूलं च दौर्बल्यं यदि चाधिकम् ॥२८॥
तत्रानुबन्धो वातस्य हेतुर्यदि च रूक्षणम्।
शिथिलं श्वेतपीतं च विट् स्निग्धं गुरु शीतलम् ॥२९॥
यद्यर्शसां घनं चासृक् तन्तुमत्पाण्डु पिच्छिलम्।
गुदं सपिच्छं स्तिमितं गुरु स्निग्धं च कारणम्।
श्लेष्मानुबन्धो विज्ञेयस्तत्र रक्तार्शसां बुधैः ॥३०॥

यदि रक्तार्श का कारण रूक्ष पदार्थ हो तथा रक्तार्श से स्रवित होने वाला रक्त पतला, अरुण और झागवाला हो, और रोगी को कटि, ऊरु और गुदा में पीड़ा हो एवं उसमें दुर्बलता अत्यधिक हो तो वहां (रक्तार्श में) वायु का सम्बन्ध जानना चाहिये। एवं यदि रक्तार्श का कारण गुरु और स्निग्ध पदार्थ हों तथा रोगी का मल शिथिल, श्वेत वा पीत, स्निग्ध, भारी वा शीतल हो और रक्तार्श से स्रवित होने वाला रक्त गाढ़ा, तन्तुयुक्त, पाण्डुवर्ण, और पिच्छिल हो: एवं रोगी की गुदा गीली और निश्चल हो तो वहां श्लेष्मा का सम्बन्ध जानना चाहिये।

मधु०—इदानीं तस्यैव रक्तार्शसो निदानस्य रक्तस्य वातादिभेदेन लक्षणमाह—तन्वित्यादि। तत्रानुबन्धो वातस्येति वातादिदुष्टस्यैव रक्तस्यारम्भकत्वान्नतु केवलस्य, दोषत्वाभावात्। शिथिलमित्यादिना कफानुबन्धस्य। ननु, पित्तानुबन्धः कुतो नोक्त इति? उच्यते, रक्तपित्तयोः प्रायः समानलिङ्गत्वात्। उक्तं च पूर्वं 'रक्तोल्बणा गुदे कीलाः पित्ताकृतिसमन्विताः'—इति ॥२८–३०॥

रक्तार्श में वात और कफ के अनुबन्ध की तरह पित्त का अनुबन्ध क्यों नहीं कहा? चूंकि रक्त और पित्त के लक्षण परस्पर समान होते हैं, जैसे पूर्व कहा भी है कि रक्तोल्बण पित्त के लक्षणों जैसे होते हैं, अतः उनका पृथक् निर्देश अनावश्यक है, इस कारण पित्तानुबन्ध निर्देश स्फुट नहीं किया।

अर्शसां पूर्वरूपं निरूपयति—

विष्टम्भोऽन्नस्य दौर्बल्यं कुक्षेराटोप एव च।
कार्श्यमुद्गारबाहुल्यं सक्थिसादोऽल्पविट्कता ॥३१॥ [च० ६।१४]

ग्रहणीदोषपाण्डूर्तैराशङ्का चोदरस्य च।
पूर्वरूपाणि निर्दिष्टान्यर्शसामभिवृद्धये ॥३२॥ [च० ६।१४]

अन्न का विष्टब्ध होकर जीर्ण होना, शरीर में दुर्बलता होनी, कुक्षि में फुलाव होना, अङ्गों का कृश होना, उद्गारों का अधिक आना, जांघों में पीड़ा होनी, मल का थोड़ा आना, ग्रहणी दोष युक्त पाण्डु रोग की वा उदर रोग की आशंका होनी ये अर्श के पूर्व लक्षण हैं।

मधु०—पूर्वरूपमाह—विष्टम्भ इत्यादि। विष्टम्भोऽन्नस्येति विष्टम्भ्यान्नस्य जीर्णतागमनम्, आहारो विष्टब्ध आमाशय एवावतिष्ठते, वातवैगुण्यात्। दौर्बल्यं हीनशक्तिता। 'विष्टम्भोऽङ्गस्य' इति पाठान्तरे विष्टम्भो मलस्य, अङ्गस्य दौर्बल्यम्। यद्यपि निदानानन्तरं पूर्वरूपं वक्तव्यं भवति, तथाऽपि निदानलक्षणानन्तरमत्र पूर्वरूपं; निदानलिङ्गयोश्चिकित्साङ्गतमत्वप्रतिपादनार्थम् तयोः पूर्वमभिधानं; अथवाऽवश्यवक्तव्यानां कामचारादभिधानमिति। एवमन्यत्रापि व्यतिक्रमे द्रष्टव्यम्। कुक्षेराटोपो गुडगुडाशब्द इति चक्रः, तनतनीति गुणाकरः; रुजापूर्वकः क्षोभ इति गदाधरः, पुरीषवृद्धिलक्षणे च आटोपमाध्मानमिति विवृतवान्; एतच्च न, सर्वत्र गुल्मपूर्वरूपे आटोपाध्मानयोरुभयोरपि पाठात्। उद्गारबाहुल्यमधोनिरुद्धस्य वायोरूर्ध्वगमनात्। सक्थिसादो जङ्घावसादः। ग्रहणीदोषपाण्ड्वर्तैः ग्रहणीदोषयुक्तपाण्डुरोगस्य उदरस्य चाशङ्का, तेषां लक्षणादर्शनात्। 'ग्रहणीदोषपाण्ड्वर्तिः' इति पाठान्तरे ग्रहणीदोषस्य पाण्डोः पाण्डुरोगस्य चार्तिः पीडा स्यात्। अभिवृद्धये उत्पत्त्यर्थमिति ॥३१,३२॥

यद्यपि पूर्वरूप का निर्देश निदान के बाद ही करना उचित होता है और किया भी जाता है, परन्तु फिर भी प्रकृत में निदान और लक्षण के अनन्तर पूर्वरूप का निर्देश निदान और लक्षण को चिकित्सा का अति विशेष अङ्ग बताने के लिये किया है; अथवा जिस बात का कहना अत्यन्त आवश्यक होता है वहां क्रम की अवहेलना कर स्वतन्त्रतापूर्वक आगे वा पीछे भी उसको कहा जाता है, और इसी के अनुसार आचार्य ने यहां लिङ्ग को पूर्वरूप से पहले कहा है। एवं अन्यत्र भी जहां क्रम भङ्ग हो, यही समाधान करना चाहिये।

गुदगदस्य पञ्चात्ममारुतादिदुष्ट्या सर्वदेहकष्टकरत्वं साधयति—

पञ्चात्मा मारुतः पित्तं कफो गुदवलित्रयम्।
सर्व एव प्रकुप्यन्ति गुदजानां समुद्भवे ॥३३॥ [च० ६।१४]
तस्मादर्शांसि दुःखानि बहुव्याधिकराणि च।
सर्वदेहोपतापीनि प्रायः कृच्छ्रतमानि च ॥३४॥ [च० ६।१४]

गुदांकुरों के उत्पन्न होने पर हृदयस्थ प्राण, गुदस्थ अपान, नाभिस्थ समान, कण्ठस्थ उदान और सर्वदेहचर व्यान, यह पांच स्वरूपों वाला वायु; तथा नेत्रस्थ आलोचक, यकृत्प्लीहस्थ रञ्जक, हृदस्थ साधक, ग्रहणीकलास्थ पाचक, और त्वक्स्थ भ्राजक ये पाँच प्रकार का पित्त और हृदयस्थ अवलम्बक, आमाशयस्थ क्लेदक,

१ हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः। उदानः कण्ठदेशे स्याद्व्यानः सर्वशरीरगः॥

जिह्वास्थ बोधक, शिरःस्थ तर्पक और सन्धिस्थ श्लेष्मक, यह पांच प्रकार का कफ तथा गुदा की प्रवाहणी, विसर्जनी और संवरणी नामक तीनों वलियाँ, ये सभी (उपर्युक्त) वस्तुएँ प्रकुपित हो जाती हैं। कई आचार्य पांच २ प्रकार के वात पित्त और कफ यह सभी गुदवलि त्रय को प्राप्त कर प्रकुपित हो जाते हैं, इस प्रकार की व्याख्या करते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि उक्त पाँचों दोष प्रकोप के विना अपने स्थान को नहीं छोड़ते अतः वे वहां नहीं आ सकते। यदि प्रकुपित होकर गुदवलियों में आते हैं तो प्रकोप का पुनः प्रकोप क्या होगा ? कई आचार्य 'गुदवलित्रये' यह पाठ पढ़कर कहते हैं कि सभी दोष तीनों वलियों में प्रकुपित होते हैं, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि प्राण और उदानवायु तथा आलोचक पित्त एवं शिरःस्थ तर्पक कफ दूर होने से वहां आकर प्रकुपित नहीं हो सकते। दूसरा स्थानान्तर गमन प्रकुपित दोषों का ही होता है, अप्रकुपित दोषों का नहीं। अतः अन्य स्वरूप भेद से भिन्न दोष भी गुदवलित्रय में आकर प्रकुपित नहीं हो सकते। यदि वहां आकर ही प्रकुपित हों तो पूर्व गुदांकुर कैसे हुए ? यदि पूर्व प्रकुपित ही आकर प्रकुपित होते हैं तो प्रकुपितों का प्रकोप क्या ? अन्य आचार्य कहते हैं कि गुदवलित्रय में गुदाङ्कुरों की उत्पत्ति होने पर पांच २ प्रकार के सभी दोष प्रकुपित होते हैं, यह मन्तव्य भी सर्वांश में ठीक नहीं है। क्योंकि अर्श वा गुदांकुर गुदवलित्रय में होते हैं, यह तो सिद्धान्तरूप से पूर्व कह ही दिया है। अतः पुनः 'गुदवलित्रय' में गुदजों के उत्पन्न होने पर यह कहना व्यर्थ है। साथ 'गुदज' शब्द 'सप्तम्यां जनेर्डः' (पाणिनीय सूत्र) से सिद्ध होने के कारण स्वयं उस अर्थ को बता रहा है, पुनः 'गुदवलित्रये' यह कहना व्यर्थ है। इस प्रकार चूंकि गुदांकुरों के उत्पन्न होने पर पाँच प्रकार का वातादि दोष और तीन वलियां यह सभी प्रकुपित हो जाते हैं, इसलिये अर्श रोग दुःखदायी, बहुत सी व्याधियों को करने वाले, समस्त शरीर को पीड़ा कारक तथा प्रायः कृच्छ्रसाध्य होते हैं। यहां प्रायः शब्द से असाध्यता तथा साध्यता का भी भान होता है। इसमें नखादि के कृष्ण आदि होने में यही कारण है कि वातादि दुष्ट हो जाते हैं जिससे वे सभी प्रकार के यथासम्भव उपद्रव करते हैं, जिनसे नख नेत्र आदि काले आदि अनेक रंग के हो जाते हैं। जैसा कहा भी है—'योऽनिलो वक्त्रसञ्चारी स प्राणो नाम देहधृक्। सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तः प्राणाँश्चैवावलम्बते। कुपितः कुरुते चापि हिक्काश्वासादिकान् गदान्॥ उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तमः। तेन भाषितगीतादि विशेषश्चाभिवर्तते। ऊर्ध्वजत्रुगतान् रोगान् करोति कुपितश्च सः॥ आमपक्वाशयचरः समानोऽग्निसहायवान्। अन्नं पचति तज्जांश्च विकारान् प्रव्यनक्ति सः। गुल्माग्निसादातीसारान्प्रदुष्टश्च करोति सः॥ पक्वाशयाश्रयोऽपानः काले कर्षति चाप्यधः। वातमूत्रपुरीषाणि शुक्रगर्भार्तवानि च। क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् घोरान्वस्तिगुदाश्रय सर्वदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः। स्वेदासृक्स्रावणश्चापि पञ्चधा

यत्यपि ।। क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् प्रायशः सर्वदेहगान् । शुक्रदोषाः प्रमेहाश्च व्यानापानप्रकोपजाः । युगपत्कुपिताश्चामी देहं भिन्द्युरसंशयम् ।।' ये पांच प्रकार की वायु के स्थान, कार्य और रोग हैं । एवम्—"पाचकं भ्राजकश्चैव रञ्जकालोचके तथा । साधकं चैव पञ्चैव पित्तनामान्यनुक्रमात् ।।" इससे प्रतिपादित पांच प्रकार के पित्त तथा "उरः कण्ठः शिरः सन्धिपर्वाण्यामाशयो रसः । मेदो घ्राणं च जिह्वा च कफस्थानमुरो भृशम् ।।" इस प्रकार कहे हुए पाँच प्रकार के कफ के भी संहिता ग्रन्थों में रोग देख लेने । यहां तो विस्तारभय से उनका निर्देश नहीं किया जाता।

मधु०—ननु, गुददेशदुष्ट्या गुदजस्योत्पादात्कथं सर्वदेहे कृशत्वकृष्णत्वादिरूपा दुष्टिरित्यत आह—पञ्चात्मेत्यादि । पञ्चात्मा पञ्चस्वरूपः, प्राणापानसमानोदानव्यानभेदात्; एवं लिङ्गविपरिणामात् पञ्चात्मकत्वं पित्तेऽपि योज्यम्, पित्तं ह्यालोचकरञ्जकसाधकपाचकभ्राजकभेदाद्भिन्नम्, एवं कफोऽपि पञ्चात्मा, हृदयामाशयजिह्वाशिरःसन्धिषु क्रमेणावलम्बकक्लेदकबोधकतर्पकश्लेष्मकभेदात् । यदाह गौतमः–"श्लेष्मा पञ्चविधोरःस्थः श्लेष्मकादिस्वकर्मणा । कफधाम्नां च सर्वेषां यत् करोत्यवलम्बनम् ॥ अतोऽवलम्बकः,श्लेष्मा यस्त्वामाशयसंश्रितः। क्लेदकः सोऽन्नसंघातक्लेदनात्, रसबोधनात् ॥ बोधको रसनास्थस्तु, शिरःसंस्थोऽक्षतर्पणात्। तर्पकः, श्लेष्मकः सम्यक् श्लेषणात्सन्धिषु स्थितः॥" इति। गुदवलित्रयस्य च प्रकोपो विकृतत्वं, प्रवाहणादिस्वकार्याकर्तृत्वं च । गुदवलित्रये इति पाठान्तरं न युक्तं, तत्र प्राणोदानयोः सन्निधानस्याप्यभावात्, वलिदुष्टेरप्राप्तेश्च । सर्वे एवेति उक्तमारुतादय एवेति । बहुव्याधिकराणीति जठराग्निमान्द्याद्युपद्रवकराणि । प्रायः कृच्छ्रतमानीति प्रायोग्रहणादसाध्यानि सुखसाध्यान्यपि ॥३३,३४॥

(यदाह गौतम इति—) पाँच प्रकार का श्लेष्मा अपने श्लेष्मक आदि कर्म से सभी कफस्थानों का अवलम्बन करता है, अतः अवलम्बक कहलाता है; जो श्लेष्मा आमाशय में रहता है वह अन्नसंघात का क्लेदन करने से क्लेदक कहलाता है; एवं रस का ज्ञान (बोधन) कराने के कारण रसना (जिह्वा) में स्थित कफ बोधक, इन्द्रियों को तृप्त (पुष्ट) करने के कारण शिरःस्थ श्लेष्मा तर्पक और सन्धियों को भली प्रकार संश्लिष्ट करने (जुड़ा रखने) के कारण सन्धिस्थ श्लेष्मा श्लेष्मक कहलाता है । शेष मूल की व्याख्या में आ चुका है । वहीं से देख लें ।

अर्शसां प्रत्याख्येयतादिकमवतारयति—

बाह्यायां तु वलौ जातान्येकदोषोल्बणानि च ।
अर्शांसि सुखसाध्यानि न चिरोत्पतितानि च ॥३५॥ [च० ६।१४]
द्वन्द्वजानि द्वितीयायां वलौ यान्याश्रितानि च ।
कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहुः परिसंवत्सराणि च ॥३६॥ [च० ६।१४]
सहजानि त्रिदोषाणि यानि चाभ्यन्तरां वलिम् ।
जायन्तेऽर्शांसि संश्रित्य तान्यसाध्यानि निर्दिशेत् ॥३७॥ [च० ६।१४]

जो अर्श बाहर की संवरणी नामक प्रथमा वलि में हो, जिसमें केवल एक दोप की ही उल्बणता हो तथा जो थोड़े ही समय से उत्पन्न हुई हो, वह सुखसाध्य

१ गुदजं स्यात्, गुदस्योपादानात्कथं.

होती है; एवं जो अर्श द्वन्द्वोल्वण से उत्पन्न वा दूसरी विसर्जनी नामक वलि में आश्रित, एवं एक वर्ष की पुरानी हो, वह कृच्छ्रसाध्य होती है। इसी प्रकार जो अर्श सहज वा तीनों दोषों से उत्पन्न आभ्यन्तरिक प्रवाहणी नामक तीसरी वलि को आश्रित कर उत्पन्न हुई हो, वह असाध्य होती है।

मधु०—उक्तवाताद्यर्शसां साध्यत्वादिकमाह—बाह्यायामित्यादि । नचिरोत्पतितानीति अनतिक्रान्तसंवत्सराणि । परिसंवत्सराणीति परिगतोऽतिक्रान्तः संवत्सरो यैस्तानि तथा । यानि तु बाह्यवलिजातानि द्विदोषोल्वणानि तानि कृच्छ्राणि, त्रिदोषजानि याप्यानीत्युक्तम्, एवं द्वितीयायामेकदोषोल्वणानि कृच्छ्राणि, द्विदोषोल्वणानि याप्यानि, त्रिदोषोल्वणान्यसाध्यानि; एवं तृतीयायामेकदोषोल्वणानि याप्यानि, शेषाण्यसाध्यानि । यद्याप्यं प्रत्याख्येयं वा तद्दोषवलिभेदेऽप्यसाध्यमेव, यदुक्तं चरकेण-"नासाध्यः साध्यतां याति साध्यो याति त्वसाध्यताम् ॥" (च. नि. स्था. अ. ८) इति ॥३५-३७॥

पहली (बाह्य) वलि में उत्पन्न दोषोल्वण अचिरोत्पन्न अर्श सुखसाध्य होती है, परन्तु यदि बाह्य वलि में द्विदोषोल्वण अर्श हो तो कृच्छ्रसाध्य और यदि त्रिदोषोल्वण अर्श हो तो याप्य होती है। एवं दूसरी वलि में यदि अर्श एकदोषोल्वण हो तो कृच्छ्रसाध्य, द्विदोषोल्वण हो तो याप्य और त्रिदोषोल्वण हो तो असाध्य होती है। इसी प्रकार तीसरी वलि में उत्पन्न अर्श यदि एकदोषोल्वण हो तो याप्य और द्विदोषोल्वण वा त्रिदोषोल्वण हो तो वह असाध्य होती है। जो याप्य वा प्रत्याख्येय हो वह दोष और वलियों के भेद होने पर भी असाध्य ही होती है। जैसे कहा भी है कि असाध्य रोग साध्य नहीं हो सकता। हाँ, साध्य रोग उपेक्षा करने से असाध्य हो जाता है। इसका वास्तविक अभिप्राय यह है कि तीसरी वलि में उत्पन्न एकदोषोल्वण अर्श याप्य, द्विदोषोल्वण और त्रिदोषोल्वण असाध्य होती है, ऐसा कहा है। यहां पहली तथा दूसरी वलि में दोषों के अनुसार साध्यादि जैसे कहा है उसके अनुसार ऐसा होना चाहिये था कि तीसरी वली में स्थित एकदोषोल्वण अर्श कृच्छ्रसाध्य, द्विदोषोल्वण याप्य और त्रिदोषोल्वण असाध्य होती है, परन्तु यहां ऐसा इसलिये नहीं कहा कि उत्तरोत्तर वलियों में कृच्छ्रता होने के कारण, पहली में एकदोषोल्वण से साध्य, दूसरी में एकदोषोल्वण से कृच्छ्रसाध्य और तीसरी में एकदोषोल्वण से याप्यता आ जाती है। एवं क्रमानुसार याप्यता आने से द्विदोषोल्वण और त्रिदोषोल्वण में इससे अधिकता ही होती है, और उससे अग्रिम अवस्था असाध्य है। अतः तीसरी वलि में द्विदोषोल्वण और त्रिदोषोल्वण दोनों ही असाध्य हैं इस कारण तथा याप्य असाध्य में भेद होने से तृतीय वलि में एकदोषोल्वण अर्श ही याप्य हो गई तो वह असाध्य है ही, अतः याप्य में कृच्छ्रसाध्य वा सुखसाध्यता नहीं आ सकती, क्योंकि असाध्यता से साध्यता नहीं हो सकती। यदि हो जाये तो उस अवस्था को असाध्य कहा ही नहीं जा सकता, कारण उनमें 'असाध्य' यह अभिधान डित्थ डवित्थ आदि की तरह रूढ़ि नहीं प्रत्युत कार्मनामिक (यौगिक) है। इसी लिये चरक ने कहा है कि—नासाध्यः। नहीं यहां तीसरी वलि में एकदोषोल्वण अर्श याप्य, द्विदोषोल्वण असाध्य और त्रिदोषोल्वण असाध्यतर होती है, ऐसा कहा जा सकता है। क्योंकि 'नत्वसाध्यानां नियतानां विकल्पना' (च. सू. स्था. अ. १०) असाध्यों में तरतमता आदि रूप भेद नहीं होता। यह प्रथमावलि में भी

होती है; एवं जो अर्श द्वन्द्वोल्बण से उत्पन्न वा दूसरी विसर्जनी नामक वलि में आश्रित, एवं एक वर्ष की पुरानी हो, वह कृच्छ्रसाध्य होती है। इसी प्रकार जो अर्श सहज वा तीनों दोषों से उत्पन्न आभ्यन्तरिक प्रवाहणी नामक तीसरी वलि को आश्रित कर उत्पन्न हुई हो, वह असाध्य होती है।

मधु०—उक्तवाताद्यर्शसां साध्यत्वादिकमाह—बाह्यायामित्यादि। नचिरोत्पतितानीति अनतिक्रान्तसंवत्सराणि। परिसंवत्सराणीति परिगतोऽतिक्रान्तः संवत्सरो यैस्तानि तथा। यानि तु बाह्यवलिजातानि द्विदोषोल्वणानि तानि कृच्छ्राणि, त्रिदोषजानि याप्यानीत्युक्तम्, एवं द्वितीयायामेकदोषोल्वणानि कृच्छ्राणि, द्विदोषोल्बणानि याप्यानि, त्रिदोषोल्वणान्यसाध्यानि; एवं तृतीयायामेकदोषोल्वणानि याप्यानि, शेषाण्यसाध्यानि। यद्याप्यं प्रत्याख्येयं वा तद्दोषवलिभेदेऽप्यसाध्यमेव, यदुक्तं चरकेण-"नासाध्यः साध्यतां याति साध्यो याति त्वसाध्यताम्॥" (च. नि. स्था. अ. ८) इति॥३५-३७॥

पहली (बाह्य) वलि में उत्पन्न दोषोल्बण अचिरोत्पन्न अर्श सुखसाध्य होती है, परन्तु यदि बाह्य वलि में द्विदोषोल्बण अर्श हो तो कृच्छ्रसाध्य और यदि त्रिदोषोल्बण अर्श हो तो याप्य होती है। एवं दूसरी वलि में यदि अर्श एकदोषोल्बण हो तो कृच्छ्रसाध्य, द्विदोषोल्बण हो तो याप्य और त्रिदोषोल्वण हो तो असाध्य होती है। इसी प्रकार तीसरी वलि में उत्पन्न अर्श यदि एकदोषोल्बण हो तो याप्य और द्विदोषोल्बण वा त्रिदोषोल्बण हो तो वह असाध्य होती है। जो याप्य वा प्रत्याख्येय हो वह दोष और वलियों के भेद होने पर भी असाध्य ही होती है। जैसे कहा भी है कि असाध्य रोग साध्य नहीं हो सकता। हाँ, साध्य रोग उपेक्षा करने से असाध्य हो जाता है। इसका वास्तविक अभिप्राय यह है कि तीसरी वलि में उत्पन्न एकदोषोल्बण अर्श याप्य, द्विदोषोल्बण और त्रिदोषोल्बण असाध्य होती है, ऐसा कहा है। यहां पहली तथा दूसरी वलि में दोषों के अनुसार साध्यादि जैसे कहा है उसके अनुसार ऐसा होना चाहिये था कि तीसरी वली में स्थित एकदोषोल्बण अर्श कृच्छ्रसाध्य, द्विदोषोल्बण याप्य और त्रिदोषोल्बण असाध्य होती है, परन्तु यहां ऐसा इसलिये नहीं कहा कि उत्तरोत्तर वलियों में कृच्छ्रता होने के कारण, पहली में एकदोषोल्बण से साध्य, दूसरी में एकदोषोल्बण से कृच्छ्रसाध्य और तीसरी में एकदोषोल्वण से याप्यता आ जाती है। एवं क्रमानुसार याप्यता आने से द्विदोषोल्बण और त्रिदोषोल्बण में इससे अधिकता ही होती है, और उससे अग्रिम अवस्था असाध्य है। अतः तीसरी वलि में द्विदोषोल्बण और त्रिदोषोल्बण दोनों ही असाध्य हैं इस कारण तथा याप्य असाध्य में भेद होने से तृतीय वलि में एकदोषोल्बण अर्श ही याप्य हो गई तो वह असाध्य है ही, अतः याप्य में कृच्छ्रसाध्य वा सुखसाध्यता नहीं आ सकती, क्योंकि असाध्यता से साध्यता नहीं हो सकती। यदि हो जावे तो उस अवस्था को असाध्य कहा ही नहीं जा सकता, कारण उनमें 'असाध्य' यह अभिधान डित्थ डवित्थ आदि की तरह रूढ़ि नहीं प्रत्युत कार्मनामिक (यौगिक) है। इसी लिये चरक ने कहा है कि—नासाध्यः। नहीं यहां तीसरी वलि में एकदोषोल्बण अर्श याप्य, द्विदोषोल्बण असाध्य और त्रिदोषोल्वण असाध्यतर होती है, ऐसा कहा जा सकता है। क्योंकि 'नत्वसाध्यानां नियतानां विकल्पना' (च. सू. स्था. अ. १०) के अनुसार असाध्यों में तरतमता आदि रूप भेद नहीं होता। यह प्रथमावलि में भी अर्श के होने

यत्यपि ॥ क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् प्रायशः सर्वदेहगान् । शुक्रदोषाः प्रमेहाश्च व्यानापानप्रकोपजाः । युगपत्कुपिताश्चामी देहं भिन्द्युरसंशयम् ॥' ये पांच प्रकार की वायु के स्थान, कार्य और रोग हैं । एवम्—"पाचकं भ्राजकञ्चैव रञ्जकालोचके तथा । साधकं चैव पञ्चैव पित्तनामान्यनुक्रमात् ॥" इससे प्रतिपादित पांच प्रकार के पित्त तथा "उरः कण्ठः शिरः सन्धिपर्वाण्यामाशयो रसः । मेदो घ्राणं च जिह्वा च कफस्थानमुरो भृशम् ॥" इस प्रकार कहे हुए पाँच प्रकार के कफ के भी संहिता ग्रन्थों में रोग देख लेने । यहां तो विस्तारभय से उनका निर्देश नहीं किया जाता।

मधु०—ननु, गुददेशदुष्ट्या गुदजस्योत्पादात्कथं सर्वदेहे कृशत्वकृष्णत्वादिरूपा दुष्टिरित्यत आह—पञ्चात्मेत्यादि । पञ्चात्मा पञ्चस्वरूपः, प्राणापानसमानोदानव्यानभेदात्; एवं लिङ्गविपरिणामात् पञ्चात्मकत्वं पित्तेऽपि योज्यम्, पित्तं ह्यालोचकरञ्जकसाधकपाचकभ्राजकभेदाद्भिन्नम्, एवं कफोऽपि पञ्चात्मा, हृदयामाशयजिह्वाशिरःसन्धिषु क्रमेणावलम्बकक्लेदकबोधकतर्पकश्लेष्मकभेदात् । यदाह गौतमः–"श्लेष्मा पञ्चविधोरःस्थः श्लेष्मकादिस्वकर्मणा । कफधाम्नां च सर्वेषां यत् करोत्यवलम्बनम् ॥ अतोऽवलम्बकः,श्लेष्मा यस्त्वामाशयसंश्रितः । क्लेदकः सोऽन्नसंघातक्लेदनात्, रसबोधनात् ॥ बोधको रसनास्थस्तु, शिरःसंस्थोऽक्षतर्पणात् । तर्पकः, श्लेष्मकः सम्यक् श्लेषणात्सन्धिषु स्थितः ॥" इति । गुदवलित्रयस्य च प्रकोपो विकृतत्वं, प्रवाहणादिस्वकार्याकर्तृत्वं च । गुदवलित्रये इति पाठान्तरं न युक्तं, तत्र प्राणोदानयोः सन्निधानस्याप्यभावात्, वलिदुष्टेरप्राप्तेश्च । सर्वे एवेति उक्तमारुतादय एवेति । बहुव्याधिकराणीति जठराग्निमान्द्याद्युपद्रवकराणि । प्रायः कृच्छ्रतमानीति प्रायोग्रहणादसाध्यानि सुखसाध्यान्यपि ॥३३,३४॥

(यदाह गौतम इति—) पाँच प्रकार का श्लेष्मा अपने श्लेष्मक आदि कर्म से सभी कफस्थानों का अवलम्बन करता है, अतः अवलम्बक कहलाता है; जो श्लेष्मा आमाशय में रहता है वह अन्नसंघात का क्लेदन करने से क्लेदक कहलाता है; एवं रस का ज्ञान (बोधन) कराने के कारण रसना (जिह्वा) में स्थित कफ बोधक, इन्द्रियों को तृप्त (पुष्ट) करने के कारण शिरःस्थ श्लेष्मा तर्पक और सन्धियों को भली प्रकार संश्लिष्ट करने (जुड़ा रखने) के कारण सन्धिस्थ श्लेष्मा श्लेष्मक कहलाता है । शेष मूल की व्याख्या में आ चुका है । वहीं से देख लें ।

अर्शसां प्रत्याख्येयतादिकमवतारयति—

> बाह्यायां तु वलौ जातान्येकदोषोल्बणानि च ।
> अर्शांसि सुखसाध्यानि न चिरोत्पतितानि च ॥३५॥ [च० ६।१४]
> द्वन्द्वजानि द्वितीयायां वलौ यान्याश्रितानि च ।
> कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहुः परिसंवत्सराणि च ॥३६॥ [च० ६।१४]
> सहजानि त्रिदोषाणि यानि चाभ्यन्तरां वलिम् ।
> जायन्तेऽर्शांसि संश्रित्य तान्यसाध्यानि निर्दिशेत् ॥३७॥ [च० ६।१४]

जो अर्श बाहर की संवरणी नामक प्रथमा वलि में हो, जिसमें केवल एक दोष की ही उल्बणता हो तथा जो थोड़े ही समय से उत्पन्न हुई हो, वह सुखसाध्य

१ गुदजं स्यात्, गुदस्योपादानात्कथं.

होती है; एवं जो अर्श द्वन्द्वोल्वण से उत्पन्न वा दूसरी विसर्जनी नामक वलि में आश्रित, एवं एक वर्ष की पुरानी हो, वह कृच्छ्रसाध्य होती है। इसी प्रकार जो अर्श सहज वा तीनों दोषों से उत्पन्न आभ्यन्तरिक प्रवाहणी नामक तीसरी वलि को आश्रित कर उत्पन्न हुई हो, वह असाध्य होती है।

मधु०—उक्तवातादर्शसां साध्यत्वादिकमाह—बाह्यायामित्यादि। नचिरोत्पतितानीति अनतिक्रान्तसंवत्सराणि। परिसंवत्सराणीति परिगतोऽतिक्रान्तः संवत्सरो यैस्तानि तथा। यानि तु बाह्यवलिजातानि द्विदोषोल्वणानि तानि कृच्छ्राणि, त्रिदोषजानि याप्यानीत्युक्तम्, एवं द्वितीयामेकदोषोल्वणानि कृच्छ्राणि, द्विदोषोल्वणानि याप्यानि, त्रिदोषोल्वणान्यसाध्यानि; एवं तृतीयायामेकदोषोल्वणानि याप्यानि, शेषाण्यसाध्यानि। यद्याप्यं प्रत्याख्येयं वा तद्दोषवलिभेदेऽप्यसाध्यमेव, यदुक्तं चरकेण-"नासाध्यः साध्यतां याति साध्यो याति त्वसाध्यताम्॥" (च. नि. स्था. अ. ८) इति॥३५-३७॥

पहली (बाह्य) वलि में उत्पन्न दोषोल्वण अचिरोत्पन्न अर्श सुखसाध्य होती है, परन्तु यदि बाह्य वलि में द्विदोषोल्वण अर्श हो तो कृच्छ्रसाध्य और यदि त्रिदोषोल्बण अर्श हो तो याप्य होती है। एवं दूसरी वलि में यदि अर्श एकदोषोल्बण हो तो कृच्छ्रसाध्य, द्विदोषोल्वण हो तो याप्य और त्रिदोषोल्वण हो तो असाध्य होती है। इसी प्रकार तीसरी वलि में उत्पन्न अर्श यदि एकदोषोल्वण हो तो याप्य और द्विदोषोल्वण वा त्रिदोषोल्बण हो तो वह असाध्य होती है। जो याप्य वा प्रत्याख्येय हो वह दोष और वलियों के भेद होने पर भी असाध्य ही होती है। जैसे कहा भी है कि असाध्य रोग साध्य नहीं हो सकता। हाँ, साध्य रोग उपेक्षा करने से असाध्य हो जाता है। इसका वास्तविक अभिप्राय यह है कि तीसरी वलि में उत्पन्न एकदोषोल्वण अर्श याप्य, द्विदोषोल्बण और त्रिदोषोल्बण असाध्य होती है, ऐसा कहा है। यहां पहली तथा दूसरी वलि में दोषों के अनुसार साध्यादि जैसे कहा है उसके अनुसार ऐसा होना चाहिये था कि तीसरी वली में स्थित एकदोषोल्बण अर्श कृच्छ्रसाध्य, द्विदोषोल्वण याप्य और त्रिदोषोल्वण असाध्य होती है, परन्तु यहां ऐसा इसलिये नहीं कहा कि उत्तरोत्तर वलियों में कृच्छ्रता होने के कारण, पहली में एकदोषोल्बण से साध्य, दूसरी में एकदोषोल्वण से कृच्छ्रसाध्य और तीसरी में एकदोषोल्बण से याप्यता का [illegible] एवं क्रमानुसार याप्यता आने से द्विदोषोल्वण और त्रिदोषोल्बण में इससे अधिकता ही होती है, और उससे अग्रिम अवस्था असाध्य है। अतः तीसरी वलि में द्विदोषोल्वण और त्रिदोषोल्वण दोनों ही असाध्य हैं इस कारण तथा याप्य असाध्य में भेद होने से तीसरी वलि में एकदोषोल्वण अर्श ही याप्य हो गई तो वह असाध्य है ही। अतः [illegible] कृच्छ्रसाध्य वा सुखसाध्यता नहीं आ सकती, क्योंकि असाध्यता से साध्यता नहीं हो सकती [illegible] यदि हो जावे तो उस अवस्था को असाध्य कहा ही नहीं जा सकता। कारण [illegible] यह [illegible] दित्थ डवित्थ आदि की तरह रूढ़ि नहीं प्रत्युत [illegible] है। इसी लिये चरक ने कहा है कि—नासाध्यः। नहीं यहां तीसरी वलि में [illegible] और साध्य, द्विदोषोल्वण असाध्य और त्रिदोषोल्बण असाध्यतर होती है, [illegible] सकता है। क्योंकि 'नत्वसाध्यानां नियतानां विकल्पना' ([illegible]) [illegible] असाध्यों में तरतमता आदि रूप भेद नहीं होता। [illegible]

पर द्विदोषोल्बणता आदि से कृच्छ्रासाध्यादि तथा द्वितीय वलि में द्विदोषोल्बणता आदि से याप्यादि रूप भाव 'बाह्यायाम्' इत्यादि श्लोकों से ही निकलता है ।

तेषामेव याप्यत्वमाह—

शेषत्वादायुषस्तानि चतुष्पादसमन्विते ।
याप्यन्ते दीप्तकायाग्नेः प्रत्याख्येयान्यतोऽन्यथा ॥३८॥ [च० ६।१४]

असाध्य के दो भेद होते हैं—एक याप्य और दूसरा प्रत्याख्येय । जैसे कहा भी है कि—'द्विविधं चाप्यसाध्यं स्याद्याप्यं यच्चानुपक्रमम्' (च. सू. स्था. अ. १०) । एवं पूर्वकृत्यानुसार आयु के शेष होने पर तथा रोगी, वैद्य, परिचारक और औषध के गुण[२] सम्पन्न होने पर दीप्तकायाग्नि मनुष्य (अर्शोरोगी) याप्य होता है और इससे विपरीत अर्थात् आयु के न होने पर वा चतुष्पाद के ठीक न होने पर अथवा कायाग्नि के दीप्त न होने पर रोगी (अर्शोरोगी) प्रत्याख्येय होता है । चतुष्पाद के गुण चरक ने (च. सू. स्था. अ. ६) तो प्रत्येक के चार २ गुण कहे हैं परन्तु सुश्रुत ने अधिक कहे हैं । यह सब वहीं से देखना चाहिये ।

मधु०—असाध्यो हि द्विविधो याप्यप्रत्याख्येयभेदात्, तत्र यद्यायुःशेषोऽस्ति चतुष्पादसंपत्तिश्च तदा याप्यत्वमन्यथा प्रत्याख्येयत्वमित्याह—शेषत्वादित्यादि । चतुष्पादसमन्विते 'अर्शोरोगिणि' इति शेषः । समन्वित इति भावे क्तः, तेन चतुष्पादसमन्वये सतीति चक्रः ॥३८॥

अर्शसामुपद्रवयोगेन प्रत्याख्येयतामाह—

हस्ते पादे मुखे नाभ्यां गुदे वृषणयोस्तथा ।
शोथो हृत्पार्श्वशूलं च यस्यासाध्योऽर्शसो हि सः ॥३९॥ [च० ६।१४]
हृत्पार्श्वशूलं संमोहश्छर्दिरङ्गस्य रुग्ज्वरः ।
तृष्णा गुदस्य पाकश्च निहन्युर्गुदजातुरम् ॥४०॥ [च० ६।१४]
तृष्णारोचकशूलार्तमतिप्रस्रुतशोणितम् ।
शोथातिसारसंयुक्तमर्शांसि क्षपयन्ति हि ॥४१॥

जिस अर्शोरोगी के हाथ, पाँव, नाभि, गुदा और वृषणों में शोथ हो जाती है, और जिसके हृदय और पार्श्व में पीड़ा होती है, वह असाध्य होता है । जिसके हृदय और पार्श्व में पीड़ा, और जो मूर्च्छा, वमन और अङ्गों में पीड़ा, ज्वर तृष्णा और गुदपाक से युक्त है, उस अर्शोरोगी को अर्श मार डालती है । यहां अंगरुक् से हृत्पार्श्वपीड़ा के प्राप्त हो जाने पर भी हृदय और पार्श्व में पीड़ा का पृथक् कहना विशेषता का द्योतक है । प्यास, अरोचक, शूल, इनसे दुःखित, अत्यधिक रक्त निकलने से क्षीण रक्त वाले, शोथ और अतिसार युक्त रोगी को बवासीर नष्ट कर देती है ।

---

१ भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम्. २ 'दक्षस्तीर्थात्तशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा शुचिर्भिषक् । बहुकल्पं बहुगुणं सम्पन्नं योग्यमौषधम् ॥ अनुरक्तः शुचिर्दक्षो बुद्धिमान् परिचारकः । आढ्यो रोगी भिषग्वश्यो ज्ञापकः सत्त्ववानपि ॥' ये भिषक् आदि के गुण हैं.

मधु०—उपद्रववादसाध्यत्वमाह—हस्त इत्यादि ।—हस्तपादादिशोथो मिलितोऽसाध्यलक्षणम् । अत्र हृत्पार्श्वशूलसंमोहादि व्यस्तं समस्तं वा ॥३९-४१॥

यहां हस्त पादादि शोथ यह मिलकर ही असाध्य लक्षण है और हृदय, पार्श्वशूल तथा संमोह आदि मिलकर भी और अकेले २ भी असाध्य लक्षण होते हैं ।

मेढ्राद्यर्शसां रूपाणि दर्शयति—

मेढ्रादिष्वपि वक्ष्यन्ते यथास्वं नाभिजानि च ।
गण्डूपदास्यरूपाणि पिच्छिलानि मृदूनि च ॥४२॥ [वा० ३।७]

मेढ्र नासा कर्ण आदि में होने वाली अर्श के लक्षण उन २ के रोग प्रसंग में कहे जावेंगे । जैसे सुश्रुत उत्तरतन्त्र अध्याय २० कर्णगतरोगविज्ञानीय अध्याय में 'तथैवार्शश्चतुर्विध' तथा सुश्रुत उत्तरतन्त्र अध्याय २२ नासागत रोग विज्ञानीय अध्याय में 'चत्वार्यर्शांसि:' यह कहा है, और नाभि में होने वाली अर्श का स्वरूप गण्डूपद (गन्डोए) के मुख के समान, पिच्छिल और मृदु होता है ।

मधु०—अथ मेढ्रजादीनां स्वरूपमाह—मेढ्रादिष्वित्यादि । मेढ्रादिष्वपि वक्ष्यन्ते यथास्वमित्यनेन छेदः । तेन नासार्श इत्यादिव्यपदेशः । गण्डूपदास्यरूपाणि किञ्चुलकमुखसदृशानि ॥४२॥

चर्मकीलस्य सम्प्राप्तिपूर्वकं सामान्यस्वरूपं दर्शयति—

व्यानो गृहीत्वा श्लेष्माणं करोत्यर्शस्त्वचो बहिः ।
कीलोपमं स्थिरखरं चर्मकीलं तु तद्विदुः ॥४३॥ [वा० ३।७]

व्यान (सर्वशरीरसञ्चारी) वायु कफ को ग्रहण कर त्वचा के बाहर कील के समान निश्चल और कठिन अर्श को उत्पन्न करता है । उसी को आचार्य चर्मकील कहते हैं ।

मधु०—चर्मकीलसंप्राप्तिमाह—व्यान इत्यादि । व्यानो वायुः, एतच्च गुदौष्ठदेश एव नान्यत्रेति कार्तिककुण्डादयः ॥४३॥

चर्मकीलस्य वातादिभेदेन स्वरूपमाह—

वातेन तोदपारुष्यं पित्तादसितवक्त्रता ।
श्लेष्मणा स्निग्धता चास्य ग्रथितत्वं सवर्णता ॥४४॥ [वा० ३।७]

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदानेऽर्शोनिदानं समाप्तम् ॥५॥

उन कीलों में वात की प्रधानता होने पर तोद और परुषता होती है । पित्त से उनके मुख का वर्ण कुछ कृष्ण होता है और कफ से उनमें स्निग्धपन होता है और गांठ सी हो जाती है तथा त्वचा के समान वर्ण हो जाता है ।

मधु०—तस्यैव वातादिभेदेन लक्षणमाह—वातेनेत्यादि । सवर्णता गात्रसवर्णता ॥४४॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोषव्याख्यायामर्शोनिदानं समाप्तम् ॥५॥

अथाग्निमान्द्याजीर्णविसूचिकालसक-विलम्बिकानिदानम् ।

वाताद्याधिक्यसाम्याभ्यां पाचकाग्नेश्चातुर्विध्यं दर्शयति—

मन्दस्तीक्ष्णोऽथ विषमः समश्चेति चतुर्विधः ।
कफपित्तानिलाधिक्यात्तत्साम्याज्जाठरोऽनलः ॥१॥

जठराग्नि कफ पित्त और वात की अधिकता से तथा इनकी समता से क्रमशः मन्द तीक्ष्ण और विषम तथा सम इन चार भेदों वाली होती है । वस्तुतः है भी ठीक, क्योंकि श्लेष्मा का स्वभाव "स्नेहशैत्यशौक्ल्यगौरवमाधुरमात्स्यानि श्लेष्मण आत्मरूपाणि" (च. सू. स्था. अ. २०) के अनुसार स्निग्ध शीत गुरु मधुर आदि है और ये भाव अग्नि के (विशेष) असमान होने से ह्रास 'हेतुर्विशेषश्च' (च. सू. अ. १) के अनुसार, अपने २ प्रभाव से जठराग्नि को मन्द करने वाले हैं । अतः इससे अग्नि मंद होती है इसी लिये कहा है कि 'मन्दः श्लेष्मणेति' । एवं पित्त का स्वभाव 'औष्ण्यं तैक्ष्ण्यं लाघवमनतिस्नेहो वर्णश्च शुक्लारुणवर्जो गन्धश्च विस्रो रसौ च कटुकाम्लौ पित्तस्यात्मरूपाणि' (च. सू. स्था. अ. २०) के अनुसार उष्ण तीक्ष्ण लघु आदि अग्नि के समान होने से 'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्' (च. सू. स्था. अ. १) के अनुसार यह अग्निवर्धक है अतएव 'तीक्ष्णः पित्तेन' ऐसा कहा है । इसी प्रकार वायु का स्वरूप 'रौक्ष्यं लाघवं वैशद्यं शैत्यं गतिरमूर्तत्वं चेति वायोरात्मरूपाणि भवन्ति' (च. सू. स्था. अ. १०) के अनुसार रूक्ष लघु विशद शीत आदि है, साथ ही 'योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्' (च. चि. स्था. अ. ३) के अनुसार यह योगवाही है । दूसरा इसके आत्मरूप कुछ पित्त से और कुछ कफ से मिलते हैं, अतः जब यह पित्तान्वित वा पित्त गुणों के समान स्वगुणों की प्रबलता वाला होता है तब अग्नि के समान गुणों वाला हो जाने के कारण अग्निवर्धक और जब यह श्लेष्मान्वित वा श्लेष्म गुणों के समान स्वगुणों की प्रबलता वाला होता है तब अग्नि के असमान गुणों वाला हो जाने से अग्निशामक होता है और गतिरूप गुण वाला होने के कारण यह तुलाकोटि तकड़ी (तराजू) के पलड़े की तरह जिधर जरा प्रबलता हुई उधर ही झुक जाता है, जिससे यह कभी अग्नि को मन्द और कभी तीक्ष्ण कर देता है । कभी मन्द और कभी तीक्ष्ण होना ही विषम कहलाता है । एवं वायु विषमाग्निकारक है । वचन भी है कि 'विषमो वातेन' । यह सब भाव उपर्युक्त मूल श्लोकों में दोषों के क्रमभङ्ग से ही निकलता है । क्योंकि जब सर्वत्र वात पित्त कफ इस क्रम से निर्देश होता तो यहां कफ पित्त

१ मान—सं० अग्निमान्द्य, मन्दाग्नि; अ० जोफ उल मेअदा; इ० डिस्पेप्शिया.

वात इस प्रकार से क्यों किया है ? वायु को अन्त में रखने का यही प्रयोजन है कि यह योगवाही तथा दोनों के गुणों के समान गुणों वाला होने से चञ्चलता के कारण विषमाग्नि करता है। एवं जब यह दोष समावस्था में हों तो 'प्रवृत्तिरुभयस्य तु' (च. सू. स्था. अ. १) के अनुसार समाग्नि होती है। यहां वायु की समता की भी आवश्यकता है, अन्यथा दोनों के सम होने पर भी उसके पित्त गुणों के समानगुण वा कफगुणों के तुल्य गुण अग्नि को पहले बढ़ा वा घटा देंगे तदनन्तर 'एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्' के अनुसार वह दूसरों को भी सहचारी बना विषमाग्नि कर देगा; अथवा दोनों (पित्त कफ) के समान होने पर भी वायु अपने दोनों के गुणों के सदृश गुणों के बढ़ाव घटाव से विषमाग्नि कर देगा।

मधु०—अर्शःकार्यत्वादग्निमान्द्यादीनां तान्याह—मन्द इत्यादि। मन्दस्य दुर्जेयत्वात्प्रागभिधानम्। कफपित्तानिलाधिक्यादिति यथाक्रमं मन्दादिषु योज्यम्। तत्साम्यादिति तेषां कफादीनां साम्यात्। समोऽविकृतः, धातुसाम्यहेतुरित्यर्थः। एतस्याविकारस्यापि विकारप्रस्तावेऽभिधानं प्रकृतिज्ञानानन्तरीयकं विकृतिज्ञानमिति बोधनार्थम्। जाठर इति धात्वग्निभूताग्निव्यवच्छेदार्थम् ॥१॥

दुर्जेय होने से मन्दाग्नि का निर्देश सब से पहले किया है। 'समाग्नि' यह यद्यपि विकार नहीं तथापि प्रकृतिज्ञानपूर्वक विकार का ज्ञान होता है, यह बताने के लिये इसका समावेश किया है।

प्रतिलोमतन्त्रयुक्त्या तेषां लक्षणान्याह—

विषमो वातजान् रोगान् तीक्ष्णः पित्तनिमित्तजान्।
करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकारान् कफसंभवान् ॥२॥

सममन्दविषमाग्नीनां लक्षणान्याह—

समा समाग्नेरशिता मात्रा सम्यग्विपच्यते।
स्वल्पाऽपि नैव मन्दाग्नेर्विषमाग्नेस्तु देहिनः ॥३॥
कदाचित्पच्यते सम्यक्कदाचिन्न विपच्यते।

तीक्ष्णाग्नेर्लक्षणमाह—

मात्राऽतिमात्राऽप्यशिता सुखं यस्य विपच्यते।
तीक्ष्णाग्निरिति तं विद्यात्समाग्निः श्रेष्ठ उच्यते ॥४॥

विषमाग्नि वातज रोगों को, तीक्ष्णाग्नि पित्तज रोगों को और मन्दाग्नि श्लेष्मज रोगों को करती है। यह क्रम इसलिये है कि ये अग्नि उन २ दोषों से होती हैं। अतः उन २ के यथासम्भव नानात्मज तथा उस २ दोष की प्रधानता वाले सामान्यज रोगों को करती हैं। (समेति—) समाग्नि मनुष्य की खाई हुई सममात्रा भली प्रकार पच जाती है और मन्दाग्नि मनुष्य की स्वल्प मात्रा भी नहीं पचती। एवं विषमाग्नि मनुष्य की भुक्त मात्रा कभी भली प्रकार पच जाती है और कभी नहीं पचती, परन्तु जिस मनुष्य की भुक्त मात्रा अति [illegible] में भी सुखपूर्वक पच जाती है उस मनुष्य को तीक्ष्णाग्नि कहते हैं। इन

श्रेष्ठ होती है। यहां 'समा' पद रखने से यह सिद्ध होता है कि अधिक मात्रा समाग्नि से भी नहीं पचती। गुरु लघु दोनों प्रकार के पदार्थों की मात्रा प्रति व्यक्ति भिन्न २ होती है। अतः कहा भी है कि 'मात्राशी स्यात्'-(च. सू. स्था. अ. ५); 'मात्रावदश्नीयात्'-(च. नि. स्था. अ. १)। मात्रा के विषय में आचार्य कहते हैं कि 'यावद्ध्यस्याशनमशितमनुपहत्य प्रकृतिं यथाकालं जरां गच्छति तावदस्य मात्राप्रमाणं वेदितव्यं भवति'-(च. सू. अ. ५)। किञ्च, द्रव्यानुसार गुरु पदार्थों की मात्रा त्रिभाग सौहित्य वा अर्धसौहित्य है, और लघु पदार्थों की मात्रा नातिसौहित्य है। जैसे कहा भी है कि-'द्रव्यापेक्षया च त्रिभाग-सौहित्यमर्धसौहित्यं वा गुरूणामुपदिश्यते, लघूनामपि च नातिसौहित्यम्'-(च. सू. स्था. अ. ५)।

मधु०—प्रतिलोमतन्त्रयुक्त्या तेषां रूपमाह—विषम इत्यादि। वातजान् रोगानिति वातनानात्मजानामशीतेरन्यतमान् सामान्यजांश्च ज्वरातीसारादीन्, एवं पित्तनानात्मजानामोष-चोषादीनां चत्वारिंशतोऽन्यतमान्, एवं कफनानात्मजानां विंशतेरालस्यादीनामन्यतमान्। एते च विकाराश्चरके महारोगाध्याय (च. सू स्था. अ. २०) एव द्रष्टव्याः। समेत्यादि-१-समा उचिता, मात्रा आहारस्य, सम्यग्यस्य विपच्यते स समाग्निः। तीक्ष्णाग्निरिति तं विद्यादिति छेदः। मात्राऽतिमात्रेत्युपलक्षणं, तेनाजीर्णगुरुभोजनादिकमपि लक्षणीयम्। यदुक्तमन्यत्र—"अतिमात्र-मजीर्णेऽपि गुरु चान्नमथाश्नतः। दिवाऽपि स्वपतो यस्य पच्यते सोऽग्निरुत्तमः॥" इति। तीक्ष्णग्रहणेन भस्मकस्यावरोधः, अत्यन्ततीक्ष्णाग्निरेव भस्मक इत्युच्यते। यदुक्तं चरके—"नरे क्षीणकफे पित्तं कुपितं मारुतानुगम्। स्वोष्मणा पावकस्थाने बलमग्नेः प्रयच्छति॥ तदा लब्धबलो देहं विरुजेत् सानिलोऽनलः। अभिभूय पचत्यन्नं तैक्ष्ण्यादाशु मुहुर्मुहुः॥ पक्त्वाऽन्नं स ततो धातून् शोणितादीन् पचत्यपि। ततो दौर्बल्यमातङ्कान् मृत्युं चोपा-नयेन्नरम्॥ भुक्तेऽन्ने लभते शान्तिं जीर्णमात्रे प्रताम्यति। तृट्कासदाहमूर्च्छाः स्युर्व्या-धयोऽत्यग्निसंभवाः॥" (च. चि. स्था. अ. १५) इति॥२-४॥

(मात्रातिमात्रेत्यादि—) 'मात्रा वा अतिमात्रा' यह कहना उपलक्षणमात्र होने के कारण यहां अजीर्ण और गुरु भोजन आदि का ग्रहण करना चाहिये। जैसे तन्त्रान्तर में 'अतिमात्रमजीर्णेऽपि' इत्यादि से कहा भी है। तीक्ष्णाग्नि कहने से भस्मक रोग भी आ जाता है क्योंकि अत्यन्त तीक्ष्णाग्नि ही भस्मक रोग है। जैसे चरक ने भी 'नरे क्षीणकफे' इत्यादि श्लोकों से सब स्पष्ट कहा है। इन श्लोकों का अर्थ सरल ही है।

आमादिभेदेन अजीर्णभेदानाह—

आमं विदग्धं विष्टब्धं कफपित्तानिलैस्त्रिभिः।
अजीर्णं केचिदिच्छन्ति चतुर्थं रसशेषतः॥५॥

---

१ नाम—सं० अजीर्ण, अ० तुख्मा, फ़ं० बदहज्मी, इ० इन्डिजेशन.

अजीर्णं पञ्चमं केचिन्निर्दोषं दिनपाकि च ।
वदन्ति षष्ठं चाजीर्णं प्राकृतं प्रतिवासरम् ॥६॥

कफ, पित्त और वात से क्रमशः आम, विदग्ध और विष्टब्ध अजीर्ण होता है। कई आचार्य रसशेष से (होने वाले) चतुर्थ अजीर्ण को भी स्वीकार करते हैं, एवं कई आचार्य निर्दोष दिनपाकी पाँचवाँ अजीर्ण तथा कई प्रतिदिन होने वाले प्राकृत को छठा अजीर्ण भी मानते हैं।

मधु०—अग्निमान्द्याजीर्णयोः परस्परकारणत्वादजीर्णान्याह—आममित्यादि । त्रिभिरिति कफादिभिरेकैकशो यथासंख्येन । रसशेपत इति रसाय शेषो रसशेषः, प्रकृतिविकृतिभावे चतुर्थी, यथा—यूपाय दारु यूपदारु, अथवा रसशब्देन रसवानाहारोऽभिप्रेतो लक्षणया, तेन रसशब्देन रसवानाहारोऽभिधीयते, तस्य शेषोऽपरिणतिलक्षणो रसशेष इति जेज्जटः । ननु, यद्येवं तदा आमविदग्धविष्टब्धानामन्यतमरूपस्यावश्यंभावित्वान्न तेभ्यो भेदः; किंच तल्लिङ्गैरम्लोद्गारादिभिर्भवितव्यं, तथाच सत्युद्गारशुद्धे रसशेषाजीर्णलक्षणस्यानुदयप्रसङ्गः । उक्तं हि सुश्रुते—"उद्गारशुद्धावपि भक्तकाङ्क्षा न जायते हृद्गुरुता च यस्य । रसावशेषेण तु सप्रसेकं चतुर्थमेतत्प्रवदन्त्यजीर्णम् ॥" इति (सु. सू. स्था. अ. ४६) । आरोग्यमञ्जर्यां नागार्जुनोऽप्याह—"उद्गारेऽपि विशुद्धतामुपगते काङ्क्षा न भक्तादिषु स्निग्धत्वं वदनस्य सन्धिषु रुजा कृत्वा शिरोगौरवम् । मन्दाजीर्णरसे तु लक्षणमिदं तत्रातिवृद्धे पुनर्हृल्लासज्वरमूर्च्छनादि च भवेत्सर्वामयक्षोभणम् ॥" इति । नैवम्, अवश्यंभाविविदग्धादिरूपस्याप्याहारशेषस्यात्यल्पत्वेन न तदनुरञ्जितोद्गारोदयप्रसङ्गः, अकालबुभुक्षायामिव । यदाह सुश्रुतः—"स्वल्पं यदा दोषविबद्धमामं लीनं न तेजःपथमावृणोति । भवत्यजीर्णेऽपि तदा बुभुक्षा सा मन्दबुद्धिं विषवन्निहन्ति ॥" (सु. सू. स्था. अ. ४६) इति । तन्त्रान्तरेऽप्याहारापाकजरसशेषलक्षणमुक्तम्—"आमं विदग्धं विष्टब्धं रसशेषमथापि च । चतुर्विधमजीर्णं स्यादाहारापरिपाकतः ॥" इति । गदाधरस्त्वाह—रसे शेषो रसशेषः, आहारजनिते रसे शेष आहारावयवोऽनुप्रविष्टोऽलक्ष्यमाणः क्षीरे नीरमिव रसशेषः । ननु, आमाजीर्णादिभ्यो रसशेषस्य को भेदः ? उच्यते, आमादित्रयमन्नजं, रसशेषस्त्वाहाररसजः; वातिकादिव्यपदेशश्चात्र न कृतः, अल्पत्वाद्वातादिलिङ्गानां; हेतुलक्षणचिकित्साभेदाच्चास्य भेद इति ।

(रसशेपत इति—) 'चतुर्थं रसशेषतः' में 'रसशेषतः से क्या अभिप्रेत है ? इस पर कहते हैं कि रसाय शेषः (रस के लिये अवशिष्ट अर्थात् आहार का रस में अपरिणत भाग का बचा रहना) इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसका अर्थ भुक्त अन्न के अंश का रस न बनकर बच रहना है। यहां 'यूपाय दारु' (यूप नामक यज्ञीय स्तम्भ के लिये काष्ठ) की तरह प्रकृति (दारु से) विकृति (यूप) भाव में चतुर्थी हुई है, अथवा रस शब्द से प्रयोजन मूल लक्षणा के अनुसार रस वाला आहार अभिप्रेत है, एवं जब रस शब्द से रस वाला आहार ऐसा कहा है तो उसका शेष अर्थात् जो रस वाला होने पर भी अभी रस में परिवर्तित नहीं हुआ, यह रसशेष है, यह जेज्जट का मन्तव्य है। इसका भाव यह है कि रसशेष से रस के लिये बचा हुआ आहार यह अभिप्रेत है, अथवा रस शब्द से प्रयोजनमूला लक्षणानुसार रसवाला आहार यह अर्थ लेकर, शेष शब्द का अर्थ रस रूप में परिणत होने रूप परिणाम से बचा हुआ

आहार है अर्थात् रस बनने के लिये बचा हुआ रस वाला आहार, यह रसशेप से लिया जाता है। अब इस पर शंका होती है कि यदि ऐसा ही है तो आमाजीर्ण, विदग्धाजीर्ण और विष्टब्धाजीर्ण इनमें से किसी एक के लक्षण रसशेपाजीर्ण में अवश्य होने के कारण इस (रसशेपाजीर्ण) का उन (आमाजीर्णादि) से कोई भेद नहीं होगा। किञ्च, उसमें खट्टे डकार आदि लक्षण होंगे, और वे लक्षण आमाजीर्णादि में भी होते हैं। अतः इसका उनसे कोई भेद न होगा अथवा आमाजीर्ण आदि के खट्टे डकार आदि लक्षण इस (रसशेपाजीर्ण) में होंगे, ऐसा होने पर उनसे इसका कोई भेद न होगा। इसी तरह यदि आमाजीर्णादि में अम्लोद्गारादि आते हैं और इसमें शुद्ध उद्गार होते हैं, ऐसा है, तो रसशेपाजीर्ण के लक्षण प्रतीत नहीं होंगे। सुश्रुत में कहा है कि उद्गारों के शुद्ध होने पर भी जिसे भोजन करने की इच्छा नहीं होती तथा जिसके हृदय में गौरव और मुख से लालास्राव होता है वह रसशेषनामक चतुर्थ अजीर्ण है, ऐसा आचार्य कहते हैं। इसी प्रकार आरोग्यमञ्जरी में नागार्जुन ने भी कहा है कि उद्गारों के शुद्ध होने पर भी भोजन में अरुचि, मुख में स्निग्धता, सन्धियों में पीड़ा और सिर में गुरुता होनी, मन्द रसाजीर्ण के लक्षण हैं। तीव्ररसाजीर्ण होने पर तो सब व्याधियों के कारण हृल्लास, ज्वर और मूर्च्छादि लक्षण होते हैं। इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि, ऐसा नहीं है। इसमें अवश्य होने वाले विदग्धादि रूप आहारशेष के बहुत अल्प होने के कारण उन (आमाजीर्णादि) के अम्लोद्गार आदि लिङ्ग नहीं होते, जैसे अकाल बुभुक्षा में भी नहीं होते। अकालबुभुक्षा के विषय में सुश्रुत ने कहा है कि—'जब दोष से विबद्ध स्वल्प आम लीन न होकर जठराग्नि के मार्ग को आवृत कर लेता है तो सब अन्न जीर्ण न होने पर भी भूख लग आती है, और वह भूख मन्दबुद्धि प्राणी को विष की तरह मार डालती है। एवं जब इसमें आम आदि के लक्षण नहीं होते और इसके निजी लक्षण होते हैं, तो उपर्युक्त सभी शंकायें निवृत्त हो जाती हैं। तन्त्रान्तर में भी आहार के न पकने से होने वाले रसशेपाजीर्ण का लक्षण कहा है कि आमाजीर्ण, विदग्धाजीर्ण, विष्टब्धाजीर्ण और रसशेपाजीर्ण से ये चार प्रकार के अजीर्ण आहार न पकने से होते हैं। गदाधर कहता है कि रस में शेष अर्थात् आहारजनित रस में प्रविष्ट दूध में जल की तरह अलक्षित बचा हुआ सूक्ष्म आहारावयव ही रसशेप से अभिप्रेत है। यदि इस पर यह शंका हो कि आमाजीर्ण आदि से क्या भेद है ? तो इसका उत्तर यह है कि आमादि तीनों अजीर्ण अन्न से होते हैं, और रसशेप आहार रस से होता है। इसमें वातादि का व्यपदेश उनके अत्यल्प लक्षण होने के कारण नहीं किया; किञ्च आमादि से इसका भेद कारण, लक्षण, चिकित्सा भेद से भी है।

मधु०—अजीर्णमिति तद्विरोधे नञ्, जीर्णं पक्वं तद्विरुद्धमजीर्णं; यथा—असितम्। सर्वमजीर्णं त्रिदोषजं, एकदोषव्यपदेशस्तूत्कटैकदोषलिङ्गत्वेनोक्त इति व्याख्यानयन्ति; यतस्त्रैदोषिकमेवाजीर्णकारणमुक्तम्, 'अत्यम्बुपानात्' इत्यादि। अजीर्णादपि दोषत्रयकोपो भवति। यदुक्तम् सुश्रुते–"अजीर्णात्पवनादीनां विभ्रमो बलवान् भवेत्॥" (सु. सू. स्था. अ. ४६) इति। अजीर्णं पञ्चमं केचिदित्यादि। निर्दोषमाध्मानादिदुष्टेरकारकम्। दिनपाकि चेत्यहोरात्रेणाहारः पच्यत इत्युत्सर्गः, यत्र तु मात्राकालासात्म्यादिदोषादपरदिने पच्यते तद्दिनपाकि। कालव्यतिक्रमेण पच्यमानमप्याध्मानादिकं न करोतीति पूर्वेभ्यो भेदः। एतदभिधानस्य तु प्रयोजनं पाककालप्रतीक्षणं, नैशाजीर्णे भोजननिषेधात्। प्राकृतं प्रतिवासरमिति प्राकृतमवैकारिकं, प्रतिवासरं प्रतिदिनं क्रियमाणम्। अयमभिसन्धिः—अद्यैव भुक्तमन्नं किं जीर्णमजीर्णं वा ? न तावज्जीर्णं,

क्षुत्पिपासामलोत्सर्गादेर्जीर्णलक्षणस्यानुदयात् ; तस्मादजीर्णं, तच्चाध्मानादिकं न करोतीति पूर्वेभ्यो भिन्नम् । तस्य चाभिधानप्रयोजनं पाकार्थं वामपार्श्वशयनाद्याचारसेवा । उक्तं हि सुश्रुते—"भुक्त्वा पादशतं गत्वा वामपार्श्वेन संविशेत् । शब्दरूपरसस्पर्शगन्धांश्च मनसः प्रियान् ॥ भुक्तवानुपसेवेत तेनान्नं साधु तिष्ठति ॥" (सु. सू. स्था. अ. ४६) इति । न चात्राहारस्य निषेधः, तस्य शास्त्रेण विहितत्वात् । चरके तु—"तस्य लिङ्गमजीर्णस्य" इत्यादिना "घोरमन्नविषं च" इत्यन्तेनान्नविषाख्यमजीर्णं पठितं; तच्च पित्तादिसंसृष्टरसशेषाजीर्णमेवेति व्याचक्षते, तेन रसशेष एव तस्यान्तर्भाव इति न पृथक् पठितम् ॥५–६॥

सभी अजीर्ण त्रिदोषज होते हैं, परन्तु एक दोष से कथन तो उल्बणता के कारण किया जाता है, क्योंकि 'अत्यम्बुपानात्' इत्यादि अजीर्ण के कारण भी त्रिदोषप्रकोपक ही कहे हैं । अजीर्ण से भी तीनों दोष प्रकुपित होते हैं । जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—अजीर्ण से वातादि का बलवान् प्रकोप होता है । दिनपाकी अजीर्ण वह है जिसमें कि मात्रा काल असात्म्यादि के दोष से अन्न दूसरे दिन पके । इसमें अन्न देर से पकने पर भी आध्मानादि नहीं करता, यह इसका आमाजीर्ण आदि से भेद है । इसका प्रयोजन है कि रात्रि[1] के अजीर्ण में भोजन निषिद्ध होने से पाक काल की प्रतीक्षा करनी चाहिये । आज ही खाया हुआ अन्न जीर्ण हुआ है वा नहीं ? जब तक क्षुधा पिपासा और मल त्याग आदि जीर्ण के लक्षण नहीं होते तब तक जीर्ण नहीं हुआ, यह प्रतिवासर अजीर्ण होता है । इसका पहले अजीर्णों से भेद यह है कि इसमें आध्मान आदि नहीं होते । वाम पार्श्व से सोना आदि बोधन इसका प्रयोजन है । जैसे 'भुक्त्वा' इत्यादि से सुश्रुत ने भी कहा है। चरक ने एक अन्न विष नामक अजीर्ण भी लिखा है, परन्तु वह पित्तादि से संसृष्ट रसशेषाजीर्ण ही है अतः इसी में आ जाने से पृथक् नहीं कहा ।

अजीर्णस्य समुत्थानं दर्शयति—

अत्यम्बुपानाद्विषमाशनाच्च संधारणात्स्वप्नविपर्ययाच्च ।
कालेऽपि सात्म्यं लघु चापि भुक्तमन्नं न पाकं भजते नरस्य ॥७॥
ईर्ष्याभयक्रोधपरिप्लुतेन लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन ।
प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक्परिपाकमेति ॥८॥
मात्रयाऽप्यभ्यवहृतं पथ्यं चान्नं न जीर्यति ।
चिन्ताशोकभयक्रोधदुःखशय्याप्रजागरैः ॥९॥

बहुत जल पीने से; कभी बहुत और कभी अल्प, कभी शीघ्र और कभी विलम्ब में भोजन (विषमाशन) करने से; वेगों के रोकने से तथा दिन में सोने आदि रूप स्वप्नविपर्यय से; समय पर सात्म्य और लघु पदार्थ खाया हुआ भी नहीं पकता । एवं ईर्ष्या, भय, और क्रोध से युक्त; लोभी, पीड़ित, दीन और द्वेषी मनुष्य का भुक्त भोजन भी भली प्रकार नहीं पकता । चिन्ता,

१ 'नैशेष्वाहारकालेषु नादिवसेषु दुष्टिमान् । [illegible] सर्वेषां पाकादि[illegible] ॥' (च. नि. स्था. अ. १५) इति कथमिति चेदत्र चरके [illegible] बोद्धव्यम्, न दिवसं [illegible] काले [illegible]-[illegible]—(च. नि. अ. १५).

शोक, भय, क्रोध, दुःख, अधिक सोने और रात्रिजागरण इनके होने पर मात्रा से खाया हुआ पथ्य अन्न भी जीर्ण नहीं होता।

मधु०—अजीर्णकारणमाह—अत्यम्बुपानादित्यादि। संधारणादिति वेगानाम्। स्वप्नविपर्ययात् दिवास्वप्नादेः। लघु चापीत्यपिशब्देन स्निग्धोष्णादिगुणयुक्तमपि बोध्यम्। केचित् 'ईर्ष्याभयक्रोधपरिप्लुतेन'-इत्यादिश्लोकं पठन्ति; स च मानसदोषाजीर्णविषयो बोद्धव्य इति ॥७-९॥

कोई यहां 'ईर्ष्या' इत्यादि श्लोक भी पढ़ते हैं। वह श्लोक मानसिक[1] दोष, रज और तम से उत्पन्न अजीर्ण के विषय में जानना चाहिये।

आमाजीर्णस्य लक्षणमाह—

तत्रामे गुरुतोत्क्लेदः शोथो गण्डाक्षिकूटगः।
उद्गारश्च यथाभुक्तमविदग्धः प्रवर्तते ॥१०

विदग्धाजीर्णस्य लक्षणमाह—

विदग्धे भ्रमतृण्मूर्च्छाः पित्ताच्च विविधा रुजः।
उद्गारश्च सधूमाम्लः स्वेदो दाहश्च जायते ॥११

विष्टब्धाजीर्णस्य लक्षणमाह—

विष्टब्धे शूलमाध्मानं विविधा वातवेदनाः।
मलवाताप्रवृत्तिश्च स्तम्भो मोहाङ्गपीडनम् ॥१२

रसशेषाजीर्णस्य लक्षणमाह—

रसशेषेऽन्नविद्वेषो हृदयाशुद्धिगौरवे।

आमाजीर्ण में शरीर और हृदय में भारीपन, आमाशय में उत्क्लेश, कपोल और अक्षिकूटों में शोथ, भोजनानुसार तथा अपक्व (अम्ल रहित) उद्गार होते हैं। विदग्ध अजीर्ण में भ्रम, प्यास, मूर्च्छा, पैत्तिक विविध पीड़ाएँ, धूम सहित खट्टे डकार, स्वेद और दाह होता है। विष्टब्धाजीर्ण में शूल, अफारा, अनेक प्रकार की वातिक पीड़ाएं, शौच और अधोवायु का न आना, स्तब्धता, मूर्च्छा और अङ्गों में पीड़ा होती है। रसशेषाजीर्ण में अन्न में द्वेष, हृदय में अशुद्धि और गौरव होता है।

मधु०—उद्दिष्टानामजीर्णादीनां लक्षणमाह-तत्रेत्यादि। तत्रेति तेषु मध्ये। गण्डः कपोलः, अक्षिकूटश्चक्षुर्गोलकः, तद्गतः शोथो भवति प्रभावात्। उद्गारश्च यथाभुक्तमिति मधुरादिरूपः। अविदग्धोऽनम्लः, द्वितीयपाके ह्याहारस्याम्लता दर्शिता। विदग्ध इत्यादि। विविधा वातवेदना तोदभेदादिरूपा। अङ्गपीडनं सामवातवेदनादि। पित्ताच्च विविधा रुज इति ओषचोषादयः। सधूमाम्ल इति धूमोद्गारोऽम्लोद्गारश्च ॥१०-१२॥—

अजीर्णस्य उपद्रवानाह—

मूर्च्छा प्रलापो वमथुः प्रसेकः सदनं भ्रमः।
उपद्रवा भवन्त्येते मरणं चाप्यजीर्णतः ॥१३॥

---

१ मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च-(च. सू. स्था. अ. १).

अजीर्ण से मूर्च्छा, प्रलाप (बकवास), वमन, लालास्राव, अङ्गसाद, और भ्रम (चक्कर) होने लगता है। उसके अत्यन्त बढ़ जाने पर मृत्यु भी हो जाती है।

मधु०—उपद्रवानाह—मूर्च्छेत्यादि। अतिप्रवृद्धाजीर्णे तु मरणमपि ॥१३॥

पूर्वोक्ताजीर्णकारणेभ्योऽतिमात्रभोजनस्यैव प्राधान्यं दर्शयति—

अनात्मवन्तः पशुवद्भुञ्जते येऽप्रमाणतः।
रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवन्ति हि ॥१४॥

(अपनी अग्नि आदि के ज्ञान में अनभिज्ञ) अपना ध्यान न करने वाले जो मूर्ख मनुष्य पशु की तरह प्रमाण से अधिक खाते हैं, वे रोगसमूह के मूल कारण अजीर्ण को प्राप्त करते हैं।

मधु०—उक्ताजीर्णकारणेभ्योऽतिमात्रभोजनस्य विशेषकारणत्वमाह—अनात्मवन्त इत्यादि। अनात्मवन्तो दुष्टमनोयुक्ताः, लोलुपत्वेन तदात्वसुखाकाङ्क्षिण इति। अत एवोक्तं पशुवदिति। रोगानीकस्य रोगसमूहस्य विसूच्यादेः, मूलं कारणम् ॥१४॥

आमादित्रिविधाजीर्णेभ्यः विसूच्यादिगदत्रयोत्पत्तिमवतारयति—

अजीर्णमामं विष्टब्धं विदग्धं च यदीरितम्।
विसूच्यलसकौ तस्माद्भवेच्चापि विलम्बिका ॥१५॥ [सु० ६।५६]

जो आम विदग्ध और विष्टब्ध अजीर्ण कहे हैं, उनसे विसूची, अलसक और विलम्बिका नामक रोग होते हैं। विसूच्यादि रोग आमादि से यथाक्रम नहीं होते प्रत्युत यथासम्भव होते हैं, अन्यथा कफ वात से होने वाली विलम्बिका विदग्धाजीर्ण से प्राप्त होती है और विदग्धाजीर्ण पित्त से होता है। एवं पित्त से होने वाले विदग्धाजीर्ण से होने वाली विलम्बिका भी 'कारणानुरूपं कार्यम्' के अनुसार पित्त से होनी चाहिये, परन्तु शास्त्र में विरुद्ध दीखता है। इस कारण यह सिद्ध होता है कि वे विसूच्यादि आमादि से यथाक्रम नहीं होते।

मधु०—अजीर्णसंभवत्वाद्विसूच्यादीनामजीर्णानन्तरं विसूच्यादीनाह—अजीर्णमित्यादि। 'आमविष्टब्धविदग्धेषु त्रिषु विसूच्यलसकविलम्बिका यथासंख्यं भवन्ति'—इति कार्तिककुण्डः। 'तन्न'—इति वकुलकरः। यथासंख्ये हि विलम्बिका विदग्धात् प्राप्नोति, तां च कफवाताभ्यां पठिष्यति, तस्मात्त्रिविधाजीर्णाद्यथासंभवं विसूच्यादीनामुत्पाद इति युक्तम्। उक्तं हि—"अजीर्णात् पवनादीनां विभ्रमो बलवान् भवेत् ॥" इति ॥१५॥

आम, विदग्ध और विष्टब्ध अजीर्ण से विसूची, अलसक और विलम्बिका यथाक्रम होती हैं, यह कार्तिक कुण्ड का मन्तव्य है। परन्तु वकुलकर इसे नहीं मानता, क्योंकि ऐसे विलम्बिका विदग्धाजीर्ण से प्राप्त होती है परन्तु उसे कफ वात से आगे माना है। इस कारण

१. कपि [illegible]. २. आर्षं हि.

अजीर्णों से विसूच्यादि यथासम्भव होती हैं। अतएव कहा है कि—अजीर्ण से वायु आदि तीनों दोषों का बलवान् प्रकोप होता है।

विसूचिकाया निरुक्तिं दर्शयति—

सूचीभिरिव गात्राणि तुदन् संतिष्ठतेऽनिलः।
यत्राजीर्णेन सा वैद्यैर्विसूचीति निगद्यते ॥१६॥ [सु० ६।५६]

'के विसूचिकयाऽभिभूयन्ते' इत्याह—

न तां परिमिताहारा लभन्ते विदितागमाः।
मूढास्तामजितात्मानो लभन्तेऽशनलोलुपाः ॥१७॥ [सु० ६।५६]

अजीर्ण के होते हुए और अजीर्ण से ही उत्पन्न वायु जिस रोग में गात्रों में सुइयों की सी चुभान करता हुआ ठहरता है उस रोग को पुराने वैद्य विसूची कहते हैं। उस विसूची रोग से मात्रा देश कालादि शास्त्रोक्त (च. वि. स्था. अ. १) आहार विधि विकल्पानुसार खाने वाले आयुर्वेदज्ञ मनुष्य ग्रस्त नहीं होते, परन्तु मूर्ख अजितात्मा पेटू मनुष्य उससे ग्रस्त हो जाते हैं।

मधु०—विसूच्या निरुक्तिमाह—सूचीभिरित्यादि। 'बाहुल्याद्वायुः सूचीभिरिव तुदन्' इति विसूचिनिरुक्तिः। पाण्डुरोगवत्सूचीभिरिव तोदनं विहायान्येऽपि वेदनाभेदा विविधा भवन्त्येव। यदुक्तं तन्त्रान्तरे—"विविधैर्वेदनाभेदैर्वाय्वादेर्भृशकोपतः। सूचीभिरिव गात्राणि भिन्त्तीति विसूचिका ॥" इति। विदितागमा विदितायुर्वेदाः। मूढास्तज्ज्ञानानभिज्ञाः। अजितात्मानोऽजितेन्द्रियाः। अशनलोलुपाः पशुवदप्रमाणभोजिनः ॥१६,१७॥

अधिकता से वायु सुइयों की सी चुभान करता हुआ ठहरता है, यह विसूची शब्द की निरुक्ति है।

(Cholera)

विसूचिकायाः स्वरूपमाह—

मूर्च्छाऽतिसारो वमथुः पिपासा शूलो भ्रमोद्वेष्टनजृम्भदाहाः।
वैवर्ण्यकम्पौ हृदये रुजश्च भवन्ति तस्यां शिरसश्च भेदः ॥१८॥ [सु० ६।५६]

मूर्च्छा, अतिसार, वमन, प्यास, शूल, भ्रम, पिण्डली आदि में ऐंठन जम्भाईयां, दाह, अङ्ग प्रत्यङ्गों में वर्ण परिवर्तन, तथा कँपकँपी, हृदय में पीड़ा और शिर में शूल ये लक्षण विसूचिका रोग में होते हैं।

मधु०—विसूच्या लक्षणमाह—मूर्च्छेत्यादि। वमथुर्वान्तिः। शिरसश्च भेदः शिरःशूलम्। अत्र वमनातीसारौ मिलितौ लक्षणमिति; सुश्रुते त्वधोगाया आमातीसारेण ग्रहणम्, ऊर्ध्वगायाश्च छर्द्या। चरके तु पठ्यते—"ऊर्ध्वं चाधश्च प्रवृत्तामदोषां यथोक्तरूपां विसूचीं विद्यात् ॥" (च. वि. स्था. अ. २) इति। अत ऊर्ध्वगा विसूची भवति, तथाऽधोगाऽपि, चरके आमातीसारस्यापठितत्वात्; चकारादुभयमार्गगाऽपीति व्याचक्षते, ऊर्ध्वगायाश्चापक्वाहारवमनेन त्रिदोषच्छर्दिभ्यो भेद इति मन्तव्यम् ॥१८॥

---

१ नाम—सं० विसूचिका, अ० हैजा, पं० हैजा, इ० कॉलरा.

इसमें वमनातिसार यह दोनों लक्षण मिलित ही होते हैं। सुश्रुत में तो अधोगा विसूचिका को आमातीसार में और ऊर्ध्वगा को वमन में ही ले लिया है। चरक में विसूची इसी को कहा है। चरक में कहा है—ऊपर के मार्ग (मुख) तथा निम्न मार्ग (गुदा) से प्रवृत्त होने वाली यथोक्तलिङ्गान्वित विसूचिका कहलाती है। अतः ऊर्ध्वगा विसूची होती है, तथा अधोगा भी विसूची ही होती है, क्योंकि चरक में आमातिसार को नहीं पढ़ा। यहां पठित चकार से दोनों मार्गों से प्रवृत्त होने वाले को भी विसूची ही कहते हैं, यह व्याख्या भी आचार्य करते हैं। अत्र शंका होती है कि यदि ऊर्ध्वप्रवृत्त भी विसूची होती है तो त्रिदोष वमन से उसका भेद क्या होगा ? इस पर कहते हैं कि इसमें अपक्व आहार ही मुख से आता है, यही उससे इसका भेद है।

अलसकस्य लक्षणमाह—

कुक्षिरानह्यतेऽत्यर्थं प्रताम्येत्परिकूजति।
निरुद्धो मारुतश्चैव कुक्षावुपरि धावति ॥१९॥ [सु० ६ ५६]
वातवर्चोनिरोधश्च यस्यात्यर्थं भवेदपि।
तस्यालसकमाचष्टे तृष्णोद्गारौ च यस्य तु ॥२०॥ [सु० ६।५६]

जिस रोग में मनुष्य का उदर अत्यन्त फूल जाता है, मूर्च्छा तथा आर्तनाद होता है, रुका हुआ वायु जिसके कुक्षि में ऊपर की ओर आता है, एवं मलमूत्र और अधोवायु तथा उद्गार की अत्यधिक रुकावट हो जाती है, उसको अलसक रोग कहते हैं।

मधु०—अलसकमाह—कुक्षिरित्यादि। आनह्यते आध्मायते, मलविष्टम्भस्य वक्ष्यमाणत्वात्। प्रताम्येत् मुह्यति पुरुषः, परिकूजति आर्तनादं करोति। निरुद्ध इत्यजीर्णेनाधः प्रतिरुद्धगतिः कुक्षौ वा, तेनोपरि धावति ऊर्ध्वं हृदयकण्ठादिकं गच्छति। अलसक इति दोषस्थिरत्वनिमित्ता संज्ञा। यदुक्तं तन्त्रान्तरे—"प्रयाति नोर्ध्वं नाधस्तादाहारो न विपच्यते। आमाशयेऽलसीभूतस्तेन सोऽलसकः स्मृतः" ॥१९-२०॥

विलम्बिकाया लक्षणमाह—

दुष्टं तु भुक्तं कफमारुताभ्यां प्रवर्तते नोर्ध्वमधश्च यस्य।
विलम्बिकां तां भृशदुश्चिकित्स्यामाचक्षते शास्त्रविदः पुराणाः ॥२१॥ [सु० ६।५६]

जिसमें कफ और वायु से दुष्ट भुक्त अन्न न ऊपर से और न नीचे से प्रवृत्त होता है, उस रोग को पुराने शास्त्रज्ञ वैद्य विलम्बिका कहते हैं। यह रोग अत्यन्त कष्टसाध्य है।

मधु०—विलम्बिकामाह—दुष्टमित्यादि।—भुक्तमन्नं कफमारुताभ्यां दुष्टमिति संबन्धः। भृशं दुश्चिकित्स्यामत्यर्थं दुश्चिकित्स्यां, प्रत्याख्येयां वर्जनीयामित्यर्थः। ननु, अलसकविलम्बिकयोरुभयोरपि वातकफप्रबलयोरूर्ध्वाधोऽप्रवर्तनशीलयोस्तुल्यत्वात् को भेदः ? उच्यते, अलसके तीव्राः शूलादयो भवन्ति, यदुक्तं—"पीडितं मारुतेनान्नं श्लेष्मणा रुद्धमन्तरा। अलसं क्षोभितं दोषैः शल्यत्वेनैव संस्थितम्। शूलादीन्कुरुते तीव्रांश्छर्द्यतीसारवर्जितान् ॥" इति ॥२१॥

अलसक और विलम्बिका ये दोनों रोग वात कफ से होने वाले तथा नीचे और ऊपर से अप्रवर्तनशील होने से समान लक्षण वाले हैं। इनमें परस्पर भेद क्या है? इनका परस्पर भेद यही है कि अलसक में शूलादि तीव्र होते हैं और विलम्बिका में मन्द। अलसक में तीव्रशूलादि प्रतिपादक तन्त्रान्तर भी है कि उदरस्थित वायु से पीड़ित और श्लेष्मा से अवरुद्ध दोषों से क्षोभित अलस अन्न, शल्य की तरह ठहरा हुआ छर्दि और अतीसार से वर्जित तीव्रशूलादि लक्षणों को करता है।

आमाजीर्णामोपहतप्रदेशस्यैव विशेषेण पीडाकरत्वं प्रदर्शयति—

यत्रस्थमामं विरुजेत्तमेव देशं विशेषेण विकारजातैः।
दोषेण येनावततं शरीरं तल्लक्षणैरामसमुद्भवैश्च ॥२२॥ [सु० ६।५६]

'अविपक्वमसंयुक्तं दुर्गंधं बहुपिच्छिलम्। सदनं सर्वगात्राणामाम इत्यभिधीयते' के अनुसार सम्यक् अपरिणत अन्न रूप आम, शरीर के जिस स्थान पर ठहर जाता है विशेषतः उसी स्थान को, जिन वातादि दोषों से शरीर व्याप्त हो उन्हीं वातादि दोषों के तोद दाह गौरव आदि लक्षणों वाले विकार समूह से और आम से उत्पन्न होने वाले अलसक आदि विकारसमूह से पीड़ित करता है।

वक्तव्य—इसका भाव यह है कि यद्यपि आम चाहे वह किसी भी स्थान पर क्यों न ठहरा हो सभी शरीर को, शरीरव्यापी वातादि दोषों के तोद दाह गौरवादि लक्षण रूप विकारों से तथा आमज अलसक आदि विकारों से पीड़ित करता है, परन्तु फिर भी वह जहां स्थित हो उस प्रदेश को शरीरव्यापी वातादि दोषों के तोद दाह गौरव आदि लक्षण रूप विकारों से तथा आमज अलसक आदि विकारों से विशेषतः पीड़ित करता है। यहां विशेष शब्द से ही यह भाव निकलता है कि यह सारे शरीर में भी उक्त विकारों को पैदा कर पीड़ा करता है।

मधु०—अजीर्णजातान् विसूच्यादीनभिधायाजीर्णजन्यस्यामस्य कार्यान्तरमाह—यत्रस्थमित्यादि। आमं कर्तृ, यत्रस्थं तमेव देशं विशेषेण रुजेत्; एतेनान्यदेशेऽपि किंचिद्रुजं करोतीति बोधयति। यत्रेतिसर्वनामशब्देन कुपितवातादीनामिवानियतमेव स्थानमामस्येति दर्शितम्। कैः रुजेदित्याह—विकारजातैर्विकारसमूहैः। किंभूतैरित्याह—दोषेण येन स्वकारणकुपितेन वातादिनाऽवततं व्याप्तं शरीरं, तल्लक्षणैः तल्लिङ्गैस्तोददाहगौरवादिभिः, न केवलं तैरामसमुद्भवैश्च विकारजातैरपाकालसकादिभिरपि। अनेनैव श्लोकेन तन्त्रान्तरोक्तमामवाताख्यं रोगं गृहीतवान् सुश्रुतः, तस्य लक्षणस्य समानत्वादित्याहुः ॥२२॥

सुश्रुत ने इसी श्लोक के अनुसार तन्त्रान्तर में पठित आमवात नामक रोग का ग्रहण भी किया है।

विषूच्यलसकयोः प्रत्याख्येतालक्षणान्याह—

यः श्यावदन्तौष्ठनखोऽल्पसंज्ञो वम्यर्दितोऽभ्यन्तरयातनेत्रः।
क्षामस्वरः सर्वविमुक्तसन्धिर्यायान्नरः सोऽपुनरागमाय ॥२३॥ [सु० ६।५६]

जो विसूची और अलसक का रोगी श्याववदन्त, श्याव ओष्ठ और श्यावनख वाला, अल्पसंज्ञ, वमन पीड़ित तथा भीतर की ओर घुसे हुए नेत्रों वाला होता है, वह तथा जिसका स्वर क्षीण हो जाता है और सन्धियां ढीली हो जाती हैं, वह बच नहीं सकता।

मधु०—विसूच्यलसकयोरसाध्यत्वलक्षणमाह—य इत्यादि। विलम्बिकायास्तु स्वरूपेणैवासाध्यत्वमिति जेज्जटः। अल्पसंज्ञो मोहयुक्तः अभ्यन्तरयातनेत्रः कोटरान्तःप्रविष्टाक्षिगोलकः। सर्वविमुक्तसन्धिः श्लथीभूतसर्वपर्वास्थिसन्धिः। अपुनरागमाय मरणाय ॥२३॥

जीर्णाहारस्य लक्षणमाह—

उद्गारशुद्धिरुत्साहो वेगोत्सर्गो यथोचितः।
लघुता क्षुत्पिपासा च जीर्णाहारस्य लक्षणम् ॥२४॥

उद्गारों की शुद्धि, कर्म में उत्साह, वात विट् मूत्रादि वेगों की यथोचित प्रवृत्ति, शरीर का हल्कापन, भूख और प्यास का लगना, ये जीर्ण आहार के लक्षण हैं।

विसूच्याः पञ्च उपद्रवानाह—

निद्रानाशोऽरतिः कम्पो मूत्राघातो विसंज्ञता।
अमी ह्युपद्रवा घोरा विसूच्यां पञ्च दारुणाः ॥२५॥

नींद न आनी, पीड़ा होनी, कँपकँपी लगनी, मूत्र का न आना (मूत्राघात) और मूर्च्छा होनी ये विसूचिका के पाँच घोर उपद्रव हैं।

अजीर्णस्य कारणमाह—

प्रायेणाहारवैषम्यादजीर्णं जायते नृणाम्।
तन्मूलो रोगसंघातस्तद्विनाशाद्विनश्यति ॥२६॥

प्रायः आहार की विषमता से मनुष्यों को अजीर्ण होता है और वह अजीर्ण रोगसमूह का मूल कारण है। अतः उस (अजीर्ण) के नष्ट होने पर रोगसमूह भी नष्ट हो जाता है। यहां अजीर्ण को बहुत से रोगों का मूल (समवायि) कारण माना है, एवं उसके नाश से अन्य व्याधियों का नाश कैसे हो सकता है? क्योंकि असमवायि कारण के नाश से ही कार्य का नाश होता, अन्यथा नहीं। इस पर कहते हैं कि रोगों की उत्पत्ति में सम्प्राप्ति असमवायि कारण है, एवं अजीर्ण सम्भव रोगों में अजीर्णनाश संप्राप्तिभंग का कारण होता है अतः इसे नष्ट करने का अभिप्राय सम्प्राप्तिभङ्ग ही है, और वही यहां अभिप्रेत है। एवं उसके भङ्ग से उन रोगों की शान्ति हो जाती है। भाव यह है कि अजीर्णनाश संप्राप्ति विनाशक होने से दूसरी व्याधियों का नाशक है।

सामान्याजीर्णस्य लक्षणमाह—

ग्लानिर्गौरवविष्टम्भभ्रममारुतमूढताः।
विबन्धो वा प्रवृत्तिर्वा सामान्याजीर्णलक्षणम् ॥२७॥

[illegible]

हर्ष का क्षय, शरीर का भारीपन, विष्टम्भ, भ्रम, मूढ वात वा अधोवायु की अप्रवृत्ति, और विबन्ध वा अतिसार होना, ये सामान्य अजीर्ण के लक्षण हैं।

मधु०—अजीर्णप्रतियोगितया जीर्णाहारलक्षणमाह—उद्गारेत्यादि।—उद्गारशुद्धिर्धूमाम्लादिरहितत्वम्। उत्साहः शरीरमनसोर्बलम्। उत्सर्गो मलमूत्रप्रवृत्तिः, वेगसहित उत्सर्गो वेगोत्सर्गः। यथोचित उपयुक्ताहारानुरूपः। लघुता देहस्य, विशेषेण कोष्ठस्येति ॥२४-२७॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामग्निमान्द्याजीर्णविसूचिकालसकविलम्बिकानिदानं समाप्तम् ॥६॥

अथ क्रिमिनिदानम्।

क्रिमीणां स्थानादिभेदेन सङ्ख्यां दर्शयति—

क्रिमयश्च द्विधा प्रोक्ता बाह्याभ्यन्तरभेदतः।
बहिर्मलकफासृग्विड्जन्मभेदाच्चतुर्विधाः ॥१॥ [वा० ३।१४]
नामतो विंशतिविधाः बाह्यास्तत्र मलोद्भवाः।

क्रिमि पहले बाह्य आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार के होते हैं। पुनः बहिर्मलज, कफज, रक्तज और विड्ज ये जन्म भेद से चार प्रकार के होते हैं, एवं नाम भेद से वे क्रिमि बीस प्रकार के होते हैं। उनमें से बाह्य क्रिमि स्वेदादिरूप मल से होते हैं।

मधु०—अजीर्णात् क्रिमिसंभव इत्यतोऽजीर्णानन्तरं क्रिमिनिदानमाह—क्रिमय इत्यादि। तत्र बाह्यास्त्वगुपलेपकबाह्यमलसंभवाः, आभ्यन्तरा आमाशयादिसंभवाः, ते देशभेदेन द्वैविध्येनोक्ताः कारणभेदाच्चतुर्धा भवन्तीत्याह—बहिर्मलेत्यादि। बहिर्मलो गात्रोपलेपी स्वेदादिरुक्त एव, बहिर्मलादिषु चतुर्षु जन्म बहिर्मलादिजन्म तद्भेदात्। त एव चतुर्विधा नामभेदेन विंशतिविधा भवन्ति, विंशत्यतिरिक्ताश्चातिसूक्ष्माः क्रिमयः सहजाश्चरकेणोक्ताः, ते चावैकारिकत्वेन रोगाधिकारे नोच्यन्ते, विंशतिविधास्तु क्रिमयो दोषप्रकोपणद्वारेण ज्वरशूलादीन् जनयन्तीति रोगा उच्यन्ते ॥१॥

यह नहीं समझना चाहिये कि इन २० क्रिमियों के अतिरिक्त और क्रिमि हैं ही नहीं। वस्तुतः इनसे अतिरिक्त और क्रिमि भी हैं जिन्हें कि चरक ने 'इह खल्वग्निवेश! विंशतिविधाः क्रिमयः पूर्वमुद्दिष्टा नानाविधेन प्रविभागेनान्यत्र सहजेभ्यः' (च. चि. स्था. अ. ७) इस वाक्य से कहा भी है कि सहजों के अतिरिक्त बीस प्रकार के क्रिमि होते हैं। ये अति सूक्ष्म होते हैं और कोई विकार नहीं करते। अतः इन्हें रोगाधिकार में नहीं कहा। शेष बीस प्रकार के क्रिमि दोषप्रकोप द्वारा ज्वर शूलादि रोगों को करते हैं।

बाह्यक्रिमीणां द्वैविध्यं लक्षणं कार्यञ्चाह—

तिलप्रमाणसंस्थानवर्णाः केशाम्बराश्रयाः ॥२॥ [वा० ३।१४]

१ नाम—सं० क्रिमिरोग, फा० दीदान उल अमआ, इं० वर्म्स (Worms).

बहुपादाश्च सूक्ष्माश्च यूका लिक्षाश्च नामतः ।
द्विधा ते कोठपिडकाकण्डूगण्डान् प्रकुर्वते ॥३॥ [वा० ३।१४]

उनमें से बाह्य मलज क्रिमि तिल प्रमाण आकृति वाले होते हैं और वे बालों और वस्त्रों में रहते हैं, बहुपाद तथा सूक्ष्म होते हैं। यूका और लिक्षादि उनके नाम हैं। एवं ये दोनों चकत्ते, पिडिकायें, कण्डू (खाज) और गण्डों (ग्रन्थिशोप) को करते हैं।

मधु०—उक्तान् बाह्यान् विवृणोति—बाह्या इत्यादि । तिलानामिव प्रमाणं परिमाणं संस्थानमाकृतिर्वर्णश्च श्वेतः कृष्णो वा येषां यूकादिरूपाणां ते तथा । केशाम्बराश्रया इति अम्बरं वस्त्रम् । बहुपादा इति यूकाः, सूक्ष्मा इति लिक्षाः ॥२-३॥

क्रिमीणां कारणमाह—

अजीर्णभोजी मधुराम्लनित्यो द्रवप्रियः पिष्टगुडोपभोक्ता ।
व्यायामवर्जी च दिवाशयानो विरुद्धभुक् संलभते क्रिमींस्तु ॥४॥

जो मनुष्य पूर्वभुक्त भोजन पचने के पूर्व ही पुनः भोजन करता है, तथा मधुररसयुक्त वा अम्लरसयुक्त पदार्थों का नित्य सेवन करता है, और जो द्रव पदार्थों को अधिक खाता है, एवं जो व्यायाम नहीं करता, दिन में सोता और संयोगादि विरुद्ध पदार्थों को खाता है, वह क्रिमिरोग को प्राप्त होता है अर्थात् उसे क्रिमि रोग हो जाता है।

मधु०—तेषां निदानमाह—अजीर्णेत्यादि ।—अजीर्णे भोजनशीलोऽजीर्णभोजी । मधुराम्लनित्यः सततमधुराम्लभोजी । विरुद्धं क्षीरमत्स्यादि ॥४॥

पुरीषजन्यक्रिमिविशेषाणां कारणविशेषमाह—

माषपिष्टाम्ललवणगुडशाकैः पुरीषजाः ।

उड़द, पीठी वा उड़दों की पीठी के अत्यधिक उपभोग से, अम्ल और लवणयुक्त पदार्थों के अत्यधिक सेवन से, एवं गुड़ और शाकों के अत्यधिक प्रयोग से पुरीषज क्रिमि होते हैं।

कफजन्यक्रिमिविशेषाणां कारणविशेषमाह—

मांसमत्स्यगुडक्षीरदधिशुक्तैः कफोद्भवाः ॥५॥ [सु० ६।५४]

मांस, मछली, गुड़, दूध, दधि और सिरकों के अधिक सेवन से कफज क्रिमि होते हैं।

शोणितजन्यक्रिमिविशेषाणां कारणविशेषमाह—

विरुद्धाजीर्णशाकाद्यैः शोणितोत्था भवन्ति हि ।

---

१ [illegible] इति सुश्रुतीयपाठः [illegible]. २ [illegible]लवणैः पुरीषजाः. ३ मत्स्यगुडक्षीरदधिभिः कफोद्भवाः.

संयोगादि विरुद्ध और अजीर्ण पदार्थों के सेवन से तथा शाकादि के खाने से रक्तज क्रिमि होते हैं। प्रायः उपर्युक्त तीनों प्रकार के क्रिमियों की उत्पत्ति क्रमशः पक्वाशय, आमाशय और रक्तवाहिनियों में होती है। जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—'आमपक्वाशये तेषां कफविड्जन्मनां पुनः। धमन्यां रक्तजानाञ्च प्रसवः प्रायशः स्मृतः॥" (सु. उ. तं. अ. ५४)।

मधु०—क्रिमिविशेषे निदानविशेषमाह माषेत्यादि ॥५॥—

आभ्यन्तरक्रिमिगदस्य स्वरूपमाह—

ज्वरो विवर्णता शूलं हृद्रोगः सदनं भ्रमः ॥६॥ [सु० ६।५४]
भक्तद्वेषोऽतिसारश्च संजातक्रिमिलक्षणम्।

ज्वर, शरीर के वर्ण का (श्यामता वा पीतता में) परिवर्तन, आमाशय और पक्वाशय में शूल, हृल्लास आदि हृदयरोग, अङ्गसाद, भ्रम[1], भोजन में अरुचि और अतिसार, इनका होना शरीर के भीतर उत्पन्न क्रिमियों का लक्षण है।

मधु०—आभ्यन्तरक्रिमिलक्षणमाह-ज्वर इत्यादि ॥६॥

कफजक्रिमीणां रूपं सङ्ख्यां नामानि कर्माणि चावतारयति—

कफादामाशये जाता वृद्धाः सर्पन्ति सर्वतः ॥७॥ [वा० ३।१४]
पृथुब्रध्ननिभाः केचित् केचिद्गण्डूपदोपमाः।
रूढधान्याङ्कुराकारास्तनुदीर्घास्तथाऽणवः ॥८॥ [वा० ३।१४]
श्वेतास्ताम्रावभासाश्च नामतः सप्तधा तु ते।
अन्त्रादा उदरावेष्टा हृदयादा महागुदाः ॥९॥ [वा० ३।१४]
चुरवो दर्भकुसुमाः सुगन्धास्ते च कुर्वते।
हृल्लासमास्यस्रवणमविपाकमरोचकम् ॥१०॥ [वा० ३।१४]
मूर्च्छाच्छर्दिज्वरानाहकार्श्यक्षवथुपीनसान्।

कफ से होने वाले क्रिमि आमाशय में उत्पन्न होकर तथा बढ़कर ऊपर और नीचे की ओर चले जाते हैं। उनमें से कई ब्रध्नी (चर्मलता वा तन्दी) की तरह और कई गण्डोयों की तरह होते हैं, एवं कई नवोत्पन्न धान्य के अङ्कुर की तरह (परिधि में), छोटे (लम्बाई में) ह्रस्व और अतीव सूक्ष्म होते हैं, और वे श्वेत वा ताम्बे के से वर्णवाले होते हैं। एवं नामभेद से वे सात प्रकार के होते हैं— १ अन्त्राद, २ उदरावेष्ट, ३ हृदयाद, ४ महागुद, ५ चुरव, ६ दर्भकुसुम और ७ सुगन्ध ये उनके सातों के नाम हैं। इन नामों में कई नाम सार्थक हैं और कई केवल संज्ञापरक ही हैं। सार्थक यथा—अन्त्राद, उदरावेष्ट, हृदयाद, महागुद आदि। निरर्थक यथा—चुरव इत्यादि। अन्त्राद आदि सार्थक इसलिये हैं कि इनके नाम कार्मनामिक हैं। तद्यथा—'अन्त्राणि अदन्तीति अन्त्रादाः। एवं अन्य यथोचित व्याकरण के अनुसार जानना चाहिये। एवं जब ये उत्पन्न होकर सब ओर फैल जाते हैं

१ चक्रवद्भ्रमतो गात्रं भ्रम इत्यभिधीयते (सु. शा. स्था. अ. ४).

तो हृल्लास, लालास्राव, अन्न का न पकना, अरुचि, मूर्च्छा, वमन, ज्वर, आनाह (अफारा), कृशता, छींकें और पीनस इन रोगों को करते हैं। अब यहां यह शंका होती है कि सामान्य क्रिमियों की संख्या तो चरक और सुश्रुत की एक ही है। जैसे चरक ने "विंशतिः क्रिमिजातयः" (च. सू. स्था. अ. १९) तथा सुश्रुत ने "विंशतेः क्रिमिजातीनाम्" (सु. उ. तं अ. ५४) यह कहा है। परन्तु सुश्रुत ने कफज छः, पुरीषज सात, और रक्तज सात माने हैं। एवं सुश्रुत चरक में परस्पर क्रिमियों के नामों में भी बहुत भिन्नता है। जैसे सुश्रुत कफज क्रिमियों के नाम "दर्भपुष्पा, महापुष्पा, प्रलूनाश्चिपिटास्तथा। पिपीलिका, दारुणाश्च कफकोपसमुद्भवाः" (सु. उ. तं. अ. ५४) श्लोक से ये कहता है, और पुरीषजों के "अजवा विजवाः किप्याश्चिप्या गण्डूपदास्तथा। चुरवो द्विमुखाश्चैव ज्ञेयाः सप्त पुरीषजाः॥" (सु. उ. अ. ५४)। ये नाम एवं रक्तजों के "केशरोमनखादाश्च दन्तादाः किकिशास्तथा। कुष्ठजाः सपरीसर्पा ज्ञेयाः शोणितसम्भवाः" (सु. उ. तं. अ. ५४) ये नाम कहता है। इस प्रकार इनमें विरोध आने से दोनों अप्रमाणित होते हैं। इसका समाधान कई आचार्य इस प्रकार करते हैं कि वस्तुतः ये क्रिमि एक ही हैं, परन्तु दोनों आचार्यों ने इनके नाम भिन्न दिये हैं। अन्य आचार्य इस बात को नहीं मानते। वे कहते हैं कि कुछ तो एक ही हैं और कुछ भिन्न २ हैं, परन्तु भिन्न २ होने पर भी उक्त दोष नहीं आता कारण कि क्रिमि अनेक प्रकार के होते हैं उनमें से किन्हीं का अन्वेषण चरक ने और किन्हीं का सुश्रुत ने किया है और उन्होंने जो २० संख्या कही है, यह भी उपलक्षणमात्र ही है। एवं जब क्रिमि अनेक हैं, तो दोनों ही आचार्यों के मन्तव्य माननीय हैं। एवं प्रमेह कुष्ठ आदि में भी जानना चाहिये।

मधु०—कफजानाह—कफादित्यादि। कफनिमित्ताः क्रिमयो य आमाशये जायन्ते, ते च वृद्धाः सन्तः सर्वत ऊर्ध्वमधश्च सर्पन्ति; एवं पुरीषजादिषु द्रष्टव्यम्। ब्रध्नश्चर्मलता, ब्रध्नीति लोके, एवं प्रसिद्धम्। तनवः परिणाहेन, दीर्घा आयामेन, अणवः उभाभ्यामपि स्वल्पाः। ते इति कफजाः। सप्त नामानि विवृणोति—अन्त्रादा इत्यादि। एते च नामविशेषाः केचित्सान्वयाः केचिन्निरन्वया व्यवहारार्थं पूर्वाचार्यैः प्रणीताः; एवं वक्ष्यमाणेष्वपि बोध्यमिति ॥७-१०॥

रक्तजक्रिमीणां रूपसङ्ख्यानामकर्माणि विवृणोति—

रक्तवाहिसिरास्थाना रक्तजा जन्तवोऽणवः ॥११॥ [वा० ३।१४]
अपादा वृत्तताम्राश्च सौक्ष्म्यात्केचिददर्शनाः।
केशादा रोमविध्वंसा रोमद्वीपा उदुम्बराः॥
षट् ते कुष्ठैककर्माणः सहसौरसमातरः ॥१२॥ [वा० ३।१४]

१ [illegible]

रक्तवाहिनी शिराओं में रक्त से होने वाले क्रिमि अति सूक्ष्म, पादरहित, गोल और ताम्रवर्ण होते हैं। उनमें से कई अति सूक्ष्म होने से दीखते भी नहीं हैं। वे केशाद, रोमविध्वंस, रोमद्वीप, उदुम्बर, सौरस और (जन्तु) मातर इन नामों वाले छः क्रिमि कुष्ठरोग को करते हैं; अथवा कुष्ठरोग के समान हर्ष-कण्डूतोदादि, केश श्मश्रु लोमनाशादि और त्वचा शिरा स्नायु मांसतरुणास्थि (कार्टिलेज) आदि का भक्षण करते हैं।

मधु०—रक्तजानाह—रक्तेत्यादि। रक्तवाहिसिरास्थानाश्च ते रक्तजाश्चेति रक्तवाहिसिरास्थानरक्तजाः; अथवा रक्तवाहिसिरास्थानं यद्रक्तं तज्जाः। नामभेदात्ते षट्, तत्र केशादादयश्चत्वारः, सह सौरसनाममातृनामभ्यां क्रिमिभ्यां वर्तन्त इति सहसौरसमातरः, एवं षड् भवन्ति। कुष्ठैककर्माण इति कुष्ठमेवैकं कार्यं येषां ते तथा, कुष्ठजनका इति यावत्। उक्तं हि सुश्रुते—"सर्वाणि कुष्ठानि सवातानि सपित्तानि सश्लेष्माणि सक्रिमीणि चोपदिश्यन्ते॥" इति (सु. नि. स्था. अ. ५) ॥११-१२॥

पुरीषजक्रिमीणां रूपसङ्ख्यानामकर्माणि विवृणोति—

पक्काशये पुरीषोत्था जायन्तेऽधोविसर्पिणः।
प्रवृद्धाः स्युर्भवेयुश्च ते यदाऽऽमाशयोन्मुखाः॥१३॥ [वा० ३।१४]
तदाऽस्योद्गारनिःश्वासा विड्गन्धानुविधायिनः।
पृथुवृत्ततनुस्थूलाः श्यावपीतसितासिताः॥१४॥ [वा० ३।१४]
ते पञ्च नाम्ना क्रिमयः ककेरुकमकेरुकाः
सौसुरादाः सशूलाख्या लेलिहा जनयन्ति हि॥१५॥ [वा० ३।१४]
विड्भेदशूलविष्टम्भकार्श्यपारुष्यपाण्डुताः।
रोमहर्षाग्निसदनं गुदकण्डूर्विमार्गगाः॥१६॥ [वा० ३।१४]

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने क्रिमिनिदानं समाप्तम्॥१॥

पुरीषज क्रिमि पक्काशय में उत्पन्न होते हैं तथा वे नीचे गुदमार्ग की ओर जाते हैं; अथवा गुदमार्ग से निकलते हैं। परन्तु जब वे बहुत बढ़कर ऊपर आमाशय की ओर चलते हैं तब रोगी के उद्गार (डकार) और निःश्वास विष्ठा की सी दुर्गन्धि वाले हो जाते हैं। पुरीषज क्रिमि दीर्घ, गोल, ह्रस्व वा स्थूल होते हैं। उनके वर्ण पीत, श्वेत वा कृष्ण होते हैं। एवं उनके ककेरुक, मकेरुक, सौसुराद, सशूल, लेलिह इन पांच नामों से पांच प्रकार हैं। एवं इन सब प्रकार के क्रिमियों के नामों में कुछ निरर्थक और कुछ सार्थक नाम हैं। उदाहरण ऊपर दे दिया है। जब ये पुरीषज क्रिमि विमार्गगामी हो जाते हैं तो विड्भेद, शूल, विष्टम्भ, कृशता, कर्कशता (खरखरापन), पाण्डुता, रोमहर्ष (रोंगटों का खड़े होना), अग्निमान्द्य और गुदा में खुजली होनी, इन रोगों को उत्पन्न करते हैं।

मधु०—पुरीषजानाह—पक्वाशय इत्यादि । अधोविसर्पिण इति गुदनिःसरणशीलाः, ते यदाऽतिवृद्धाः सन्त आमाशयोन्मुखा भवेयुस्तदाऽस्य रोगिण उद्गारनिःश्वासा विड्गन्धानुविधायिनः पुरीषगन्धयुक्ता भवन्तीति योज्यम् । शेषं सुबोधम् ॥१३–१६॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां क्रिमिनिदानं समाप्तम् ॥७॥

इसका अर्थ सरल ही है ।

अथ पाण्डुरोगकामलाकुम्भकामला-हलीमकनिदानम् ।

पाण्डुरोगस्य भेदानाह—

पाण्डुरोगाः स्मृताः पञ्च वातपित्तकफैस्त्रयः ।
चतुर्थः सन्निपातेन पञ्चमो भक्षणान्मृदः ॥१॥ [च० १६।१६]

पाण्डुरोग पांच प्रकार का होता है। तद्यथा—वात पित्त कफ से तीन प्रकार का और चौथा सन्निपात से तथा पांचवां मिट्टी के खाने से होता है ।

मधु०—पुरीषजाः क्रिमयः सूक्ष्माः पाण्डुतां जनयन्ति, अतः क्रिमेरनन्तरं पाण्डुरोगमाह—पाण्डुरोगा इत्यादि । पाण्डुत्वेनोपलक्षितो रोगः पाण्डुरोगः । चरके अष्टोदरीयाध्याये—"पञ्च पाण्डुरोगाः" (च. सू. स्था. अ. १९)—इत्यभिधायापि "पाण्डुरोगाः स्मृताः पञ्च" (च. चि. स्था. अ. १६)—इति यदेतत्पुनश्चरकवचनं तत् पञ्चानामपि साध्यत्वं बोधयति, नतु पञ्चोन्मादेष्विव सान्निपातिकस्यासाध्यत्वमिति जेज्जटः; न्यूनसंख्याव्यवच्छेदार्थमिति चक्रः । ननु, सुश्रुते हि मृत्तिकाजो न पठितः; मृत्तिकाऽपि दोषप्रकोपद्वारेणैव पाण्डुरोगं जनयतीति; यदुक्तम्—"कषाया मारुतं पित्तमूषरा मधुरा कफम् ।" (च. चि. स्था. अ. १६) इति; निदानभेदाच्च रोगभेदे रोगानन्त्यप्रसङ्गः, वातजस्यापि रूक्षशीताद्यनेकवातनिदानकुपितवातजन्यत्वात् । उच्यते, दोषजत्वाविशेषेऽपि विशिष्टरूपचिकित्साप्रतिपादनार्थं पृथगभिधानं, मूत्रान्त्रवृद्धिवत्; सुश्रुतेन तु पराधिकारेषु न विस्तरोक्तिरित्यभिप्रायेण न पृथक्कृतः । चिकित्सा तु दोषचिकित्सयाऽपि भवतीति ॥१॥

(चरक इति—) चरक अष्टोदरीय अध्याय में 'पाण्डुरोग पांच प्रकार का होता है' यह कहकर भी जो 'पाण्डुरोग पांच प्रकार का कहा है' यह चरक चिकित्सा अध्याय १६ का वचन है। यह पांचों की ही साध्यता का बोधक है, न कि पांच उन्मादों में से सन्निपातज उन्माद की असाध्यता का बोधक है, यह जेज्जटाचार्य का मन्तव्य है । चक्रपाणि का मन्तव्य यह है कि पाण्डु पांच से कम नहीं हैं । सुश्रुत मृत्तिकाजन्य पाण्डुरोग नहीं है, वस्तुतः मिट्टी भी दोषप्रकोपण के द्वारा ही पाण्डुरोग को उत्पन्न करती है । जैसे कहा भी है कि—कसैली मिट्टी वायु को, ऊपर या नमकीन पित्त को और मधुर कफ को प्रकुपित करती है । अतः पृथक् पाण्डुरोग नहीं मानना चाहिये, और यदि यहां निदान की विशेषता के भेद से व्याधि भेद स्वीकार किया है, यह माना जावे तो प्रथम केवल वातिक रोग ही, रूक्ष शीत

१. नाम—सं० पाण्डुरोग, हि० पीलिया, इ० अनिमिया. २ दोषचिकित्सायामन्तर्भवति.

आदि अनेक वात के निदानों से प्रकुपित वातजन्य होने से, अनेक होंगे। इस प्रकार रोग अनन्त हो जाते हैं। इस कारण इस प्रकार भी मृत्तिका से होने वाले पाण्डुरोग को पृथक् नहीं मानना चाहिये। इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार वातिक अन्त्रवृद्धि और मूत्रान्त्रवृद्धि में दोषों की विशेषता[1] न होने पर भी दोनों को भिन्न २ ही कहा है उसी प्रकार यहां भी किसी दोष की विशेषता न होने पर भी विशेष रूप और विशेष चिकित्सा बताने के लिये मृत्तिकाजन्य पाण्डुरोग पृथक् कहा[2] है। परन्तु 'दूसरे के अधिकार में विस्तारपूर्वक नहीं कहना चाहिये' इस अभिप्राय को लेकर सुश्रुत ने इसे पृथक् नहीं पढ़ा, और उसने चिकित्सा भी दोषों की चिकित्सा में ही मान ली है।

पूर्वार्द्धेन कारणमुत्तरार्द्धेन सम्प्राप्तिञ्चास्य निरूपयति—

व्यायाम[3]मम्लं लवणानि मद्यं मृदं दिवास्वप्नमतीव तीक्ष्णम्।
निषेवमाणस्य प्रदूष्य[4] रक्तं दोषास्त्वचं पाण्डुरतां नयन्ति ॥२॥ [सु० ६।४४]

व्यायाम, अम्ल और लवण पदार्थ, शराब, मिट्टी, दिन में सोना तथा राई आदि अति तीक्ष्ण पदार्थों को सेवन करते हुए पुरुष के दुष्ट वातादि दोष रक्त को दूषित करके त्वचा को पाण्डु (पीले) वर्ण की कर देते हैं।

मधु०—संप्राप्तिमाह—व्यायाममित्यादि।—रक्तमित्युपलक्षणं, तेन त्वङ्मांसमपि दूष्यत्वेन दृढबलेन पठितं, हारीतेन रसोऽपीति ॥२॥

पाण्डुरोगस्य पूर्वरूपमवतारयति

त्वक्स्फोटन[5]ष्ठीवनगात्रसादमृद्भक्षणप्रेक्षणकूटशोथाः ।
विण्मूत्रपीतत्वमथाविपाको भविष्यतस्तस्य पुरःसराणि ॥३॥ [सु० ६।४४]

त्वचा का कुछ २ फूटना, थूक का आना, गात्रों में पीड़ा, मिट्टी के खाने की इच्छा होनी, आँखों पर सूजन, मल और मूत्र का पीला आना और अन्न का न पकना; ये पाण्डुरोग के पूर्वरूप हैं।

मधु०—पूर्वरूपमाह—त्वगित्यादि। त्वक्स्फोटनं त्वचः किंचिद्विदरणम्। मृद्भक्षणं मृद्भक्षणेच्छा। प्रेक्षणकूटशोथो अक्षिगोलकशोथः। अविपाक आहारस्य। पुरःसराणि पूर्वरूपाणि ॥३॥

---

१ विशेषस्तु पृथक्त्वकृत (च. सू. स्था. अ. १.) २ किञ्च, मृदद्नाद्रोगान्तरमन्तरा पाण्डुरोग एव भवतीत्येकान्तिकत्वादस्य हेतोरप्यत्र वैशिष्ट्यम्। न चैवं छर्द्यामपि मक्षिकाभक्षणजन्यस्य छर्देरधिकभेदसम्भव इति वाच्यम्, तस्य बीभत्सालोचनेऽन्तर्भावात्। न चात्रालोचकशब्देनेन्द्रियसन्निकर्ष एव ग्रहणान्मक्षिकायाश्च गुप्तरूपेणापि जठरे गमनाच्छर्दिर्जायत इति न तस्य तत्रान्तर्भाव इति वाच्यम्, आलोचनशब्दस्य परामर्शनरूपार्थसत्त्वात्; आदिशब्देन सर्वग्रहणाच्च सम्भवति तस्यास्तत्रान्तर्भावः। किञ्च मृज्जपाण्डोः सम्प्राप्तिरपि विशिष्टेवेति. ३ आतङ्कदर्पणकारस्तु अत्र 'व्यवायमम्ल'मिति पाठमुररीकृत्य व्याचष्टे। सुश्रुतेऽप्ययमेव पाठो दृश्यते. ४ समेत्य रक्तं कुर्वन्ति दोषास्त्वचि पाण्डुभावम्. ५ त्वक्स्फोटनं ष्ठीवनगात्रसादौ मृद्भक्षणं प्रेक्षणकूटशोथः.

वातिकपाण्डुगदस्य लक्षणमाह—

त्वङ्मूत्रनयनादीनां रूक्षकृष्णारुणाभता ।
वातपाण्ड्वामये तोदकम्पानाहभ्रमादयः ॥४॥

वातिक पाण्डु रोग में त्वचा मूत्र नेत्र आदि रूक्ष, काले वा अरुणवर्ण के हो जाते हैं, शरीर में सुइयों की सी चुभान और कँपकँपी होती है। एवं इस रोग में अफारा भ्रम आदि लक्षण भी होते हैं।

मधु०—वातिकलक्षणमाह–त्वगित्यादि। अत्र कृष्णारुणाभता न पाण्डुतामतिक्रामति, अन्यथा पाण्डुरोगत्वाभावः । उक्तं च सुश्रुते–"सर्वेषु चैतेष्विह पाण्डुभावो यतोऽधिकोऽतः खलु पाण्डुरोगः" (सु. उ. तं. अ. ४४)–इति। भ्रमादय इति आदिशब्देन भेदशूलादीनां ग्रहणम् ॥४॥

उक्त वातिक पाण्डु रोग में होने वाले त्वचा आदि के कालापन वा अरुणापन लक्षण पाण्डु वर्ण को आच्छादित नहीं करते, अर्थात् पाण्डुता रहती ही है, अन्यथा वहां पाण्डु रोग ही नहीं बन सकता। सुश्रुत ने कहा भी है कि इन सब भावों में चूंकि पाण्डु भाव अधिक होता है, इसलिये यहां पाण्डु रोग माना जाता है।

पैत्तिकपाण्डुगदस्य स्वरूपमाह—

पीतमूत्रशकृन्नेत्रो दाहतृष्णाज्वरान्वितः ।
भिन्नविट्कोऽतिपीताभः पित्तपाण्ड्वामयी नरः ॥५॥

जिस मनुष्य को पैत्तिक पाण्डु रोग होता है उसके मूत्र मल नेत्रादि पीत वर्ण के होते हैं; वह दाह, पिपासा और ज्वर से युक्त होता है; उसे मल फटा हुआ आता है तथा उसकी कान्ति अति पीत वर्ण की हो जाती है।

मधु०—पैत्तिकलक्षणमाह—पीतेत्यादि। ननु, पित्तपाण्ड्वामयीति न युक्तं, पाण्डुरोगस्य पित्तकार्यत्वादेव। उच्यते, इतरदोषासंश्लिष्टप्रबलपित्तजन्यत्वेन पैत्तिकाभिधानं, यथा—पैत्तिकरक्तपित्तमिति ॥५॥

(ननु—) 'पैत्तिक पाण्डु रोगी' ऐसा कहना उचित नहीं है कारण कि पाण्डु रोग होता ही पित्त से है। एवं जब वह पित्त का ही कार्य है तो 'पैत्तिक पाण्डुरोग' इस पद में पैत्तिक विशेषण व्यर्थ है। इस पर कहते हैं कि यहां पैत्तिक पाण्डुरोग कहने से पित्तातिरिक्त दोष संबन्ध के बिना प्रबल पित्त से होने वाला पाण्डुरोग गृहीत होता है और यही पैत्तिक विशेषण का फल है। एवं अन्यत्र भी जैसे रक्त पित्त में पैत्तिक रक्त पित्त कहा जाता है जानना चाहिये। यहां भी दूसरे दोषों के संश्लेष के बिना प्रबल पित्तजन्य होने के कारण (रक्त पित्त में) पैत्तिक विशेषण का व्यपदेश किया है। जैसे यहां किया है, वैसे प्रकृत पाण्डुरोग में है।

श्लैष्मिकपाण्डुगदस्य रूपमभिदधाति—

कफप्रसेकश्वयथुतन्द्रालस्यातिगौरवैः ।
पाण्डुरोगी कफाच्छुक्लैस्त्वङ्मूत्रनयनाननैः ॥६॥

पाण्डुरोग में कफ का स्राव, सूजन, तन्द्रा[1], आलस्य, और गौरव, ये लक्षण होते हैं, एवं उस रोगी की त्वचा, मूत्र, नेत्र और मुख श्वेत होता है।

मधु०—श्लैष्मिकलक्षणमाह—कफप्रसेकेत्यादि। कफाद्यः पाण्डुरोगी स शुक्लैस्त्वङ्मूत्रनयनाननैरुपलक्षित इति योज्यम् ॥६॥

सान्निपातिकपाण्डुगदस्य रूपमसाध्यताञ्चाह—

ज्वरारोचकहृल्लासच्छर्दितृष्णाक्लमान्वितः ।
पाण्डुरोगी त्रिभिर्दोषैस्त्याज्यः क्षीणो हतेन्द्रियः ॥७॥

ज्वर, अरुचि, हृल्लास, वमन, पिपासा और क्लम[2] इनसे युक्त क्षीण और अपने २ विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ इन्द्रियों वाला त्रिदोषज पाण्डुरोगी (असाध्य होने के कारण) त्याज्य है।

मधु०—सान्निपातिकस्तु प्रकृतिसमसमवेतत्वेन उक्तवातजादिलक्षणैरेव बोद्धव्यः। उक्तं हि चरके-"सर्वान्नसेविनः सर्वे दुष्टा दोषास्त्रिदोषजम्। त्रिलिङ्गं संप्रकुर्वन्ति[3] पाण्डुरोगं सुदुःसहम्" (च. चि. स्था. अ. १६)-इति। तस्यैव सोपद्रवस्यासाध्यत्वमाह—ज्वरारोचकेत्यादि। हतेन्द्रियः स्वविषयाग्राहकेन्द्रियः ॥७॥

मृद्भक्षणजनितपाण्डुगदस्य सम्प्राप्तिमाह—

मृत्तिकादनशीलस्य कुप्यत्यन्यतमो मलः ।
कषाया मारुतं पित्तमूषरा मधुरा कफम् ॥८॥ [च० ६।१६]
कोपयेन्मृद्रसादींश्च रौक्ष्याद्भुक्तं[4] च रूक्षयेत् ।
पूरयत्यविपक्वैव स्रोतांसि निरुणद्ध्यपि[5] ॥९॥ [च० ६।१६]
इन्द्रियाणां[6] बलं हत्वा तेजो वीर्यौजसी तथा ।
पाण्डुरोगं करोत्याशु बलवर्णाग्निनाशनम् ॥१०॥ [च० ६।१६]

जो मनुष्य मिट्टी खाने वाला होता है उसका (वातादि में से) कोई एक दोष प्रकुपित हो जाता है, क्योंकि कषाय मिट्टी वायु को, ऊषर (नमकीन) पित्त को और मीठी कफ को प्रकुपित करती है, (एवं यथासम्भव दोषों के प्रकुपित होने पर वही) मिट्टी रसरक्तादि धातुओं को भी प्रकुपित (दूषित) कर देती है (दोषों के प्रभाव से), और स्वभाव से रूक्ष होने से खाई हुई रूक्ष मिट्टी उन्हीं रस रक्त आदि धातुओं को रूक्ष कर देती है, एवं जठराग्नि से न पककर वही मिट्टी स्रोतों को भर देती है और बन्द भी कर देती है। इसके बाद वह इन्द्रियों की स्वविषयग्रहण शक्ति को तथा तेज अर्थात् दीप्ति वा ऊष्मा को, एवं शारीरिक शक्ति और ओज अर्थात् रसादि शुक्रान्त धातुओं की तथा परम सार वा शत्रुओं को तिरस्कृत करने की

१ इन्द्रियार्थेष्वसंवित्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः। निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत् ॥ (सु. शा. स्था. अ. ४). २ योऽनायासः श्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः। क्लमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रबाधकः ॥ (सु. शा. स्था. अ. ४). ३ त्रिदोपलिङ्गं कुर्वन्ति. ४ रौक्ष्याद्भुक्तं विरूक्षयेत्. रौक्ष्याद् भुक्तं विरूक्ष्य च. ५ निरुणद्धि च. ६ इन्द्रियाणां बलं तेज ओजो वीर्यं निहत्य च.

शक्ति को नष्ट कर बल, वर्ण और अग्नि के नाश करने वाले पाण्डु रोग को शीघ्र ही कर देती है।

मधु०—मृज्जसंप्राप्तिमाह—मृत्तिकेत्यादि । अन्यतमो मलो वातादिः । ऊषरा सक्षारा । रसादीन् रूक्षयेत्, भुक्तं च रूक्षयेदिति योज्यम् । रौक्ष्यात् प्राकृतिकोद्भूतरौक्ष्यगुणात् । अविपक्वैव कोष्ठधात्वग्निभिः पाकं न गत्वैव, स्रोतांसि रसवहादीनि, पूरयति रुणद्धि च । इन्द्रियाणां बलं स्वविषयग्रहणशक्तिम् । तेजो दीप्तिरिति जेज्जटः, ऊष्मेति चक्रः । वीर्यं शक्तिः । ओजः सर्वधातुसारभूतं हृदयस्थमिति पराशरः, पराभिभवेच्छेति जेज्जटः ॥८–१०॥

मृद्भक्षणोत्थपाण्डुगदस्य रूपमवतारयति—

शूनाक्षिकूटगण्डभ्रूः शूनपान्नाभिमेहनः ।
क्रिमिकोष्ठोऽतिसार्येत मलं सासृक्कफान्वितम् ॥११॥ [च० ६।१६]

अक्षि कूटों में, कपोलों तथा भ्रुवों पर, पैरों में, नाभि पर और शिश्न में शोथ वाला क्रिमिकोष्ठी मृज्ज पाण्डुरोगी रक्त और कफ से युक्त मल अतिसार के रूप में त्यागता है। इसका भाव यह है कि अक्षिकूट, कपोल, भौं पाद, नाभि और शिश्न इनमें शोथ होना, उदर में क्रिमियों का होना और रक्त तथा कफमिश्रित मल का अतिसार रूप में प्रवृत्त होना मिट्टी से उत्पन्न पाण्डुरोग के लक्षण हैं।

मधु०—मृज्जस्य लक्षणमाह—शूनेत्यादि । सर्वपाण्डुरोगेषु क्रिमिकोष्ठता यदा स्यात्तदैतल्लक्षणमिति जेज्जटः, मृत्तिकाजानन्तरपठितत्वेन तस्यैव लक्षणमित्यन्ये । विदेहे तु पठ्यते—"मृद्भक्षणाद्भवेत् पाण्डुस्तन्द्रालस्यनिपीडितः । सश्वासकासशोपार्शःसादारुचिसमन्वितः । शूनपादाननकरः कृशाङ्गः कृशपावकः"–इति ॥११॥

जेज्जट, जब कि सब पाण्डुरोगों में कृमिकोष्ठता हो जावे तब शूनाक्षि इत्यादि लक्षण होते हैं, यह मानता है। परन्तु मृज्ज पाण्डुरोग के अनन्तर पठित होने के कारण ये मृज्ज पाण्डु के ही लक्षण हैं, यह दूसरे आचार्य मानते हैं। विदेहपठित 'सादारुचिसमन्वितः' के स्थान पर 'स्यादरुचिसमन्वितः' वा 'सदारुचिसमन्वितः' यह पाठ उपयुक्त प्रतीत होता है, परन्तु उक्त पाठ भ्रम से छप गया प्रतीत होता है और अन्य प्रतियों में 'सदारुचिः' ऐसा पाठ उपलब्ध भी होता है।

पाण्डुगदस्य प्रत्याख्येयतालक्षणानि सविस्तरं वर्णयति—

पाण्डुरोगश्चिरोत्पन्नः खरीभूतो न सिध्यति ।
कालप्रकर्षाच्छूनानां यो वा पीतानि पश्यति ॥१२॥ [च० ६।१६]
बद्धाल्पविट् सहरितं सकफं योऽतिसार्यते ।
दीनः श्वेतातिदिग्धाङ्गश्छर्दिमूर्च्छातृडर्दितः ॥१३॥ [च० ६।१६]

१. [illegible] (सु. उ. स्था. अ. ४४) २. [illegible] (अ. हृ. स्था. १३) ३. [illegible] ४ [illegible]
६. [illegible] ७ [illegible]

स नास्त्यसृक्क्षयाद्यश्च पाण्डुः श्वेतत्वमाप्नुयात्।
पाण्डुदन्तनखो यस्तु पाण्डुनेत्रश्च यो भवेत्।
पाण्डुसंघातदर्शी च पाण्डुरोगी विनश्यति ॥१४॥ [च० १६।१५]
अन्तेषु शूनं परिहीणमध्यं, म्लानं तथाऽन्तेषु च मध्यशूनम्।
गुदे च शेफस्यथ मुष्कयोश्च शूनं प्रताम्यन्तमसंज्ञकल्पम्[1]।
विवर्जयेत्पाण्डुकिनं यशोऽर्थी, तथाऽतिसारज्वरपीडितं च ॥१५॥ [सु० ६।४४]

चिरकाल से उत्पन्न पाण्डुरोग काल के अधिक हो जाने के कारण पुराना हो जाने से साध्य नहीं रहता, किञ्च काल का प्रकर्ष न होने पर भी उस शोथ वाले रोगी का पाण्डुरोग, जो कि सब वस्तुओं को पीतवर्ण की देखता है, साध्य नहीं है। अथवा चिरकाल से उत्पन्न तथा रूक्ष रसादि धातुओं वाला पाण्डुरोगी साध्य नहीं होता, किञ्च उस शोथी मनुष्य का बहुत काल से उत्पन्न पाण्डुरोग जो कि सब पदार्थों को पीत वर्ण का देखता है, साध्य नहीं है। हरित वर्ण तथा कफ से युक्त बँधा हुआ तथा थोड़ा मल जो पाण्डुरोगी त्यागता है वह भी असाध्य होता है। जो मनुष्य म्लान (हर्षरहित) श्वेतता से लिप्त से अङ्गों वाला तथा वमन, मूर्च्छा और पिपासा से पीड़ित होता है वह मनुष्य नहीं है (ऐसा जानना चाहिये) अर्थात् उसकी मृत्यु निकट ही है। यहां 'स नास्ति' यह वर्तमान कालीन क्रिया 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार 'स न भविष्यति' के स्थान पर दी गई है। जो पाण्डुरोग रक्त के क्षय होने से श्वेतता को प्राप्त हो जाता है, वह भी असाध्य होता है। जिस पाण्डुरोगी के दांत, नख और नेत्र पाण्डुवर्ण हो जाते हैं तथा जो पदार्थजात को पाण्डुवर्ण का वा नेत्र की किरणों से बाहर आए हुए पुञ्जीभूत पित्त को ही देखता है वह मर ही जाता है। जो पाण्डुरोगी शरीर के अन्तिम अर्थात् बाहु, जङ्घा, सिर भाग से शोथी तथा मध्य अर्थात् कटि भाग से क्षीण होता है वह असाध्य होता है। एवं जो शरीर के अन्तिम भागों से क्षीण और मध्य भाग से शोथयुक्त होता है। वह भी असाध्य होता है। गुदा, लिङ्ग और फलकोष ये जिसके सूज गए हैं उस दुःखी और मरे हुए, पाण्डुरोगी की यश को चाहने वाला मनुष्य चिकित्सा न करे तथा जो पाण्डुरोगी अतिसार और ज्वर से पीड़ित हो, यश चाहने वाला वैद्य उसकी भी चिकित्सा न करे क्योंकि ये असाध्य ही हैं।

मधु०—असाध्यलक्षणमाह-पाण्डुरोग इत्यादि। पाण्डुरोगश्चिरोत्पन्नः कालप्रकर्षात् खरीभूतो जठरतां गतो न सिध्यति, अचिरोत्पन्नोऽपि शूनानां मध्ये यो वा पीतानि पश्यति स पाण्डुरोगी न सिध्यतीत्यपरमसाध्यलक्षणमिति जेज्जटस्य योजना। चक्रस्त्वाह—"चिरोत्पन्नः खरीभूतोऽत्यर्थरूक्षितसर्वधातुर्न सिध्यति, तथा कालप्रकर्षादित्यादिनाऽपरमसाध्यलक्षणम्"—इति। अत्र शूनानां शोथवतां मध्ये यो वा पीतानि पश्यति स न सिध्यतीति। 'शूनो ना' इति पाठान्तरे ना

१ मुष्कशूनं, प्रताम्यमानं च विसंज्ञकल्पम्.

पुरुषः। 'शूनाङ्गो यो वा पीतानि पश्यति' इति पाठान्तरं सुगमम्। अपरमसाध्यलक्षणमाह—वद्धेत्यादि। अत्र सकफत्वेऽपि वद्धत्वाल्पत्वहरितत्वानि व्याधिप्रभावात्, वद्धाल्पस्थाने वहुलमिति पाठान्तरम्। विट्शब्दो नपुंसकोऽप्यस्तीत्येतन्निर्देशादेवोन्नेयमित्याहुः। अपरमसाध्यलक्षणमाह—दीन इत्यादि। दीनः ग्लानः। श्वेतातिदिग्धाङ्ग इति श्वेतवर्णलिप्ताङ्ग इवेत्यर्थः। स नास्ति नष्ट इव असाध्य इत्यर्थः। अपरमाह—अरुगित्यादि। अपरमसाध्यलक्षणमाह—पाण्डुदन्तेत्यादि। पाण्डुसंघातदर्शी नयनरश्मिसहचरितं वहिर्निर्गतं पित्तं संपिण्डितं पश्यति। अपरमसाध्यलक्षणमाह—अन्तेष्वित्यादि।—अन्तेषु वाहुजङ्घाशिरःसु, शूनं शोथयुक्तम्। परिहीणमध्यं दुर्वलमध्यदेहम्। एतद्वैपरीत्येनापरमसाध्यलक्षणमाह—म्लानमित्यादि। म्लानं दुर्वलम्। असंज्ञकल्पं मृतप्रायम्। एवंविधं पाण्डुकिनं पाण्डुरोगिणं यशोर्थी वैद्यो विवर्जयेदिति। अत्र सौश्रुतश्लोके पाण्डुकिनमित्यत्र पालकिनमिति पाठान्तरं, युक्तं चैतत्; एवं हि पठ्यमाने पाण्डुरोगावस्थाविशेषस्य पालकिनो लक्षणमपि कृतं स्यात्। उक्तं हि सुश्रुते–"सकामलापालकिपाण्डुरोगः कुम्भाह्वयो लाघवकोऽलसाख्यः" (सु. उ. तं. अ. ४४)–इति। अनेनैवाभिप्रायेण कश्चिदभियुक्तो लिखितवान्–"अन्ते शूनः कृशो मध्येऽन्यथा च गुदशेफसि। शूनो ज्वरातिसारार्तो मृतकल्पस्तु पालकी"—इति ॥१२-१५॥

पाण्डववस्थान्तरस्वरूपां कामलां लक्षयति—

पाण्डुरोगी तु योऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते।
तस्य पित्तमसृङ्मांसं दग्ध्वा रोगाय कल्पते ॥१६॥ [च० १६।३६]
हारिद्रनेत्रः स भृशं हारिद्रत्वङ्नखाननः।
रक्तपीतशकृन्मूत्रो भेकवर्णो हतेन्द्रियः ॥१७॥ [च० १६।१६]
दाहाविपाकदौर्बल्यसदनारुचिकर्षितः।
कामला वहुपित्तैषा कोष्ठशाखाश्रया मता ॥१८॥ [च० १६।१६]

जो मनुष्य पाण्डुरोग से ग्रस्त होने पर भी पित्तवर्धक पदार्थों का सेवन करता रहता है, उसका पित्त और रक्त मांस को दूपित कर कामला रोग को उत्पन्न कर देता है। एवं रोगी अत्यर्थ हल्दी के से वर्ण वाले नेत्र, त्वचा, नख और मुख वाला हो जाता है। उसका मल मूत्र लाली लिए हुए पीतवर्ण का हो जाता है तथा उसका अपना वर्ण मेंढक सा हो जाता है और उसकी इन्द्रियां अपने २ विषय को ग्रहण करने में असमर्थ हो जाती हैं। दाह, अन्न का न पचना, दुर्वलता, अङ्गों में पीड़ा और अरुचि इनसे अभिभूत वह कामला रोग वहुत पित्त वाला होता है और वह कामला दो प्रकार की होती है—एक कोष्ठाश्रय और दूसरी शाखा (रक्तादि) आश्रय। उक्त पद्य में कामला की उत्पत्ति पाण्डु से बतलाई है, परन्तु इसका यह भाव नहीं कि यह अवश्य ही पाण्डु से हो, प्रत्युत इसकी उत्पत्ति प्रमेहपिडिकाओं की तरह अन्यथा भी हो सकती

है। इस पर सुश्रुतानुवादी वाग्भट का वचन भी है कि 'भवेत् पित्तोल्बणस्यासौ पाण्डुरोगादृतेऽपि च" (वा. नि. स्था. अ. १३)।

मधु०—पाण्डुरोगावस्थायां कामलामाह—पाण्डुरोगीत्यादि। दग्ध्वा संदूष्य। रोगाय कामलारूपाय। भेकवर्णः प्रावृषेण्यभेकवर्णः। कोष्ठशाखाश्रयेति एका कोष्ठाश्रय, अपरा शाखाश्रया; शाखा रक्तादयो धातवः। स्वतन्त्राऽपि कामला भवति, यथा राजयक्ष्मा स्वतन्त्र उपेक्षितेष्वपि कासेषु भवतीत्याहुः ॥१६–१८॥

कामलावस्थान्तरस्वरूपां कुम्भकामलामाह—

कालान्तरात् खरीभूता कृच्छ्रा स्यात्कुम्भकामला।

बहुत काल व्यतीत हो जाने से पुरानी वा अत्यर्थ रूक्षित सर्व धातुयुक्त अथवा कठोर हुई २ कामला कुम्भ कामला कहलाती है और यह कृच्छ्रसाध्य होती है। अवस्थाभेद से कोष्ठगत कामला की ही कुम्भकामला यह संज्ञा है। इसमें शोथ की बहुलता उपलक्षण है। तद्यथाह सुश्रुतः—"भेदस्तु तस्याः खलु कुम्भसाह्वः शोफो महांस्तत्र च पर्वभेदः"–(सु. उ. तं. अ. ४४)।

मधु०—तस्या अवस्थान्तरं कुम्भकामलामाह—कालान्तरादित्यादि। खरीभूतेति पूर्ववद्व्याख्येयम्। कृच्छ्रा च कृच्छ्रसाध्या। कुम्भः कोष्ठः, अन्तःशुषिरसाधर्म्यात्; तद्गता कामला कुम्भकामला, कोष्ठाश्रयेत्यर्थः ॥—

कामलाया असाध्यतां दर्शयति—

कृष्णपीतशकृन्मूत्रो भृशं शूनश्च मानवः ॥१९॥ [च० ६।१६]
सरक्ताक्षिमुखच्छर्दिविण्मूत्रो यश्च ताम्यति।
दाहारुचितृडानाहतन्द्रामोहसमन्वितः ॥२०॥ [च० ६।१६]
नष्टाग्निसंज्ञः क्षिप्रं हि कामलावान्विपद्यते। [च० ६।१६]

जो मनुष्य कृष्ण वा पीत मल मूत्र वाला तथा प्रबल शोथयुक्त एवं रक्त नेत्र, रक्त मुख, रक्त वमन, रक्त मल और रक्त मूत्र वाला होता है और जिसे मूर्च्छा भी आ जाती है वह तथा दूसरा जो दाह, अरुचि, पिपासा, अफ़ारा, तन्द्रा और मूर्च्छा से युक्त, नष्टाग्नि और नष्टसंज्ञ होता है, यह दोनों कामला के रोगी शीघ्र ही मर जाते हैं।

मधु०—कामलाया असाध्यलक्षणमाह—कृष्णेत्यादि। कृष्णेत्यादिना ताम्यतीत्यन्तेनैकमसाध्यलक्षणम्। ताम्यति मुह्यति। दाहेत्यादिना विपद्यत इत्यन्तेनापरमसाध्यलक्षणमिति जेज्जटः ॥१९–२०॥

कुम्भकामल्यसाध्यतामुखेन कुम्भकामलाया असाध्यतामाह—

छर्द्यरोचकहृल्लासज्वरक्लमनिपीडितः ॥२१॥
नश्यति श्वासकासार्तो विड्भेदी कुम्भकामली।

---

१ कुम्भमाहुः स्रोतो महांश्चापि स पर्वभेदः. २ संरक्ताक्षि. ३ प्रणष्टाग्निर्विसंज्ञश्च निर्यात्याशु स कामली.

वमन, अरुचि, हृल्लास, ज्वर और क्लम इनसे पीड़ित तथा श्वास और कास से दुःखित, विड्भेद युक्त कुम्भकामला का रोगी मर जाता है।

मधु०—कुम्भकामलिनोऽसाध्यलक्षणमाह—छर्दीत्यादि ॥२१॥

पाण्डुरोगावस्थान्तरस्वरूपं हलीमकं लक्षयति—

यदा तु पाण्डोर्वर्णः स्याद्धरितः श्यावपीतकः ॥२२॥ [च० १६।१६]
बलोत्साहक्षयस्तन्द्रा मन्दाग्नित्वं मृदुज्वरः।
स्त्रीष्वहर्षोऽङ्गमर्दश्च दाहस्तृष्णाऽरुचिर्भ्रमः।
हलीमकं तदा तस्य विद्यादनिलपित्ततः ॥२३॥ [च० १६।१६]

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने पाण्डुरोगकामलाकुम्भकामलाहलीमकनिदानं समाप्तम् ॥८॥

जब पाण्डुरोगी का वर्ण हरित (सागों के पत्ते के से वर्णवाला) वा नीलवर्ण अथवा पीतवर्ण हो जाता है, उसके बल और उत्साह का नाश हो जाता है, उसकी जठराग्नि मन्द हो जाती है और उसे मृदु ज्वर हो जाता है तथा जब उसमें स्त्री रमण की इच्छा का अभाव हो जाता है, अंगमर्द, दाह, तृष्णा, अरुचि और भ्रम होने लगता है, तब उसे कफ पित्त से होने वाला हलीमकरोग हो गया है, यह समझना चाहिये।

मधु०—पाण्डुरोगावस्थायां हलीमकमाह—यदेत्यादि। यदा तु पाण्डोः पाण्डुरोगिणः हरितादिवर्णयुक्तस्यैते उपद्रवा भवन्ति तदा तस्य वातपित्तकोपजं हलीमकं जानीयात्। हरितः शाकवर्णः। श्यावो नीलवर्णः। स्त्रीष्वहर्षः स्त्रीरिरंसाया अभावः। अङ्गमर्दोऽङ्गमोटनम्। लाघरकालसकादीनां पाण्डुरोगावस्थाविशेषाणां लक्षणं सुश्रुतादिष्वनुस्मर्तव्यमिति ॥२२, २३॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां पाण्डुरोगकामलाकुम्भकामलाहलीमकनिदानं समाप्तम् ॥८॥

अथ रक्तपित्तनिदानम्।

रक्तपित्तस्य समुत्थानं निरूपयति—

घर्मव्यायामशोकाध्वव्यवायैरतिसेवितैः।
तीक्ष्णोष्णक्षारलवणैरम्लैः कटुभिरेव च ॥१॥

तस्य सम्प्राप्तिमाह—

पित्तं विदग्धं स्वगुणैर्विदहत्याशु शोणितम्।
ततः प्रवर्तते रक्तमूर्ध्वं चाधो द्विधाऽपि वा ॥२॥ [सु० ३।४५]
ऊर्ध्वं नासाक्षिकर्णास्यैर्मेढ्रयोनिगुदैरधः।
कुपितं रोमकूपैश्च समस्तैस्तत्प्रवर्तते ॥३॥ [सु० ३।३]

[illegible] Haemorrhagic diathesis [illegible] Scurvy [illegible]

धूम, व्यायाम (कसरत), शोक, भ्रमण और मैथुन इनके अति सेवन से, मरिचादि तीक्ष्णवीर्य, अग्नितापादि उष्ण, क्षार, लवण, अम्ल और कटु पदार्थों के अति सेवन से; अपने तीक्ष्ण, द्रव, पूति आदि गुणों से प्रकुपित पित्त उन्हीं गुणों द्वारा शीघ्र ही रक्त को भी प्रकुपित कर देता है। इसके बाद वह रक्त और पित्त ऊपर से नीचे से वा एक ही वार दोनों मार्गों से आने लगता है। जब ऊपर से आता है तो उसके आने के ऊपर के मार्ग नासिका, नेत्र, कर्ण और मुख हैं और जब वह नीचे से आता है तो उसके मार्ग लिङ्ग, भग और गुदा हैं। एवं जब वह अति प्रकुपित हो जाता है तो समस्त रोमकूपों से भी स्रवित होने लगता है।

मधु०—पाण्डुरोगवद्रक्तपित्तस्यापि पित्तजन्यत्वात्तदनन्तरं रक्तपित्तनिदानमाह—धर्मेत्यादि। धर्म आतपः। तीक्ष्णं तीक्ष्णवीर्यं मरिचादि, उष्णोऽग्नितापः, क्षारो यवक्षारादिः, घण्टापाटल्यादिकृतश्च; विदग्धं कुपितम्। स्वगुणैरिति 'पित्तं तीक्ष्णं द्रवं पूति' इत्यादिभिः, विदहति कोपयति स्वगुणैरेव, "विदाहश्चास्य पित्तवत्" (सु. सू. स्था. अ. २१) इत्युक्तेः। ततः प्रवर्तते निःसरति, पित्तं रक्तं च धातुरूपं; नतु केवलं रक्तं, रक्तपित्तमिति व्यपदेशानुपपत्तेः। अथ पित्तेन दुष्टं रक्तं रक्तपित्तमित्युच्यते, तदा पित्तरक्तमिति व्यपदेशः प्रसज्येत, एतेन रक्तं च पित्तं चेति द्वन्द्वसमासान्निरुक्तिरुक्ता सुश्रुतेन। ननु, चरके रागपरिप्राप्तं पित्तं रक्तपित्तमित्युक्तं, तेन रक्तं च तत् पित्तं चेति कर्मधारयसमासेन निरुक्तिरुक्ता। अत्र च कारणत्रयमुक्तम्। यदाह—"संयोगाद्दूषणात्तत्तु सामान्याद्गन्धवर्णयोः। रक्तस्य पित्तमाख्यातं रक्तपित्तं मनीषिभिः॥" (च. चि. स्था. अ. ४.)—इति, तत्कथं न विरोधः? नैवम्, अत्रापि रक्तप्रवृत्तेः, दुष्टं हि रक्तं पित्ते रागमादधत्तत्संसर्गि रक्तं स्वयमपि प्रवर्तत इति पूर्व एवार्थः। तेन रक्तं च पित्तं चेति रक्तपित्तं, रक्तं च तत् पित्तं चेत्युभयथाऽपि निरुक्तावदोषः॥१-३॥

(पित्तं रक्तञ्चेति—) ऊपर नीचे वा दोनों मार्गों से पित्त और धातुरूप रक्त दोनों निकलते हैं, केवल रक्त ही नहीं निकलता। यदि केवल रक्त निस्सरण माना जावे तो व्याधि का नाम 'रक्तपित्त' नहीं हो सकता। पित्त से दुष्ट रक्त 'रक्तपित्त' कहलाता है परन्तु 'पित्त से दुष्ट रक्त' ऐसा स्वीकार करने से इस रोग का नाम रक्तपित्त न बनकर 'पित्तरक्त' यह बनता है। इसी आपत्ति को दूर करने के लिए सुश्रुत ने 'रक्तं च पित्तं च' (रक्त और पित्त) इति रक्तपित्तं (यह रक्तपित्त है) इस प्रकार द्वन्द्वसमास से निर्वचन किया है। अब यहां शंका होती है कि चरक में रक्तवर्ण को प्राप्त पित्त 'रक्तपित्त' कहा है, इससे 'रक्तं च तत् पित्तं चेति रक्तपित्तम्'—इस प्रकार की निरुक्ति कर्मधारय समास से बनती है। चरक ने इसमें तीन कारण भी बताए हैं। यथा—रक्त के साथ संयोग होने से, रक्त के दूपित होने से तथा रक्त का गन्ध और वर्ण पित्त में एक सा होने से विद्वानों ने रक्त का पित्त 'रक्तपित्त' कहा है। एवं जब कि सुश्रुत चरक का मन्तव्य (निर्वचन) एक नहीं है, तो फिर इनमें विरोध क्यों नहीं है? इस पर कहते हैं कि नहीं, चरक के मत में भी (पित्त के साथ) रक्त की प्रवृत्ति होने से विरोध नहीं है। इसके मत में भी दुष्टरक्त पित्त में लालिमा का आधान करता हुआ संसर्गि होने से स्वयं भी प्रवृत्त होता है, अतः चरक का भी सुश्रुतानुकूल ही अर्थ है। इससे 'रक्तं च पित्तं चेति रक्तपित्तम्' इस तथा 'रक्तं च तत् पित्तमिति [illegible]' इस निरुक्ति में कोई दोष नहीं है अर्थात् दोनों निरुक्तियां ठीक हैं।

रक्तपित्तस्य पूर्वरूपमाह—

सदनं शीतकामित्वं कण्ठधूमायनं वमिः ।
लोहगन्धिश्च निःश्वासो भवत्यस्मिन् भविष्यति ॥४॥ [सु० ६।४५]

अङ्गों में पीड़ा, शीत द्रव्यों में अभिलाषा, कण्ठ से धूएँ के निकलने की सी प्रतीति, वमन, आँच से पिघले हुए लोहे की गन्ध के समान श्वास से गन्ध का आना यह लक्षण होने से रक्तपित्त होने वाला है, यह जानना चाहिये अर्थात् उक्त लक्षण इसके पूर्वरूप हैं।

मधु०—पूर्वरूपमाह—सदनमित्यादि। कण्ठधूमायनं कण्ठाद्धूमनिर्गम इव प्रतीतिः ॥४॥

श्लैष्मिकरक्तपित्तस्य लक्षणं वर्णयति—

सान्द्रं सपाण्डु सस्नेहं पिच्छिलं च कफान्वितम् ।

श्लेष्मान्वित (श्लैष्मिक) रक्तपित्त घना, कुछ पाण्डुर, स्निग्ध तथा पिच्छिल (लेसदार) होता है। यहां वातादि क्रम का व्यति क्रम मार्गभेद की प्रधानता बताने के लिये किया है।

मधु०—श्लैष्मिकमाह—सान्द्रमित्यादि। सान्द्रं घनं, सपाण्डु सस्नेहमिति ईषत्पाण्डुस्नेहम् ॥—

वातिकरक्तपित्तस्य लक्षणमवतारयति—

श्यावारुणं सफेनं च तनु रूक्षं च वातिकम् ॥५॥ [च० ६।४]

वातिक रक्तपित्त शाकवर्ण श्यावता) लिए हुए, अरुण (रक्त) वर्ण, फेनवाला (झागदार), तरल और रूक्ष होता है।

मधु०—वातिकमाह—श्यावेत्यादि। तनु अघनम् ॥५॥

पैत्तिकरक्तपित्तस्य द्वन्द्वजादेश्च लक्षणमाह—

रक्तपित्तं कषायाभं कृष्णं गोमूत्रसंनिभम् ।
मेचकागारधूमाभमञ्जनाभं च पैत्तिकम् ॥६॥ [च० ६।४]
संसृष्टलिङ्गं संसर्गात्त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम् ।

पैत्तिक रक्तपित्त कषायवर्ण, कृष्णवर्ण, गोमूत्र के समान (वर्ण वाला), [illegible] लिए हुए, कृष्ण वर्णवाला, गृहधूम जैसा और सौवीराञ्जन की तरह होता है। जब रक्तपित्त में जिन दो दोषों के लक्षण हों उसे उन दो दोषों के संसर्ग से जानना चाहिये। एवं जब रक्तपित्त में तीनों दोषों के लक्षण मिले हों उसे त्रिदोषज (सन्निपातज) जानना चाहिये।

मधु०—पैत्तिकमाह—रक्तेत्यादि। [illegible]। मेचक[illegible] [illegible]

१. [illegible] २. [illegible]

सर्वमेव रक्तपित्तं दुष्टेन पित्तेनारभ्यते तत्कथं पैत्तिकं रक्तपित्तमिति ? उच्यते—सत्यं, किंतु यदा स्वस्थानस्थं पित्तं रक्तपित्तारम्भकं स्थानान्तरावस्थितेन पित्तेन संगृह्यते, किंवा दोषान्तरासंश्लिष्टं केवलं पित्तमारम्भकं तदा पैत्तिकमिति व्यपदेश इति । ननु, केवलपैत्तिकं न संभवत्येव, यद्वक्ष्यति—'ऊर्ध्वगं कफसंसृष्टमधोगं पवनानुगम्'—इति; नच तस्य निर्दिष्टो मार्गः । उच्यते, यदा स्वकारणोद्भूतेन कफेन वातेन वा स्वलक्षणकारिणा संसृष्टं भवति, तदा श्लैष्मिकादिव्यपदेशः, नतु मार्गसंबन्धानुगतेन कफवातसंबन्धेन । ऊर्ध्वगं हि मार्गसंबन्धमहिम्नाऽवश्यं कफेन, अधोगं चावश्यं वातेन, अनुबध्यते । नच तत्र कफवातौ स्वलक्षणं कुरुतः, यथा शरदि ज्वरकरं पित्तं कालमहिम्नाऽनुगतेन कफेनानुबध्यते तथाऽपि पैत्तिक एवासौ प्राकृतो ज्वरः । यदुक्तम्—"कुर्यात् पित्तं च शरदि तस्य चानुबलः कफः" (च. चि. स्था. अ. ३)—इति । तेन यदैकदोषलिङ्गयुक्तं भवति तदैकदोषानुगम्, एवं द्विदोषलिङ्गं त्रिदोषलिङ्गं च बोध्यम् । तेनोर्ध्वगमधोगं चैकद्वित्रिलिङ्गं भवति । एतेन पैत्तिकस्य मार्गो न दर्शित इति यदुक्तं तन्निरस्तमिति ॥६॥

(नन्विति—) जब कि सब प्रकार का रक्तपित्त दुष्ट पित्त से ही उत्पन्न वा आरम्भ होता है, तो पुनः 'पैत्तिक रक्तपित्त' यह क्यों कहा जाता है ? अर्थात् जब सर्वसाधारण नियमानुसार 'रक्तपित्त' इतना कहने से ही उसमें कारणरूप से पित्त का ज्ञान हो जाता है, तो पुनः 'रक्तपित्त' के साथ 'पैत्तिक' यह विशेषण क्यों दिया जाता है ? इस पर कहते हैं कि ठीक है, किन्तु जब अपने स्थान में ठहरा हुआ रक्तपित्त का आरम्भक पित्त किसी दूसरे स्थान में स्थित पित्त से मिल जाता है, तब वहां पित्त की उत्कृष्टता वृद्धि हो जाने से अथवा जब रक्तपित्त का आरम्भक पित्त किसी दूसरे (वातादि) दोष से न मिलकर अकेला ही रक्तपित्त को उपजाता है, तब 'पैत्तिक' यह व्यपदेश किया जाता है अर्थात् तब रक्तपित्त में 'पैत्तिक' यह विशेषण दिया जाता है । एवं 'स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः' इसकी तरह इसमें भी दोष का परिहार हो जाता है । अब पुनः शंका होती है कि केवल पैत्तिक रक्तपित्त तो होता ही नहीं जैसे आगे माधवकर कहेंगे भी कि 'ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त कफ से संसृष्ट (उत्पन्न) और अधोगामी वायु से संसृष्ट होता है' एवं जब पैत्तिक रक्तपित्त है ही नहीं तो उपर्युक्त समाधान (रक्तपित्त में पैत्तिक व्यपदेश) कैसे हो सकता है ? इसमें दूसरी युक्ति यह भी है कि यदि पैत्तिक रक्तपित्त होता तो आचार्य उसके मार्ग का भी निर्देश करते । परन्तु उन्होंने कोई निर्देश नहीं किया । इससे प्रतीत होता है कि केवल पैत्तिक रक्तपित्त होता ही नहीं (जब ऐसा है तो उपर्युक्त समाधान भी ठीक नहीं है) । इस पर कहते हैं कि जब अपने लक्षणों को करने वाले अपने कारण से उत्पन्न कफ से वा वायु से 'रक्तपित्त' उत्पन्न होता है, तब वह 'श्लैष्मिक रक्त पित्त' वा 'वातिक रक्तपित्त' इस नाम से व्यपदिष्ट होता है; न कि ऊर्ध्वगामी वा अधोगामी होने के कारण 'श्लैष्मिक रक्तपित्त' वा 'वातिक रक्तपित्त' इस नाम से कहा जाता है । (यह ठीक है कि) ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त मार्ग सम्बन्ध के प्रभाव से अवश्य कफ से और अधोगामी रक्तपित्त (मार्ग के प्रभाव से अवश्य) वायु से अनुबन्धित होता है, परन्तु वहां कफ वा वायु अपने २ लक्षण नहीं करते । एवं जैसे शरद् ऋतु में ज्वरोत्पादक पित्त काल के प्रभाव से अनुगामी कफ से अनुबन्धित हो जाता है, परन्तु फिर भी वह

१ मारुतानुगं. २ नायं चरके पाठः समुपलभ्यते, वाग्भटीयोऽयं पाठः (वा. नि. स्था. २). चरके तु 'शरद्यादित्यतेजसा । ज्वरं सञ्जनयत्याशु तस्य चानुबलः कफः'.

पैत्तिक प्राकृत ज्वर ही कहलाता है। जैसे कहा भी है कि 'शरद् ऋतु में पित्त प्राकृत ज्वर को करता है, और कफ उसका अनुबन्धि बल वाला होता है'। वैसे ही मार्गसम्बन्ध के प्रभाव से कफ और वात का अनुबन्ध होने पर भी इसमें जो दोष स्वकारणोत्पन्न तथा लक्षणकारी होगा उसी के नाम से पुकारा जावेगा। इससे केवल पित्तजन्य रक्तपित्त भी सिद्ध हो जाता है। इसी के अनुसार रक्तपित्त जब एक दोष के लक्षणों वाला होता है तो एकदोष से, जब दो दोषों के लक्षणों वाला होता है तो द्विदोषज और जब तीन दोषों के लक्षणों वाला होता है तो त्रिदोषज भी होता है। इसी से ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त और अधोगामी रक्तपित्त दोनों ही एकदोषज, द्विदोषज और त्रिदोषज हो सकते हैं। एवं इन्हीं उपर्युक्त वाक्यों के अनुसार उपर्युक्त 'पैत्तिक रक्तपित्त का मार्ग नहीं कहा गया' यह शंका भी निवृत्त हो जाती है।

वातादिदोषसंसर्गेण मार्गभेदान् परिगणयति—

ऊर्ध्वगं कफसंसृष्टमधोगं पवनानुगम्।
द्विमार्गं कफवाताभ्यामुभाभ्यामनुवर्तते[2] ॥७॥ [च० ६।४]

ऊर्ध्व मार्ग से जाने वाला रक्तपित्त कफ से, अधोमार्ग से जाने वाला रक्तपित्त वायु से और दोनों मार्गों से जाने वाला रक्तपित्त कफ वात दोनों से संसृष्ट होकर आता है।

मधु०—संसर्गविशेषेण मार्गभेदमाह—ऊर्ध्वगमित्यादि ॥७॥

पूर्वोक्तमार्गद्वारेण तत्साध्यत्वादिकमाह—

ऊर्ध्वं साध्यमधो याप्यमसाध्यं युगपद्गतम्।

ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त साध्य होता है, अधोगामी याप्य और उभयगामी असाध्य। इसका भावार्थ यह है कि ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त जब दौर्बल्य श्वास कासादि वक्ष्यमाण उपद्रवों से रहित, मांसप्रक्षालनाभादि वक्ष्यमाण असाध्य लक्षणों से रहित और एकदोषानुग होता है, तो साध्य होता है; परन्तु जब वही शान्त होकर पुनः उत्पन्न होता है या दूसरे मार्ग से जाने लगता है, अल्प उपद्रव और अल्प असाध्य लक्षणों से युक्त तथा द्विदोषानुग होता है तो याप्य होता है और जब बहुत से उपद्रवों, असाध्य लक्षणों और (तीनों) दोषों से युक्त होता है तो असाध्य होता है। एवं अधोगामी रक्तपित्त जब अल्प उपद्रव युक्त, असाध्य लक्षण रहित और द्विदोषानुग होता है, तब याप्य होता है; जब त्रिदोषानुग और असाध्य लक्षणयुक्त होता है, तो असाध्य और जब एकदोषानुग, निरुपद्रव और असाध्य लक्षण रहित होता है, तो साध्य होता है। एवं जब उभयमार्गगामी रक्तपित्त त्रिदोषानुग, बहु उपद्रव तथा असाध्य लक्षणयुक्त होता है, तब असाध्य; अन्यथा याप्य होता है।

---

१ [illegible]. २ [illegible]. ३ सु. उ. अ. ४५, ४०. ४ सु. उ. अ. ४५, ४४.

सर्वमेव रक्तपित्तं दुष्टेन पित्तेनारभ्यते तत्कथं पैत्तिकं रक्तपित्तमिति ? उच्यते–सत्यं, किंतु यदा स्वस्थानस्थं पित्तं रक्तपित्तारम्भकं स्थानान्तरावस्थितेन पित्तेन संगृह्यते, किंवा दोषान्तरासंश्लिष्टं केवलं पित्तमारम्भकं तदा पैत्तिकमिति व्यपदेश इति । ननु, केवलपैत्तिकं न संभवत्येव, यद्व-क्ष्यति—'ऊर्ध्वगं कफसंसृष्टमधोगं पवनानुगम्'—इति; नच तस्य निर्दिष्टो मार्गः । उच्यते, यदा स्वकारणोद्भूतेन कफेन वातेन वा स्वलक्षणकारिणा संसृष्टं भवति, तदा श्लैष्मिकादिव्यपदेशः, नतु मार्गसंबन्धानुगतेन कफवातसंबन्धेन । ऊर्ध्वगं हि मार्गसंबन्धमहिम्नाऽवश्यं कफेन, अधोगं चावश्यं वातेन, अनुबध्यते । नच तत्र कफवातौ स्वलक्षणं कुरुतः, यथा शरदि ज्वरकरं पित्तं कालमहिम्नाऽनुगतेन कफेनानुबध्यते तथाऽपि पैत्तिक एवासौ प्राकृतो ज्वरः । यदुक्तम्—"कुर्यात् पित्तं च शरदि तस्य चानुबलः कफः" (चं. चि. स्था. अ. ३)—इति । तेन यदैकदोष-लिङ्गयुक्तं भवति तदैकदोषानुगम्, एवं द्विदोषलिङ्गं त्रिदोषलिङ्गं च बोध्यम् । तेनोर्ध्वगमधोगं चैकद्वित्रिलिङ्गं भवति । एतेन पैत्तिकस्य मार्गो न दर्शित इति यदुक्तं तन्निरस्तमिति ॥६॥

(नन्विति—) जब कि सब प्रकार का रक्तपित्त दुष्ट पित्त से ही उत्पन्न वा आरम्भ होता है, तो पुनः 'पैत्तिक रक्तपित्त' यह क्यों कहा जाता है ? अर्थात् जब सर्वसाधारण नियमानुसार 'रक्तपित्त' इतना कहने से ही उसमें कारणरूप से पित्त का ज्ञान हो जाता है, तो पुनः 'रक्तपित्त' के साथ 'पैत्तिक' यह विशेषण क्यों दिया जाता है ? इस पर कहते हैं कि ठीक है, किन्तु जब अपने स्थान में ठहरा हुआ रक्तपित्त का आरम्भक पित्त किसी दूसरे स्थान में स्थित पित्त से मिल जाता है, तब वहां पित्त की उत्कृष्टता वृद्धि हो जाने से अथवा जब रक्तपित्त का आरम्भक पित्त किसी दूसरे (वातादि) दोष से न मिलकर अकेला ही रक्तपित्त को उपजाता है, तब 'पैत्तिक' यह व्यपदेश किया जाता है अर्थात् तब रक्तपित्त में 'पैत्तिक' यह विशेषण दिया जाता है । एवं 'स कीचकैर्मा-रुतपूर्णरन्ध्रैः' इसकी तरह इसमें भी दोष का परिहार हो जाता है । अब पुनः शंका होती है कि केवल पैत्तिक रक्तपित्त तो होता ही नहीं जैसे आगे माधवकर कहेंगे भी कि 'ऊर्ध्व-गामी रक्तपित्त कफ से संसृष्ट (उत्पन्न) और अधोगामी वायु से संसृष्ट होता है' एवं जब पैत्तिक रक्तपित्त है ही नहीं तो उपर्युक्त समाधान (रक्तपित्त में पैत्तिक व्यपदेश) कैसे हो सकता है ? इसमें दूसरी युक्ति यह भी है कि यदि पैत्तिक रक्तपित्त होता तो आचार्य उसके मार्ग का भी निर्देश करते । परन्तु उन्होंने कोई निर्देश नहीं किया । इससे प्रतीत होता है कि केवल पैत्तिक रक्तपित्त होता ही नहीं (जब ऐसा है तो उपर्युक्त समा-धान भी ठीक नहीं है) । इस पर कहते हैं कि जब अपने लक्षणों को करने वाले अपने कारण से उत्पन्न कफ से वा वायु से 'रक्तपित्त' उत्पन्न होता है, तब वह 'श्लैष्मिक रक्त पित्त' वा 'वातिक रक्तपित्त' इस नाम से व्यपदिष्ट होता है; न कि ऊर्ध्वगामी वा अधोगामी होने के कारण 'श्लैष्मिक रक्तपित्त' वा 'वातिक रक्तपित्त' इस नाम से कहा जाता है । (यह ठीक है कि) ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त मार्ग सम्बन्ध के प्रभाव से अवश्य कफ से और अधोगामी रक्तपित्त (मार्ग के प्रभाव से अवश्य) वायु से अनुबन्धित होता है, परन्तु वहां कफ वा वायु अपने २ लक्षण नहीं करते । एवं जैसे शरद् ऋतु में ज्वरोत्पादक पित्त काल के प्रभाव से अनुगामी कफ से अनुबन्धित हो जाता है, परन्तु फिर भी वह

१ मारुतानुगं. २ नायं चरके पाठः समुपलभ्यते, वाग्भटीयोऽयं पाठः (वा. नि. स्था. . २). चरके तु 'शरद्यादित्यतेजसा । ज्वरं सञ्जनयत्याशु तस्य चानुबलः कफः'.

पैत्तिक प्राकृत ज्वर ही कहलाता है। जैसे कहा भी है कि 'शरद् ऋतु में पित्त प्राकृत ज्वर को करता है, और कफ उसका अनुवन्धि बल वाला होता है'। वैसे ही मार्गसम्बन्ध के प्रभाव से कफ और वात का अनुबन्ध होने पर भी इसमें जो दोष स्वकारणोत्पन्न तथा लक्षणकारी होगा उसी के नाम से पुकारा जावेगा। इससे केवल पित्तजन्य रक्तपित्त भी सिद्ध हो जाता है। इसी के अनुसार रक्तपित्त जब एक दोष के लक्षणों वाला होता है तो एकदोष से, जब दो दोषों के लक्षणों वाला होता है तो द्विदोषज और जब तीन दोषों के लक्षणों वाला होता है तो त्रिदोषज भी होता है। इसी से ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त और अधोगामी रक्तपित्त दोनों ही एकदोषज, द्विदोषज और त्रिदोषज हो सकते हैं। एवं इन्हीं उपर्युक्त वाक्यों के अनुसार उपर्युक्त 'पैत्तिक रक्तपित्त का मार्ग नहीं कहा गया' यह शंका भी निवृत्त हो जाती है।

वातादिदोषसंसर्गेण मार्गभेदान् परिगणयति—

ऊर्ध्वगं कफसंसृष्टमधोगं पवनानुगम्[1]।
द्विमार्गं कफवाताभ्यामुभाभ्यामनुवर्तते[2] ॥७॥ [च० ६।४]

ऊर्ध्व मार्ग से जाने वाला रक्तपित्त कफ से, अधोमार्ग से जाने वाला रक्तपित्त वायु से और दोनों मार्गों से जाने वाला रक्तपित्त कफ वात दोनों से संसृष्ट होकर आता है।

मधु०—संसर्गविशेषेण मार्गभेदमाह—ऊर्ध्वगमित्यादि ॥७॥

पूर्वोक्तमार्गद्वारेण तत्साध्यत्वादिकमाह—

ऊर्ध्वं साध्यमधो याप्यमसाध्यं युगपद्गतम्।

ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त साध्य होता है, अधोगामी याप्य और उभयगामी असाध्य। इसका भावार्थ यह है कि ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त जब दौर्बल्य श्वास कासादि वक्ष्यमाण उपद्रवों से रहित, मांसप्रक्षालनाभादि वक्ष्यमाण असाध्य लक्षणों से रहित और एकदोषानुग होता है, तो साध्य होता है; परन्तु जब वही शान्त होकर पुनः उत्पन्न होता है वा दूसरे मार्ग से जाने लगता है, अल्प उपद्रव और अल्प असाध्य लक्षणों से युक्त तथा द्विदोषानुग होता है तो याप्य होता है और जब बहुत से उपद्रवों, असाध्य लक्षणों और (तीनों) दोषों से युक्त होता है तो असाध्य होता है। एवं अधोगामी रक्तपित्त जब अल्प उपद्रव युक्त, असाध्य लक्षण रहित और द्विदोषानुग होता है, तब याप्य होता है; जब त्रिदोषानुग और असाध्य लक्षणयुक्त होता है, तो वर्ज्य और जब एकदोषानुग, निरुपद्रव और असाध्य लक्षण रहित होता है, तो साध्य होता है। एवं जब उभयमार्गगामी रक्तपित्त त्रिदोषानुग, बहु उपद्रव तथा असाध्य लक्षणयुक्त होता है, तब असाध्य; अन्यथा याप्य होता है।

---

१ मारुतानुगं. २ ०भ्यां सम्प्रवर्तते, ०मनुबध्यते. ३ सु. उ. तं. अ. ४५. ४ सु. उ. तं. अ. ४५.

मधु०—मार्गभेदेन साध्यत्वादिकमाह—ऊर्ध्वमित्यादि । ऊर्ध्वं साध्यमिति ऊर्ध्वगस्य कफपित्तसंश्लिष्टत्वेन कषायतिक्तौ रसौ कफपित्तहरौ योग्यौ, पित्तहरणे प्रधानं विरेचनं च योग्यम् । अधोगे त्वेक एव मधुरो वातपित्तप्रशमनः, वमनं च प्रतिमार्गत्वेन वेगमात्रविरोधि, न तु पित्तहरणम् । उभयमार्गे च विरुद्धोपक्रमत्वादेवासाध्यम् । यदुक्तं चरके–'साध्यं लोहितपित्तं तद्यदूर्ध्वं प्रतिपद्यते । विरेचनस्य योग्यत्वाद्बहुत्वाद्भेषजस्य च ॥ विरेचनं हि पित्तस्य जयाय परमौषधम्' (च. नि. स्था. अ. २)—इत्यादि ॥

ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त कफपित्त से संश्लिष्ट होने के कारण उसमें कफपित्तहर कषाय और तिक्त दो रस उपयुक्त हैं और 'विरेकः पित्तहराणाम्'—(च. सू. स्था. अ. २५) के अनुसार पित्तहरण में विरेचन रूप प्रधान उपाय 'प्रतिमार्गं च हरणं रक्तपित्ते विधीयते'–(सु० नि० स्था० अ० २) के अनुसार उपयुक्त है, अतः यह साध्य है । अधोगामी रक्तपित्त में वात से संश्लिष्ट होने के कारण उसमें पित्तवातहर केवल अकेला मधुर रस ही है और 'प्रतिमार्गश्च हरणं' के अनुसार इसमें दिया हुआ वमन केवल नीचे से जाने वाले वेग का विरोधी मात्र है, पित्तहर नहीं है, अतः यह याप्य है और उभयमार्गगामी विरुद्ध उपक्रम वाला होने से असाध्य है । जैसे चरक में कहा भी है कि जो रक्तपित्त ऊर्ध्वमार्गगामी होता है, वह साध्य होता है, क्योंकि वह विरेचन के योग्य होता है; तथा उसको शान्त करने वाली ओषधियां बहुत होती हैं । विरेचन पित्त को शान्त करने के लिये परम औषध अर्थात् अद्वितीय औषध है ।

रक्तपित्तस्य साध्यतालक्षणं वर्णयति—

एकमार्गं बलवतो नातिवेगं नवोत्थितम् ॥८॥ [च० ६।४]
रक्तपित्तं सुखे काले साध्यं स्यान्निरुपद्रवम् ।

बलवान् मनुष्य में एकमार्गगामी, अल्पवेग, नवोत्पन्न, सुखमय समय (हेमन्त और शिशिर) में निरुपद्रव रक्तपित्त साध्य होता है । यहां मार्ग शब्द सामान्यवाचक होने से ऊर्ध्वमार्ग का ही ग्रहण कराता है, अधोमार्ग का नहीं । क्योंकि अधोमार्गगामी रक्तपित्त एकमार्गगामी होने पर भी 'अधो याप्यम्' इस सुश्रुतवचन तथा 'याप्यं त्वधोगमं' इस चरकवचन के अनुसार याप्य होने से अग्राह्य है । किञ्च डल्हण की उपर्युक्त व्याख्यानुसार यदि 'ऊर्ध्वं साध्यम्' इत्यादि की व्याख्या स्वीकार की जावे तो भी साध्य असाध्य और याप्य रक्तपित्त, मार्ग दोष और लक्षण इन तीनों के अनुसार होता है । एवं जहां साध्य और याप्य का मेल होगा वहां याप्य जीतता है और जहां याप्य और असाध्य का मेल होगा वहां असाध्य ही जीतता है । एवं प्रकृत में ऊर्ध्वग रक्तपित्त मार्गभेद से तो साध्य है ही परन्तु जब वह एकदोषानुग और अल्प लक्षणादि युक्त होगा तो साध्य है । परन्तु यदि द्विदोषानुग और बहुलक्षणान्वित होगा तो एकमार्गान्वित होने से साध्य होने पर भी साध्य नहीं होगा । एवं अधोमार्गगामी रक्तपित्त एकदोषानुग और अल्पलक्षणादि से युक्त होने पर भी मार्गभेद से याप्य के कारण याप्य ही है, साध्य नहीं । क्योंकि यहां साध्य और याप्य का मेल

होने से याप्य की ही विजय है। इसी प्रकार जब अधोगामी रक्तपित्त चिरोत्थित बहुत उपद्रव वाला तथा त्रिदोषज हो तो मार्गभेदानुसार याप्य होने पर भी असाध्य ही है। क्योंकि यहां भी याप्य और असाध्य का मेल है और इस मेल में असाध्य विजेता है। इसमें कारण यह है कि असाध्य, याप्य और असाध्य (वर्ज्य) भेद से दो प्रकार का होता है। अतः याप्य भी एक प्रकार का असाध्य ही है और यह नियम है कि असाध्य साध्य नहीं हो सकते परन्तु साध्य असाध्य हो जाते हैं। जैसे चरक ने कहा भी है कि—'नासाध्यः साध्यतां याति साध्यो याति त्वसाध्यताम्'। अन्यत्र भी कहा है—'साध्या याप्यत्वमायान्ति याप्याश्चासाध्यतां तथा'।

मधु०—साध्यत्वे हेतुमाह—एकमार्गमित्यादि। एकमार्गमत्रोर्ध्वगमभिप्रेतम्, अधोगस्य याप्यत्वात्। नवोत्थितमचिरजम्। सुखे काले हेमन्तशिशिरयोः। निरुपद्रवं वक्ष्यमाणदौर्बल्याद्युपद्रवरहितम् ॥८॥

दोषभेदेन तथैव साध्यत्वादिकं दर्शयति—

एकदोषानुगं साध्यं द्विदोषं याप्यमुच्यते ॥९॥ [च० ६।४]
यत्त्रिदोषमसाध्यं स्यान्मन्दाग्नेरतिवेगवत्।
व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यानश्नतश्च यत् ॥१०॥ [च० ६।४]

एक दोष से उत्पन्न रक्तपित्त साध्य, दो दोषों से उत्पन्न याप्य और मन्द अग्नि वाले मनुष्य को अति वेग वाला त्रिदोषज रक्तपित्त असाध्य होता है। यह कई आचार्य 'मन्दाग्नेः' इत्यादि पाठ को पृथक् २ असाध्य लक्षण मानते हैं, क्योंकि साध्यासाध्य निर्देश दोषानुसार तो ऊपर कह दिया है परन्तु 'मन्दाग्नेः' से लक्षणानुसार असाध्यता का निर्देश है। एवं मन्दाग्नि वाले, व्याधियों से क्षीण देह वाले और अत्यल्पभोजी वृद्ध पुरुष का अति वेगवाला रक्तपित्त असाध्य होता है।

मधु०—दोषभेदेन साध्यत्वादिकमाह—एकदोषानुगमित्यादि। मार्गभेददोषभेदाभ्यां साध्यत्वासाध्यत्वविरोधेऽर्शःस्वभिहितदोषभेदवलिभेदाभ्यां साध्यत्वासाध्यत्ववद्व्याख्येयम्। मन्दाग्नेस्तथा व्याधिभिः क्षीणदेहस्य यदतिवेगवत्तदसाध्यम्। अनश्नतः अरुच्यादिना, अन्नाभावाद्वा ॥९–१०॥

रक्तपित्तस्य उपद्रवान् विवृणोति—

दौर्बल्यश्वासकासज्वरवमथुमदाः पाण्डुतादाहमूर्च्छा[1],
भुक्ते घोरो[2] विदाहस्त्वधृतिरपि सदा हृद्यतुल्या च पीडा।
तृष्णा कोष्ठस्य[3] भेदः शिरसि च तपनं[4] पूतिनिष्ठीवनत्वं[5],
भक्तच्छेदाविपाकौ[6] विकृतिरपि भवेद्रक्तपित्तोपसर्गाः ॥११॥ [सु० ६।४५]

दुर्बलता, श्वास, कास, ज्वर, वमन, मद, पाण्डु, दाह, मूर्च्छा, खाए हुए अन्न की अत्यन्त विदग्धता, सदैव अधीरता, हृदय में विषम पीड़ा, पिपासा, मल-

१ तन्द्रिता. २ घोरः. ३ वक्त्रस्य ४ वमनं. ५ निष्ठीवनञ्च. ६ क्षेपो भक्तेऽविपाके विरतिरपि मते.

भेद, सिर में ताप, थूकों का दुर्गन्धित अर्थात् पित्तसहित आगमन, भोजन में अरुचि और भुक्त भोजन का न पचना; ये रक्तपित्त के उपद्रव हैं। इसमें वक्ष्यमाण 'मांसप्रक्षालनाभम्' इत्यादि रूप विकृति भी हो जाती है।

मधु०—उपद्रवानाह—दौर्बल्येत्यादि। दौर्बल्यं शक्त्युपचययोरभाव इति गयदासः। भुक्ते इति षष्ठ्यर्थे सप्तमीति कार्तिकः। हृद्यतुल्येति हृदि अतुल्या असदृशी पीडा। कोष्ठस्य भेदः कोष्ठमलस्य भेदः। तपनं तापः। 'प्रविततशिरस' इति पाठान्तरे प्रविततं विस्तीर्यमाणमिव; प्रवितता विस्तीर्णा वेदना शिरसि यस्य स तथेति कार्तिकः। 'प्रविततासिरता' इति पाठान्तरे सिराव्याप्तगात्रता। अविपाक आहारस्य। विकृतिरपि भवेद्रक्तपित्तोपसर्गा इति एते रक्तपित्तस्य उपसर्गा उपद्रवाः; तथा तस्य विकृतिरपि भवेदिति योऽयम्। सा च वक्ष्यमाणमांसप्रक्षालनाभमित्यादिरूपा। 'रक्तपित्तोपसर्गात्' इति पाठान्तरं सुगमम् ॥११॥

रक्तपित्तस्य आकृत्यवस्थावर्णादिभेदेन असाध्यतालक्षणानि वर्णयति—

मांसप्रक्षालनाभं कुथितमिव[1] च यत्कर्दमाम्भोनिभं वा
मेदःपूयास्रकल्पं[2] यकृदिव यदि वा पक्वजम्बूफलाभम्।
यत्कृष्णं यच्च नीलं भृशमतिकुणपं यत्र चोक्ता विकारा-
स्तद्वर्ज्यं रक्तपित्तं सुरपतिधनुषा यच्च तुल्यं विभाति ॥१२॥ [सु० ६।४५]
येन चोपहतो रक्तं रक्तपित्तेन मानवः।
पश्येद् दृश्यं वियच्चापि तच्चासाध्यमसंशयम् ॥१३॥
लोहितं छर्दयेद्यस्तु बहुशो लोहितेक्षणः।
लोहितोद्गारदर्शी च म्रियते रक्तपैत्तिकः ॥१४॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने रक्तपित्तंनिदानं समाप्तम् ॥९॥

जिस जल में मांस धोया गया हो, उस जल की तरह सड़ने गलने से दुर्गन्धित से कर्दम के समान, जल के समान वा कर्दम (कीचड़) के जल जैसा, मेदा जैसा, पूय समान, रक्त तुल्य, यकृत् के खण्ड की तरह, पके हुए जम्बूफल के समान (कृष्ण स्निग्ध), अति कृष्णवर्ण वा नीलवर्ण वा जिसमें से मुर्दे की सी अत्यन्त दुर्गन्ध आती हो, और जिसमें श्वासकासादि विकार हों वह तथा जो इन्द्र धनुष की तरह अनेकवर्ण हो वह रक्तपित्त वर्ज्य है। जिस रक्तपित्त से युक्त मनुष्य घट पट आदि दृश्य पदार्थों को तथा आकाश को रक्तवर्ण का देखता है, वह रक्तपित्त निःसन्देह असाध्य है। कई आचार्य इसकी इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि जो रक्तपित्ती दृश्य पदार्थों को नहीं (वियत्, आकाश, शून्य ये एकार्थवाचक होने से यहां वियत् का अर्थ लक्षित लक्षणा द्वारा शून्य लिया जाता है) देखता वा दृश्य पदार्थों को तथा आकाश को नहीं देखता वह असाध्य है। अथवा जो रक्तपित्ती मनुष्य रक्तपित्त के कारण नेत्रों के उपहत हो जाने से आकाश को भी (वियच्चापि) साक्षात् (दृश्यं) देखता है (पश्येत्) वह असाध्य

१ क्वथितमिव. २ मेदःपूयास्थिकल्पं.

है। अदृश्य होने से आकाशादि का साक्षात् दीखना रिष्ट लक्षण है। वस्तुतः ऊपर जितनी व्याख्या की गई है वह चरक इन्द्रियस्थानीय रिष्ट लक्षणानुकूल ही है, अतः मान्य है। इनका प्रमाण चरक इन्द्रिय से ही मिल सकेगा, विस्तार भय से यहां नहीं दर्शाया जाता। (लोहितमिति—) जो रक्त नेत्रों वाला रक्तपित्ती बहुत रक्त वमन करता है, एवं जिसे उद्गार भी रक्त के आते हैं और सब कुछ रक्तवर्ण का ही देखता है, वह मर जाता है।

मधु०—असाध्यलक्षणमाह—मांसेत्यादि। कुथितमिव पूतितां गतमिव। कर्दमाविलमिवाम्भः कर्दमाम्भः, अथवा कर्दमनिभमम्भोनिभं च। तथा मेदःपूयास्रकल्पमिति कल्पशब्दो मेदःप्रभृतिभिस्त्रिभिः संबध्यत इति गयदासः। यकृदिव यकृत्खण्डमिव। पक्वजम्बूफलाभं स्निग्धकृष्णम्। कृष्णमञ्जनाभम्। नीलं चाषपक्षप्रतिमम्। ननु, पैत्तिके कृष्णत्वं पठितं नच तदसाध्यं? नैवम्, अतिशब्देनात्र विशेषितत्वात्; तेन तत्र मनाक्कृष्णत्वं बोध्यमिति जेज्जटः; अथवा जम्बूफलाभं यत् कृष्णं तदिति योज्यम्। उक्ता विकाराः श्वासकासादयः। सुरपतिधनुषा तुल्यं नानावर्णम्। येनेत्यादि।—येन रक्तपित्तेनेति योज्यम्। पश्येद्दृश्यं वियच्चापि अदृश्यमपि वियद्दृश्यमिव पश्यतीति योज्यं, रक्तपित्तोपहतनेत्रत्वादिति; अथवा दृश्यं घटपटादि, वियच्च रक्तं पश्यतीति। यो बहुशश्छर्दयेदिति संबन्धः। लोहितोद्गारदर्शीति लोहितोद्गारो लोहितदर्शी च, उद्गारोऽपि लोहितः प्रवर्तत इत्यर्थः, अथवा लोहितमुद्गारं पश्यतीति लोहितोद्गारदर्शीति ॥१२-१४॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां रक्तपित्तनिदानं समाप्तम् ॥९॥

(नन्विति—) जब कि पैत्तिक रक्तपित्त के लक्षणों में कृष्णापन पढ़ा है, परन्तु वह असाध्य नहीं है, तो यह असाध्य क्यों है? ठीक है, वहां केवल कृष्णापन कहा है और यहां अति कृष्णपन, एवं यहां 'अतिशब्द' विशेषण होने से यह असाध्य और वह साध्य है; अथवा वहां केवल कृष्णापन लिया जाता है और यहां जम्बूफल के सदृश कृष्णपन लिया जाता है, एवं यह असाध्य और वह साध्य है।

अथ राजयक्ष्मक्षतक्षीणनिदानम्।

राजयक्ष्मणो (विप्रकृष्ट-)निदानमाह—

वेगरोधात् क्षयाच्चैव साहसाद्विषमाशनात्।
त्रिदोषो जायते यक्ष्मा गदो हेतुचतुष्टयात् ॥१॥

वात मूत्र पुरीषों के वेगों को रोकने, अतिव्यवाय आदि से उत्पन्न क्षय, अपनी शक्ति से बाहर (अधिक) साहस और विषमाशन; इन चार हेतुओं से त्रिदोषज राजयक्ष्मा नामक रोग होता है।

---

१ नाम—सं० राजयक्ष्मा, शोष, क्षय; पं० संदिक, दिक्तप; अ० दुम्मादिक; इं० थायसिस, पल्मनरी ट्युबरक्युलोसिस. २ विषमं बहु वाल्पं वाप्यप्राप्तातीतकालयोः— (च० नि० स्था० अ० ६).

मधु०—राजयक्ष्मरूपेषु पित्ताद्रक्तस्य चागम इति वचनाद्रक्तपित्तानन्तरं यक्ष्मनिदानम्। चिकित्सोपयोगिविप्रकृष्टकारणं चतुर्विधमाह—वेगरोधादित्यादि । वेगोऽत्र वातमूत्रपुरीषाणां, नतु न वेगान्धारणीयोक्तानां जृम्भादीनां सर्वेषाम् । यदुक्तं चरके–"ह्रीमत्त्वाद्वा घृणित्वाद्वा भयाद्वा वेगमागतम् । वातमूत्रपुरीषाणां निगृह्णाति यदा नरः ॥" (च. चि. स्था. अ. ८)–इत्यादि। क्षयादिति क्षीयते अनेनेति क्षयः, तेनातिव्यवायानशनेर्ष्याविषादादयो धातुक्षयहेतवो गृह्यन्ते । साहसादिति साहसो बलवद्विग्रहादिरुरःक्षतहेतुत्वेन कारणम् । विषमाशनादिति सुश्रुतोक्तद्वादशाशनप्रविचारव्यतिरेकेणोपयोगः, तस्य शीघ्रं स्रोतोरोधकत्वात् । उक्तं हि चरके–"विविधान्यन्नपानानि वैषम्येण समश्नताम् । जनयन्त्यामयान् घोरान् विषमा मारुतादयः ॥ रुद्ध्वा स्रोतांसि धातूनां वैषम्याद्विषमं गताः । दोषा रोगाय कल्पन्ते पुष्यन्ति नच धातवः ॥" (च. चि. स्था. अ. ८) इति । त्रिदोष इति मिलितत्रिदोषज एक एव, नतु कारणभेदादनेकः। यदाह सुश्रुतः–"एक एव मतः शोषः संनिपातात्मको यतः । उद्रेकात्तत्र लिङ्गानि दोषाणां निपतन्ति हि ॥" (सु. उ. तं. अ. ४१)–इति । ननु, वेगरोधादयो वातं प्रकोपयन्ति, तज्जनितो यक्ष्मा कथं त्रिदोषज इति चेत् ? उच्यते, वातप्रकोपादेवाग्निदुष्ट्या कफपित्तयोरपि प्रकोप इत्याहुः । हेतुचतुष्टयादित्यनेनासंख्येया अपि हेतव उक्तचतुष्टयेऽन्तर्भवन्तीति दर्शयति। शोषादिनानाशब्दवाच्यत्वेन चास्य[1] सुश्रुतोऽन्वयमकार्षीत । यथा–"संशोषणाद्रसादीनां शोष इत्यभिधीयते । क्रियाक्षयकरत्वाच्च क्षय इत्युच्यते बुधैः ॥ राज्ञश्चन्द्रमसो यस्मादभूदेष किलामयः । तस्मात्तं राजयक्ष्मेति केचिदाहुर्मनीषिणः ॥" (सु. उ. तं. अ. ४१)–इति । वाग्भटे तु–'यक्ष्मणां राजा राजयक्ष्मा'–इत्युक्तम्[2] । 'राजदन्तादिषु परम्'–इति उपसर्जनस्य यक्ष्मशब्दस्य परनिपातः ॥१॥

वेगावरोध से प्रकृत में केवल वात मूत्र और पुरीष, इन्हीं के वेग का अवरोध लेना उचित है, न कि न वेगान्धारणीय अध्याय में कथित जृम्भादिकों के वेग का अवरोध। कारण कि चरक में कहा भी है कि लज्जा, घृणा वा भयवश वात मूत्र और पुरीष इनके आए हुए वेग को जब मनुष्य रोक लेता है, तो वेग[3] के रुकने से कुपित वायु कफ और पित्त को प्रेरित कर ऊपर नीचे और तिर्यक् चलता हुआ प्रतिश्याय आदि एकादश लक्षण रूप विकारों को करता है। (त्रिदोष इति—) शब्द के प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि तीनों दोषों के मेले से एक ही लेना चाहिये न कि कारण भेद से अनेक। जैसे सुश्रुत में कहा भी है कि—'क्योंकि शोष रोग अकेला सन्निपातात्मक ही माना जाता है। अतः उसमें दोषों के लक्षण अपनी प्रधानता से आते हैं'। (प्रश्न—) वेगावरोध आदि वात को प्रकुपित करते हैं, पुनः उससे उत्पन्न यक्ष्मा त्रिदोषज कैसे हो सकता है ? (उत्तर—) आचार्य यह कहते हैं कि वायु के प्रकोप से अग्नि की दुष्टि होने के कारण कफ और पित्त का भी प्रकोप होता है, हेतुचतुष्टय यह कहने से सिद्ध होता है कि असंख्यात हेतु इस चतुष्टय में ही आ जाते हैं। शोष आदि इसके अनेक नामों का सुश्रुत ने इस प्रकार अन्वय किया है कि रसादि धातुओं को सुखाने से इसका नाम 'शोष' शारीरिक

१ संज्ञां स्वयमेवाकार्षीत्सुश्रुतः. २ वाग्भटे तु 'नक्षत्राणां द्विजानाञ्च राज्ञोऽभूद्यदयं पुरा । यच्च राजा च यक्ष्मा च राजयक्ष्मा ततो मतः'–(वा० नि० स्था० अ० ५). ३ तदा वेगप्रतीघातात्कफपित्ते समीरयत् । ऊर्ध्वं तिर्यगधः कुर्याद्विकारान्कुपितोऽनिलः ॥ प्रतिश्यायञ्च कासञ्च...(च. चि. स्था. अ. ८).

क्रियाओं का क्षय (नाश) करने से इसका नाम 'क्षय' है और क्योंकि यह व्याधि पहले उडुराज (नक्षत्रराजा) चन्द्रमा को हुई थी, इस कारण इसे कई विद्वान् 'राजयक्ष्मा' कहते हैं। वाग्भट में तो—रोगों का (यक्ष्मणाम्[1]) राजा होने से इसे राजयक्ष्मा कहा है। यहां पर 'यक्ष्मणां राजा' इस समासानुसार 'यक्ष्मराजः' यह शब्द बनना चाहिये था; परन्तु 'राजदन्तादिषु परम्' इस व्याकरण के नियम से उपसर्जनभूत यक्ष्म शब्द का निपात राज शब्द से परे हो जाता है, जिससे 'राजयक्ष्मा' यह रूप बनता है। 'यक्ष्मणां राजा राजयक्ष्मा' यह पाठ वाग्भट में नहीं मिलता; वहां तो 'नक्षत्राणां द्विजानाञ्च'–(वा. नि. स्था. अ. ५) इत्यादि पाठ मिलता है।

अनुलोमप्रतिलोमक्षयप्रदर्शनपुरःसरं राजयक्ष्मणः संप्राप्तिमाह—

> कफप्रधानैर्दोषैस्[2]तु रुद्धेषु रसवर्त्मसु।
> अतिव्यवायिनो वाऽपि क्षीणे रेतस्यनन्तरा[3]ः।
> क्षीयन्ते धातवः सर्वे ततः शुष्यति मानवः ॥२॥ [सु० ६।४१]

कफप्रधान दोषों से रसादि वह स्रोतों के रुक जाने से शेष सभी धातुएँ भी (पोषक पदार्थ के न मिलने से) क्षीण हो जाती हैं, तदनु मनुष्य सूख जाता है; अर्थात् उसे शोष (राजयक्ष्मा) हो जाती है, यह अनुलोमक्षय है। अथवा अति मैथुन करने वाले मनुष्य के शुक्र क्षीण हो जाने के अनन्तर पूर्ववर्ती सभी धातुएँ क्षीण हो जाती हैं, तदनु मनुष्य शोष (राजयक्ष्मा) रोग से ग्रस्त हो जाता है, यह प्रतिलोमक्षय है।

मधु०—न केवलं धातुक्षयमात्रादेव यक्ष्मा भवति, अपि तु रसादिवहस्रोतोनिवहनिरोधादिभिरपीति दर्शयितुं विशिष्टां संप्राप्तिमाह—कफेत्यादि। यदा त्वेवं न स्यात्, तदा धातुक्षय एव रोगो नतु यक्ष्मा। कफः प्रधानं येषामनिलादीनां दोषाणां ते तथा। ननु, दोषैरित्यनेन दोषत्रयमुच्यते, कफस्य विशेषणत्वेनोपात्तत्वात् कथं तस्यैवान्यपदार्थवाच्यता ? उच्यते, स्वावयवेन विग्रहः, समुदायः समासार्थः, यथा—बहुवृक्षं वनमिति; समाधानविस्तरस्तु सुश्रुते नेज्जटे द्रष्टव्यः। कफप्रधानता च वेगरोधादिकुपितवातविप्लुताग्निमान्द्यादिना बोद्धव्या। रसवर्त्मसु रसवहधमनीषु, अत्रादिशब्दो लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः। तेन रक्तादिवहस्रोतोरोधोऽपि बोध्यः। अथवा रसकारणतया रक्तादीनां रसदुष्ट्यैव रक्तादिदुष्टिरिति कार्तिकः। इदमत्र सूचितं—यन्मार्गरोधाद्धृदयस्थो रसस्तत्रैवावस्थितो विकृतो मुखेन निःसरति। यदाह चरकः—"रसः स्रोतःसु रुद्धेषु स्वस्थानस्थो विदह्यते। स ऊर्ध्वं कासवेगेन बहुरूपः प्रवर्तते॥" (च. चि. स्था. अ. ८)–इति। एतेनानुलोमक्षयो दर्शितः, कारणभूतरसधातुक्षये सति रक्तादीनां रसकार्याणां पोषकाभावेन क्षीयमाणत्वात्। प्रतिलोमक्षयं दर्शयितुमाह—अतिव्यवायिनो वेत्यादि; रेतसि क्षीणे सत्यनन्तराः समीपगा धातवः क्षीयन्ते, तद्यथा—शुक्रे क्षीणे मज्जा क्षीयते, मज्जनि क्षीणेऽस्थि, एवं पूर्वं पूर्वम्। ननु, कार्यभूतस्य शुक्रस्य क्षयात् कथं कारणभूतानां धातूनां क्षय इति चेत् ? उच्यते, शुक्रक्षया-

---

१ शोषो यक्ष्मा ज्वरो रोग इत्यनर्थान्तरम्, यदाह चरकः—शोषो यक्ष्मा ज्वरो रोग ए[illegible] सहितः (च. नि. स्था. अ. ८). २ दोषैर्हि. ३ रेतस्यनन्तरम्. ४ दोषैरिति बहुत्वेन. 'यदि शोषो न निवर्तते तदा' इति क्वचिदधिकः पाठः.

द्वायुः प्रकुप्यति यदुक्तम्–"वायोर्धातुक्षयात् कोपो मार्गस्यावरणेन च" (च. चि. स्था. अ. २८)–इति । स वायुः सान्निध्यान्मज्जानं शोषयति; एवं पूर्वपूर्वधातून् । दृष्टं च प्रत्यासत्त्याऽपि कार्यजननं, यथा—अग्निसन्तप्तायोगोलकसंनिधानादार्द्रभूभागस्यापि शोषः । तथाच रससंचारपक्षे सुश्रुतवचनं–"पूर्वः पूर्वोऽतिवृद्धत्वाद्वर्धयेद्धि परं परम् । तस्मादतिप्रवृद्धानां धातूनां ह्रासनं हितम् ॥" (सु. सू. स्था. अ. १५)–इति ॥२॥

केवल धातुक्षयमात्र से ही यक्ष्मा नहीं होती, किन्तु रसादिवह स्रोतसमूह की रुकावट आदि से भी हो जाती है । इसी को दर्शाने के लिये माधवकर विशिष्ट सम्प्राप्ति का उल्लेख करते हैं कि—कफेत्यादि । जब इस प्रकार की सम्प्राप्ति के अनुसार कार्य न हो तो केवल धातुक्षय नामक रोग[1] ही होता है, यक्ष्मा रोग नहीं होता । कफ है प्रधान जिन वातादि दोषों में वे कफप्रधान दोष । (प्रश्न—) 'दोषैः' इस बहुवचन प्रतिपादन से तीनों दोष आ जाते हैं । पुनः यहां कफ को विशेषण रूप में कहकर दूसरे पदार्थ (अन्यपदार्थवाच्यता) से क्यों कहा ? (उत्तर—) इसका उत्तर यह है कि जैसे 'बहुवृक्षं वनं' में बहुवृक्ष और वन एकार्थवाची होने से केवल 'वन' कह देने से ही उसमें वृक्षों की अधिकता का ग्रहण होने से बहुवृक्षपन आ जाता है परन्तु फिर भी वनरूप समुदाय को बहुवृक्षरूप अपने अवयवों से पृथक् विग्रह (निर्देश) करने के लिये उस अवयव प्रतिपादक बहुवृक्षरूप विशेषण का वन के साथ प्रतिपादन किया जाता है, ठीक वैसे ही प्रकृत में दोषरूप समुदाय को उसके कफरूप अवयव से विग्रह किया है, एवं कोई दोष नहीं आता । किञ्च आचार्यों के वचन साभिप्राय होते हैं । एवं प्रकृत में भी 'दोषैः' न कहकर जो सुश्रुताचार्य ने 'कफप्रधानैर्दोषैर्हि' (सु. उ. तं. अ. ४१) यह कहा है, इससे यह स्पष्ट होता है कि—इन दोषों में भी मार्गावरोधन में कफ की प्रधानता है और वह प्रधानता वेग के रोकने से क्षुब्ध वायु से उत्पादित अग्निमान्द्य आदि से जाननी चाहिये । यहां यह शंका नहीं करनी चाहिये कि "ह्रीमत्त्वाद्वा" (च. चि. स्था. अ. ५) इत्यादि कथित शास्त्रानुसार वात की प्रधानता होने से 'वातप्रधानैर्दोषैस्तु' क्यों नहीं कहा ? कारण कि सब दोषों की अपने २ समय में और कार्य में अपनी २ प्रधानता होती है । पहले वेगावरोधादि से कुपित वायु की कफादिकों को कुपित करने के कारण उस कार्य में प्रधानता है, परन्तु रसादिवह स्रोतों के अवरोध में कफ की प्रधानता होती है, क्योंकि यहां (यद्यपि वायु पूर्व भी प्रकुपित होती है परन्तु तो भी अधिक प्रकोप) कफ के रसादिवह मार्गों को रोक देने पर 'वायोर्धातुक्षयात्कोपो मार्गस्यावरणेन च' (च. चि. स्था. अ. २८) के अनुसार (अधिक) प्रकोप होता है, जिससे वह पोषकाभाव के साथ मिलकर उत्तरोत्तर धातुओं के शोषण में शीघ्र काम करती है । (इदमत्रेति—) रसादिवह स्रोतों के अवरोध आदि निर्देश से यह सूचित होता है कि मार्ग के अवरोध से हृदयस्थ रस वहीं ठहरा हुआ विकृत होकर मुख द्वारा निकलता है । भाव यह है कि मार्ग के रुक जाने से हृदयस्थ रस विदग्ध हो जाता है, तदनु विकृत हुआ वह पिच्छिल, दुर्गन्धित, हरित, पीत वा श्वेतवर्ण वाला (दुष्ट्यनुसार) होकर कास के वेग के साथ २ मुख से निकलता है । जैसे चरक ने कहा भी है कि 'स्रोतों के रुक जाने पर अपने स्थानभूत हृदय में स्थित रस विदग्ध हो जाता है, तदनु पुनः कास के वेग के साथ अनेक रूपों वाला होकर मुख द्वारा निकलता है । इसी से कारणरूप रस धातु के क्षीण हो जाने से पोषक का अभाव हो जाने के कारण कार्य रूप रक्तादि का भी क्षय होने से, अनुलोम

१ इनके लक्षण सुश्रुत सूत्र स्थान अध्याय १५ से देखें वा चरक वाग्भट आदि में उस उस स्थल से देखें.

बताया गया है। (ननु—) प्रतिलोमक्षय में शुक्रक्षय होने के अनन्तर क्रमशः उसके पूर्ववर्ती धातुओं का भी क्षय होता है, परन्तु यह सम्भव नहीं, क्योंकि 'कार्य के नाश से कारण का नाश नहीं होता' इस परिभाषा के अनुसार कार्यरूप शुक्र के क्षीण होने से यहां कारणरूप मज्जादि पूर्ववर्ती धातुओं का क्षय कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि शुक्र के क्षय से वायु प्रकुपित होती है। जैसे कहा भी है कि—'वायु का प्रकोप धातु की क्षीणता से और मार्ग के आवरण (रुक जाने) से होता है'। एवं वह प्रकुपित वायु समीपवर्ती मज्जा को शुष्क करता है, तदनु वह और भी बढ़ बढ़ कर क्रमशः पूर्व पूर्व वर्ती धातुओं को शुष्क करता है; यह कार्य समीपता के कारण होता है। क्योंकि समीपता के कारण भी कार्य होता है, ऐसा दीखता भी है। जैसे कि अग्नि से सन्तप्त लोहे के गोले को पृथ्वी पर रखने से उसके अतिसमीपवर्ती गीली भूमि का भाग भी सूख जाता है। एवं प्रकृत में भी जानना। यहां यह शंका नहीं करनी चाहिये कि निमित्त कारण वायु का शोषक धर्म मज्जादि शोषण रूप कार्य में कैसे जा सकता है? क्योंकि वायु धातु (शुक्र) क्षीणता रूप विहार से ही शोषक गुण लेकर उसमें पहुँचाता है; अथवा यह कहें कि वायु (निमित्त कारण) मज्जादि को शुष्क करती है। उसमें उपादान कारण शुक्र क्षयानुकूल विहार रूप द्रव्य है। इसी प्रकार स्वीकार करने से यदि पुनः पहला दोष आवेगा, यह सम्भावना हो तो इसका उत्तर यह है कि धातु परस्पर सम्बन्धित हैं। एवं जब एक क्षीण वा वृद्ध हो जाता है तो उसका समीपवर्ती दूसरा धातु भी क्षीण वा वृद्ध हो जाता है। इसी बात को चरकवाक्य भी प्रकट करता है कि 'परस्परोपसंस्तम्भाधातुस्नेहपरम्परा' (च. चि. स्था. अ. १५)। किञ्च इनका ज्वरातिसार की तरह परस्पर कार्य कारण भाव भी है। अर्थात् शुक्रक्षीणता मज्जा से पूर्वरस तक क्षीणता और रसक्षीणता रक्तादि से शुक्रान्त क्षीणता को कर देती है। (रससञ्चारेति—) रस सञ्चार के पक्ष में सुश्रुत भी कहता है कि पूर्व पूर्व धातु अतिवृद्ध होने से उत्तरोत्तर धातु को बढ़ाता है। इसलिये अतिप्रवृद्ध धातुओं को क्षीण करना हितकर है। इससे भी यह भाव निकलता है कि जिस प्रकार धातु एक दूसरे को बढ़ाते हैं, उसी प्रकार क्षीण भी करते हैं।

राजयक्ष्मणः पूर्वरूपमाह—

श्वासाङ्गमर्दकफसंस्रवतालुशोष-
वम्यग्निसादमदपीनसकासनिद्राः ।
शोषे भविष्यति भवन्ति स चापि जन्तुः
शुक्लेक्षणो भवति मांसपरो रिरंसुः ॥३॥ [सु० ६।४१]

स्वप्नेषु काकशुकशल्लकिनीलकण्ठा
गृध्रास्तथैव कपयः कृकलासकाश्च ।
तं वाहयन्ति स नदीर्विजलाश्च पश्ये-
च्छुष्कांस्तरून् पवनधूमदवार्दितांश्च ॥४॥ [सु० ६।४१]

श्वास, अङ्गमर्द, कफनिष्ठीवन, तालुशोष, वमन, अग्निमान्द्य, मद, पीनस, कास और निद्रा ये लक्षण शोष (राजयक्ष्मा) के होने से पूर्व होते हैं। जिसे यह लक्षण होते हैं, वह मनुष्य श्वेत नेत्रों वाला, मांस खाने का अभिला-

१ स्राव. २ छर्दि. ३ पाण्डु. ४ नीलकण्ठ.

एवं स्त्रियों में रमण करने की उत्कट इच्छा वाला हो जाता है; और उसे स्वप्नों में—कौवे, तोते, शल्लकी (गोधा), मोर, गीध, वानर और किरले (गिरगट) वहन करते हैं (अर्थात् वह मनुष्य इनकी सवारी वा इन्हें रथ आदि में जोत कर उस पर सवार होकर चलता है)। एवं वह नदियों को जलरहित और वृक्षों को शुष्क तथा वायु धूम्र वा दावाग्नि से ग्रस्त देखता है।

मधु०—पूर्वरूपमाह—श्वासेत्यादि। संस्रवः ष्ठीवनम्। पीनसः प्रतिश्यायः। मांसपरो मांसभोजनेच्छुः। रिरंसुः स्त्रियं रन्तुमिच्छुः; एतच्च व्याधिमहिम्ना मनोदोषात्। तथा स्वप्नेषु काकादिवाहनं च पूर्वरूपमेव। शल्लकी 'शरारु' इति ख्याता। नीलकण्ठो मयूरः। विजला निर्जलाः। दवो वनाग्निः। अर्दितान् अभिभूतान्। चकारात्तृणकेशनिपातादयो द्रष्टव्याः। यदुक्तं चरके—"पूर्वरूपं प्रतिश्यायो दौर्बल्यं दोषदर्शनम्। अदोषेष्वपि भावेषु, काये बीभत्सदर्शनम्॥ घृणित्वमश्नतश्चापि बलमांसपरिक्षयः। स्त्रीमद्यमांसप्रियता प्रियता चावगुण्ठने॥ मक्षिकाघुणकेशानां तृणानां पतनानि च। प्रायोऽन्नपाने, केशानां नखानां चातिवर्धनम्॥ पतत्त्रिभिः पतङ्गैश्च श्वापदैश्चाभिधर्षणम्[2]" (च. चि. स्था. अ. ८)—इति। तत्र श्वापदाः व्याघ्रादयः ॥३,४॥

यक्ष्मणः (त्रिरूपस्य) स्वरूपमवतारयति—

अंसपार्श्वाभितापश्च संतापः[3] करपादयोः।
ज्वरः सर्वाङ्गगश्चेति लक्षणं राजयक्ष्मणः ॥५॥ [च० ६।८]

भुजा के ऊपरले भागों (मोढ़ों) तथा पार्श्वों में पीड़ा, हाथों पाँवों में सन्ताप (जलन) और सभी अङ्गों में ज्वर, यह राजयक्ष्मा का लक्षण है।

मधु०—त्रिरूपसंपन्नमाह—अंसेत्यादि।—अंसपार्श्वयोरभितापः पीडा, अंसो भुजस्योपरिभागः, अभितापत्वेनैकं रूपम, एवं संतापेऽपि वाच्यम्। करपादयोरित्यत्र प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावं मन्यमानाः काश्मीराः–'तापः पादकरस्य च'–इति पठन्ति, 'करपादिकः' इति च पाठान्तरम्। एतत् त्रयं प्रायोभावित्वेन चरकेणोक्तं, तेनैकादशरूपेषु मध्येऽन्यदपि त्रयं बोध्यम्। तथाच भोजः–"कासो ज्वरो रक्तपित्तं त्रिरूपे राजयक्ष्मणि"–इति। अन्ये त्वाहुः–राजयक्ष्मणि यो ज्वरस्तस्यैतल्लक्षणमिति; जेज्जटस्तु त्रिरूपसंपत्तिमेव व्याख्यातवान् ॥५॥

(षड्रूपस्य) यक्ष्मणः स्वरूपं वर्णयति—

(भक्तद्वेषो ज्वरः श्वासः कासः शोणितदर्शनम्।
स्वरभेदश्च जायेत षड्रूपं राजयक्ष्मणि ॥) [सु० ६।१४]

अरुचि, ज्वर, श्वास, कास, रक्तपित्त और स्वरभेद ये षड्रूप राजयक्ष्मा के लक्षण हैं, वा ये राजयक्ष्मा के छः रूप हैं।

---

१ भोजने ग्राह्याः. २ अतः परं चरके 'स्वप्ने केशास्थिराशीनां भस्मनश्चाधिरोहणम्। जलाशयानां शैलानां वनानां ज्योतिषामपि। शुष्यतां क्षीयमाणानां पततां चापि (यच्च इति आ. द.) दर्शनम्॥ प्राग्रूपं बहुरूपस्य तज्ज्ञेयं राजयक्ष्मणः॥'—अयमपि पाठो वर्तते, आतङ्कदर्पणे च प्रकृतेऽपि पठ्यते. ३ तापः पादकरस्य च.

एकादशरूपस्य यक्ष्मणो यथोल्बणदोषजानि लक्षणानि वर्णयति—

स्वरभेदोऽनिलाच्छूलं संकोचश्चांसपार्श्वयोः ।
ज्वरो दाहोऽतिसारश्च पित्ताद्रक्तस्य चागमः ॥६॥ [सु० ६।४१]
शिरसः परिपूर्णत्वमभक्तच्छन्द एव च ।
कासः कण्ठस्य चोद्ध्वंसो विज्ञेयः कफकोपतः ॥७॥ [सु० ६।४१]

त्रिदोषज राजयक्ष्मा के एकादश लक्षणों में से स्वरभेद और अंस (मोढ़ों) तथा पार्श्वों में शूल और संकोच ये तीन लक्षण वायु से; ज्वर, दाह, अतिसार और रक्तपित्त ये चार लक्षण पित्त से और सिर का कफ से पूरित होना, अरुचि, कास और कण्ठभेद ये चार लक्षण कफ के प्रकोप से होते हैं। यहां इन लक्षणों का इस प्रकार का प्रविभाग व्याधि के प्रभाव से होता है।

मधु०—राजयक्ष्मणस्त्रैदोषिकस्यैकादशरूपाणि विभज्य व्याधिप्रभावाज्जायन्ते, नतु सन्निपातज्वरलिङ्गवत्सर्वदोषैः सर्वाणीत्याह—स्वरभेदोऽनिलादित्यादि । शूलमंसपार्श्वयोरेव, संकोच एक एव गणनीयः । अभक्तच्छन्दो भक्तारुचिः । कण्ठस्योद्ध्वंसः कण्ठभेदः, उत्कासिकेति कार्तिकः ॥६–७॥

प्रकारान्तरेण षड्रूपस्य यक्ष्मणो लक्षणमाह—

एकादशभिरेभिर्वा षड्भिर्वाऽपि समन्वितम् ।
कासातीसारपार्श्वार्तिस्वरभेदारुचिज्वरैः ॥८॥ [सु० ६।४१]

प्रकारान्तरेण त्रिरूपस्य यक्ष्मणः स्वरूपमाह—

त्रिभिर्वा पीडितं लिङ्गैः कासश्वासासृगामयैः ।

यक्ष्मणस्त्रिरूपादिभेदेन साध्यत्वादिकमाह—

जह्याच्छोषार्दितं जन्तुमिच्छन् सुविमलं यशः ॥९॥ [सु० ६।४१]
सर्वैरर्धैस्त्रिभिर्वाऽपि लिङ्गैर्मांसबलक्षये ।
युक्तो वर्ज्यश्चिकित्स्यस्तु सर्वरूपोऽप्यतोऽन्यथा ॥१०॥ [च० ६।८]

सोपद्रवस्य यक्ष्मणः प्रत्याख्येयतामाह—

महाशनं क्षीयमाणमतीसारनिपीडितम् ।
शूनमुष्कोदरं चैव यक्ष्मिणं परिवर्जयेत् ॥११॥ [सु० ६।४१]
शुक्लाक्षमन्नद्वेष्टारमूर्ध्वश्वासनिपीडितम् ।
कृच्छ्रेण बहुमेहन्तं यक्ष्मा हन्तीह मानवम् ॥१२॥

इन स्वर भेदादि एकादश लक्षणों से, वा भक्तद्वेषादि छः लक्षणों से, तथा कास, अतिसार, पार्श्वशूल, स्वरभेद, अरुचि और ज्वर इन छः लक्षणों से; अथवा कास, श्वास और रक्तपित्त इन तीन लक्षणों से पीड़ित राजयक्ष्मी मनुष्य को सुविमल यशाभिलाषी वैद्य छोड़ देवे, अर्थात् उसकी चिकित्सा न

१ अरुकासासृगामयैः.

करे। यहां पर भी बल मांस की परिक्षीणता अपेक्षित है अन्यथा वक्ष्यमाण "चिकित्स्यस्तु सर्वरूपोऽप्यतोन्यथा" से विरोध आता है; अथवा भिन्न २ आचार्यों का मत होने से स्मृतिद्वैधवत् दोनों ही प्रमाणित हैं। (सर्वैरिति—) मांस और बल (ओज) के क्षीण हो जाने पर स्वरभेदादि सम्पूर्ण (११) वा अर्ध (६) अथवा अंस पार्श्वाभितापादि तीन लक्षणों (या कास, श्वास, रक्तनिष्ठीवन) से युक्त मनुष्य भी वर्ज्य है, तथा जिसका मांस और बल क्षीण नहीं हुआ हो वह सम्पूर्ण लक्षणान्वित होने पर भी चिकित्सा के योग्य है। मांसक्षय सुश्रुतोक्त इन लक्षणों से जानना चाहिये। यथा—"मांसक्षयेऽस्फिगण्डोपस्थोरुवक्षः-कक्षापिण्डिकोदरग्रीवाशुष्कता रूक्षता सादो गात्राणां धमनीशैथिल्यञ्च"-(सु. सू. स्था. अ. १५)। बल शब्द से ओज लिया जाता है। यथाह सुश्रुतः—"रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत्परं तेजस्तत् खल्वोजस्तदेव बलमित्युच्यते"-(सु. सू. स्था. अ. १५)। यहां ओज भी अर्धाञ्जलि प्रमाण वाला लिया जाता है, नकि अष्ट बिन्द्वात्मक। क्योंकि उसके क्षीण होने से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। यथाह चरकः-"हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं रक्तमीषत्सपीतकम्। शरीर ओजः संख्यातं तन्नाशान्ना प्रणश्यति"-(च. सू. स्था. अ. १७)। अतएव इसके क्षयलक्षण भी शास्त्र में नहीं बताए। अर्धाञ्जलि प्रमाण ओज के क्षय लक्षण सुश्रुत ने इस प्रकार बताए हैं कि "तस्य विस्रंसो व्यापत्क्षय इति लिङ्गानि व्यापन्नस्य भवन्ति; सन्धिविश्लेषो गात्राणा सदनं दोषच्यवनं क्रियासन्निरोधश्च विस्रंसे, स्तब्धगुरुगात्रता वातशोफो वर्णभेदो ग्लानिस्तन्द्रा निद्रा च व्यापन्ने, मूर्च्छा मांसक्षयो मोहः प्रलापो मरणमिति च क्षये"-(सु. सू. स्था. अ. १५)। (महाशनमिति—) जो राजयक्ष्मी मनुष्य बहुत भोजन करता हुआ भी प्रतिदिन क्षीण होता जाता हो, उसे तथा जो अतिसार से पीड़ित हो उसे एवं जो जिसके वृषण और उदर सूज गए हों उसे छोड़ देना चाहिये। इस श्लोक में तीन असाध्य लक्षण हैं। प्रथम, बहुत खाने पर भी बल मांस से क्षीण होना। इस रोग में अरिष्ट लक्षण होने से असाध्य है। यथाह चरकः—"राजयक्ष्मी च यो नरः ॥ अचिकित्स्या भवन्त्येते बलमांसपरिक्षये"-(च. इ. स्था. अ. ६) दूसरा, अतिसार होना भी 'शुक्रायत्तं बलं पुंसां मलायत्तं हि जीवितम्। तस्माद्यत्नेन संरक्षेद्यक्ष्मिणो मलरेतसी'-चक्रपाणि के अनुसार तथा—'शोषी मुञ्चति गात्राणि पुरीषस्रंसनादपि' (च. चि. स्था. अ. ८) के अनुसार प्राणनाशक है। एवं वृषणशोष भी यक्ष्मी के लिये असाध्य है। कारण कि इसमें विरेचन से शोथ दूर होती है और यक्ष्मा में मलायत्त जीवन होने से रेचन नहीं दिया जाता। अतः विरुद्धोपक्रम होने से यह भी असाध्य लक्षण है। (शुक्लाक्षमित्यादि—) जिसकी आँखें श्वेत हो गई हों, जिसे अन्न

---

१ स्फिक. २ गण्डौष्ठोपस्थ. ३ रौक्ष्यतोदौ गात्राणां सदनम्. ४ मूर्च्छा मांसक्षयो मोहः प्रलापोऽज्ञानमेव च। पूर्वोक्तानि च लिङ्गानि मरणं च बलक्षये ॥ (सु. सू. स्था. अ. १५).

से अत्यन्त अरुचि हो, जो ऊर्ध्वश्वास से दुःखित हो और जो कष्ट से बहुत सा मल त्यागता हो उस राजयक्ष्मी मनुष्य को राजयक्ष्मा मार देती है। यहां शुक्लनेत्रपन रक्तन्यूनता तथा रक्तोत्पत्ति की न्यूनता को बताता है। अन्न में द्वेष और भी दुर्बलताकारक होने से मारक लक्षण है। ऊर्ध्वश्वास भी क्षीणता होने के कारण शीघ्रमारक होने से असाध्य लक्षण है। एवं बहुत मल का आना भी 'मलीभवति तत्प्रायः कल्पते किञ्चिदोजसे'–(च. चि. स्था. अ. ८) के अनुसार बलाभावकारक होने से असाध्य लक्षण है।

मधु०—असाध्यलक्षणमाह—एकादशभिरित्यादि। एकादशभिरेभिरिति स्वरभेदादिभिः कण्ठोद्ध्वंसान्तैः। षड्भिरिति सुश्रुतेन षड्रूपाणि पठितानि–"भक्तद्वेषो ज्वरः श्वासः कासः शोणितदर्शनम्। स्वरभेदश्च जायेत षड्रूपे राजयक्ष्मणि" (सु. उ. तं. अ. ४१)—इति। "कासातिसारपार्श्वार्तिस्वरभेदारुचिज्वरैः"—इति तु कस्यचित्तन्त्रस्य षड्रूपाणि माधवकरेण लिखितानीति। एतानि चैकादशरूपाणि प्रायोभावित्वादुक्तानि, अन्यतमरूपपरिहाराद्रूपान्तरयोगेऽप्येकादशत्वं षट्त्वं च स्यादेव, तथाहि चरको निदाने एकादशरूपाणि पठित्वा चिकित्सितेऽपि वेगरोधादिकारणचतुष्टयजे प्रतिकारणं चतुर्धा एकादशरूपाणि पठितवान्। यथा—"कासोंऽसतापो वैस्वर्यं ज्वरः पार्श्वशिरोरुजा[1]। छर्दनं रक्तकफयोः श्वासो वर्चोग्रहोऽरुचिः[2]॥ रूपाण्येकादशैतानि, यक्ष्मणः[3] षडिमानि च[4]। कासो ज्वरः पार्श्वशूलं स्वरवर्चोग्रहोऽरुचिः[5]" (च. चि. स्था. अ. ८)—इति। एकादशवचनेनैवं बोधयति–संपूर्णे यक्ष्मण्येकादशैव रूपाणि भवन्तीति। जह्यादिति 'बलमांसक्षये सति' इति शेषः। तथाच चरकः—"वातव्याधिरपस्मारी कुष्ठी व्रणी चिरज्वरी। गुल्मी च मधुमेही च राजयक्ष्मी च यो नरः॥ अचिकित्स्या भवन्त्येते बलमांसपरिक्षयात्। स्वल्पेष्वपि विकारेषु भिषग्गेतान् विवर्जयेत्" (च. इ. स्था. अ. ६) इति। सर्वैरित्यादि। ननु, सर्वरूपाण्येकादश, एकादशानामर्धं सार्धपञ्च भवन्ति, तत्र कतमस्य रूपस्यार्धत्वं, किंभूतं वा भवति? उच्यते, एकस्य रूपस्यार्धत्वासंभवे षट्पञ्चरूपयोरर्धयोरुत्कृष्टत्वात् षड्रूप एवार्धो ग्राह्यः। लिङ्गैर्युक्त इति संबन्धः। अतोऽन्यथेति बलमांसक्षयाभावे सति। महाशनं क्षीयमाणमित्येकमसाध्यलक्षणम्, अरिष्टरूपत्वात्; अतीसारपीडितमिति द्वितीयं, यक्ष्मिणो मलायत्तजीवितस्योक्तत्वात्; शूनमुष्कोदरमिति तृतीयं, मुष्कशोथस्य विरेकसाध्यत्वेन विरुद्धोपक्रमत्वात्। शुक्लेत्यादि।–शुक्लाक्षत्वादय एकैकशोऽसाध्यलक्षणानि ॥८–१२॥

(नन्विति—) राजयक्ष्मा के सम्पूर्ण रूप ग्यारह होते हैं, और ग्यारह का आधा ५½ (साढ़े पांच) बनता है। एवं उन रूपों में से किस रूप का आधा लेना चाहिये और वह आधा रूप (लक्षण) कैसा होता है? इस पर आचार्य कहते हैं कि एक रूप का आधापन असंभव होने से छः और पांच रूपों में से अधिक होने के कारण छः रूप ही आधे में लेने चाहियें।

---

१ पार्श्वशिरोरुजौ. २ शोणितश्लेष्मणोः छर्दिः श्वासः वर्चोग्रहोऽरुचिः. ३ यक्ष्मिणः. ४ वा. ५ वर्चोऽरुचिः.

यक्ष्मणः साध्यतालक्षणमाह—

ज्वरानुबन्धरहितं बलवन्तं क्रियासहम् ।
उपक्रमेदात्मवन्तं दीप्ताग्निमकृशं नरम् ॥१३॥

जो मनुष्य ज्वर के अनुबन्ध से रहित है, बलवान् है, यक्ष्मोपयोगी सब प्रकार की चिकित्सा सहने में समर्थ है, उस जितेन्द्रिय, दीप्ताग्नि और अकृश राजयक्ष्मी मनुष्य की चिकित्सा करे अर्थात् वह चिकित्सा के योग्य है।

मधु०—चिकित्स्यत्वमाह—ज्वरेत्यादि । उपक्रमेत् चिकित्सेत् । अकृशमित्यनेन वयस्थोऽपि प्रत्याख्यायोपक्रम्यत इति सूच्यते । यदुक्तमन्यत्र "परं दिनसहस्रं तु यदि जीवति मानवः । सुभिषग्भिरुपक्रान्तस्तरुणः शोषपीडितः ॥" इति ॥१३॥

अथ शोषभेदान् परिगणयति—

व्यवायशोकवार्धक्यव्यायामाध्वप्रशोषितान् ।
व्रणोरःक्षतसंज्ञौ च शोषिणौ लक्षणैः शृणु ॥१४॥

मैथुन, शोक, बुढ़ापा, व्यायाम (कसरत), और मार्ग के बहुत चलने से उत्पन्न शोष के रोगियों को तथा व्रण और उरःक्षत से उत्पन्न शोष के रोगियों को लक्षणों सहित सुनो। भाव यह है कि अब व्यवाय आदि से होने वाले लक्षणों सहित रोगी की अवस्था का निर्देश किया जाता है। इसको राजयक्ष्मा नहीं कहते क्योंकि धातुक्षयमात्र होना राजयक्ष्मा नहीं होता।

मधु०—व्यवायादिजनितधातुशोषणमात्रेण राजयक्ष्मत्वं निरसन्नाह—व्यवायेत्यादि । यदुक्तं सुश्रुते-"केषांचिदेवं शोषो हि कारणैर्भेदमागतः । न तत्र दोषलिङ्गानां समस्तानां निपातनम् ॥ क्षया एव हि ते ज्ञेयाः प्रत्येकं धातुसंक्षयात् ॥" (सु. उ. तं. अ. ४१) इति । वृद्धस्य भावो वार्धक्यमिति स्वार्थे क्य(ष्य)ञिति कार्तिकः ॥१४॥

व्यवायशोषं लक्षयति—

व्यवायशोषी शुक्रस्य क्षयलिङ्गैरुपद्रुतः ।
पाण्डुदेहो यथापूर्वं क्षीयन्ते चास्य धातवः ॥१५॥ [सु० ६।४१]

अति मैथुन करने से जो मनुष्य सूख जाता है उसमें, 'शिश्न और वृषणों में पीड़ा, मैथुन में अशक्ति वा वीर्य का देर से पात, और पात होने पर शुक्र कुछ रक्तवर्ण दीखता है, वा शुक्र में कुछ रक्त भी आता है' ये शुक्र क्षय के लक्षण होते हैं। उसकी देह पाण्डु वर्ण की होती है और पहली धातुएं क्रमशः यथाक्रम क्षीण हो जाती हैं।

मधु०—व्यवायशोषिणो लक्षणमाह—व्यवायेत्यादि। शुक्रस्य क्षयलिङ्गैरिति सुश्रुतोक्तैः। तद्यथा-"शुक्रक्षये मेढ्रवृषणवेदना, अशक्तिर्मैथुने, चिराद्वा प्रसेकः, प्रसेके[१] चाल्पदर्शनं रक्तस्य शुक्रस्य वा ॥" (सु. सू. स्था. अ. १५) इति ॥१५॥

---

१ प्रसेके चाल्परक्तशुक्रदर्शनम्.

शोकशोषस्य लक्षणमाह—

प्रध्यानशीलः स्रस्ताङ्गः शोकशोष्यपि तादृशः ।

चिन्ताशील, और ढीले ढाले (शिथिल) गात्रों वाला शोकशोषी मनुष्य भी (शुक्र के क्षय लक्षणों से विना) उसी तरह अर्थात् शुक्रशोष के लक्षणों से युक्त होता है ।

मधु०—शोकशोषिणो लक्षणमाह—प्रध्यानेत्यादिना । शोकशोष्यपि तादृश इति शुक्रस्य क्षयलक्षणव्यतिरिक्तेन शुक्रशोषलिङ्गेन युक्तः, यदुक्तं सुश्रुते—"विना शुक्रक्षयकृतैर्विकारैरुपलक्षितः ॥" (सु. उ. तं. अ. ४१) इति ।

जराशोषस्य लक्षणमवतारयति—

जराशोषी कृशो मन्दवीर्यबुद्धिबलेन्द्रियः ॥१६॥ [सु० ६।४१]
कम्पनोऽरुचिमान् भिन्नकांस्यपात्रहतस्वरः ।
ष्ठीवति श्लेष्मणा हीनं गौरवारतिपीडितः ॥१७॥ [सु० ६।४१]
संप्रस्रुतास्यनासाक्षिः शुष्करूक्षमलच्छविः ।

जराशोषी मनुष्य कृश, मन्दवीर्य (शक्ति), मन्दबुद्धि, मन्दबल (ओज वा कान्ति) और मन्द इन्द्रियों वाला होता है। उसमें कम्पन (कम्पवात) और अरुचि होती है। उसका स्वर टूटे हुए कांसी के पात्र के शब्द जैसा होता है। गौरव और अरति से युक्त वह श्लेष्मा को निकालने की चेष्टा करने पर भी श्लेष्मा के विना ही थूकता है। उसके मुख, नासिका और नेत्रों से स्राव निकलता है। उसका मल शुष्क और उसकी छवि रूक्ष होती है।

मधु०—वार्धक्यशोषिणो लक्षणमाह—जरेत्यादि । कम्पनः कम्पयुक्तः । भिन्नस्य स्फुटितस्य कांस्यपात्रस्य हतस्य दण्डादिनेव स्वरो यस्य स तथा । ष्ठीवति श्लेष्मणा हीनमिति श्लेष्महरणाय यत्ने कृतेऽपि न श्लेष्मनिःसरणम् । शुष्करूक्षमलच्छविरिति शुष्करूक्षे यथाक्रमं मलच्छवी यस्य स तथा ॥१६-१७॥

अध्वशोषस्य लक्षणं दर्शयति—

अध्वशोषी च स्रस्ताङ्गः संभृष्टपरुषच्छविः ॥१८॥ [सु० ६।४१]
प्रसुप्तगात्रावयवः शुष्कक्लोमगलाननः ।

अध्वशोषी मनुष्य के अङ्ग ढीले पड़ जाते हैं, छवि झुलसी हुई और कठोर हो जाती है अथवा झुलसी हुई की तरह कठोर हो जाती है, हाथ पांव आदि शरीर के अवयव सुन्न हो जाते हैं, एवं क्लोम, गला और मुख सूख जाते हैं।

मधु०—अध्वशोषिणो लक्षणमाह—अध्वेत्यादि । संभृष्टस्येव भर्जितस्येव छविर्वर्णो यस्य स तथा । प्रसुप्तः स्पर्शानभिज्ञः । क्लोम पिपासास्थानं, क्लोमस्थाने तात्विति पाठान्तरम् ॥१८॥

---

१ ०रभिलक्षितः. २ [illegible]. ३ स्वनः. ४ गौरवारतिपीडितः. ५ नासाक्षः शुष्करूक्षमलच्छविः. ६ [illegible]. ७ [illegible]—'पुन[illegible]' इति क्वचित्कः पाठः. ८ अध्वशोषी.

व्यायामशोषस्य स्वरूपं लक्षयति—

व्यायामशोषी भूयिष्ठमेभिरेव समन्वितः।
लिङ्गैरुरःक्षतकृतैः संयुक्तश्च क्षतं विना ॥१९॥ [सु० ६।४१]

व्यायामशोषी मनुष्य प्रायः उपर्युक्त अध्वशोष के लक्षणों से युक्त होता है और साथ ही यह (उरः)क्षत के विना उरःक्षत के लक्षणों से भी संयुक्त होता है अर्थात् इसमें बहुत से अध्वशोष के लक्षण और क्षत के विना उरःक्षत के लक्षण होते हैं।

मधु०—व्यायामशोषिणो लक्षणमाह—व्यायामेत्यादि । एभिरध्वशोषलक्षणैः, अध्वनो व्यायाममात्रसामान्यात्[१] । भूयिष्ठमत्यर्थम्; अध्वशोषेऽल्पानि लक्षणानि व्यायामजे तु महान्तीत्यर्थः। तथा 'उरःक्षतकृतैर्लिङ्गैः संयुक्तः क्षतवर्जितैः' इति सुगमः पाठः। गदाधरस्तु—"लिङ्गैरुरःक्षतकृतः संयुक्तश्च क्षतं विना ॥" इति पठति, व्याचष्टे च–उरःक्षतेन व्यायामभाराध्ययनद्रुतयानादिहेतुना यः कृतः शोषः सोऽप्येभिरेवाध्वशोषलिङ्गैर्भूयिष्ठं संयुक्तः, क्षतं क्षतकार्यं विना। क्षतकार्यं तु सुश्रुते यथा–"तस्योरसि क्षते रक्तं पूयः श्लेष्मा च गच्छति ॥" इत्यारभ्य "भिन्नवर्णस्वरो नरः ॥" (सु. उ. तं. अ. ४१)–इत्यन्तमेतान्येव लक्षणानि क्षतेऽधिकानि, उरःक्षतकारणव्यायामभारादिकृतशोषस्य लक्षणमेव भूयिष्ठं यत्तदेवोरःक्षतकारणमात्रत्वादध्वनोऽपीत्यर्थः। अथवा क्षतं विना व्रणं विना, उरःक्षतनिमित्तभाराध्ययनादिनाऽतिमात्रेण यः कृतः शोषः सोऽप्येभिरेवात्यर्थाध्वशोषलिङ्गैः समन्वित इति प्रकृतेन संबन्धः; सव्रणस्य तु वक्ष्यमाणमेव लक्षणमिति ॥१९॥

निदानपूर्वकं व्रणशोषस्य लक्षणमाह—

रक्तक्षयाद् वेदनाभिस्तथैवाहारयन्त्रणात्।
व्रणितस्य भवेच्छोषः स चासाध्यतमो मतः[३] ॥२०॥ [सु० ६।४१]

रक्त के क्षय से, व्रण की पीड़ा से तथा आहार की यन्त्रणा से व्रणित मनुष्य को शोष रोग हो जाता है और वह शोष असाध्यतम होता है।

मधु०—कारणत्रयेण व्रणशोषिणमाह—रक्तक्षयादित्यादि । वेदना व्रणवेदनाः, ताभिर्भयशोकवन्मनःक्षोभाद्वातप्रकोपादेव शोषः। स चासाध्यतम इति स्वार्थिकस्तमप्, यथा—"युधिष्ठिरः श्रेष्ठतमः कुरूणाम् ॥" इति । अत्रेष्ठनैवातिशायिकप्रत्ययेन प्रशस्ततमत्वस्य प्रतिपादितत्वात् । अथवा याप्यापेक्षयाऽसाध्यतमशब्देन प्रत्याख्येय उच्यते, याप्यस्याप्यसाध्यरूपत्वात्। ननु, एवं सति "कृशानां व्रणशोषिणाम् । बृंहणीयो विधिः कार्यः ॥" (सु. चि. स्था. अ. १) इति सुश्रुतेनैवोक्तं चिकित्सितस्थाने विरुध्यते? उच्यते, प्रबलशोषे प्रत्याख्येयत्वं, नातिप्रबले तु चिकित्साविधानमिति समर्थनीयम्। चन्द्रिकाकारस्तु 'स चासाध्यतमः स्मृतः' इत्यस्य स्थाने 'याप्यासाध्यतमस्तु सः' इति पठति, चिकित्सायां बृंहणविधेरभिधानादिति ॥२०॥

(स चेति—) और वह शोष असाध्यतम होता है, इसमें 'युधिष्ठिर कुरुओं में श्रेष्ठतम की तरह प्रतिपाद्य में प्रशस्ततम को बताने के लिये स्वार्थ में 'तमप्' प्रत्यय किया है;

१ उरःक्षतकृतैर्लिङ्गैः संयुक्तश्च क्षताद्विना. २ चायाममात्रसाम्यात्. ३ स चासाध्यतमः स्मृतः.

अथवा याप्य भी असाध्य का रूप होने से यहां याप्य की अपेक्षा असाध्यतम शब्द से प्रत्याख्येय लिया जाता है। अब यहां शंका होती है कि यदि दूसरा समाधान स्वीकार कर लिया जाए तो 'कृश और व्रणशोषियों में बृंहणीय विधि करनी चाहिये' इस चिकित्सा स्थान में कहे हुए सुश्रुत के अपने वाक्य से ही विरोध आता है। इसका उत्तर यह है कि प्रबल शोष में प्रत्याख्येयपन और जहां अति प्रबल नहीं है, वहां में चिकित्सा विधान है। चन्द्रिकाकार तो इसी झगड़े से बचने के लिये और चिकित्सा में बृंहणविधि के होने से 'स चासाध्यतमः स्मृतः' के स्थान पर 'याप्यासाध्यतमस्तु सः' यह पढ़ता है।

उरःक्षतस्य समुत्थानमाह—

धनुषाऽऽयस्यतोऽत्यर्थं भारमुद्वहतो गुरुम्।
युध्यमानस्य बलिभिः पततो विषमोच्चतः ॥२१॥ [च० ६।११]
वृषं हयं वा धावन्तं दम्यं वाऽन्यं निगृह्णतः।
शिलाकाष्ठाश्मनिर्घातान् क्षिपतो निघ्नतः परान् ॥२२॥ [च० ६।११]
अधीयानस्य वाऽत्युच्चैर्दूरं वा व्रजतो द्रुतम्।
महानदीर्वा तरतो हयैर्वा सह धावतः ॥२३॥ [च० ६।११]
सहसोत्पततो दूरं तूर्णं वाऽपि प्रनृत्यतः।
तथाऽन्यैः कर्मभिः क्रूरैर्भृशमभ्याहतस्य वा ॥२४॥ [च० ६।११]
विक्षते वक्षसि व्याधिर्बलवान् समुदीर्यते।
स्त्रीषु चातिप्रसक्तस्य रूक्षाल्पप्रमिताशिनः ॥२५॥ [च० ६।११]

उरःक्षतस्य संप्राप्तिं लक्षयति—

उरो विभज्यतेऽत्यर्थं भिद्यतेऽथ विरुज्यते।
प्रपीड्यते ततः पार्श्वे शुष्यत्यङ्गं प्रवेपते ॥२६॥ [च० ६।११]
क्रमाद्वीर्यं बलं वर्णो रुचिरग्निश्च हीयते।

उरःक्षतस्य स्वरूपमवतारयति—

ज्वरो व्यथा मनोदैन्यं विड्भेदाग्निवधावपि ॥२७॥ [च० ६।११]
दुष्टः श्यावः सुदुर्गन्धः पीतो विग्रथितो बहुः।
कासमानस्य चाभीक्ष्णं कफः सासृक् प्रवर्तते ॥२८॥ [च० ६।११]
स क्षती क्षीयतेऽत्यर्थं तथा शुक्रौजसोः क्षयात्।

धनुष के साथ अत्यधिक आयास करने से अर्थात् धनुष को अधिक खींचने वा धनुष से अधिक युद्ध करने से, भारी (अधिक) भार को उठाने से, बलवान् मनुष्यों के साथ युद्ध करने से, विषम स्थान वा उच्च स्थान से गिरने पर, भागते हुए वृषभ (बैल) घोड़े वा किसी और रोकने योग्य हस्ती आदि को बल-पूर्वक दबाने वा पकड़ने (रोकने) से; शिला लकड़ी पाषाण (पत्थर) और निर्घात

१ पततो विषमोच्चेभ्यो युध्यमानस्य चार्थिभिः. २ अधीयमानस्यात्युच्चैः. ३ महानदीं वा. ४ गर्भेर्वा. ५ चापि. ६ निरुध्यते तस्य. ७ विरुध्यते. ८ विड्भेदोऽग्निवधस्तथा. ९ स दुर्गन्धः. १० न [illegible] संप्रवर्तते. ११ स क्षतः.

नामक अस्त्रविशेष को फेंकने से, अथवा शिला आदि के टुकड़ों को बलपूर्वक करने से, शत्रुओं का दमन करने से, बहुत ऊँचे स्वर में पढ़ने से, बहुत शीघ्र दूर तक जाने से, बड़े वेग वाली तथा बड़ी दीर्घ नदी के तैरने से, घोड़ों के साथ २ दौड़ने से, सहसा बहुत दूर तक कूदने से, अति शीघ्र नाचने से तथा इसी प्रकार के अन्य मल्लयुद्धादि दारुण कर्मों से अत्यन्त आघात लगने के कारण वक्षःस्थल के क्षत के हो जाने पर यह उरःक्षत नामक बलवान् व्याधि उत्पन्न हो जाती है। एवं स्त्रियों के साथ अत्यन्त रमण करने से; तथा रूक्ष, थोड़ा और स्वभावलघु द्रव्य खाने वाले मनुष्य का उरःस्थल टूट जाता है वा क्षतयुक्त हो जाता है। इससे उसमें पीड़ा और अवपीड़न, पार्श्वों में शोष, अङ्गों में कम्पकम्पी तथा क्रमश, शक्तिःमांसवृद्धि, वर्ण तथा रुचि और जठराग्नि की हीनता, ज्वर, व्यथा, दीनता, विड्भेद और जठराग्नि का नाश, हो जाता है। एवं जब (उस मनुष्य के) कासने पर दुष्ट, श्याववर्ण, दुर्गन्धित, पीतवर्ण और ग्रन्थिल सा रक्तयुक्त कफ बार २ अधिक मात्रा में आता है तो वह क्षतरोगी अतिक्षीण होता जाता है तथा शुक्र और ओज के भी क्षीण हो जाने से वह क्षती अत्यन्त क्षीण हो जाता है।

मधु०—शोषनिदानेनैव साहसादिना उरःक्षतस्य संभवात्, उरःक्षतेनापि शोषसंभवात्, शोषाधिकारे सनिदानमुरःक्षतमाह—धनुषेत्यादि। आयस्यत इति आयासं कुर्वतो 'नरस्य' इति शेषः, 'आयम्यतः' इति पाठान्तरे विस्तीर्यमाणहृदयस्य। दम्यं दमनार्हं वृषादिकमेव बलवन्तमित्यर्थः। अन्यं वा गजोष्ट्रादिकं, निगृह्णतः विधारयतः। शिला दीर्घशिला, अश्मा तदितरप्रस्तरखण्डः[1], निर्घातोऽस्त्रविशेषः, किंवा निर्घातः शिलादीनां प्रेरणविशेषोऽतिबलसंपादितः। निघ्नतः परान् शत्रून् ताडयतः। अधीयानस्य पठतः। महानदीस्तरत इति, 'बाहुभ्याम्' इति शेषः। तूर्णं शीघ्रम्। तथाऽन्यैः कर्मभिः क्रूरैर्मल्लयुद्धादिभिरभ्याहतस्य, क्रूरैरित्यत्र शूरैरिति शत्रुभिरित्यन्ये। एषां कारणानां मध्ये किंचिन्निखिलदेहस्यायासकरं, किंचिदुरस एवेति बोद्धव्यम्। व्याधिरिति उरःक्षतलक्षणः, अथवा व्याधिर्वायुः, 'दोषा अपि व्याधिशब्दं लभन्ते' इत्यागमादिति जेज्जटः। उरो विभज्यते भज्यत इव, भिद्यते विदार्यते द्विधा क्रियत इव; विद्यत इति पाठान्तरमसंगतं, कारणाभावात् टीकाकारैरव्याख्यातत्वाच्च। वीर्यं शक्तिः। बलं मांसोपचयः। विड्भेदोऽग्निवधादपीति पाठान्तरे अग्निवधाद्धेतोर्विड्भेदो भवतीत्यर्थः; अपिशब्दात् व्याधिमहिम्ना विनाऽप्यग्निवधाद्विड्भेदो भवतीत्याहुः। दुष्टो व्यापन्नः, तदेव विवृणोति—श्याव इत्यादि। विग्रथितो विशेषेण ग्रन्थिलः, विबद्ध इति जेज्जटः। स पुरुषः, क्षती उरःक्षतवान्, क्षीयते धातुशोषमाप्नोति। न केवलं क्षतादेव क्षीयते, किं तर्हि स्त्रीसेवादिना शुक्रौजसोः क्षयादपीत्याह—तथेत्यादि॥२१–२८॥

तस्य पूर्वरूपस्य स्वरूपं निरूपयति—

अव्यक्तं लक्षणं तस्य पूर्वरूपमिति स्मृतम्॥२९॥ [च० ६।११]

उस उरःक्षत के लक्षणों का अव्यक्त अवस्था में होना उरःक्षत का पूर्वरूप है। भाव यह है कि जब उरःक्षत के लक्षण अभी व्यक्त नहीं होते, अव्यक्तावस्था

१ पर्वतादिप्रस्तरखण्डः.

(न्यून दशा) में ही रहते हैं, तब वे लक्षण ही पूर्वरूप कहलाते हैं अर्थात् उरःक्षत के लक्षण ही अव्यक्तावस्था में पूर्वरूप और व्यक्तावस्था में रूप कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि इसके कोई विशेष पूर्वरूप नहीं हैं, जैसे कि यक्ष्मा के अन्नपान में तृणपातादि, केवल लक्षण ही अव्यक्तावस्था में पूर्वरूप होते हैं जो कि 'तदेव व्यक्ततां यातं रूपमित्यभिधीयते' के अनुसार व्यक्त होकर रूप बन जाते हैं। अथवा–उरःक्षत का अव्यक्त लक्षण ही आचार्यों ने पूर्वरूप माना है। भाव दोनों का प्रायः समान ही है क्योंकि इस व्याख्या से भी उपर्युक्त भाव निकलता है।

मधु०—पूर्वरूपमाह—अव्यक्तमित्यादि ॥२९॥

क्षतक्षीणयोः भेदबोधकं विशेषलक्षणमाह—

उरोरुक् शोणितच्छर्दिः कासो वैशेषिकः क्षते।
क्षीणे सरक्तमूत्रत्वं पार्श्वपृष्ठकटीग्रहः ॥३०॥ [च० ६।११]

उरः (छाती) में पीड़ा होनी, रक्त का वमन होना और दुष्ट, श्याव आदि कफयुक्त कास होना अथवा अधिक कास होना, ये लक्षण क्षत में होते हैं, और क्षीण में रक्त वर्ण का मूत्र वा रक्तयुक्त मूत्र आना और पार्श्व, पृष्ठ (पीठ) तथा कटी (कमर) में जकड़ाहट होनी, ये लक्षण होते हैं।

मधु०—क्षतक्षीणयोरसाधारणलक्षणमाह—उरोरुगित्यादि। वैशेषिको विशिष्टः कासः; स च विशेष उक्तो दुष्टश्यावादिकफसंयुक्तत्वं; किंवा वैशेषिक उद्भूतः। क्षत इति छेदः। क्षीण इति क्षय इत्यर्थः। सरक्तमूत्रत्वमालोहितमूत्रता ॥३०॥

तयोरेव साध्यत्वादिकं दर्शयति—

अल्पलिङ्गस्य दीप्ताग्नेः साध्यो बलवतो नवः।
परिसंवत्सरो याप्यः सर्वलिङ्गं तु वर्जयेत् ॥३१॥ [च० ६।११]

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने राजयक्ष्मक्षतक्षीणनिदानं समाप्तम् ॥१०॥

दीप्ताग्नि वाले बलवान् मनुष्य का अल्पलिङ्ग (लक्षण) वाला तथा नया क्षत और क्षीण रोग साध्य होता है। एक वर्ष के अनन्तर उपर्युक्त लक्षणों वाला ही याप्य हो जाता है और सब लक्षणों वाला वर्ज्य है। इसका भाव यह है कि जब मनुष्य बलवान् हो, दीप्ताग्नि हो और उसमें क्षत वा क्षीणता न उत्पन्न हुई हो और उसके लक्षण भी स्वल्प हों तो वह साध्य होता है परन्तु जब रोग एक वर्ष का हो जावे तो वह याप्य हो जाता है, एक वर्ष का कथन उपलक्षणमात्र है। इससे यदि रोगी निर्बल होगा तो भी याप्य, मन्दाग्नि होगा तो भी याप्य और यदि बहुलक्षण होगा तो भी याप्य होगा। एवं ... सम्पूर्ण लक्षणों वाला होगा तो वर्ज्य होता है, चाहे रोग नया हो इसकी अपेक्षा नहीं। इसी प्रकार रोगी के बलवान् वा दीप्ताग्नि होने

के सर्वलक्षणान्वित होने पर वह वर्ज्य ही होता है क्योंकि वर्ज्यपन सब लिङ्गों कहा है, चाहे वह किसी भी अवस्था में क्यों न हो।

मधु०—तयोः साध्यलक्षणमाह–अल्पेत्यादि ॥३१॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां राजयक्ष्मक्षतक्षीणनिदानं समाप्तम् ॥१०॥

अथ कासनिदानम्।

अथ कासस्य[1] समुत्थानमाह—

धूमोपघाताद् रसतस्तथैव
व्यायामरूक्षान्ननिषेवणाच्च।
विमार्गगत्वाच्च हि भोजनस्य
वेगावरोधात् क्षवथोस्तथैव ॥१॥ [सु० ६।५२]

कासस्य संप्राप्तिमाह—

प्राणो ह्युदानानुगतः प्रदुष्टः
स भिन्नकांस्यस्वनतुल्यघोषः।
निरेति वक्त्रात्सहसा सदोषो
मनीषिभिः कास इति प्रदिष्टः ॥२॥ [सु० ६।५२]

मुख और नासा में धुवां भर जाने से, उद्गार द्वारा आहार रस के मुख में आ जाने से, व्यायाम और रूक्ष अन्न के सेवन से, भोजन के विमार्ग में (अन्न-प्रणाली में न जाकर स्वरयन्त्र में) चले जाने से, पुरीष आदि वेगों के रोकने से तथा छींकों का वेग रोकने से प्रदुष्ट होकर प्राणवायु दुष्ट उदानवायु के साथ चलता हुआ टूटे हुए कांस्यपात्र के स्वर के समान बुरे स्वर वाला होकर कफपित्त (दोष) से युक्त हो सहसा मुख द्वारा निकलता है, उसी को विद्वान् कास कहते हैं।

मधु०—क्षयरूपे कासपाठात् कासोपेक्षया च क्षयोत्पत्तेस्तदनन्तरं कासनिदानमाह—धूमोपघातादित्यादि।—धूमेन मुखनासाप्रविष्टेनोपघातो धूमोपघातः। रसत इति वातेनोर्ध्वं नीतादामरसात्, रजस इति पाठान्तरे मुखनासाप्रविष्टधूलेरित्यर्थः। विमार्गगत्वं च हि भोजनस्यातिद्रुताभ्यवहारादिना, चशब्दः समुच्चये, हि पादपूरणे। वेगावरोधादिति पुरीषादेः, तेन हि वायुरूर्ध्वगः स्यात्। क्षवथोस्तथैवेति वेगावरोधादिति संबन्धः। प्राणो वायुरुदानेन दुष्टेनानुगतो वक्त्रान्निरेति। स वायुः, भिन्नकांस्यपात्रवत् हतस्वनः कास इति प्रदिष्टः। सदोषः सकफपित्तः, वातिकपैत्तिकादिभेदभिन्न इति वा। एतेनैव समानस्थाननिदानाभ्यां हिक्काश्वासाभ्यामस्य भेदः, न हि तत्र वातिकपैत्तिकादिभेदेन व्यपदेश इति गदाधरः। कसति शिरःकण्ठादूर्ध्वं गच्छति वायुरिति कासः, 'कस' गतौ इत्यस्मात्; 'कसनात् कासः' (च. चि. स्था. अ. १८) इति चरके

---

१ नाम—सं० कास; पं० खाँसी, खंग; अ० सोआल०; इ० कॉफ (Cough).

पाठः, कासनं कास इति वा, "भिन्नस्वरः कासति शुष्कमेव ॥" (सु. उ. तं. ५२)—इति सुश्रुतदर्शनात् ॥१–२॥

(सदोष इति—) कफपित्त दोष के साथ (वह प्राणवायु) अथवा वातिक पैत्तिकादि भेद से युक्त मुख द्वारा टूटे कांस्यपात्र के स्वर की तरह बुरी आवाज वाला निकलता है। इसी वाक्य से स्थान और निदान के तुल्य होने पर भी हिक्का और श्वास से इसका भेद है। क्योंकि उनके वातिक पैत्तिक आदि भेद नहीं कहे गये हैं, यह गदाधर का कथन है। 'कसति' अर्थात् शिर और कण्ठ से वायु ऊपर जाती है, यह कास है। चरक ने तो 'कस' गतौ धातु का आश्रय लेकर 'कासनात्कासः' यह कहा है। अथवा 'कासनं कासः' ऐसा ठीक है क्योंकि 'भिन्नस्वरः कासति शुष्कमेव' ऐसा सुश्रुत में लिखा है।

कासस्य भेदान्, तत्प्राबल्यञ्च दर्शयति—

पञ्च कासाः स्मृता वातपित्तश्लेष्मक्षतक्षयैः।
क्षयायोपेक्षिताः सर्वे बलिनश्चोत्तरोत्तरम् ॥३॥ [वा० ३।३]

वात, पित्त, कफ, क्षत और क्षय इन भेदों से पाँच प्रकार की कास होती है। ये सभी प्रकार की कास चिकित्सा आदि न करने से धातुक्षय करने वाली हो जाती हैं। एवं ये उत्तरोत्तर अर्थात् वातिक से पैत्तिक, पैत्तिक से श्लैष्मिक, श्लैष्मिक से क्षतज और क्षतज से क्षयज बलवान् होती हैं। अथवा ये सभी उपेक्षा करने पर धातुक्षयप्रद होती हैं, परन्तु बली मनुष्य के लिये उत्तरोत्तर धातुक्षयप्रद होती हैं अर्थात् मनुष्य जैसा प्रबल होगा उसके लिये वैसी २ ही अन्तिम कास धातुक्षयप्रद होती है। यथा—जो बहुत बली होगा उसको क्षतज उपेक्षित कास धातुक्षयकर होगी, जो उससे कम बल वाला होगा उसे उपेक्षित श्लैष्मिक, उससे कम बल वाले को पैत्तिक और उससे भी कम बल वाले को उपेक्षित वातिक कास ही धातुक्षयप्रद हो जाती है। इस व्याख्या से पहली व्याख्या अच्छी तथा सुसङ्गत है।

मधु०—संख्यामाह—पञ्चेत्यादि। पञ्च कासा इति संख्येयनिर्देशादेव संख्यायां लब्धायां पञ्चग्रहणं जराकासस्य दोषजेष्वन्तर्भूतस्याधिकत्वनिरासार्थं, पञ्चानामपि वा क्षयकारणत्वप्रतिपादनार्थमिति। क्षयाय धातुक्षयाय ॥३॥

वात, पित्त, श्लेष्म, क्षत और क्षय इनसे कास होती है। इस प्रकार संख्येय (जिनकी गिनती की जाती है, उन) के निर्देश से ही जब पाँच संख्या प्राप्त हो जाती है तो पुनः कास पाँच प्रकार की है, इस प्रकार का संख्यावाचक कथन दोषज कासों में अन्तर्हित जरा (वार्धक्य) जन्य कास की अधिकता (षड्त्व) दूर करने के लिये किया है; अथवा ये पाँचों ही उपेक्षा करने से क्षय में कारण होती हैं; यह बतलाने के लिये 'पञ्च' शब्द कहा है। क्षय अर्थात् धातुक्षय के लिये।

कासस्य पूर्वरूपमाह—

पूर्वरूपं भवेत्तेषां शूकपूर्णगलास्यता।
कण्ठे कण्डूश्च भोज्यानामवरोधश्च जायते ॥४॥ [च० ६।१८]

गले और मुख में शूकधान्य के अग्रभाग के चिपटने से होने वा

के सदृश उद्वेग का होना वा खरखराहट होनी, कण्ठ में खुजली तथा अरुचि आदि के कारण भोज्य पदार्थों का रुक जाना, ये कास के पूर्वरूप हैं।

मधु०—पूर्वरूपमाह–पूर्वेत्यादि। भोज्यानामवरोध इत्यरुचिरभ्यवहारासामर्थ्यं वा ॥४॥

वातिककासस्य स्वरूपमवतारयति—

हृच्छङ्खमूर्धोदरपार्श्वशूली क्षामाननः क्षीणबलस्वरौजाः।
प्रसक्तवेगस्तु समीरणेन भिन्नस्वरः कासति शुष्कमेव ॥५॥ [सु० ६।५२]

हृदय शंख सिर उदर और दोनों पार्श्वों में शूल वाला, शुष्कमुख (वात के कारण) क्षीणबल क्षीणस्वर और क्षीण ओज वाला, सततकासवेगी, फटे हुए स्वर वाला (भिन्न स्वर वाला) वातिक कासग्रस्त रोगी सूखा ही खाँसता है। भाव यह है कि वातिक कास में हृदय, शंख, सिर, उदर और पार्श्वों में पीड़ा; मुख का सूखा रहना; बल, स्वर और ओज का क्षीण होना; निरन्तर कास होनी; स्वर का फटा सा होना तथा शुष्क खांसी होनी, ये लक्षण होते हैं।

मधु०—वातिककासस्वरूपमाह–हृदित्यादि। शङ्खो ललाटैकदेशः। क्षामाननः शुष्कमुखः, वातेन शोषणात्। प्रसक्तवेगः सततकासवेगः। शुष्कमिति श्लेष्मादिनिष्ठीवनरहितम् ॥५॥

पैत्तिककासस्य स्वरूपमवतारयति—

उरोविदाहज्वरवक्त्रशोषैरभ्यर्दितस्तिक्तमुखस्तृषार्तः।
पित्तेन पीतानि वमेत्कटूनि कासेत्सपाण्डुः परिदह्यमानः॥६॥ [सु० ६।५२]

उरःस्थल में जलन, ज्वर और मुखशोष से पीड़ित, कड़वे मुख वाला, पिपासार्त, पाण्डुरोगयुक्त तथा दाह से परिप्लुत पैत्तिक कास का रोगी (कफमिश्रित) पीत (अर्थात् पित्त को) तथा कड़वे पदार्थों को निकालता है। भाव यह है कि पैत्तिक कास में छाती में जलन, ज्वर, मुखशोष, मुख का कड़वापन, पिपासा, पाण्डु और दाह इन उपद्रवों के साथ २ मुख से कफमिश्रित पीत तथा कटु पदार्थ कास के साथ निकलता है। इस पद्य में 'पीतानि वमेत्' लिखा है परन्तु अकेला पीत पदार्थ अर्थात् पित्त ही नहीं निकलता प्रत्युत वह कफमिश्रित होता है। इसमें तन्त्रान्तर का प्रमाण भी है। तद्यथा—'श्लेष्माणं पित्तसंसृष्टं निष्ठीवति च पैत्तिकः'।

मधु०—पैत्तिककासमाह—उर इत्यादि। अभ्यर्दितः पीडितः ॥६॥

श्लैष्मिककासस्य लक्षणमाह—

प्रलिप्यमानेन मुखेन सीदन् शिरोरुजार्तः कफपूर्णदेहः।
अभक्तरुग्गौरवकण्डुयुक्तः कासेद्भृशं सान्द्रकफः कफेन ॥७॥ [सु० ६।५२]

श्लैष्मिक कास का रोगी श्लेष्मा से लिप्त मुख वाला, अवसादयुक्त अङ्गों वाला, शिरःपीड़ा से पीड़ित, कफ से पूर्ण देह वाला (अतएव वक्ष्यमाण गौरवयुक्त), भोजन में अरुचि वाला, शरीर में गौरव तथा कण्ठ में कण्डूयुक्त (वह)

गाढ़े श्लेष्मा को निकालता हुआ खाँसता है। भाव यह है कि श्लैष्मिक कास में लिप्तास्यता आदि उपद्रवों के साथ २ खाँसते समय मुख से सदा गाढ़ा श्लेष्मा निकलता है।

मधु०—कफजकासमाह–प्रलिप्यमानेनेत्यादि । प्रलिप्यमानेन श्लेष्मलिप्तेन मुखेनोपलक्षितः, सीदन् अङ्गावसादयुक्तः । अभक्तरुगरुचिः ॥७॥

क्षतजकासस्य लक्षणमाह—

अतिव्यवायभाराध्वयुद्धाश्वगजविग्रहैः ।
रूक्षस्योरःक्षतं वायुर्गृहीत्वा कासमाचरेत् ॥८॥ [सु० ६।५२]
स पूर्वं कासते शुष्कं ततः ष्ठीवेत्सशोणितम् ।
कण्ठेन रुजताऽत्यर्थं विरुग्णेनैव चोरसा ॥९॥ [सु० ६।५२]
सूचीभिरिव तीक्ष्णाभिस्तुद्यमानेन शूलिना ।
दुःखस्पर्शेन शूलेन भेदपीडाभितापिना ॥१०॥ [सु० ६।५२]
पर्वभेदज्वरश्वासतृष्णावैस्वर्यपीडितः ।
पारावत इवाकूजन् कासवेगात् क्षतोद्भवात् ॥११॥ [सु० ६।५२]

अतिमैथुन, अतिभारवहन, अतिमार्ग चलन, अतियुद्ध तथा घोड़े और हाथियों का दमन करने से अथवा विग्रह अर्थात् वेगों के धारण से (क्योंकि वेगावरोध भी कास में कारण है, यह ऊपर कास के सामान्य कारणों में कहा ही गया है) रूक्ष मनुष्य के क्षत हुए उर में वायु आक्रमण कर कास कर देता है अर्थात् उपर्युक्त कारणों से रूक्ष मनुष्य में उरःक्षत के हो जाने पर वायु कास कर देता है। तदनु वह रोगी पहले शुष्क ही खांसता है और पुनः भेद तथा पीड़ा से अभितप्त (अतिपीड़ित) करने वाले दुःस्पर्श पार्श्वशूल के साथ अत्यन्त पीड़ायुक्त कण्ठ (गले) से, अत्यन्त पीड़ायुक्त तथा तीक्ष्ण सुइयों से छिदने की सी व्यथा (शूल) वाले उरःस्थल से, शोणितमिश्रित कफ को निकालता (थूकता) है। एवं पर्वभेद (सन्धियों के टूटने की सी पीड़ा), ज्वर, श्वास, तृष्णा और स्वरभेद से पीड़ित हुआ वह रोगी क्षत से उत्पन्न कास के वेग से कबूतर (लक्का कबूतर) की तरह कूजन करता है। भाव यह है कि जिस प्रकार पारावत (लक्का कबूतर) कूजन करता हुआ चारों ओर घूमता है, उसी प्रकार क्षतकासरोगी (रोग के कारण गला रुक जाने से) वेग के समय कूजन (घुरघुराहट) करता है।

मधु०—क्षतकासमाह—अतिव्यवायेत्यादि । विग्रहो विधारणं युद्धस्योपात्तत्वात्; विग्रह इति पाठे स एवार्थः । ततः ष्ठीवेत् सशोणितमिति कासाभिघातेन हृदयस्य विदारणात् । कण्ठेनेत्युपलक्षणे तृतीया, एवमुरसेति । विरुग्णेनेव भग्नेनेव, सूचीभिरिव तुद्यमानेन, शूलिना दुःखस्पर्शेन चोरसेति संबन्धः; दुःखस्पर्शत्वं स्पर्शासहत्वम् । शूलेनोपलक्षितः, तच्च पार्श्वादौ बोध्यम् । वाग्भटेनापि पठ्यते—"पार्श्वशूली" (वा. नि. स्था. अ. ३) इति । भेदपीडाभितापिनेति शूलविशेषणम् । पारावत इव कूजन्, भवतीति शेषः ॥८–११॥

१ कासमावहेत्.

सनिदानं क्षयजकाससंप्राप्तिमाह—

विषमासात्म्यभोज्यातिव्यवायाद् वेगनिग्रहात् ।
घृणिनां शोचतां नृणां व्यापन्नेऽग्नौ त्रयो मलाः ।
कुपिताः क्षयजं कासं कुर्युर्देहक्षयप्रदम् ॥१२॥ [सु० ६।५२]

क्षयजकासस्य लक्षणमाह—

स गात्रशूलज्वरदाहमोहान् प्राणक्षयं चोपलभेत कासी ।
शुष्यन्विनिष्ठीवति दुर्बलस्तु प्रक्षीणमांसो रुधिरं सपूयम् ।
तं सर्वलिङ्गं भृशदुश्चिकित्स्यं चिकित्सितज्ञाः क्षयजं वदन्ति ॥१३॥ [सु० ६।५२]

विषम और असात्म्य भोजन से, अति व्यवाय (मैथुन) तथा पुरीष आदि के वेगों को रोकने से, घृणा तथा चिन्ता करने से जठराग्नि के मन्द वा नष्ट हो जाने पर प्रकुपित तीनों (वात, पित्त और कफ) दोष देह को नष्ट करने वाले वा क्षीण करने वाले धातुक्षयजन्य कास को कर देते हैं । वह कासरोगी गात्रशूल, ज्वर, दाह, और मूर्च्छा इन उपद्रवों से युक्त होकर प्राणों के नाश को भी प्राप्त कर लेता है ।

वक्तव्य—इस आधे श्लोक को कई आचार्य क्षतज कास का असाध्य लक्षण मानते हैं । एवं प्रतिदिन सूखता हुआ, दुर्बल (कृश) त्वक् अस्थि अवशेष वह क्षयज कास का रोगी रुधिर तथा पूययुक्त श्लेष्मा थूकता है । तीनों दोषों के लक्षणों वाले अत्यन्त दुश्चिकित्स्य इसी कास को चिकित्साविज्ञ आचार्य क्षयज कास कहते हैं ।

मधु०—क्षयजकासमाह–विषमेत्यादि । घृणिनां शोचतां चाहाराभावात्कुपितेन वायुनाऽग्नेरुपप्लवाद्दोषत्रयप्रकोप इति । क्षयजमिति शुक्रादिधातुक्षयजं, न तु राजयक्ष्मजम् । त्रिदोषजेऽपि राजयक्ष्मणि कासः कफेनैव क्रियते । यदुक्तम्–"कासः कण्ठस्य चोद्ध्वंसो विज्ञेयः कफकोपतः–" इति, क्षयजकासस्तु त्रिदोषज इति । ननु, कासादेव क्षयो जायते, तत्कथं क्षयजः कास इति ? उक्तं हि–"कासात्संजायते क्षयः" इति । उच्यते, दृष्टो हि परस्परं व्यक्तिभेदेन कार्यकारणभावो बहुशः, यथाऽतीसारार्शोऽग्निमान्द्यादाविति । स गात्रशूलेत्यादिश्लोकार्धस्य क्षयजकासमध्ये पाठोऽयुक्तः प्रतिभाति, सुश्रुते क्षतजकासे पठितत्वात्; क्षयकासश्चात्र चरकसुश्रुतवाक्ये मेलयित्वा माधवकरेण लिखितः; उच्यते, स गात्रशूलेत्याद्यनन्तरं क्षयकासः सुश्रुतेन पठितः, तेन स गात्रशूलेत्यादिश्लोकार्धस्य परेण संबन्धात् क्षयकासलिङ्गत्वमिति माधवकरस्याभिप्रायः, एतच्चान्ये नानुमन्यन्ते, यतः क्षतकासस्यावस्थायामसाध्यत्वख्यापनपरमेतद्व्याख्यातं जेज्जटेन, गयदासेनापि क्षतजकासरूपत्वेनेति ॥१२–१३॥

(क्षयजमिति—) उपर्युक्त 'कुपिताः क्षयजं कासं' में पठित 'क्षयज' शब्द से यहां शुक्रादि 'धातुक्षयज' यह भाव लिया जाता है, न कि 'राजयक्ष्मज' । क्योंकि 'राजयक्ष्मा' त्रिदोषज होने पर भी उसमें कास कफ से ही होती है । जैसे कहा भी है कि 'कास और कण्ठ का उद्ध्वंस कफ से होता है' । परन्तु क्षयज कास त्रिदोषज होती है, अतः यहां 'क्षयज' से 'धातुक्षयज'

यह भाव ही लेना चाहिये। अब यहां शंका होती है कि 'कासात्सञ्जायते क्षयः' (कास से क्षय होता है) इसके अनुसार कास से ही क्षय होता है, जब ऐसा है तो क्षय से कास कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि व्यक्तिभेद से बहुत बार परस्पर कार्यकारणभाव दीखता है, जैसे अतीसार, अर्श, अग्निमान्द्य आदि का परस्पर कार्यकारणभाव होता है अर्थात् अतीसार से अर्श और अग्निमान्द्य अर्श से अतिसार और अग्निमान्द्य एवं अग्निमान्द्य से अतीसार और अर्श होती है। यह इनका परस्पर कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। एवं प्रकृत में भी कास से क्षय और क्षय से कास हो सकती है। (स इति—) 'स गात्रशूल' इत्यादि आधे श्लोक का क्षयज कास में पढ़ना ठीक प्रतीत नहीं होता क्योंकि सुश्रुत ने इसे क्षतज कास में पढ़ा है। प्रकृत में तो क्षयकास माधवकर ने चरक और सुश्रुत के वाक्यों को मिलाकर पढ़ा है, अतः मध्य में 'स गात्र' इत्यादि पाठ नहीं चाहिये। इसका उत्तर यह है कि— 'स गात्रशूल' इत्यादि के अनन्तर सुश्रुत ने क्षय कास पढ़ा है, इससे 'स गात्रशूल' इत्यादि आधे श्लोक का सम्बन्ध परवर्तीय रोग (क्षयकास) के साथ होने से यह भी क्षय कास का ही लक्षण है, यह माधवकर का अभिप्राय है और इसी अभिप्राय से माधव ने इस श्लोकार्ध को यहां रक्खा है। माधव की इस बात को दूसरे आचार्य नहीं मानते क्योंकि जेज्जट ने तो यह व्याख्यान क्षतकास की अवस्था में असाध्यता बतलाने के लिये है, ऐसा माना है। गयदास भी इसे क्षतज कास का रूप ही कहता है।

अवस्थाभेदेन क्षतजकासस्य साध्यत्वादिकमाह—

इत्येष क्षयजः कासः क्षीणानां देहनाशनः।
साध्यो बलवतां वा स्याद्याप्यस्त्वेवं क्षतोत्थितः ॥१४॥ [च० ६।१८]
नवौ कदाचित्सिध्येतामपि पादगुणान्वितौ।
स्थविराणां जराकासः[1] सर्वो याप्यः प्रकीर्तितः।
त्रीन्पूर्वान्साधयेत्साध्यान्पथ्यैर्याप्यांस्तु यापयेत् ॥१५॥ [च० ६।१८]

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने कासनिदानं समाप्तम् ॥११॥

यह (पूर्वप्रतिपादित) क्षीण मनुष्यों के शरीर को नष्ट करने वाली क्षयज कास है। बलवान् मनुष्यों में यह कभी साध्य और कभी याप्य भी हो जाती है। एवं क्षतज कास भी बलवान् मनुष्यों में कभी साध्य और कभी याप्य हो जाती है। नवोत्पन्न क्षतज और क्षयज कास का रोगी, भिषक्, परिचारक और भेषज इस पादचतुष्टय के अपने २ गुणों से युक्त होने पर साध्य हो जाता है। वृद्ध मनुष्यों की जरानिमित्तक धातुक्षयजन्य सभी प्रकार की कास याप्य होती है। वात, पित्त और कफ इन तीनों से होने वाली तीनों कासों को पथ्यसेवन से (वैद्य) सिद्ध करे और दूसरी (पहली तीनों से जो पृथक् रह जाती हैं, उन) कासों को पथ्य सेवन से यापन करे। इसका अभिप्राय यह है कि पहली तीन साध्य हैं और चौथी तथा पांचवीं बलवान् मनुष्यों में तथा नवोत्पन्न होने पर चतुष्पाद सम्पत्ति होने पर साध्य और रोगी के दुर्बल होने पर, चिरोत्पन्न होने पर चतुष्पाद सम्पत्ति होने पर तथा नवोत्पन्न होने पर च...

१ जराकासाः सर्वे याप्याः प्रकीर्तिताः.

सम्पत्ति न होने पर पथ्याभ्यास से याप्य होती है, एवं उपद्रवयुक्त क्षतज कास तथा क्षीण मनुष्यों को क्षयज कास असाध्य (प्रत्याख्येय) होती है। कई १४वें श्लोक की व्याख्या निम्न प्रकार से करते हैं कि यह पूर्वोक्त क्षीण मनुष्यों की देह को नष्ट करने वाली क्षयज कास है, यह बलवान् मनुष्यों में साध्य भी हो जाती है, परन्तु क्षतज कास याप्य ही है। इस व्याख्या से प्रथम व्याख्या अच्छी एवं सुसङ्गत तथा आतंकदर्पणसम्मत[३] है।

मधु०—असाध्यत्वादिलक्षणमाह—इतीत्यादि। पादगुणान्विताविति वैद्यादिचतुष्पादसंपन्नौ। स्थविराणां वृद्धानां; स्थविराणामित्युक्तेऽपि जराशब्दोपादानं जरानिमित्तधातुक्षयज एव कासो याप्यः, अपचारजनितदोषजस्तु साध्य इति बोधनार्थम् ॥१४,१५॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां कासनिदानं समाप्तम् ॥११॥

(स्थविराणामिति—) वृद्धवाचक स्थविर शब्द के कहने पर भी जो जरा शब्द का प्रतिपादन किया है, उससे यह प्रतीत होता है कि जरानिमित्तक धातुक्षयजन्य कास ही याप्य है, अपचारनिमित्तक तो दोषज होने से वृद्धावस्था होने पर भी साध्य है।

अथ हिक्काश्वासनिदानम्।

हिक्काश्वासयोः[२,३] (तत्समाननिदानत्वात्) कासस्य च समुत्थानमाह—

विदाहिगुरुविष्टम्भिरूक्षाभिष्यन्दिभोजनैः।
शीतपानाशनस्थानरजोधूमातपानिलैः ॥१॥ [सु० ६।५०]
व्यायामकर्मभाराध्ववेगाघातापतर्पणैः।
हिक्का श्वासश्च कासश्च नृणां समुपजायते ॥२॥ [सु० ६।५०]

यांत्रिक इक्षुरस (बेलने द्वारा निकाला हुआ गन्ने का रस), मद्य, मरिच आदि विदहनशील, शूकरमांसादि गुण तथा पाक से भारी, चने आदि विष्टम्भकारी, यव आदि रूक्ष (रूखे) और फाणित (राब), माष, मत्स्य (मछली), दुग्ध आदि अभिष्यन्दनशील पदार्थों के खाने से; शीतल जल आदि के पीने से; शीतल भोजन करने से; शीतल स्थान में रहने से; धूलि, धूम, धूप और (तीक्ष्ण) वायु के सेवन से; धनुष खींचने आदि रूप व्यायाम से; बहुत भार उठाने से; बहुत मार्ग चलने से; मल आदि वेगों के रोकने से और लंघन से मनुष्यों को हिक्का, श्वास और कास हो जाती है। कास का वर्णन कासाधिकार में आ जाने से पुनः उसका यहां वर्णन व्यर्थ प्रतीत होता है परन्तु श्वास, कास और हिक्का का निदान समान होने से प्रसक्तानुप्रसक्त न्यायानुसार पुनः निर्देश कर दिया है।

---

१. भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टम्. २ नाम—सं० हिक्का; पं० हिचकी, हिड़की, अन्दरवधावी; अ० फवाक; इ० हिकप्. (Hiccup). ३ नाम—सं० श्वास; पं० साह; दमा; अ० खि.. [illegible]; इ० डिस्निया (Dyspnoea).

मधु०—समाननिदानत्वात्कासानन्तरं हिक्काश्वासौ । ननु, एतेषां प्रायस्तुल्यनिदानचिकित्सितत्वेनैकाधिकारे कथमनभिधानम् ? उच्यते; यद्यपि कासश्वासहिक्कानां निदानं समानं, तथाऽपि कासस्य दोषभेदाद्भेदः, यथा—वातिकः पैत्तिकः श्लैष्मिक इत्यादि; हिक्काश्वासौ तु कफवातात्मकावेव, यदाह दृढबलः—"कफवातात्मकावेतौ पित्तस्थानसमुद्भवौ ॥" (च. चि. स्था. अ. १७) इति । सुश्रुतोऽप्याह—"वायुः कफेनानुगतः पञ्च हिक्काः करोति हि ॥" (सु. उ. त. अ. ५१) इति; भेदस्त्वनयोः संप्राप्तिभेदाद्वेगक्रियादिना च, नतु कासवद्दोषभेदेन; श्वासकासाभ्यां हिक्कायाः स्वनतोऽपि भेदः । पित्तस्थानसमुद्भवाविति विशेषणं सुश्रुतमते क्षुद्रां न प्राप्नोति, सा हि जत्रुमूलात्प्रधावितेति पठ्यते; चरकमते तु व्यपेतां न प्राप्नोति, साऽपि जत्रुमूलादसन्ततेति पठ्यते; तस्मात् पित्तस्थानसमुद्भवाविति विशेषणं छत्रिणो गच्छन्तीति न्यायेन बोध्यम् । शीतशब्दः पानादिभिस्त्रिभिः संबध्यते । रजो धूलिः, सा च धूमवन्नासादिप्रवेशात् कारणम् । व्यायामकर्म धनुराकर्षणादिव्यापारः, वेगाघातो मलादिवेगविधारणम्, अपतर्पणमलशनादि । कासश्लोकोक्तोऽप्येकनिदानत्वप्रतिपादनार्थं पुनरभिहित इति ॥१-२॥

(प्रश्न—) जब कि कास, हिक्का और श्वास इनका निदान और इनकी चिकित्सा प्रायः समान ही है तो पुनः इन्हें एक अधिकार में ही क्यों नहीं कहा ? (उत्तर—) ठीक है, यद्यपि कास, श्वास और हिक्का का निदान (तथा चिकित्सा) तुल्य है, परन्तु फिर भी कास के दोषानुसार भेद होने से, वह इनसे भिन्न है । जैसे—वातिक कास, पैत्तिक कास, श्लैष्मिक कास इत्यादि । हिक्का और श्वास तो कफवातात्मक ही होते हैं । जैसे दृढ़बल ने कहा भी है कि—'ये हिक्का और श्वास दोनों कफवातात्मक हैं तथा पित्तस्थान से उत्पन्न होते हैं' । इनका भी परस्पर भेद संप्राप्ति की भिन्नता तथा वेगादि से है, न कि कास की तरह दोषभेदानुसार । श्वास और कास से हिक्का की भिन्नता आवाज (शब्द) से भी है । "कफवातात्मकावेतौ पित्तस्थानसमुद्भवौ" में हिक्का और श्वास को पित्तस्थान से उत्पन्न माना है परन्तु यह मन्तव्य (वा विशेषण) सुश्रुत के मत में 'क्षुद्रा' में नहीं घटता, क्योंकि वह जत्रुमूल से आरम्भ होती है । एवं चरक के मत में वह विशेषण (वा मन्तव्य) 'व्यपेता' में नहीं घटता, क्योंकि वह भी जत्रुमूल से ही असन्तत रूप में ही (कभी २) होती है । इसलिये 'पित्तस्थानसमुद्भवौ' यह विशेषण 'छत्रिणो गच्छन्ति' इस न्याय के अनुसार जानना चाहिये । भाव यह है कि जैसे 'छत्रिणो गच्छन्ति' कहने से उस समुदाय में छत्रविहीनों का भी उन्हीं में ग्रहण हो जाता है, वैसे ही प्रकृत में और सब के पित्तस्थानज होने से 'क्षुद्रा' और 'व्यपेता' वैसे न होने पर भी उनमें गृहीत हो जाती है ।

हिक्कानां सामान्यं स्वरूपं निर्वचनञ्च दर्शयति—

मुहुर्मुहुर्वायुरुदेति सस्वनो
यकृत्प्लिहान्त्राणि मुखादिवाक्षिपन् ।
स घोषवानाशु हिनस्त्यसून् यत-
स्ततस्तु हिक्केत्यभिधीयते बुधैः ॥३॥ [सु० ६।५०]

(जिस रोग में) बार २ 'हिक्-हिक्' इस शब्द को करता हुआ (उदान युक्त प्राण) वायु यकृत्, प्लीहा और अन्त्रों को मुख से बाहर फेंकते हुए की तरह ऊपर आता है (उसे हिक्का कहते हैं) । यहां 'मुहुर्मुहुः' यह शब्द 'सस्वनो वाय-

मुहुर्मुहुर्यकृत्प्लिहान्त्राणि मुखादाक्षिपन्निव (यत्र) उदेति (सा हिक्का)' इस प्रकार भी अन्वित हो जाता है। यह हिक्का की संप्राप्ति है। वह 'हिग्-हिग्' शब्द वाला वायु शीघ्र ही प्राणों का हनन (नाश) कर देता है, इसलिये विद्वान् इसे हिक्का कहते हैं अर्थात् [स घोषवान् (वायु) यतः] 'आशु असून् हिनस्तीति हिक्का' यह हिक्का शब्द की निरुक्ति है। इससे भी अल्पाक्षरों में 'हिनस्त्यसूनिति हिक्का' यह निरुक्ति है परन्तु शाब्दिक (वैयाकरण) 'हिगिति कृत्वा कायति शब्दायते इति हिक्का' यह मानते हैं। इसका अर्थ 'हिग्-हिग्' करती हुई जो शब्द करती है, वह हिक्का है।

मधु०—हिक्कानां स्वरूपं निरुक्तिं चाह—मुहुर्मुहुरित्यादि । वायुरत्र सोदानः प्राण इत्याहुः । उदेति ऊर्ध्वं गच्छति । सस्वन इति हिगितिशब्दवान् । ऊर्ध्वगमनमेव विशिनष्टि—यकृदित्यादि । अत्र प्लिहेति ह्रस्वेकारश्छन्दोनुरोधात् । मुखादिति ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी, तेन यकृत्प्लीहान्त्राणि मुखमानीय, आक्षिपन् निःसारयन्निवेत्यर्थः । स इति वायुः । 'हिनस्त्यसून्' इति हिक्केति निरुक्तिः, पृषोदरादिना रूपसिद्धिः । 'हिगिति कृत्वा कायति शब्दायते, इति हिक्का' इति शाब्दिकाः ॥३॥

(अत्रेति—) 'मुहुर्मुहुः' इत्यादि श्लोक में 'प्लिहा' यह ह्रस्व इकारान्त शब्द छन्दोभङ्ग के भय से रक्खा है, क्योंकि छन्दोभङ्ग गर्हित माना गया है। जैसे कहा है—'मासस्थाने मसं कुर्याच्छन्दोभङ्गं न कारयेत्' ।

हिक्काया भेदान् संप्राप्तिं च वर्णयति—

अन्नजां यमलां क्षुद्रां गम्भीरां महतीं तथा ।
वायुः कफेनानुगतः पञ्च हिक्काः करोति हि ॥४॥ [सु० ६।५०]

कफानुगामी वायु अन्नजा, यमला, क्षुद्रा, गम्भीरा और महती इन पाँच हिक्काओं को करता है।

मधु०—तासां भेदं संप्राप्तिं चाह—अन्नजामित्यादि । यमलैव चरके व्यपेतेति नाम्ना पठिता, अन्नपाने व्यपेते परिणते जायत इत्यतो हेतोः; अस्यां चानुक्तमपि यमलवेगत्वं सुश्रुतदर्शनाद्विज्ञेयम् । अन्नजायाः साध्यत्वेन प्राशस्त्यात्पूर्वमभिधानम् ॥४॥

'यमला' नामक हिक्का ही चरक में 'व्यपेता' इस नाम से पढ़ी है, क्योंकि वह अन्न पान के आहाररस में परिणत हो जाने पर होती है। इसमें अनुक्त भी यमल वेगपन सुश्रुत में उक्त होने के कारण जानना चाहिये। अन्नजा हिक्का साध्य होने के कारण प्रशस्त होने से सर्वप्रथम कही गई है।

हिक्कायाः पूर्वरूपमवतारयति—

कण्ठोरसोर्गुरुत्वं च वदनस्य कषायता ।
हिक्कानां पूर्वरूपाणि कुक्षेराटोप एव च ॥५॥ [च० ६।१७]

कण्ठ (गला) और उरःस्थल (छाती) का भारी होना, मुख का कसैला होना और उदर का भरा हुआ सा होना, ये हिक्काओं के पूर्वलक्षण हैं। यहां मुख का कसैलापन वायु के कारण है। कफ के कारण यहां मधुरपन नहीं होता ..। कि व्याधि का स्वभाव ही ऐसा है।

मधु०—पूर्वरूपमाह—कण्ठोरसोरित्यादि। वदनस्य कषायता वातात्, नतु कफान्माधुर्यं, व्याधिप्रभावात् ॥५॥

अन्नजां हिक्कां लक्षयति—

पानान्नैरतिसंयुक्तैः सहसा पीडितोऽनिलः।
हिक्कयत्यूर्ध्वगो भूत्वा तां विद्यादन्नजां भिषक् ॥६॥ [सु० ६।५०]

(शीत) जल तथा अन्न आदि के अति सेवन से सहसा पीड़ित हुआ २ (हृदयस्थ प्राण) वायु ऊपर आकर हिक्का रोग को करता है। इस प्रकार से होने वाली हिक्का अन्नजा जाननी चाहिये।

मधु०—अन्नजाया लक्षणमाह—पानान्नैरित्यादि। हिक्कयति हिक्कां करोति ॥६॥

यमलाया लक्षणमाह—

चिरेण यमलैर्वेगैर्या हिक्का संप्रवर्तते।
कम्पयन्ती शिरोग्रीवं यमलां तां विनिर्दिशेत् ॥७॥ [सु० ६।५०]

जो हिक्का एक साथ दो वेगों से होकर शिर और ग्रीवा को कँपाती हुई देर तक रहती है, वह यमला (नामक हिक्का) होती है।

मधु०—यमलामाह—चिरेणेत्यादि। कम्पयन्ती शिरोग्रीवमित्युपलक्षणं, तेन चरकोक्तप्रलापमूर्च्छावमितृष्णावैचित्त्यजृम्भाविप्लुताक्षत्वमुखशोषा बोध्या इति गयदासः ॥७॥

क्षुद्रिकायाः स्वरूपमाह—

प्रकृष्टकालैर्या वेगैर्मन्दैः समभिवर्तते।
क्षुद्रिका नाम सा हिक्का जत्रुमूलात्प्रधाविता ॥८॥ [सु० ६।५०]

जो हिक्का ग्रीवामूल वा कण्ठ और उरःस्थल की सन्धि से उठकर बहुत काल तक मन्द वेगों से रहती है, वह (हिक्का) क्षुद्रा नाम वाली होती है। आतंकदर्पणकार 'प्रकृष्टकालैः' के स्थान पर 'विकृष्टकालैः' यह पाठ मानकर व्याख्या करता है कि-'विकृष्टकालैरचिरकालैः, मन्दवेगैः' (आ. द.); अर्थात् शीघ्र मन्द वेगों से जो प्रारम्भ होती है, इत्यादि। शीघ्र आरम्भ होकर देर तक रहना भाव एक ही है।

मधु०—क्षुद्रामाह—प्रकृष्टेत्यादि। प्रकृष्टकालैश्चिरेण। जत्रु कण्ठोरसोः सन्धिरिति जेज्जटः; जत्रु ग्रीवामूलं, तद्ग्रहणेनैव हृदयक्लोमकण्ठग्रहणमिति गयदासः ॥८॥

गम्भीराया लक्षणमाह—

नाभिप्रवृत्ता या हिक्का घोरा गम्भीरनादिनी।
अनेकोपद्रववती गम्भीरा नाम सा स्मृता ॥९॥ [सु० ६।५०]

जो हिक्का नाभि से उठकर घोर और गम्भीर शब्द करती है तथा जो तृष्णा, ज्वर आदि अनेक उपद्रवों वाली होती है, वह गम्भीरा (हिक्का) कहलाती है।

मधु०—गम्भीरामाह—नाभीत्यादि। नाभिप्रवृत्तेति नाभितः प्रभृति संजाता, अत एवास्या गम्भीरत्वम्। अनेकोपद्रववती तृष्णाज्वरादियुक्ता ॥९॥

महाहिक्कायाः स्वरूपमाह—

मर्माण्युत्पीडयन्तीव सततं या प्रवर्तते।
महाहिक्केति सा ज्ञेया सर्वगात्रविकम्पिनी ॥१०॥ [सु० ६।५०]

शिर, बस्ति और हृदय इन प्रधान मर्मों का उत्पीडन सा (निचोड़ने की सी पीड़ा) करती हुई सारे शरीर को कँपाने वाली जो हिक्का निरन्तर रहती है, वह महाहिक्का कहलाती है।

मधु०—महतीमाह-मर्माणीत्यादि। मर्माणीति प्रधानानि वस्तिहृदयशिरांसि ॥१०॥

हिक्कानामसाध्यतामाह—

आयम्यते हिक्कतो यस्य देहो
दृष्टिश्चोर्ध्वं नाम्यते यस्य नित्यम्।
क्षीणोऽन्नद्विट् क्षौति यश्चातिमात्रं
तौ द्वौ चान्त्यौ वर्जयेद्धिक्कमानौ ॥११॥ [सु० ६।५०
अतिसंचितदोषस्य भक्तच्छेदकृशस्य च।
व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यातिव्यवायिनः ॥१२॥ [सु० ६।५०
आसां या सा समुत्पन्ना हिक्का हन्त्याशु जीवितम्।

यमिकायाः (यमलायाः) साध्यासाध्यतामाह—

यमिका च प्रलापार्तिमोहतृष्णासमन्विता ॥१३॥ [च० ६।१७
अक्षीणश्चाप्यदीनश्च स्थिरधात्विन्द्रियश्च यः।
तस्य साधयितुं शक्या यमिका हन्त्यतोऽन्यथा ॥१४॥ [च० ६।१७

(१) हिचकते हुए जिस मनुष्य का शरीर विस्तृत सा हो जाता है अथवा हिक्का के समय सर्वदा आकुञ्चित हो जाता है और जिसकी आँखें (दृष्टि) ऊपर को फिर जाती हैं; वह; तथा (२) क्षीण होते हुए भी अन्न से द्वेष (अरुचि) रखने वाला जो मनुष्य बहुत ही छींकता है, वह (हिक्का का रोगी) वर्ज्य (असाध्य) है। इसमें किसी हिक्का विशेष का निर्देश नहीं है अतः यह आवस्थिक असाध्यता है, जो कि प्रत्येक हिक्का में, जिसमें कि ये लक्षण हों, हो सकती है। अब लक्षण विशेष के निर्देश से विना जो स्वभाव से ही असाध्य हैं, उनको कहते हैं। (द्वौ चान्त्याविति—) अन्त में होने वाली गम्भीरा और महती नामक इन दो हिक्काओं वाले रोगी (स्वभाव से ही) वर्ज्य हैं। जिस मनुष्य में दोष अधिक मात्रा में सञ्चित हो गए हों, अरुचि (खाने की अनिच्छा) बढ़ गई हो, कृशता अधिक हो गई हो, अन्य (उपद्रवभूत) रोगों से शरीर की क्षीणता हो गई हो, वार्धक्य हो, और मैथुनशीलता अत्यधिक हो उस मनुष्य को इन साध्य (अन्नजा, यमला, क्षुद्रा) तीन हिक्काओं में से जो हो जाती है, वही उसके जीवन को शीघ्र नष्ट कर देती है। कई आचार्य 'आसाम्' शब्द की इस प्रकार [illegible] करते हुए यह अर्थ करते हैं कि—उस मनुष्य को इन [illegible] यमला,

क्षुद्रा, गम्भीरा और महती) हिक्काओं में से जो हो जाती है वही उसके जीवन को नष्ट कर देती है। अब यह आशंका होती है कि—जब गम्भीरा और महती ऊपर स्वभाव से ही असाध्य कह दी हैं तो पुनः यहां अवस्थानुसार उनकी असाध्यता का निर्देश क्यों किया ? इस पर वे कहते हैं कि—इसी पाठ से यह सिद्ध होता है कि पूर्व उन्हें जो स्वरूप से ही असाध्य माना है, वह प्रायिक है। (यमिकेति—) अन्नजा और क्षुद्रा (साध्य होने पर भी) जब दो वेगों से होती हैं तथा प्रलाप, पीड़ा, मूर्च्छा और पिपासा इन उपद्रवों से समन्वित होती हैं तो असाध्य होती हैं। यहां पर भी कई आचार्य 'यमिका' शब्द से यमला को तथा चकार से अन्नजा और क्षुद्रा को लेकर कहते हैं कि ये प्रलापादि युक्त होने पर वर्ज्य हैं। यह व्याख्या ठीक नहीं; क्यों ? इसका उत्तर यहीं मधुकोश की व्याख्या में दिया जायेगा। यमिका की साध्यता का निर्देश—जो मनुष्य बलवान्, प्रसन्नचित्त, स्थिर धातु और स्थिर इन्द्रिय है उसकी (अर्थात् उसमें होने वाली) यमिका (अन्नजा और क्षुद्रा) हिक्का साध्य हो सकती है; परन्तु जो मनुष्य उपर्युक्त लक्षणान्वित नहीं है उसे वह (यमिका अर्थात् यमल वेग वाली अन्नजा और क्षुद्रा; न कि यमला नाम वाली हिक्का) मार देती है।

मधु०—अवस्थायामसाध्यत्वमाह—आयम्यत इत्यादि । आयम्यते विस्तार्येत इव । दृष्टिश्चोर्ध्वं भवतीति शेषः । नाम्यते आकुञ्च्यते देह इति संबन्ध इति जेज्जटगयदासौ । ताम्यतीति पाठान्तरे मुह्यति हिक्की । क्षौति छिक्कति । तौ द्वाविति आयम्यत इत्यादिना नित्यमित्यन्तेनैकावस्थो हिक्की, क्षीणेत्यादिनाऽतिमात्रान्तेनापरः; साध्यानामपि मध्ये एवंविधौ वर्जयेदित्यर्थः । गम्भीरामहत्योः स्वभावादेवासाध्यत्वमिति तदुक्तौ हिक्कमानावन्त्यौ शेषपठितावसाध्यौ; पाठान्तराणि व्याख्याविशेषाश्च विस्तरभयान्न लिखिताः । आसां या सेति आसां साध्यहिक्कानां मध्ये याऽतिसंचितदोषादेर्भवति सा हन्तीति योज्यम्, अथवा आसामिति पञ्चविधानामेव । तेन महतीप्रभृतीनां स्वरूपेण यदसाध्यत्वमुक्तं तत्प्रायिकम् । यदाह जतूकर्णः—"आद्या दुःसाध्या; यमिका मोहतृष्णापतः सद्यःप्राणहृत्" इति । यमिकेत्यादि । यमिका चेत्यनेन चकारात् क्षुद्रा अन्नजा वा या साध्यत्वेनोक्ता सा यमलैर्वेगैर्जायमाना हन्तीति योज्यम् । सैवाक्षीणादेः साध्या भवतीत्याह—अक्षीण इत्यादि । अक्षीणो बलवान् । अदीनः प्रसन्नमनाः । अन्ये तु अन्नजां यमलामित्यादिसुश्रुतग्रन्थपठितां यमलां यमिकाशब्देन व्याचक्षते । तन्न, यमिका च प्रलापार्तीत्यादिश्लोकश्चरके पठितः, अत्र यमला यमिकानाम्ना न पठितैव हिक्केति । यमिकाशब्देनतार्थगत्या व्यपेतोच्यतेति चेत्; न, तर्हि व्यपेता च प्रलापार्तीत्येवमभिदध्यात् ॥११-१४॥

(अन्ये त्वित्यादि—) अन्य आचार्य तो 'अन्नजां यमलाम्' इत्यादि सुश्रुत में पठित यमला हिक्का को ही यमिका कहकर व्याख्या करते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं। क्योंकि 'यमिका च प्रलापार्तिः'—इत्यादि श्लोक चरक में पढ़ा है; किन्तु वहां (चरक में) यमला यमिका नाम से नहीं पढ़ी, अतः यमिका यमला नहीं है। यमिका शब्द के अर्थ यदि व्यपेता ली जाय तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि यमिका शब्द में

नुसार) व्यपेता लेनी होती तो उस पाठ में 'यमिका च प्रलापार्ति' के स्थान पर 'व्यपेत च प्रलापार्ति' ऐसा पढ़ना चाहिये था। इसमें छन्दोभङ्ग आदि कोई दोष भी नहीं आता परन्तु आचार्य ने ऐसा नहीं किया, अतः प्रतीत होता है कि 'यमिका' में व्यपेता का ग्रहण आचार्य को अभीष्ट नहीं है।

श्वासस्य पञ्च भेदानाह—

महोर्ध्वच्छिन्नतमकक्षुद्रभेदैस्तु पञ्चधा।
भिद्यते स महाव्याधिः श्वास एको विशेषतः॥१५॥

वह महा व्याधि (अर्थात् श्वास) श्वासपन से एक होती हुई भी निदान भेद तथा लक्षण भेद के अनुसार महान्, ऊर्ध्व, छिन्न, तमक और क्षुद्र इन भेदों से पांच प्रकार की होती है।

तेषां पृथग् दोषोल्बणतां प्रतिपादयति—

(वाताधिको भवेत् क्षुद्रस्तमकस्तु कफोद्भवः।
कफवाताधिकश्चैव संसृष्टश्छिन्नसंज्ञकः।
श्वासो मारुतसंसृष्टो महानूर्ध्वस्ततो मतः॥१॥)

क्षुद्र श्वास वाताधिक, तमक कफाधिक (कफज वा), छिन्न कफवाताधिक और महान् तथा ऊर्ध्व वायु से संसृष्ट होता है। यह पाठ प्रक्षिप्त है, अतः इसकी व्याख्या रक्षित ने भी नहीं की। आतंकदर्पणकार श्वास में दोषोल्बणता प्रतिपादक तन्त्रान्तर का और प्रमाण देता है, जिसमें इससे कुछ भेद है। तद्यथा-'वातेन क्षुद्रकः, श्लेष्मभूयिष्ठस्तमकः स्मृतः। छिन्नः पित्तप्रधानः स्यात्, अन्यौ मारुतकोपजौ'-(आ. द.)। इसमें छिन्न पित्त प्रधान माना है तथा उपर्युक्त में कफ वात से संसृष्ट। शेष उभयत्र समानता है।

मधु०—श्वासानाह—महोर्ध्वेत्यादि। एको विशेषत इति श्वासत्वेनैक एव सन् विशेषं हेतुलिङ्गभेदं प्राप्य पञ्चधा भिद्यते, पञ्चसु श्वासत्वं वेगवदूर्ध्ववातत्वं; यदुक्तमन्यैः—"श्वासस्तु भस्त्रिकाध्मानसमवातोर्ध्वगामिता" इति। संख्येयनिर्देशादेव पञ्चप्रकारत्वे सिद्धे पञ्चवचनं तमकभेदस्य प्रतमकस्य पृथक्त्वसंख्यानिरासार्थम्॥१५॥

(संख्येयेति—) श्वास रूप संख्येय (गिनने के योग्य) के निर्देश से ही जब पांच प्रकार सिद्ध हो जाते हैं तो 'पञ्च' यह निर्धारणात्मक शब्द तमक श्वास के भेद प्रतमक की पृथक्ता दूर करने के लिये है।

श्वासस्य पूर्वरूपमवतारयति—

प्राग्रूपं तस्य हृत्पीडा शूलमाध्मानमेव च।
आनाहो वक्त्रवैरस्यं शङ्खनिस्तोद एव च॥१६॥

हृदय में पीड़ा, उदर में शूल, आध्मान (आटोप), आनाह (आम वा मल का दुष्ट वायु द्वारा ठीक प्रवृत्त न होकर पेट को फुलाना), मुख की विरसता (मुख का स्वाभाविक स्वाद से विरुद्ध स्वाद वाला होना) और शङ्खप्रदेश में ये श्वास के पूर्वरूप हैं।

श्वासस्य संप्राप्तिं दर्शयति—

यदा स्रोतांसि संरुध्य मारुतः कफपूर्वकः।
विष्वग्व्रजति संरुद्धस्तदा श्वासान् करोति सः ॥१७॥ [च० ६।१७]

जब कफप्रधान वायु उसी कफ से अवरुद्धगति होकर विमार्ग में चलता हुआ प्राणवाही, उदकवाही तथा अन्नवाही स्रोतों को रोक कर सर्वत्र प्रसार करता है तो वह श्वास रोगों को उत्पन्न करता है।

मधु०—संप्राप्तिमाह—यदेत्यादि । स्रोतांसीति हिक्कानिर्दिष्टप्राणोदानवहानि । कफः पूर्वं प्रधानं यस्य स तथा, तेनैव कफेन रुद्धो विमार्गगतिर्विमार्गगत्वेन, विष्वग्व्रजति विष्वगव्रतीति, विष्वक् सर्वत इत्यर्थः ॥१७॥

महाश्वासस्य स्वरूपमाह—

उद्धूयमानवातो यः शब्दवद्दुःखितो नरः।
उच्चैः श्वसिति संरुद्धो मत्तर्षभ इवानिशम् ॥१८॥ [च० ६।१७]
प्रनष्टज्ञानविज्ञानस्तथा विभ्रान्तलोचनः।
विवृताक्ष्याननो बद्धमूत्रवर्चा विशीर्णवाक् ॥१९॥ [च० ६।१७]
दीनः प्रश्वसितं चास्य दूराद्विज्ञायते भृशम्।
महाश्वासोपसृष्टस्तु क्षिप्रमेव विपद्यते ॥२०॥ [च० ६।१७]

जो दुःखित मनुष्य शब्द (फुफ्फुसों के श्लेष्मावृत वा शोथयुक्त होने से जब वायु ऊपर को आती है तो शब्द होता है उस शब्द) युक्त वायु को (श्वास रूप में बाहर निकालने के लिये) ऊपर खैंचता (लाता) हुआ, रुके हुए मदमत्त बैल के श्वास की तरह निरन्तर दीर्घ श्वास छोड़ता है; अथवा जो दुःखित मनुष्य वायु को ऊपर खैंचता हुआ रुके हुए मत्त बैल के श्वास की तरह निरन्तर शब्दयुक्त दीर्घश्वास छोड़ता है तथा जिसका ज्ञान और विज्ञान (शास्त्र और शास्त्र का अर्थनिश्चय) नष्ट हो गया है, एवं जो चञ्चलनेत्र वा स्तब्धनेत्र, स्तब्धमुख, बद्धमूत्र, बद्धमल, भग्नवाक् वा मन्दवाक् तथा खिन्नचित्त वाला है और जिसका प्रश्वास निरन्तर दूर से ही सुनाई पड़ता है, वह महाश्वास का रोगी है (अर्थात् उपर्युक्त महाश्वास के लक्षण हैं)। इस महाश्वास का रोगी शीघ्र ही मर जाता है।

मधु०—महाश्वासलक्षणमाह—उद्धूयमानेत्यादि । उद्धूयमानवात इति उत् ऊर्ध्वं धूयमानो नीयमानो वातो यस्य स तथा । शब्दवत् सशब्दं यथा भवति, उच्चैर्दीर्घम् । संरुद्धो मत्तर्षभ इवेति स्वरविशेषज्ञापनार्थमयं दृष्टान्तः । ज्ञानं शास्त्रं, विज्ञानं तदर्थनिश्चयः । विभ्रान्तलोचनश्चलनेत्रः । विवृते स्तब्धे अक्ष्यानने यस्य स तथा, नेत्रस्य विभ्रान्तस्तब्धत्वे कालभेदादिति जेज्जटः । विशीर्णवाक् वक्तुमक्षमः, मन्दवचनो वा । दीनः क्लान्तमनाः; हीनमिति पाठान्तरमयुक्तं, दूराद्विज्ञायते भृशमित्यनुपपत्तेरित्याहुः ॥१८–२०॥

१ प्राणोदानवहानि. २ (Dyspnoea of failing heart or respiration) डिस्प्निया ऑफ फेलिङ्ग हार्ट ऑर रेस्पिरेशन.

उपर्युक्त लक्षण में 'विभ्रान्तलोचनः' और 'विवृताक्ष्याननः' यह दो लक्षण पढ़े हैं, जो कि एक ही समय में नहीं हो सकते। इस पर जेज्जट कहता है कि काल भेद से (भिन्न २ काल में) दोनों होते हैं।

ऊर्ध्वश्वासस्य लक्षणमाह—

ऊर्ध्वं श्वसिति यो दीर्घं न च प्रत्याहरत्यधः।
श्लेष्मावृतमुखस्रोताः[1] क्रुद्धगन्धवहार्दितः ॥२१॥ [च० ६।१७]
ऊर्ध्वदृष्टिर्विपश्यंस्तु विभ्रान्ताक्ष इतस्ततः।
प्रमुह्यन् वेदनार्तश्च शुक्लास्यो[2]ऽरतिपीडितः ॥२२॥ [च० ६।१७]
ऊर्ध्वश्वासे प्रकुपिते ह्यधःश्वासो निरुध्यते।
मुह्यतस्ताम्यतश्चोर्ध्वं श्वासस्तस्यैव हन्त्यसून् ॥२३॥ [च० ६।१७]

ऊर्ध्वश्वास में जो मनुष्य बहुत देर तक ऊर्ध्वश्वास छोड़ता है परन्तु (बहुत देर तक) नीचे श्वास नहीं खैंचता वह, तथा जिसके मुखसम्बन्धी स्रोत (प्राणवाही, उदकवाही और अन्नवाही); वा मुख और स्रोत; अथवा स्रोतों के मुख कफ से आवृत्त और जो प्रकुपित वायु से पीड़ित हैं, एवं जिसकी आँखें ऊपर चढ़ी रहती हैं और जो इधर उधर विकृत वस्तुओं को देखता है; अथवा जो वैसे ही नेत्रों को चारों ओर फेंकता है, जो मूर्च्छित होता हुआ वेदना से पीड़ित, श्वेत मुख, और सब विषयों में रतिरहित हो जाता है, तथा जिसका ऊर्ध्वश्वास प्रकुपित होने पर अधःश्वास हृदय में ही रुक जाता है; अथवा जिसका ऊर्ध्वश्वास (वात) प्रकुपित होने पर अधःश्वास बन्द हो जाता है और जो ग्लानियुक्त होता हुआ मूर्च्छित हो जाता है वह ऊर्ध्वश्वास का रोगी है अर्थात् उपर्युक्त ऊर्ध्वश्वास के लक्षण हैं। वही ऊर्ध्वश्वास उसी रोगी के प्राणों को नष्ट कर देता है। अर्थात् इन सब लक्षणों से युक्त ऊर्ध्वश्वास असाध्य है और अव्यक्त-लक्षण साध्य है। यह साध्यत्व आगे आ जावेगा। कई 'श्लेष्मावृतमुखस्रोतक्रुद्ध-गन्धवहार्दितः' ऐसा समस्त पाठ पढ़ते हैं, एवं इसकी व्याख्या 'मुख और स्रोतों के श्लेष्मावृत्त होने के कारण क्रुद्ध वायु से पीड़ित' यह है।

मधु०—ऊर्ध्वश्वासलक्षणमाह—ऊर्ध्वमित्यादिना। ऊर्ध्वमिति विशेषपरं, सर्वश्वासानां तथाविधत्वात्। दीर्घमिति दीर्घकालम्। नच प्रत्याहरत्यध इति न श्वासमधःकरोति दीर्घकाल-मित्यर्थः। श्लेष्मावृतमुखस्रोता इति श्लेष्मणा आवृतानि मुखं स्रोतांसि च[3] यस्य स तथा। क्रुद्ध-गन्धवहार्दितः कुपितवातपीडितः, समस्तपाठे तु श्लेष्मावृतमुखस्रोतस्त्वेन क्रुद्धो यो गन्धवहस्तेनार्दितः। विपश्यंस्तु इतस्तत इति इतस्ततो विकृतिं पश्यन्। 'ऊर्ध्वं श्वसिति यो दीर्घं न च प्रत्याहरत्यधः' इति यदुक्तं तत्र हेतुमाह—ऊर्ध्वश्वास इत्यादि। निरुध्यत इति हृदय एवातिस्तम्भितः स्यात्, अथवा श्वासो वातः सोऽधो न वर्तते; ऊर्ध्वं श्वास ऊर्ध्वश्वासः। ताम्यतो ग्लायतो मुह्यतश्चासून् प्राणान् हन्ति, नान्यथेति ॥२१–२३॥

१ श्लेष्मावृतमुखस्रोतक्रुद्धगन्धवहार्दितः. २ शुष्कास्यः. ३ श्लेष्मावृतमुखानि स्रोतांसि.

छिन्नश्वासस्य स्वरूपमाह—

यस्तु श्वसिति विच्छिन्नं सर्वप्राणेन पीडितः ।
न वा श्वसिति दुःखार्तो मर्मच्छेदरुगर्दितः ॥२४॥ [च० ६।१७]
आनाहस्वेदमूर्च्छार्तो दह्यमानेन बस्तिना ।
विप्लुताक्षः परिक्षीणः श्वसन् रक्तैकलोचनः ॥२५॥ [च० ६।१७]
विचेताः परिशुष्कास्यो विवर्णः प्रलपन्नरः ।
छिन्नश्वासेन विच्छिन्नः स शीघ्रं विजहात्यसून् ॥२६॥ [च० ६।१७]

जो पीड़ित (श्वासरोगी) सम्पूर्ण शक्ति से देर २ बाद श्वास लेता है अथवा हृदय के छिदने की सी पीड़ा से पीड़ित तथा श्वास लेने के कारण दुःखार्त (बलपूर्वक) श्वास ही नहीं लेता; वह, और आनाह-स्वेद तथा मूर्च्छा से पीड़ित, जलती हुई सी बस्तिवाला, अश्रुपूर्ण नेत्रों वाला, दुर्बल, लाल एक नेत्र वाला, उद्विग्न-चित्त, शुष्कमुख, बदले हुए वर्णवाला, प्रलापी और विमुक्तसन्धि बन्धनों वाला मनुष्य छिन्नश्वासयुक्त जानना चाहिये, अर्थात् उपर्युक्त लक्षण छिन्नश्वासी के हैं । एवं इन्हीं लक्षणों से युक्त श्वास का रोगी प्राणों को छोड़ देता है ।

मधु०—छिन्नश्वासलक्षणमाह—यस्त्वित्यादि । विच्छिन्नं सविच्छेदम् । सर्वप्राणेन यावद्बलेन । न वा श्वसिति श्वासं न लभते । मर्मच्छेदरुगर्दित इति हृदयच्छेदवेदनयेव पीडितः । दह्यमानेन बस्तिनोपलक्षितः, एतेन वातस्य पित्तानुबन्धो दर्शितः । विप्लुताक्षश्चञ्चलनेत्रोऽश्रुपूर्ण-चक्षुर्वा । न वा श्वसिति न वा श्वासं लभते । रक्तैकलोचनत्वं व्याधिप्रभावात्, दोषात्तु द्वयोरपि स्यात् । विचेता उद्विग्नचित्तः । विच्छिन्नो विमोक्षितसन्धिः पीडित इत्यन्ये, 'विहतः' इति पाठान्तरम् ॥२४–२६॥

तमक[1]श्वासस्य लक्षणं वर्णयति—

प्रतिलोमं यदा[2] वायुः स्रोतांसि प्रतिपद्यते ।
ग्रीवां शिरश्च संगृह्य श्लेष्माणं समुदीर्य च ॥२७॥ [च० ६।१७]
करोति पीनसं तेन रुद्धो घुर्घुरकं तथा ।
अतीव तीव्रवेगं च श्वासं प्राणप्रपीडकम् ॥२८॥ [च० ६।१७]
प्रताम्यति स वेगेन तृष्यते सन्निरुध्यते ।
प्रमोहं कासमानश्च स गच्छति मुहुर्मुहुः ॥२९॥ [च० ६।१७]
श्लेष्मण्यमुच्यमाने तु भृशं भवति दुःखितः ।
तस्यैव च विमोक्षान्ते मुहूर्तं लभते सुखम् ॥३०॥ [च० ६।१७]
तथाऽस्योद्ध्वंसते कण्ठः कृच्छ्राच्छक्नोति भाषितुम् ।
न चापि लभते निद्रां शयानः श्वासपीडितः ॥३१॥ [च० ६।१७]
पार्श्वे तस्यावगृह्णाति शयानस्य समीरणः ।
आसीनो लभते सौख्यमुष्णं चैवाभिनन्दति ॥३२॥ [च० ६।१७]

१ अस्थमा (Asthma). २ यदि.

उच्छ्रिताक्षो ललाटेन स्विद्यता भृशमार्तिमान्।
विशुष्कास्यो मुहुः श्वासो मुहुश्चैवावधम्यते ॥२३॥ [च० ६।१७]
मेघाम्बुशीतप्राग्वातैः श्लेष्मलैश्च विवर्धते।
स याप्यस्तमकः श्वासः साध्यो वा स्यान्नवोत्थितः॥२४॥ [च० ६।१७]

यद्यपि सामान्य श्वास की सम्प्राप्ति में तमक श्वास की सम्प्राप्ति भी आ जाती है परन्तु आचार्य इसमें श्लेष्मा की प्रधान कारणता तथा इसका श्लेष्मा से आरब्धपन बताने के लिये 'प्रतिलोमं' से 'प्राणप्रपीडकं' तक के पाठ में पुनः इस (तमक) की सम्प्राप्ति कहते हैं कि जब वायु प्रतिलोम (विरुद्ध वा विकृत) होकर स्रोतों (प्राण उदक और अन्नवाहिनियां) में जाता है तब वह (वायु) श्लेष्मा को ऊपर की ओर प्रेरित कर ग्रीवा और सिर को जकड़कर पीनसरोग कर देता है। तदनन्तर उसी श्लेष्मा से आवृत वायु गले में 'घुरघुर' शब्द को करता है और प्राणों के आश्रयभूत हृदय के प्रपीडक अतीव तीव्र वेग वाले (तमक) श्वास को कर देता है। इस तमक श्वास का रोगी इसके वेग से अपने आपको अन्धकार में प्रविष्ट सा मानता है। उसे तृषा लगती है और वह निश्चेष्ट वा अवरुद्धश्वास वाला हो जाता है। एवं वह रोगी खांसता हुआ बार २ मूर्च्छित होता है, और जब उसके गले वा छाती में रुका हुआ कफ नहीं निकलता तो अत्यन्त दुःखित होता है परन्तु जब वह (कफ) थूक द्वारा निकल जाता है तो कुछ समय तक (जब तक कि पुनः कफ आकर नहीं रुकता तब तक) सुख अनुभव करता है। इस रोग से रोगी के गले में कण्डू (खुजली) होती है, उसे बोलना कठिन हो जाता है, श्वास से पीड़ित होने के कारण लेटने पर भी उसे नींद नहीं आती परन्तु जब सोता है तो वायु उसके दोनों पार्श्वों को पीड़ित करता है जिससे कि श्वास के वेग आने लगते हैं, अतः वह बैठने से सुख पाता है। इसका रोगी उष्ण पदार्थों से आनन्दित होता है अर्थात् तमकश्वास के वात-कफारब्ध होने के कारण उष्ण पदार्थ उसके लिये उपशय (हितकारी) हैं। उसके नेत्र में भारीपन वा नेत्र छेदों में शोथ होती हैं, मस्तक पर स्वेद होता है, पीड़ा सर्वदा रहती है, मुख शुष्क रहता है, बार २ श्वास के वेग होते हैं और बार २ कँपकँपी होती है और बादल, जल, शीत, प्राग्वात (पूर्वीय वायु वा प्रातःकालीन वायु) तथा श्लेष्मल पदार्थों से वह (तमक श्वास) बढ़ता है, अर्थात् यह अनुपशय है। एवं यह तमकश्वास याप्य है, परन्तु नवोत्पन्न साध्य है।

मधु०—तमकश्वासलक्षणमाह—प्रतिलोममित्यादि। श्लेष्माणं समुदीर्य चेत्यनेन सामान्यसंप्राप्तिलब्धस्यापि श्लेष्मणः पुनरभिधानादिह विशेषेण कारणत्वं बोधयति। तेन रुद्धः कफेनावृतः। घुर्घुरकं कण्ठे घुर्घुरशब्दम्। प्राणप्रपीडकं प्राणाधिष्ठानहृदयस्य पीडकम्। प्रताम्यति तमसि प्रविशतीव। सन्निरुध्यते निश्चेष्टो भवतीति चक्र', जेज्जटस्तु सन्निरुध्यते 'श्वासः' इति

शेषमाह । तस्यैवेति श्लेष्मणः । सुखं सुखमिव । उद्ध्वंसते कण्डूयते । पार्श्वे इति कर्मपदम्, अवगृह्णाति पीडयति । उष्णमभिनन्दति वातकफारब्धत्वात् । उच्छ्रिताक्ष उच्छूननेत्रः । ललाटे- नेत्युपलक्षणे तृतीया । अवधम्यते गजारूढस्येव सर्वगात्रं चाल्यते ॥२७-३४॥

तमकस्यैव पित्तानुबन्धत्वेन प्रतमकाभिधेयतामवतारयति—

ज्वरमूर्च्छापरीतस्य विद्यात्प्रतमकं तु तम् ।

प्रतमकस्यैव समुत्थानविशेषत्वेन संतमकाभिधेयतां व्यवस्थापयति—

उदावर्तरजोजीर्णक्लिन्नकायनिरोधजः ॥३५॥ [च० ६।१७]
तमसा वर्धतेऽत्यर्थं शीतैश्चाशु प्रशाम्यति ।
मज्जतस्तमसीवास्य विद्यात्संतमकं तु तम् ॥३६॥ [च० ६।१७]

तमक श्वास वातकफारब्ध होता है, परन्तु जब उसमें पित्त का अनुबन्ध तथा तदनुसार लक्षण होते हैं, तो वह प्रतमक कहलाता है । प्रतमक एक प्रकार से तमक का ही भेद है । (ज्वरेति—) जब तमक श्वास ज्वर और मूर्च्छा से युक्त; वा ज्वर के कारण उत्पन्न मूर्च्छा से युक्त होता है, तो उसे प्रतमक जानना चाहिये । वह प्रतमक उदावर्त, धूलि, आमादि अजीर्ण, क्लेद तथा कायिक वेगों को वा काय (शरीर) में मलादि वेगों को रोकने से; अथवा क्लिन्नकाय अर्थात् वार्धक्य और वेगों के निरोध से उत्पन्न होता है । वही श्वास और कारणों की अपेक्षा अन्धकार से; वा तम नामक मानसिक दोष से अत्यधिक बढ़ता है तथा (पित्तानुबन्धी होने से) शीत पदार्थों से शीघ्र ही शान्त हो जाता है । एवं जिसे यह होता है वह अपने आपको अन्धकार में डूबा हुआ सा अनुभव करता है । इसी रोग को सन्तमक अर्थात् प्रतमक जानना चाहिये । कई आचार्य प्रथमार्ध श्लोक से प्रतमक का लक्षण और शेष 'उदावर्त' इत्यादि पाठ से प्रतमक के उपद्रव मानते हैं, यह जेज्जट का कथन है ।

मधु०—तमकस्यैव पित्तानुबन्धत्वाज्ज्वरादियोगेन प्रतमकसंज्ञामाह—ज्वरेत्यादि । ज्वर-मूर्च्छाभ्यां परीतो ज्वरमूर्च्छापरीतः, ज्वरेण मूर्च्छा ज्वरमूर्च्छेति जेज्जटः । एतस्यैवापरकारणं लक्षणं चाह—उदावर्तेत्यादि । उदावर्तो रोगः, रजो धूलिः, अजीर्णमामादि, क्लिन्नं विदग्धं, काये वेगानां निरोधः कायनिरोधः; अथवा क्लिन्नकायो वृद्धनर इत्याहुः, निरोधो वेगनिरोधः; अथवा कुयोगिनां कुम्भकादिरूपवातनिरोध इति जेज्जटः । तमसा अन्धकारेण, मानसदोषेण वा; अत्यर्थमिति इतरकारणापेक्षया विशेषेण; वातकफारब्धोऽपि पित्तसंबन्धाच्छीतैरुपशाम्यतीत्याहुः । संतमकः प्रतमक एवेति । अन्ये तदावर्तेत्यादिना प्रतमकस्योपसर्गमाहुरिति जेज्जटः ॥३५-३६॥

क्षुद्रश्वासस्य लक्षणमाह—

रूक्षायासोद्भवः कोष्ठे क्षुद्रो वात उदीरयन् ।
क्षुद्रश्वासो न सोऽत्यर्थं दुःखेनाङ्गप्रबाधकः ॥३७॥ [च० ६।१७]

---

१ क्षुद्रो वातमुदीरयन्. २ ब्रेथलेसनेस (Breathlessuess).

हिनस्ति न स गात्राणि न च दुःखो यथेतरे ।
न च भोजनपानानां निरुणद्ध्युचितां गतिम् ॥३८॥ [च० ६।१७]
नेन्द्रियाणां व्यथां नापि कांचिदापादयेद्रुजम् ।
स साध्य उक्तो बलिनः

तेषां साध्यासाध्यतादिकमाह—

सर्वे चाव्यक्तलक्षणाः ॥३९॥ [च० ६।१७]
क्षुद्रः साध्यो मतस्तेषां तमकः कृच्छ्र उच्यते ।
त्रयः श्वासा न सिध्यन्ति तमको दुर्बलस्य च ॥४०॥ [सु० ६।५१]

रूक्ष अन्न, रूक्ष पान और व्यायाम से उत्पन्न, अल्पनिदान तथा अल्प लक्षणों वाला वायु कोष्ठ में ऊपर की ओर चलता हुआ क्षुद्रश्वास को उत्पन्न करता है और वह क्षुद्र श्वास पीड़ा से अङ्गों को अधिक बाधा नहीं पहुँचाता और न वह मारणात्मक, न वह महाश्वासादि चारों श्वासों की तरह दुःखदायी, न अन्नपान का समुचित गतिरोधक, न इन्द्रियों का पीड़क और न उपद्रव रूप में रोगोत्पादक ही है। वह क्षुद्रश्वास बलवान् मनुष्य में साध्य है और शेष महाश्वास आदि सब (बलवान् मनुष्य में) अव्यक्त लक्षणों से युक्त साध्य होते हैं। सब श्वासों में से क्षुद्रश्वास साध्य, तमक श्वास कृच्छ्रसाध्य और महान्, ऊर्ध्व तथा छिन्नश्वास (सर्वलक्षणान्वित) असाध्य हैं, परन्तु दुर्बल मनुष्य में तमकश्वास भी असाध्य होता है।

मधु०—क्षुद्रश्वासमाह—रूक्षेत्यादि। रूक्षमन्नपानम्। क्षुद्रोऽल्पनिदानलिङ्गः। उदीरयन् ऊर्ध्वं गच्छन्। इतरे ऊर्ध्वश्वासादयः। स साध्य उक्त इति छेदः। सर्वे महाश्वासादयोऽव्यक्तलक्षणाः सन्तः साध्या इति योज्यम्। त्रयः श्वासा न सिध्यन्ति महोर्ध्वच्छिन्नाः संपूर्णलक्षणाः ॥३७–४०॥

हिक्काश्वासयोरन्यगदेभ्यः शीघ्रप्राणघातकतामाह—

कामं प्राणहरा रोगा बहवो न तु ते तथा ।
यथा श्वासश्च हिक्का च हरतः प्राणमाशु च ॥४१॥ [च० ६।१७]

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने हिक्काश्वासनिदानं समाप्तम् ॥१२॥

यद्यपि प्राणों को नष्ट करने वाले सान्निपातिक रोग बहुत से हैं, परन्तु वे ऐसे शीघ्र प्राणनाशक नहीं हैं जैसे कि हिक्का और श्वास ये दोनों रोग शीघ्र प्राणनाशक हैं।

मधु०—उपेक्षणासम्यगुपक्रमाभ्यां हिक्काश्वासयोः शीघ्रावश्यमारकत्वमाह—काममित्यादि। काममनुमतौ, प्राणहराः सन्निपातज्वरादयः। शेषं सुबोधमिति ॥४१॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां हिक्काश्वासनिदानं समाप्तम् ॥१२॥

अथ स्वरभेदनिदानम् ।

स्वरभेदस्य समुत्थानपूर्विकां संप्राप्तिमाह—

अत्युच्चभाषणविषाध्ययनाभिघात-
संदूषणैः प्रकुपिताः पवनादयस्तु ।
स्रोतःसु ते स्वरवहेषु गताः प्रतिष्ठां
हन्युः स्वरं भवति चापि हि षड्विधः सः ॥१॥ [सु० ६।५३]

बहुत ऊँचा बोलने से, विष से, वेदपाठादिरूप ऊँचे अध्ययन से, गले में चोट आदि लगने से तथा अन्य वातादि प्रकोपक कारणों से प्रकुपित वातादि दोष स्वरवह स्रोतों में प्रतिष्ठित (स्थित वा वृद्ध) होकर स्वरभङ्ग रोग को कर देते हैं। वह स्वरभङ्गरोग छः प्रकार का होता है । इन कारणों में विष त्रिदोष प्रकोपक है। प्रायः विष से उत्पन्न स्वरभेद भी त्रिदोषज होगा ।

मधु०—प्राणोदानदुष्टिसाधर्म्यात् श्वासे च स्वरभेदो भवतीति श्वासानन्तरं स्वरभेद-माह–अत्युच्चभाषणेत्यादि । अध्ययनमुच्चैर्वेदादिपाठः, अभिघातः कण्ठादिदेशे लगुडादिभिराघातः, एतैः संदूषणैरन्यैश्च यथास्वं वातादिकोपनैः, विषं तु सर्वदोषप्रकोपणमेव । स्रोतःसु स्वरवहेषु चतुर्षु यदुक्तं सुश्रुते—"द्वाभ्यां भाषते, द्वाभ्यां घोषं करोति ॥" (सु. शा. स्था. अ. ६) इति; भाषणघोषणयोरल्पत्वमहत्त्वाभ्यां भेदः । प्रतिष्ठां स्थितिं वृद्धिं वा । स इति स्वरभेदः; षड्विधो वातपित्तकफसंनिपातक्षयमेदोजभेदात् ॥१॥

तद्भेदानाह—

(वातादिभिः पृथक् सर्वैर्मेदसा च क्षयेण च ।)

वातादि दोषों से (वातिक, पैत्तिक और श्लैष्मिक ये) तीन, सन्निपात से एक, मेद तथा क्षय से एक एक, एवं छः प्रकार का स्वरभङ्ग होता है । यह पाठ प्रक्षिप्त प्रतीत होता है क्योंकि इसकी व्याख्या विजयरक्षित ने नहीं की और न वाचस्पति आदि बहुत से टीकाकारों ने इसकी उत्थानिका या टीका ही लिखी है ।

वातिकस्वरभेदस्य लक्षणमाह—

वातेन कृष्णनयनाननमूत्रवर्चा
भिन्नं शनैर्वदति गर्दभवत् खरं च ।

वात से अर्थात् वातिकस्वरभङ्ग से मनुष्य कृष्णमुख, कृष्णनेत्र, कृष्णमूत्र और कृष्णमल वाला होता है; तथा धीरे २ भिन्नस्वर से गर्दभ की तरह निष्ठुर बोलता है, अथवा धीरे धीरे भिन्नस्वर से वा गर्दभवत् कठोर स्वर से बोलता

१ नाम—सं० स्वरभेद, [illegible] बैठना; [illegible] Hoarseness [illegible]. २ [illegible]

है। यहां 'खरञ्च' के स्थान पर आतंकदर्पणकार 'स्वरञ्च' यह पाठ मानता है। इस प्रकार उसका अर्थ—गर्दभ के से स्वर स बोलता है, यह होता है।

मधु०—वातिकमाह—वातेनेत्यादि। कृष्णत्वं मूत्रादिषु स्वरभेदारम्भकदोषस्य सर्वाङ्गव्यापकत्वात्, अर्शोवत्। भिन्नं भिन्नस्वरं, तदेवाह—गर्दभवत् खरमिति, खरं निष्ठुरम्, उद्वेजकमिति यावत्॥

पैत्तिकस्वरभेदस्य लक्षणमाह—

पित्तेन पीतनयनाननमूत्रवर्चा
ब्रूयाद्गलेन स च दाहसमन्वितेन॥२॥ [सु० ६।५३]

पैत्तिक स्वरभेद में (से) नेत्र, मुख, मूत्र और मल पीत हो जाता है, और रोगी जलते हुए से (दाहयुक्त) गले से बोलता है।

मधु०—पैत्तिकमाह—पित्तेनेत्यादि। गलेनेति विशेष्योपदर्शनं, दाहसमन्वितेनेति विशेषणस्य विशेष्याधीनप्रतीतत्वात्; गलः सदाहो भवतीत्यर्थः॥२॥

श्लैष्मिकस्वरभेदस्य स्वरूपमाह—

ब्रूयात्कफेन सततं कफरुद्धकण्ठः
स्वल्पं शनैर्वदति चापि दिवा विशेषात्।

कफज स्वरभेद में मनुष्य सर्वदा कफरुद्ध कण्ठ से थोड़ा तथा धीरे २ बोलता है, परन्तु दिन में सूर्य द्वारा कफ क्षीण हो जाने के कारण कुछ अच्छी तरह बोलता है। कई टीकाकार 'ब्रूयात्' के स्थान में 'कृच्छ्रात्' यह पाठ मानते हैं। तदनुसार इसकी व्याख्या यह है कि—कफज स्वरभेदी मनुष्य सर्वदा कफरुद्ध कण्ठ होने के कारण बड़ी कठिनता से स्वल्प और धीरे २ बोलता है, परन्तु दिन में भली प्रकार बोलता है।

मधु०—श्लैष्मिकमाह—ब्रूयादित्यादि। दिवा विशेषादिति दिने सूर्यरश्मिभिः कफस्य मन्दीभावाद्विशेषाद्विशिष्टं वदतीत्यर्थः। 'दिवा विशेषम्' इति पाठान्तरे स एवार्थः॥

सान्निपातिकस्वरभेदस्य लक्षणमाह—

सर्वात्मके भवति सर्वविकारसंपत्
तं चाप्यसाध्यमृषयः स्वरभेदमाहुः॥३॥ [सु० ६।५३]

सन्निपातात्मक स्वरभङ्ग में तीनों दोषों के लक्षण (प्रकृतिसमसमवायानुसार) होते हैं। इस स्वरभेद को ऋषि लोग असाध्य कहते हैं। यहां 'चाप्यसाध्यम्' में पठित 'अपि' शब्द को भिन्नक्रम में मान कर, इसके असाध्य होने पर भी 'सर्वजे क्षयजे चापि प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियाम्'-(सु. उ. तं. अ. ५३) यह सुश्रुतोक्त चिकित्साविधान संगत हो जाता है, अन्यथा 'साधनं नत्वसाध्यानां व्याधीनामुपदिश्यते'-(च. सू. स्था. अ.) के अनुसार सान्निपातिक स्वरभेद चिकित्सा का कहना चरक के उपर्युक्त वाक्य से विरुद्ध सिद्ध होता है।

मधु०—सान्निपातिकमाह—सर्वात्मक इत्यादि। सर्वविकारसंपदिति उक्तवातादिस्वरभेदलिङ्गयोगः। तं चाप्यसाध्यमिति अपिशब्दो भिन्नक्रमे, असाध्यमपि; तेन "सर्वजे क्षयजे चापि प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियाम् ॥" (सु. उ. तं. अ. ५३) इति सुश्रुतवचनमुपपन्नं भवतीति ॥३॥

क्षयजस्वरभेदं लक्षयति—

धूम्येत वाक् क्षयकृते क्षयमाप्नुयाच्च
वागेष चापि हतवाक् परिवर्जनीयः।

धातुक्षयजन्य स्वरभेद में वाणी वेदना के साथ २ धूमवाली सी निकलती हुई प्रतीत होती है तथा नष्ट भी हो जाती है। एवं यह हतवाक् (नष्टस्वर वाला) रोगी वर्जनीय अर्थात् असाध्य है। यहां भी जब ओजःक्षय से मनुष्य हतवाक् वाला हो जाता है तब असाध्य होता है अन्यथा साध्य होता है। एवं 'सर्वजे क्षयजे चापि' (सु. उ. तं. अ. ५३) इत्यादि सुश्रुतवचन सङ्गत हो जाता है।

मधु०—क्षयजमाह—धूम्येतेत्यादि। धूम्येत वागिति सधूमेव निर्गच्छन्ती वेदनयाऽनुभूयते। क्षयकृत इति धातुक्षयकृते स्वरभेदे। क्षयमाप्नुयाच्च वागिति पदच्छेदः। एष च यदा हतवाग्भवति ओजःक्षयाद्वचनाक्षमस्तदा न साध्यः, अन्यथा तु साध्यः; तेन प्रत्याख्याय क्रियाकरणमुपपन्नं भवति। एषु चापीति। पाठे वातादिस्वरभेदेषु मध्ये हतवागसाध्यः, किंत्वयं पाठटीकाकारैर्न व्याख्यातः ॥—

मेदोजस्वरभेदस्य स्वरूपमाह—

अन्तर्गतस्वरमलक्ष्यपदं चिरेण
मेदोऽन्वयाद्वदति दिग्धगलस्तृषार्तः ॥४॥ [सु० ६।५३]

श्लेष्मा वा मेद से लिप्त गले वाला तथा मेद से स्रोतों के अवरुद्ध होने के कारण तृषार्त मेदज स्वरभेद का रोगी (मेद के कारण) गले में ही बोलता है; वा देर २ बाद अस्फुट (पदों से) बोलता है।

मधु०—मेदोजलक्षणमाह—अन्तर्गतेत्यादिना। अन्तर्गतस्वरमिति क्रियाविशेषणम्। 'अन्तर्गतं स्वरम्' इति पाठे तु कण्ठस्यान्तर्गतं यथा भवति तथा स्वरं वचनं वदतीति योज्यम्; 'अन्तर्गलम्' इति पाठान्तरे गलस्यान्तरिति अन्तर्गलं स्वरं वदतीत्यर्थः। दिग्धगल इति श्लेष्मणा मेदसा वा लिप्तगल इत्यर्थः। तृषार्तश्च मेदोरुद्धस्रोतस्त्वात् ॥४॥

स्वरभेदस्य प्रत्याख्येयतालक्षणमाह—

क्षीणस्य वृद्धस्य कृशस्य वाऽपि
चिरोत्थितो यश्च सहोपजातः।
मेदस्विनः सर्वसमुद्भवश्च
स्वरामयो यो न स सिद्धिमेति ॥५॥ [सु० ६।५३]

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने स्वरभेदनिदानं समाप्तम् ॥१३॥

२ धूमयेत. ३ [illegible]

क्षीणमांस, वृद्ध, और निर्बल मनुष्य का पुराना वा जन्म से पैदा हुआ स्वरभेद असाध्य होता है और अतिस्थूल मनुष्य का तथा सम्पूर्ण लक्षणों वाला स्वरभेद भी असाध्य ही होता है। कई चिरोत्थित और सहोपजात को 'क्षीणस्य' इत्यादि से सम्बन्धित नहीं करते एवं इसका अर्थ क्षीण, वृद्ध, कृश और मेदस्वी मनुष्य का स्वरभेद सिद्ध नहीं होता और न चिरोत्थित, सहोपजात तथा सम्पूर्ण लक्षणों वाला स्वरभेद सिद्ध होता है, यह कहते हैं। अर्थ दोनों प्रकार से सङ्गत एवं एक सा ही है। 'मेदश्चयात्' इस पाठान्तर में मेदा की वृद्धि से यह अर्थ लेना चाहिये।

मधु०—उक्तवातादिजानामेवावस्थायामसाध्यत्वमाह–क्षीणस्येत्यादिना सहोपजात इत्यन्तेन। क्षीणस्य क्षीणमांसस्य। कृशस्य अबलस्य। सहोपजातो जन्मप्रभृतिबद्धः 'काकस्वर' इति लोके। 'सहोपजात' इत्यत्र 'मदोपजात' इति पाठान्तरं, मदो रोगविशेषः। मेदस्विनोऽतिस्थूलस्य मेदसाऽऽवृतस्रोतस्त्वेन यो जातः; अमेदस्विनस्तु मेदोदुष्टया यो जातः स साध्यः पूर्वमुक्त इति न विरोधः। सर्वसमुद्भवश्चावगाढः संपूर्णलिङ्गो वाऽसाध्यो द्रष्टव्य इति ॥५॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां स्वरभेदनिदानं समाप्तम् ॥१३॥

(मेदस्विन—) यहां मेदस्वी शब्द से अतिस्थूल मनुष्य जिससे कि स्रोत के मेदोधातु से आवृत होने के कारण स्वरभेद हुआ हो वह असाध्य है। जो स्थूल नहीं है परन्तु मेदा की दुष्टि से जो स्वरभेद हुआ हो वह साध्य है, यह पहले कह दिया है अतः इस प्रकार उससे इसका विरोध नहीं आता।

अथारोचकनिदानम्।

अरोचकस्य निदानमाह—

वातादिभिः शोकभयातिलोभक्रोधैर्मनोघ्नाशनरूपगन्धैः।
अरोचकाः स्युः,

वात, पित्त, कफ और सन्निपात से चार; शोक, भय, अतिलोभ, अतिक्रोध, उच्छिष्ट, क्रिमियुक्त वा क्लिन्नादि मन को बुरे लगने वाले भोजन, मन को बुरे लगने वाले रूप और मन को बुरे लगने वाले पूति आदि गन्धों से एक; एवं ये पाँच अरोचक होते हैं। शोक भयादि से आगन्तुक अरोचक एक ही जानना चाहिए कारण कि एक तो ये सभी निदान सब आगन्तुक इस विकार के हैं। यद्यपि–"कामशोकभयाद्वायुः, क्रोधात्पित्तम्" से यह भी दोषप्रकोपक हैं, परन्तु पहले ये केवल आगन्तुक अरोचक को ही उत्पन्न करते हैं और तदनु "आगन्तुरन्वेति निजं विकारं निजस्तथाऽऽगन्तुमपि प्रवृद्धः" (च. सू. स्था. अ.

---

१ नाम—सं० अरुचि, अरोचक, भक्तस्यानशन, भक्तोपघात, भक्तच्छेद; इं० लॉस ऑफ टेस्ट ऐपेटाइट; (Loss of taste and appetit) अनोरेक्सिआ (Anorexia).

१६) के अनुसार उसमें दोषों का भी सम्बन्ध हो जाता है, जैसे कि अन्य रोगों में। दूसरा, इन्हें पृथक् २ मानने से कम से कम ये ११ प्रकार का हो जाता है परन्तु शास्त्र में यह पाँच ही प्रकार का कहा है। तद्यथा—"भक्तोपघातमिह पञ्चविधं वदन्ति" (सु. उ. तं अ. ५७)। तन्त्रान्तरे चापि—"अरोचको भवेद्दोषैरेको हृदयसंश्रयैः। सन्निपातेन मनसः सन्तापेन च पञ्चमः"। चरकेऽपि च "पञ्च-भक्तस्यानशनस्थानानीति" (च. सू. स्था. अ. १६)। यद्यपि चरक संख्या में तो इनके साथ ही है परन्तु वह सान्निपातिक अरोचक के स्थान पर 'आयासज' मानता है। तद्यथा—"पञ्च भक्तस्यानशनस्थानानीति वातपित्तकफद्वेषायासाः" (च. सू. स्था. अ. १६)। यहां स्मृतिद्वैधवत् दोनों ही प्रमाणित हैं; अथवा आयास से वायु प्रकुपित होती है और तदनु वह अन्य दोषों को प्रकुपित करती है जिससे यह त्रिदोषज अरोचक होता है, एवं इनकी एकवाक्यता होती भी है।

मधु०—ऊर्ध्वगविकारसाधर्म्यादरोचकमाह—वातादिभिरित्यादि । एकैकशो वातादिभिस्त्रयः, सन्निपातेनैकः, शोकादिना गन्धान्तेनागन्तुरेक एव गणनीयः, यतः पञ्चानामेकं लक्षणं वक्ष्यति; सुश्रुते चोक्तं—"भक्तोपघातमिह पञ्चविधं वदन्ति ॥" (सु. उ. तं. अ. ५७) इति । शोकादिजस्तु यद्यपि वातादिजः, तथाऽपि हेतुप्रत्यनीकचिकित्साकरणार्थं पृथगुक्तः । अतिलोभोऽन्नाहितस्य सततोपयोगहेतुतया दोषप्रकोपक इति दर्शयति । अरोचकाः स्युरिति छेदः ॥

शोकादि से गन्धान्त पाठ तक आगन्तुक एक ही अरोचक जानना चाहिये, क्योंकि आगे लक्षण भी इनका एक ही कहा है। शोकादिज यद्यपि वातादिज है परन्तु फिर भी इसका पृथक् निर्देश हेतुप्रत्यनीक चिकित्सा के लिये है। शेष स्पष्ट है।

वातिकारोचकस्य लक्षणमाह—

परिहृष्टदन्तः कषायवक्त्रश्च मतोऽनिलेन ॥१॥ [च० ६।२६]

वातिक अरोचक का रोगी अम्ल पदार्थ के खाने से जैसे दाँत हो जाते हैं वैसे दाँतों वाला तथा कसैले मुख वाला होता है अर्थात् अरोचक में दाँतों का खट्टा होना तथा मुख का कसैला होना वातज अरोचक का सूचक है।

मधु०—वातिकलक्षणमाह—परीत्यादि । परिहृष्टदन्त इति अम्लभक्षणेनेव ॥१॥

पैत्तिकारोचकस्य लक्षणमाह—

कट्वम्लमुष्णं विरसं च पूति पित्तेन विद्यात्

अरोचक में तिक्त, उष्ण, विरस और दुर्गन्धयुक्त मुख पित्त के कारण जानना चाहिए अर्थात् अरोचक में उक्त लक्षण पैत्तिक अरोचक के सूचक हैं।

मधु०—पैत्तिकलक्षणमाह—कट्वित्यादि । कटुशब्दोऽत्र तिक्तवाची । यदाह विदेहः, "पित्तेन तिक्तमास्यं स्यात्, क्षाराम्ललवणैः कटु"—इति ॥

श्लैष्मिकारोचकस्य लक्षणमाह—

लवणं च वक्त्रम् ।

माधुर्यपैच्छिल्यगुरुत्वशैत्यविबद्धसंबद्धयुतं कफेन ॥२॥ [च० ६।२६]

श्लैष्मिक अरोचक में रोगी का मुख नमकीन तथा मधुरता (मिठास), पिच्छिलता, गुरुता, शीतता, विबद्धता (भोजन करने में असमर्थता होने के कारण) और कफलिप्तता से युक्त जानना चाहिये।

मधु०—श्लैष्मिकलक्षणमाह—लवणमित्यादि। लवणं वक्त्रमिति विदग्धस्य श्लेष्मणो लवणरसत्वात्। उक्तं हि सुश्रुते—"श्लेष्मा विदग्धो लवणः स्मृतः, पित्तं विदग्धमम्लम्॥" (सु. सू. स्था. अ. ४०) इति। विबद्धसंवद्धयुतमिति विबद्धं च तत् संवद्धयुतं चेति विबद्धसंबद्धयुतम्। अत्र विबद्धं बद्धमिव, भक्षणाद्यसामर्थ्यात्; संवद्धयुतं 'कफस्य' इति शेषः, भावे क्तः, कफलिप्तमित्यर्थः। 'विदग्धसंवद्धयुतम्' इति पाठान्तरं सुगमम्। 'विबद्धसन्नद्धयुतम्' इति पाठे विबद्धः सन्नद्धः स च प्रकृतत्वात् कफस्य, सन्नद्धो बद्धः, 'णह' बन्धने इत्यस्माद्धातोः पूर्ववत् क्तादि। 'विबद्धसंस्तम्भयुतम्' इति काश्मीराः॥२॥

आगन्तुजस्वरभेदस्य लक्षणमाह—

अरोचके शोकभयातिलोभ-
क्रोधाद्यहृद्याशुचिगन्धजे स्यात्।
स्वाभाविकं चास्यमथारुचिश्च

शोक, भय, अतिलोभ और अतिक्रोध आदि से तथा मनोघ्न, उच्छिष्टादि अपवित्र और घ्राणोद्वेजक गन्ध से होने वाले अरोचक में मुख का स्वाद प्राकृतिक ही होता है तथा इसमें अरुचि अधिक होती है।

मधु०—आगन्तुजमाह—अरोचक इत्यादि। अहृद्यगन्धो घ्राणोद्वेजको गन्धः। स्वाभाविकं चास्यमिति अविकृतमुखरसत्वं, न तु वातादिवत् कषायत्वादि॥

त्रिदोषजारोचकस्य रूपमाह—

त्रिदोषजे नैकरसं भवेत्तु॥३॥ [च० ६।२६]

सन्निपातात्मक अरोचक में रोगी का मुख वातजादि कथित अनेक रसों वाला होता है। भाव यह है कि इसमें विकृतिविषमसमवाय के अनुसार कोई विलक्षण रस नहीं होता प्रत्युत दोषों के अनुसार अनेक रस होते हैं। इस पर भी सब रस एक ही समय में नहीं होते प्रत्युत सन्निपात में भी जब २ जिस २ दोष की उल्बणता होती जाती है तब २ उस २ दोष के अनुसार मुख का स्वाद होता जाता है। यदि सब रस एक ही समय में होते हैं, ऐसा माना जावे तो सब रसों के मेल से या तो उदासीनी करण हो जावेगा वा कोई विलक्षण रस उत्पन्न हो जावेगा। यदि उदासीनी करण हो जावे तो अनेकरसता नहीं हो सकती और यदि विलक्षण रसोत्पत्ति मानी जावे तो भी वह एक ही होगी न कि अनेक, एवं उभयथा अनेकरसता नहीं आ सकती। अतः अनेकरसता से उपर्युक्त भाव ही लेना चाहिये।

मधु०—त्रिदोषजमाह—त्रिदोषज इत्यादि। त्रिदोषजे नैकरसमिति वातजाद्युक्तकषाया-...सः॥३॥

वातादिभेदेन अरोचककृतान्यदेशविकृतिमाह—

हृच्छूलपीडनयुतं पवनेन, पित्तात्
तृड्दाहचोपबहुलं, सकफप्रसेकम्।
श्लेष्मात्मकं, बहुरुजं बहुभिश्च विद्याद्
वैगुण्यमोहजडताभिरथापरं च ॥४॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदानेऽरोचकनिदानं समाप्तम् ॥१४॥

वात से होने वाला अरोचक हृदय में शूल होने के कारण पीड़ायुक्त होता है। पित्त से होने वाला अरोचक तृष्णा (प्यास), दाह (जलन) और चूषण (चूसने) की सी पीड़ायुक्त होता है। श्लेष्मा से होने वाला अरोचक कफ प्रसेक (मुख से कफ का आना) से युक्त होता है। सन्निपात से होने वाला अरोचक वातादिजन्य अनेक पीड़ाओं से युक्त होता है और आगन्तुज अरोचक मन की व्याकुलता, मूर्च्छा वा अन्धकार में प्रवेश करने की सी अवस्था तथा निश्चेष्टता से युक्त होता है। इसका भाव यह है कि—वातिक अरोचक में हृदय में शूलज पीड़ा; पैत्तिक में तृष्णा, दाह और चोष; श्लैष्मिक में कफप्रसेक; सान्निपातिक में विविध पीड़ाएं और आगन्तुज में व्याकुलता, मोह तथा जड़ता होती है।

मधु०—वातजादिभेदेन मुखविकृतिमभिधायान्यदेशविकृतिमाह—हृच्छूलेत्यादि—। हृदि शूलेन पीडनं हृच्छूलपीडनम्। चोषश्चूषणवत् पीडा। बहुभिरिति त्रिदोषैः। वैगुण्यमोहजडताभिरथापरमित्युपलक्षणे तृतीया, वैगुण्यं मनसो व्याकुलत्वम्। अपरमिति दोषजादन्यमागन्तुजमित्यर्थः। सत्यामपि बुभुक्षायामभ्यवहारासामर्थ्यमरुचिः, अभिलषितमप्यन्नं दीयमानं नाभ्यवहरतीत्यन्नानभिनन्दनम्, अन्नस्य श्रवणस्मरणदर्शनगन्धस्पर्शनैर्यत्रोद्विजते स भक्तद्वेषः; एवं त्रिविधोऽपि रोगश्चरकसुश्रुताभ्यामरोचकशब्देन संगृहीतः। उक्तं हि वृद्धभोजेन—"प्रक्षिप्तं तु मुखे चान्नं जन्तोर्न स्वदते मुहुः। अरोचकः स विज्ञेयो, भक्तद्वेषमतः शृणु॥ चिन्तयित्वा तु मनसा दृष्ट्वा श्रुत्वाऽपि भोजनम्। द्वेषमायाति यो जन्तुर्भक्तद्वेषः स उच्यते॥ कुपितस्य भयार्तस्य अभिचारहतस्य च। यस्य नान्ने भवेच्छ्रद्धा सोऽभक्तच्छन्द उच्यते" इति ॥४॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामरोचकनिदानं समाप्तम् ॥१४॥

(सत्यामित्यादि—) भूख के होने पर भी खाने की शक्ति न होने को अरुचि; अभिलाषा के अनुसार अन्न के देने पर भी न खाना अन्नानभिनन्दन; और जहां अन्न के नाम श्रवण, स्मरण, दर्शन, गन्ध तथा स्पर्श से उद्वेग होता है वह भक्तद्वेष कहलाता है। यह तीन प्रकार का ही रोग चरक और सुश्रुत ने 'अरोचक' शब्द से माना है। इसकी त्रिविधता वृद्धभोज ने कही है कि जिस मनुष्य के मुख में बार बार अन्न गया हुआ भी स्वादिष्ट नहीं लगता वह अरोचक होता है। जिस रोग में मनुष्य अन्न का ध्यान, दर्शन और श्रवण करने से उद्विग्न हो जाता है वह भक्तद्वेष कहलाता है। एवं क्रोध, भय और अभिचार से ग्रस्त जिस रोगी की अन्न में श्रद्धा न हो उस होने वाले रोग को अभक्तच्छन्द कहते हैं।

अथ छर्दिनिदानम् ।

छर्द्या भेदानाह—

दुष्टैर्दोषैः पृथक् सर्वैर्बीभत्सालोचनादिभिः ।
छर्दयः पञ्च विज्ञेयास्तासां लक्षणमुच्यते ॥१॥ [सु० ६।४६]

वात, पित्त और कफ की दुष्टि से तीन; सन्निपात से एक; और वीभत्स पदार्थों के देखने आदि से एक; इस प्रकार पाँच प्रकार की छर्दि (वमन) होती है। अब उनके स्वरूप (निदान, सम्प्राप्ति, लक्षण आदि) कहे जाते हैं।

छर्द्याः समुत्थानमवतारयति—

अतिद्रवैरतिस्निग्धैरहृद्यैर्लवणैरति ।
अकाले चातिमात्रैश्च तथाऽसात्म्यैश्च भोजनैः ॥२॥ [सु० ६।४६]
श्रमाद्भयात्तथोद्वेगादजीर्णात् क्रिमिदोषतः ।
नार्याश्चापन्नसत्त्वायास्तथाऽतिद्रुतमश्नतः ॥३॥ [सु० ६।४६]
वीभत्सैर्हेतुभिश्चान्यैर्द्रुतमुत्क्लेशितो बलात् ।

छर्द्या निरुक्तिं व्याचष्टे—

छादयन्नाननं वेगैरर्दयन्नङ्गभञ्जनैः ।
निरुच्यते छर्दिरिति दोषो वक्त्रं प्रधावितः ॥४॥ [सु० ६।४६]

बहुत पतले (तरल), बहुत स्निग्ध, अरुचिकारक, अति नमकीन, असमय में, मात्राधिक तथा असात्म्य भोजन करने से, परिश्रम, भय, उद्वेग, आमादि अजीर्ण, क्रिमिदोष—पेट में कीड़ों के हो जाने वा क्रिमि और दोष से (यहां क्रिमिदोष से यह अर्थ ठीक है, कारण कि उपर्युक्त निदान के दोषों का प्रकोपक होने से उनसे होने वाली छर्दियाँ दोषज ही होंगीं अतः दोषों से छर्दि होती है यह पृथक् कहना व्यर्थ है; अथवा उपर्युक्त निदानों से छर्दियों का दोषों से पैदा होना सिद्ध होने पर भी फिर दोषों का कथन बतलाता है कि अन्य छर्दि के करने और दोषों का प्रकोपक करने वाले निदानों का ग्रहण भी करना चाहिये, इसका ज्ञापक है), स्त्री के गर्भवती होने से, अतिशीघ्र भोजन करने से और अन्य पूय अमेध्यादि के दर्शन, गन्ध, आस्वादनादि घृणाकारक कारणों से, बलपूर्वक अतिशीघ्र उत्क्लेशित तथा वेगों से मुख को आच्छादित एवं अङ्गों को पीड़ित करता हुआ अर्थात् अङ्गों में भञ्जपीड़ा के समान वेदना करता हुआ, और मुख की ओर आता हुआ अर्थात् मुख द्वारा निकलता हुआ दोष (उदानवायु मिश्रित वमि) छर्दि कहलाती है, और यही छर्दि शब्द की निरुक्ति है, अर्थात् मुख को आच्छादित तथा अङ्गों को अर्दित करने वाली छर्दि होती है।

१ नाम—सं० छर्दि, वमि, छर्दन, वमन, ऊर्ध्वविरेचन; पं० उल्टी, कै; अ० कै; इ० व्हॉमिटिंग Vomiting). २ ०क्षयात्०. ३ वक्त्राद्विनिश्चरन्.

इसका भाव यह है कि यदि यह प्रश्न हो कि इसे 'छर्दि' क्यों कहते हैं ? तो इसका उत्तर यह है कि क्योंकि यह मुख को आच्छादित तथा अङ्गों को अर्दित करती है, अतः 'छर्दि' कहलाती है।

मधु०—छर्द्यामप्यरुचेर्भावात्तथाऽरोचकवत्पञ्चविधत्वादरोचकानन्तरं छर्दिः, तस्या निदानं निरुक्तिं चाह—दुष्टैरित्यादि । बीभत्सालोचनं विकृतिदर्शनम्, आदिग्रहणेनानिष्टगन्धभक्षणादीनां ग्रहणम । नार्याश्चापन्नसत्त्वाया इति गर्भिण्याः, तस्या गर्भोत्पीडनेन वातवेगुण्याच्छर्दिः । छाद-यन्नाननमिति वेगैर्मुखं छादयन् पूरयन्, अर्दयन् पीडयन्, अङ्गभञ्जनैरङ्गभेदैः । छादयति मुखम्, अर्दयति चाङ्गानीति छर्दिः; छद अपवारणे 'अर्द हिंसायाम्' अनयोः पृषोदरादित्वेन रूपसिद्धिः॥१-४॥

तस्याः पूर्वरूपमाह—

हृल्लासोद्गाररोधौ च प्रसेको लवणस्तनुः।
द्वेषोऽन्नपाने च भृशं वमीनां पूर्वलक्षणम् ॥५॥ [सु० ६।४६]

हृल्लास, उद्गारावरोध, पतले कफ का प्रसेक, मुख का नमकीन, अन्न और पान में अधिक द्वेष होना वमियों का पूर्वरूप है। तन्त्रान्तर में अन्य पूर्वरूप भी कहे हैं। तद्यथा—"ताल्वोष्ठकण्ठास्यविशोषदाहसन्तापमोहभ्रमविप्रलापाः। पूर्वाणि रूपाणि भवन्ति तासामुत्पत्तिकाले तु विशेषतो हि"। आचार्य सुश्रुत ने यहां यह पाठ पढ़ा है कि "प्रसेको हृदयोत्क्लेशो भक्तस्यानभिनन्दनम्। पूर्वरूपं मतं छर्द्यां यथास्वञ्च विभावयेत् ॥" (सु. उ. तं. अ. ४६)।

मधु०—पूर्वरूपमाह—हृल्लासेत्यादि । उद्गाररोध उद्गाराप्रवृत्तिः । प्रसेको मुखप्रसेकः; तस्य लवणत्वं प्रभावात्, आमाशयोत्क्लेशभवत्वेन कफविदाहाद्वा; तनुरघनोऽल्पो वा ॥५॥

वातिकच्छर्द्याः स्वरूपमाह—

हृत्पार्श्वपीडामुखशोषशीर्ष-
नाभ्यर्तिकासस्वरभेदतोदैः ।
उद्गारशब्दप्रबलं सफेनं
विच्छिन्नकृष्णं तनुकं कषायम् ।
कृच्छ्रेण चाल्पं महता च वेगे-
नार्तोऽनिलाच्छर्दयतीह दुःखम् ॥६॥ [च० ६।२०]

हृदयपीड़ा, पार्श्वपीड़ा, मुखशोष, शिरोव्यथा, नाभिव्यथा, कास, स्वरभेद और तोद इनके साथ २ प्रबल उद्गार और प्रबल शब्द से, झागदार, टूट २ कर, कृष्णवर्ण के पतले और कसैले वातिक वमन को आर्त मनुष्य बड़े कष्ट से, मात्रा में स्वल्प होने पर भी बड़े वेग से करता है।

मधु०—वातिकायाः स्वरूपमाह—हृत्पार्श्वेत्यादि । शीर्षनाभ्यर्तिः मस्तके नाभौ च शूलं, [illegible] 'दुःख' इति शेषः, [illegible] । [illegible]

१ कृच्छ्रं.

किंभूतं छर्दयतीत्याह—उद्गारेत्यादि । उद्गारशब्दाभ्यां प्रबलमुद्गारशब्दप्रबलम् । विच्छिन्नं सान्तरवेगमल्पद्रवं वा, वातस्य स्वतो द्रवत्वाभावात् । तनुकमघनम् । कषायं कषायरसं, कषायस्य वातकृतत्वात् ॥६॥

पैत्तिकच्छर्द्याः स्वरूपमाह—

मूर्च्छापिपासामुखशोषमूर्ध-[1]
तात्वक्षिसन्तापतमोभ्रमार्तः ।
पीतं[2] भृशोष्णं हरितं सतिक्तं
धूम्रं च पित्तेन वमेत्सदाहम् ॥७॥ [च० ६।२०]

मूर्च्छा, पिपासा (प्यास), मुखशोष, शिर तालु और आँखों में सन्ताप, अन्धकार में प्रविष्ट की तरह अज्ञान, चक्रारूढ़ की तरह, वा मिथ्या ज्ञान रूप भ्रम (इन) से आर्त मनुष्य पित्त दोष के कारण जलन के साथ पीतवर्ण, उष्णता, हरितवर्ण, तिक्तरस तथा कृष्णलोहितवर्ण वाला वमन करता है ।

मधु०—पित्तजामाह–मूर्च्छेत्यादि । तमोऽन्धकारदर्शनमिव । धूम्रं कृष्णलोहितवर्णम्॥७॥

श्लैष्मिकच्छर्द्याः स्वरूपमाह—

तन्द्रास्यमाधुर्यकफप्रसेक-
सन्तोषनिद्रारुचिगौरवार्तः ।
स्निग्धं घनं स्वादु कफाद्विशुद्धं[3]
सरोमहर्षोऽल्परुजं[4] वमेत्तु ॥८॥ [च० ६।२०]

तन्द्रा[5], मुख की मधुरता, कफ का प्रसेक, अन्न में अभिलाषा का न होना वा व्याधि के प्रभाव से मानसिक संतोष, नींद, खाने में असमर्थता रूप अरुचि और गौरव से आर्त तथा लोमहर्ष से युक्त मनुष्य कफ के कारण स्निग्ध, घन, मधुर और श्वेत रंग का वमन करता है । एवं इसमें वमन के समय पीड़ा स्वल्प होती है ।

मधु०—कफजामाह—तन्द्रेत्यादि । आस्यमाधुर्यं मुखस्य मधुररसत्वम् । सन्तोष इति सन्तोष इव सन्तोषः, अन्नानभिलाष इत्यर्थः; तृप्तो हि नान्नमभिलषति । अरुचिरभ्यवहारासामर्थ्यम् । स्वादु मधुरम् । विशुद्धमतिशुभ्रं, सुश्रुते 'शुक्लं हिमं सान्द्रकफं[6] कफेन' (सु. उ. तं. अ, ४६) इति पाठात् ॥८॥

त्रिदोषजच्छर्दिं लक्षयति—

शूलाविपाकारुचिदाहतृष्णा-
श्वासप्रमोहप्रबला प्रसक्तम् ।
छर्दिस्त्रिदोषाल्लवणाम्लनील-
सान्द्रोष्णरक्तं वमतां नृणां स्यात् ॥९॥ [च० ६।२०]

---

१ मूर्ध्वे. २ पित्त. ३ कफं. ४ लोमहर्षोः. ५ इन्द्रियार्थेष्वसंप्राप्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः ।तस्येव यस्येते तस्य तंद्रां विनिर्दिशेत्–(सु. शा. अ. ४). ६ कफानुविद्धम्.

तीनों दोषों से होने वाली छर्दि के कारण वमन करते हुए मनुष्यों को शूल, अन्न का अविपाक, अरुचि, दाह, तृष्णा, श्वास और मूर्च्छा इनकी निरन्तर प्रबलता के साथ साथ, लवण रस वाली वा अम्लरस वाली, नीलवर्ण की, घनी, उष्ण एवं रक्तयुक्त छर्दि होती है।

मधु०—त्रिदोषजामाह—शूलेत्यादि। शूलादिभिः प्रमोहान्तैः प्रबला शूलादिप्रबला। प्रसक्तं निरन्तरम्। त्रिदोषादित्यत्र 'त्रिदोषा' इति पाठान्तरे त्रिदोषजेत्यर्थः ॥९॥

असाध्यच्छर्द्या लक्षणमाह—

विट्स्वेदमूत्राम्बुवहानि वायुः
　　स्रोतांसि संरुध्य यदोर्ध्वमेति।
उत्सन्नदोषस्य समाचितं तं
　　दोषं समुद्धूय नरस्य कोष्ठात् ॥१०॥ [च० ६।२०]
विण्मूत्रयोस्तत् समगन्धवर्णं
　　तृट्श्वासहिक्कार्तियुतं प्रसक्तम्।
प्रच्छर्दयेद् दुष्टमिहातिवेगात्
　　तयाऽर्दितश्चाशु विनाशमेति ॥११॥ [च० ६।२०]

वायु दोष जब मल, मूत्र, स्वेद तथा जलवाही स्रोतों को रोककर प्रकुपित दोष (पित्तादि वा स्वेदादि वा मल मूत्रादि) वाले मनुष्य के कोष्ठ से एकत्रित हुए २ उस दोष को खैंचकर ऊपर ले जाता है तो मल मूत्रादि के (उनके स्रोतोवरोध के कारण) समान गन्ध और वर्ण वाली तथा निरन्तर पिपासा, श्वास, हिक्का और पीड़ा रूप उपद्रवों से युक्त दुष्ट (विकृत) छर्दि को अतिवेग से करता है और जब मनुष्य इस छर्दि के योग से पीड़ित हो जाता है तो शीघ्र ही मर जाता है।

मधु०—असाध्यामाह—विडित्यादि। उत्सन्नदोषस्य उद्धतदोषस्य। दोषमिति पित्तं कफं वा, स्वेदादिकान् वा तद्दुष्टान् धातुमलान्। तदिति यस्माद्विडादिवाहिस्रोतोदुष्टिलक्षणो हेतोर्विण्मूत्रयोः समगन्धवर्णं छर्दयतीति योज्यम्। इयं तु छर्दिर्विकृतिविषमसमवायारब्धा त्रिदोषजेति केचित्। अन्ये त्वाहुः—सर्वा एव छर्दयः प्रबला एवंविधाः सत्योऽसाध्याः स्युरिति ॥१०–११॥

आगन्तुजच्छर्द्याः स्वरूपमाह—

बीभत्सजा दौर्हृदजाऽऽमजा च
　　असात्म्यजा च क्रिमिजा च या हि।
या पञ्चमी तां च विभावयेच्च
　　दोषोच्छ्रयेणैव यथोक्तमादौ ॥१२॥ [सु० उ० ४९]

१ [illegible]. २ [illegible]. ३ [illegible]. ४ विभावयेत्.

पूय अमेध्य आदि पदार्थों के दर्शन, आघ्राण और आस्वादन आदि बीभत्स कर्म से, गर्भवती स्त्री को दौहृद के न मिलने से, आमाजीर्ण से, जो पदार्थ शरीर के अनुकूल न हों उनके सेवन से तथा कोष्ठ में क्रिमियों के होने से होने वाली छर्दि पाँचवीं होती है। इस छर्दि को पूर्वोक्त वातादि दोषों के लक्षणानुसार जानना चाहिये। अर्थात् इस बीभत्सादिकों से होने वाली आगन्तुज पाँचवीं छर्दि में जिस दोष के लक्षण मिलें, इसे उसी दोष वाली जानना चाहिये।

मधु०—आगन्तुजामाह–बीभत्सजेत्यादि। दौर्हृदजा दौर्हृदालाभजा, आमजा अजीर्णजा, असात्म्यजा असात्म्यभक्षणादिसंभूता, क्रिमिजा कोष्ठक्रिमिसंभवा; बीभत्सजेत्यादिना क्रिमिजान्तेनैकत्वेनैव गणनीया, आगन्तुजत्वसामान्यात्; आगन्तुज्वरवत्। सा पञ्चमीति त्रिदोषजापेक्षया; यदि तु बीभत्सजापेक्षया क्रिमिजा पञ्चमीति गण्यते, तदा तां च विभावयेद्दोषोच्छ्रयेणैवेत्यनेन क्रिमिजाया एव दोषसंबन्धः स्यात्, ततश्च बीभत्सजादीनां चिकित्सोपयोगी दोषसंबन्धो न लभ्यते। अन्ये तु तद्दोषपरिहारार्थं 'सा पञ्चमी ताश्च' इति बहुवचनान्तं पठन्ति, एवं सत्यन्तर्गणनया न प्रयोजनमित्यन्तर्गणनां नाद्रियन्ते। कथमत्र दोषोच्छ्रयो विभावनीय इत्याह—यथोक्तमादाविति। आदौ वातादिलक्षण इत्यर्थः ॥१२॥

'बीभत्सजा' इत्यादि से क्रिमिजा तक कथित छर्दि, आगन्तुज ज्वर की तरह आगन्तुजत्व सामान्य होने के कारण एक ही गिननी चाहिए अर्थात् इन सबका अकेली आगन्तुज छर्दि में ही अन्तर्भाव करना चाहिए। वह पाँचवीं छर्दि है, इससे यह लेना चाहिए कि यह आगन्तुज छर्दि सन्निपातज छर्दि की अपेक्षा पाँचवीं है और यदि बीभत्सजा की अपेक्षा क्रिमिजा पाँचवीं है, यह अर्थ लिया जावे तो 'दोष की उत्कटता के अनुसार उसे उस दोष वाली जानना चाहिए' से केवल क्रिमिजा में ही दोषों का सम्बन्ध सिद्ध होगा, परन्तु बीभत्सजादि में चिकित्सोपयोगी दोषों का सम्बन्ध ज्ञात नहीं हो सकता। दूसरे टीकाकार तो इस दोष को दूर करने के लिए 'तां च' इस एक वचन के स्थान पर 'ताश्च' यह बहुवचनान्त पाठ मानते हैं। ऐसा मानने पर अन्तर्गणना से प्रयोजन नहीं रहता अतः वे अन्तर्गणना का आदर नहीं करते। इसका भाव यह है कि वह (क्रिमिजा) पाँचवीं (सा पञ्चमी) और (बीभत्सजादि) चार (ताश्च) दोषों की अधिकता से पूर्वोक्तानुसार दोषों वाली जाननी चाहिएं (विभावयेच्च दोषोच्छ्रयेणैव यथोक्तमादौ)। इस प्रकार बीभत्सजादि चारों की अन्तर्गणना में कोई प्रयोजन नहीं रहता, अतः उसका आदर नहीं होता।

क्रिमिजच्छर्द्या लक्षणमाह—

शूलहृल्लासबहुला क्रिमिजा च विशेषतः।
क्रिमिहृद्रोगतुल्येन लक्षणेन च लक्षिता ॥१३॥

क्रिमिज छर्दि में यह विशेषता है कि वह अधिक शूल और अधिक हृल्लास वाली होती है; तथा उसमें क्रिमिज हृद्रोग के लक्षणों जैसे लक्षण होते हैं।

---

१ अन्तर्वत्नी तु यानर्थान् याचते दौहृदं हि तत्; अर्थानिति इन्द्रियार्थान्. २ भूयिष्ठा. उत्क्लेशः ष्ठीवनं तोदः शूलं हृल्लासकस्तमः। अरुचिः श्यावनेत्रत्वं शोथश्च क्रिमिजे भवेत् ॥ (. उ. तं. अ. ४३) इति क्रिमिजहृद्रोगलक्षणम्.

मधु०—क्रिमिजाया लक्षणमाह—शूलेत्यादि । क्रिमिहृद्रोगतुल्येन लक्षणेन लक्षितेति क्रिमिहृद्रोगे क्रिमिलक्षणात् (णं) यत् पीडादिकं तदस्यां भवतीत्यर्थः ॥१३॥

छर्द्या असाध्यतालक्षणमाह—

क्षीणस्य या छर्दिरतिप्रसक्ता
सोपद्रवा शोणितपूययुक्ता ।
सचन्द्रिकां तां प्रवदेदसाध्यां
साध्यां चिकित्सेन्निरुपद्रवां च ॥१४॥ [च० ६।२०]

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने छर्दिनिदानं समाप्तम् ॥१५॥

जो (छर्दि) कृश मनुष्य में निरन्तर रूप से हो रही हो तथा कास-श्वासादि उपद्रवों से एवं रक्त वा पूय से युक्त हो मयूरपुच्छस्थित चन्द्रिका की सी चन्द्रिका वाली वह छर्दि असाध्य होती है। निरुपद्रव छर्दि साध्य होती है। अतः वैद्य इसकी चिकित्सा करे।

मधु०—असाध्यलक्षणमाह–क्षीणस्येत्यादि । सचन्द्रिकामिति मेदःप्रवृत्तिवाहुल्यात् स्नेहः प्रवर्तमानो मयूरपिच्छचन्द्रिकावत् प्रतिभाति । निरुपद्रवामिति कासाद्युपद्रवरहिताम् । तदुक्तम्—'कासः श्वासो ज्वरो हिक्का तृष्णा वैचित्यमेव च । हृद्रोगस्तमकश्चैव ज्ञेयाश्छर्देरुपद्रवाः' इति ॥१४॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां छर्दिनिदानं समाप्तम् ॥१५॥

छर्द्या उपद्रवानाह—

(कासः श्वासो ज्वरो हिक्का तृष्णा वैचित्त्यमेव च ।
हृद्रोगस्तमकश्चैव ज्ञेयाश्छर्देरुपद्रवाः ॥१५॥)

कास, श्वास, ज्वर, हिक्का, पिपासा, विमतचित्तता, हृद्रोग और तमक ये छर्दि के उपद्रव हैं। 'कासश्वासोऽज्वरो' कहीं का यह पाठ भ्रम से छपा प्रतीत होता है, कारण कि 'कासश्वासो' में एकवचन नहीं होना चाहिये वहां 'कासश्वासौ' इस प्रकार द्विवचन होना चाहिए वा 'कासः श्वासो' यही होना चाहिए। दूसरा— 'कासश्वासोऽज्वरो' इस पाठ में अर्धअकार (ऽ) भी नहीं होना चाहिए क्योंकि इस प्रकार को मानने से 'ज्वर का अभाव' यह अर्थ निकलता है, परन्तु ज्वर का अभाव विकार न होने के कारण उपद्रव नहीं हो सकता। अतः 'कासश्वासोऽज्वरः' के स्थान में 'कासश्वासौ ज्वरः' यह पाठ ठीक है; अथवा [illegible] पठित 'कासः श्वासो ज्वरः' यह पाठ ठीक है। विजयरक्षित ने यह श्लोक [illegible] मान टीकित नहीं किया परन्तु [illegible] इत्यादि श्लोक की टीका में दिखाया है, परन्तु अन्य [illegible] में टीकाकारों ने इसकी पृथक् व्याख्या भी की है। [illegible]

१ [illegible] २ [illegible] ३ [illegible]

अथ तृष्णानिदानम् ।

तृष्णाया[1] निदानं संप्राप्तिं तद्भेदांश्च लक्षयति—

भयश्रमाभ्यां बलसंक्षयाद्वा
ह्यूर्ध्वं चितं पित्तविवर्धनैश्च ।
पित्तं सवातं कुपितं नराणां
तालुप्रपन्नं जनयेत्पिपासाम् ।
स्रोतस्स्वपांवाहिषु दूषितेषु
दोषैश्च तृट् संभवतीह जन्तोः ॥१॥
तिस्रः स्मृतास्ताः क्षतजा चतुर्थी
क्षयात्तथा ह्यामसमुद्भवा च ।
भक्तोद्भवा सप्तमिकेति तासां
निबोध लिङ्गान्यनुपूर्वशस्तु ॥२॥ [सु० ६।४८]

मनुष्यों में भय, श्रम और बल क्षीणता से प्रकुपित हुए वात के साथ, पित्त-वर्धक, कटु, अम्ल, उष्ण आदि आहार और क्रोध, उपवास आदि विहार से अपने स्थान में संचित एवं प्रकुपित पित्त ऊपर की ओर प्रसार करता हुआ तालु (क्लोमादि) स्थानों में पहुँच कर पिपासा को उत्पन्न करता है। अथवा मनुष्यों में उक्त रीति के अनुसार पित्त पिपासा उत्पन्न करता है। अन्नज, कफज और आमज तृष्णा की सम्प्राप्ति—(स्रोतःस्विति—) मनुष्यों के अन्न, कफ और आम इन दोषों से जल-वाही स्रोतों के दूषित होने पर पिपासा उत्पन्न होती है; वा मनुष्यों में उक्त सम्प्राप्ति के अनुसार पिपासा होती है। तृष्णाओं के भेद—तृष्णा वात, पित्त और कफ से (पृथक् २ रूप में) तीन, क्षत से चौथी, क्षय से पांचवीं, आम से छठी और भक्त (भोजन) से सातवीं मानी जाती है। एवं ये सात तृष्णा होती हैं। इनके क्रमशः (यथायुक्त तथा यथाक्रम) लक्षणों को सुनो।

मधु०—छर्देस्तृष्णोपद्रवत्वाच्छर्द्यनन्तरं तृष्णानिदानं, तस्याः संप्राप्तिमाह—भयेत्यादि। पित्तविवर्धनैरिति कट्वम्लोष्णादिभिः क्रोधोपवासादिभिश्च स्वस्थान एव संचितं कुपितं च पित्तं वातश्च भयश्रमबलक्षयैः कुपितः, ऊर्ध्वं प्रसरत् पिपासां जनयति। तात्वित्युपलक्षणं, तेन क्लोमाद्यपि बोध्यं, तस्य पिपासास्थानत्वेनोक्तत्वात्। चरकेऽप्युक्तम्—"रसवाहिनीश्च धमनीर्जिह्वामूलगल-तालुकक्लोम्नः। संशोष्य नृणां देहे कुरुतस्तृषामतिबलौ तौ तु॥" (च. स्था. चि. अ. २२) इति। अन्नकफामजानां संप्राप्तिमाह—स्रोतःस्वित्यादि। ननु, अपांवाहिष्विति बहुवचनं विरुद्धं, "द्वे उदकवहे" (सु. शा. स्था. अ. ६) इति सुश्रुतेनोक्तत्वात्। नैवं, तयोरेवानेकप्रतान-

१ नाम—सं० तृष्णा, पिपासा, तृषा, तृट्, तर्ष; पं० त्रे, प्यास; अ० अतशमुफरत; इ० थर्स्ट (Thirst). २ जायेत तृष्णा प्रबला (तृष्णातिबला) ततस्तु. ३ ऽन्याऽऽम. ४ स्यात् सप्तमी भक्त-भवा तु. ५ लिङ्गानि तासां शृणु चोपधानि.

योगादिति । दोषैरिति अन्नकफाभ्यां, दुष्टिकर्तृत्वाद्दुष्टदोषसंबन्धाद्वाऽन्नामयोरपि दोषत्वमिति गदाधरः । तिस्र इति वातादिभिः प्रत्येकम् । क्षतजेति क्षतनिमित्ता व्रणिनां या भवति । चतुर्थीत्यनेनोक्तानां चतसृणां सुखसाध्यत्वं बोधयति, अन्यासां तु कष्टसाध्यत्वम् ॥१-२॥

वातिकतृष्णायाः स्वरूपमाह—

क्षामास्यता मारुतसंभवायां
तोदस्तथा शङ्खशिरःसु चापि ।
स्रोतोनिरोधो विरसं च वक्त्रं
शीताभिरद्भिश्च विवृद्धिमेति ॥३॥ [सु० ६।४८]

वायु से होने वाली पिपासा में मुख शुष्क एवं दीन होता है, शङ्खप्रदेशों तथा शिर में तोद स्रोतों का (रसाम्बुवाही धमनियों का शब्द न सुनना अर्थात् शब्दवाही शिराओं का) अवरोध तथा मुख विरस होता है, एवं यह पिपासा शीत जल से बढ़ जाती है अर्थात् शीत जल वायुप्रकोपक होने से अनुपशय है ।

मधु०—वातजामाह—क्षामास्यतेत्यादि । क्षामास्यता शुष्कदीनमुखत्वम् । स्रोतोनिरोध इति रसाम्बुवाहिधमनीनिरोधः । शीताभिरद्भिरित्यनेन वायोः शीतस्य शीताम्बुना वृद्धिरित्यनुपशयनिदर्शनम् । चकाराच्चरकोक्तनिद्रानाशस्य ग्रहणम् । यदाह चरकः—"निद्रानाशः शिरसो भ्रमस्तथा शुष्कगलतालुः ॥" (च. चि. स्था. अ. २२) इति ॥३॥

पैत्तिकतृष्णायाः स्वरूपमाह—

मूर्च्छान्नविद्वेषविलापदाहा
रक्तेक्षणत्वं प्रततश्च शोषः ।
शीताभिनन्दा मुखतिक्तता च
पित्तात्मिकायां परिदूयनं च ॥४॥ [सु० ६।४८]

मोह, भोजन में अभिलाषा का अभाव, प्रलाप, दाह, रक्तनेत्रता, तृष्णाधिक्य, शीत पदार्थों में प्रेम, मुख का कटुपन और उपताप ये लक्षण पैत्तिक तृष्णा में होते हैं ।

मधु०—पित्तजामाह—मूर्च्छेत्यादिना । विलापोऽत्र प्रलापः । प्रततश्च शोषोऽतीव महती तृष्णा । शीताभिनन्दा शीतेच्छा, 'गुरोश्च हलः'—इत्यकारप्रत्ययः । परिदूयनमुपतापः, 'परिधूम(प)नम्' इति पाठेऽन्तःक्षोभणं, धूमनिर्गम इव वा । चकारात् पीततिक्तमूत्रनेत्रत्वादयो ग्राह्याः ॥४॥

श्लैष्मिकतृष्णायाः स्वरूपमाह—

बाष्पावरोधात् कफसंवृतेऽग्नौ
तृष्णा बलासेन भवेत्तथा च ।

निद्रा गुरुत्वं मधुरास्यता च
तृष्णार्दितः शुष्यति चातिमात्रम् ॥५॥ [सु० ६।४८]

अपने निदान से प्रकुपित कफ से जठरानल के आच्छादित हो जाने के कारण नीचे दबी हुई जठराग्नि की ऊष्मा से जलवाही स्रोतों के सूख जाने पर श्लैष्मिक तृष्णा उत्पन्न होती है। भाव यह है कि यहां कफ द्वारा अन्तराग्नि आवृत हो जाती है, जिससे अवरुद्ध अन्तराग्नि की उष्णता जलवाही स्रोतों का शोषण करती है। इस प्रकार यहां पिपासा अन्तराग्नि के प्रभाव से ही होने के कारण पैत्तिक कहनी चाहिए; परन्तु अग्नि भी कफ से आवृत होने से यह कार्य करती है। अतः इसकी (अग्नि की) पराधीनता वा अप्रधानता है और कफ स्वनिदान से कुपित होने पर अन्तराग्नि को आवृत करता है, जिससे वह स्वोष्मा से स्रोतों का शोषण करती है, अतः कफ स्वाधीन एवं प्रधान है; और इसके यहां प्रधान होने के कारण ही इस तृष्णा को श्लेष्मज माना जाता है। इस तृष्णा से पीड़ित रोगों में निद्रा, गौरव, मुखमधुरता और अतिकृशता होती है।

मधु०—श्लेष्मजामाह—वाष्पेत्यादि। स्वकारणकुपितेन कफेनोपरिष्टादाच्छादितेऽन्तरग्नौ कफावरुद्धवाष्पेण पावकोष्मणाऽधोगतेनाम्बुवहस्रोतःशोषणात् कफजा तृष्णा भवति। ननु, कफजा तृष्णाऽनुपपन्ना ? कफस्य वृद्धस्य केवलद्रवस्य पिपासाकर्तृत्वायोगात्, वातपित्तयोरेव तृष्णाकर्तृत्वेनोक्तत्वात्। यदुक्तम्—"पित्तं सवातं कुपितं नराणाम्" इत्यादि। चरकेऽप्युक्तम्—"नाग्नेर्विना तर्षः पवनाद्वा, तौ हि शोषणे हेतू ॥" (च. चि. स्था. अ. २२) इति। सुश्रुतेऽप्युक्तं,—"मद्यस्याग्नेयवायव्यौ गुणावम्बुवहानि तु। स्रोतांसि शोषयेयातां ततस्तृष्णा प्रजायते ॥" (सु. उ. तं. अ. ४७) इति। अत आह—तथेति। उक्तप्रकारेण कफादग्नेर्बाष्पावरोधादिना, न तु स्वगुणेन; अत एव चरके कफजा तृष्णा न पठितैव, सुश्रुतेन तु चिकित्साभेदार्थं पठिता, हारीतेनापि सपित्तेनैव श्लेष्मणा तृष्णा पठिता न तु केवलेन। यदाह—"स्वाद्वम्ललवणाजीर्णैः क्रुद्धः श्लेष्मा सहोष्मणा। प्रपद्याम्बुवहं स्रोतस्तृष्णां संजनयेन्नृणाम् ॥ शिरसो गौरवं तन्द्रा माधुर्यं वदनस्य च। भक्तद्वेषः प्रसेकश्च निद्राधिक्यं तथैव च ॥ एतैर्लिङ्गैर्विजानीयात्तृष्णां कफसमुद्भवाम्"—इति ॥५॥

(नन्विति—) कफजा तृष्णा नहीं हो सकती क्योंकि द्रवरूप बढ़ा हुआ केवल कफ तृष्णा करने में समर्थ नहीं हो सकता, कारण कि वायु और पित्त ही तृष्णाकारक कहे हैं। जैसे चरक में भी कहा भी है कि 'अग्नि तथा वायु के बिना पिपासा नहीं लगती, क्योंकि ये दोनों ही जलवाही स्रोतों के सुखाने में कारण हैं'। सुश्रुत में भी कहा है कि मद्य के आग्नेय और वायव्य ये गुण जलवाही स्रोतों को सुखाते हैं, जिससे कि तृष्णा उत्पन्न होती है। इसी लिए आचार्य ने भी कहा है कि कफ से अग्नि के वाष्पों का अवरोधादि होने रूप उक्त प्रकार से ही कफज तृष्णा होती है, न कि केवल कफ से ही होती है। केवल कफ से नहीं होती, तथा कफ द्वारा अग्नि के रुक जाने से अग्नि से ही जलवाही स्रोतों का शोषण होकर तृष्णा होती है। इसलिए

१ तयार्दितः. २ नाग्नि विना हि तर्षः. ३ वायव्यौ. ४ नेन.

चरक ने कफजा तृष्णा मानी ही नहीं। परन्तु सुश्रुत ने तो चिकित्सा भेद के लिए लिखी है। हारीत ने भी पित्त सहित ही श्लेष्मज तृष्णा मानी है; केवल श्लेष्मज नहीं मानी। जैसे उसने कहा भी है कि 'स्वादु, अम्ल, लवण और अजीर्ण पदार्थों के प्रयोग से पित्त के साथ २ क्रुद्ध कफ जलवाही स्रोतों को सुखाकर तृष्णा करता है और इससे सिर में भारीपन, तन्द्रा, मुख का मीठापन, अरुचि, कफप्रसेक तथा अतिनिद्रा ये लक्षण होते हैं और इन्हीं द्वारा कफज तृष्णा का ज्ञान होता है'।

क्षतजतृष्णां लक्षयति—

क्षतस्य रुक्शोणितनिर्गमाभ्यां
तृष्णा चतुर्थी क्षतजा मता तु।

शस्त्रादि से होने वाले क्षतों से युक्त मनुष्य को पीड़ा तथा रक्तस्राव के कारण चौथी क्षतज तृष्णा होती है।

मधु०—क्षतजामाह—क्षतस्येत्यादि। शस्त्रादिक्षतयुक्तस्य॥

त्रिदोषजतृष्णाया लक्षणमाह—

रसक्षयाद्या क्षयसंभवा सा
तयाऽभिभूतश्च निशादिनेषु ॥६॥ [सु० ६।४८]
पेपीयतेऽम्भः स सुखं न याति
तां सन्निपातादिति केचिदाहुः।
रसक्षयोक्तानि च लक्षणानि
तस्यामशेषेण भिषग् व्यवस्येत् ॥७॥ [सु० ६।४८]

रस धातु के क्षय से जो तृष्णा होती है उसे क्षयज तृष्णा कहते हैं। उस तृष्णा से पीड़ित मनुष्य दिन रात में बार २ पानी पीता है, परन्तु तृप्त नहीं होता। इसे ही कई विद्वान् सन्निपात की तृष्णा कहते हैं। एवं इसमें वैद्य को हृत्पीड़ा, कम्प, शोष, शून्यता और तृष्णा, यह रस क्षय में कथित सम्पूर्ण लक्षण जानने चाहिएँ।

मधु०—क्षयशब्दस्यानेकविषयत्वात् क्षयजां विशेषयन्नाह—रसक्षयादित्यादि। पेपीयते पुनः पुनः पिबति; एतच्च विशेषपरं, सर्वतृष्णासु तथाभूतत्वात्। यदाह सुश्रुतः—"सततं यः पिबेद्वारि न तृप्तिमधिगच्छति। पुनः काङ्क्षति तोयं च तं तृष्णार्दितमादिशेत्॥" (सु. उ. तं. अ. ४८) इति। रसक्षयोक्तानि च लक्षणानि सुश्रुतोक्तानि। तद्यथा—"रसक्षये हृत्पीडा कम्पः शोषः शून्यता तृष्णा च॥" (सु. सू. स्था. अ. १५) इति। तस्यां क्षयजायाम्, अशेषेण कार्त्स्न्येन ॥६–७॥

आमजतृष्णाया लक्षणमाह—

त्रिदोषलिङ्गाऽऽमसमुद्भवा च
हृच्छूलनिष्ठीवनसादकर्त्री।

आम से होने वाली तृष्णा तीनों दोषों के लक्षणों वाली होती है, तथा हृदयशूल, निष्ठीवन तथा अङ्गों का अवसाद करने वाली होती है। इसमें तीनों दोषों के लक्षण होते हैं, क्योंकि आम से तीनों दोष प्रकुपित होते हैं। जैसे कहा भी है कि—'अजीर्णात्पवनादीनां विभ्रमो बलवान् भवेत्'।

मधु०—आमजामाह–त्रिदोषेत्यादि। त्रिदोषलिङ्गा त्रिदोषलिङ्गयुक्ता। आमादजीर्णात् त्रिदोषकोपः स्यादिति ॥

भुक्तोत्थिततृष्णायाः स्वरूपमाह—

स्निग्धं तथाऽम्लं लवणं च भुक्तं
गुर्वन्नमेवाशु तृषां करोति ॥८॥ [सु० ६।४८]

स्निग्ध अम्ल लवण तथा कटु पदार्थों का और मात्रा गुरु, एवं द्रव्य गुरु अन्न का उपयोग शीघ्र ही पिपासा रोग को उत्पन्न करता है।

मधु०—भुक्तोद्भवामाह—स्निग्धमित्यादि। चकारात् कटु च, नतु तिक्तकषायमधुराणीत्यर्थः। गुरुशब्देन मात्रागुरु द्रव्यगुरु च गृह्यते। दृढबलेन तु पञ्च तृष्णाः पठिताः, "वातपित्तक्षयामोपसर्गजा" (च. चि. स्था. अ. २२) इति; तत्र, कफजा आमजायामेवावरुद्धा; क्षतजा वातजायाम्; भक्तजा च वातजायां, भक्तावरणेन वातप्रकोपात्, पित्तजायां वा, विदाहेन पित्तप्रकोपात्। सुश्रुते चोपसर्गजा यथास्वं दोषजासु। ननु, मद्यजाऽपि सुश्रुतेन मदात्यये (सु. उ. तं. अ. ४७) पठिता तत् कथं सप्तेत्युच्यते? सत्यं, तस्या वातपित्तजायामवरोधः, एवं दृढबलमतेऽपि ॥८॥

दृढ़बल ने कफ, पित्त, क्षय, आम और उपसर्ग से होने वाली पांच तृष्णाएं कही हैं। वहां कफजा तृष्णा आमजा में, क्षतजा वातजा में और भक्तजा भी वातजा में अन्तर्हित हो जाती है, क्योंकि भक्तावरण से वायु का प्रकोप होता है। अथवा भक्तजा पित्तजा में अन्तर्हित होती है क्योंकि—विदाह से पित्त प्रकुपित होता है। चरक ने जो उपसर्गजा मानी है, वह सुश्रुत में यथादोषज तृष्णाओं में अन्तर्हित होती है। (प्रश्न—) मदात्यय में सुश्रुत ने मद्यजा तृष्णा भी मानी है, एवं सात तृष्णाएं कैसे हो सकती हैं? (उत्तर—) इस (मद्यजा) का वातपित्तजा तृष्णा में अन्तर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार दृढ़बल के मत में जानना।

उपसर्गजतृष्णायाः स्वरूपमाह—

दीनस्वरः प्रताम्यन् दीनः संशुष्कवक्त्रगलतालुः।
भवति खलु योपसर्गात्तृष्णा सा शोषिणी कष्टा ॥९॥ [च० ६।२२]

क्षाम स्वर वाले, मोह को प्राप्त होने वाले, खिन्न मन वाले, शुष्क मुख, शुष्क गला और शुष्क तालु वाले मनुष्य की उपसर्गज धातुशोषणात्मक तृष्णा कष्टसाध्य होती है।

---

१ गुर्वन्नमेवाति. २ मद्यस्याग्नेयवायव्यौ गुणावम्बुवहानि तु। स्रोतांसि शोषयेयातां तेन ...ोपजा ...ते–(सु. उ. तं. अ. ४७). ३ संशुष्कहृदयगलतालुः.

मधु०—तत्रोपसर्गजामाह—दीनेत्यादि । दीनस्वरः क्षामवचनः, प्रताम्यन् मुह्यन्, दीनः क्लान्तः । उपसर्गादित्युपद्रवाद्रोगात्, उपद्रवशब्दश्च सामान्येन रोगमात्रेऽपि वर्तते, यथा—"निरूहोपद्रवचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥" (सु. चि. स्था. अ. ३८) इत्यत्र । कष्टा कष्टसाध्या, व्याधिकर्शितदेहत्वात् ॥९॥

तृष्णाया उपसर्गानाह—

ज्वरमोहक्षयकासश्वासाद्युपसृष्टदेहानाम् ।

इस श्लोक का सम्बन्ध पूर्व अर्ध श्लोक से है। अतः इसका अर्थ इस प्रकार है कि ज्वर, मूर्च्छा, क्षय, कास और श्वासादिकों से युक्त मनुष्यों को जो धातुशोषणकर्त्री उपसर्गजा तृष्णा होती है वह निश्चित कष्टसाध्य होती है।

मधु०—तानेवोपसर्गानाह—ज्वरेत्यादि । आदिशब्देनातीसारादीनां ग्रहणम् ॥

तृष्णायाः प्रत्याख्येयतामाह—

सर्वास्त्वतिप्रसक्ता रोगकृशानां वमिप्रयुक्तानाम् ।
घोरोपद्रवयुक्तास्तृष्णा मरणाय विज्ञेयाः ॥१०॥ [च० ६।२२]

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने तृष्णानिदानं समाप्तम् ॥१६॥

वमित तथा रोगों से कृश मनुष्यों की बहुत बढ़ी हुई एवं मुखशोषादि बलवान् उपद्रवों वाली तृष्णा मारणात्मक जाननी चाहिये।

मधु०—असाध्यानां लक्षणमाह—सर्वास्त्वित्यादि । सर्वा वातजादयः, अतिप्रसक्ता अतिप्रवृद्धाः । घोरोपद्रवयुक्ता मुखशोषादिभिर्बलवद्भिरुपद्रवैः समन्विता इति जेज्जटः ॥१०॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां तृष्णानिदानं समाप्तम् ॥१६॥

अथ मूर्च्छाभ्रमनिद्रातन्द्रासंन्यासनिदानम् ।

मूर्च्छाया निदानमाह—

क्षीणस्य बहुदोषस्य विरुद्धाहारसेविनः ।
वेगाघातादभिघाताद्धीनसत्त्वस्य वा पुनः ॥१॥ [सु० ६।४६]

मूर्च्छायाः संप्राप्तिमाह—

करणायतनेषूग्रा बाह्येष्वाभ्यन्तरेषु च ।
निविशन्ते यदा दोषास्तदा मूर्च्छन्ति मानवाः ॥२॥ [सु० ६।४६]
संज्ञावहासु नाडीषु पिहितास्वनिलादिभिः ।
तमोऽभ्युपैति सहसा सुखदुःखव्यपोहकृत् ॥३॥ [सु० ६।४६]
सुखदुःखव्यपोहाच्च नरः पतति काष्ठवत् ।
मोहो मूर्च्छेति तामाहुः षड्विधा सा प्रकीर्तिता ॥४॥

[illegible]

तद्भेदानाह—

वातादिभिः शोणितेन मद्येन च विषेण च।
षट्स्वप्येतासु पित्तं तु प्रभुत्वेनावतिष्ठते ॥५॥ [सु० ६।४६]

क्षीण, बहुत दोष युक्त, क्षीर मत्स्यादि विरुद्धाहार सेवन करने वाले मनुष्य के, मलमूत्रादि के वेगों को रोकने से, डण्डे आदि शस्त्रों के प्रहार से, सत्त्वगुण के अल्प होने से उत्कट दोष जब चक्षु आदि मन के बाहरी स्थानों में तथा मनोवाही स्रोतरूप मन के भीतरी स्थानों में; वा कर्मेन्द्रियरूप मन के बाहरी और बुद्धि इन्द्रिय रूप मन के भीतरी स्थानों में प्रविष्ट हो जाते हैं तो वह (मनुष्य) मूर्च्छित हो जाता है।

सम्प्राप्ति—जब वात आदि दोषों से संज्ञा को ले जाने वाली नाड़ियाँ बन्द हो जाती हैं तो सुख और दुःख के ज्ञान को न होने देने वाला अज्ञान का हेतु तम नामक मानसिक दोष (अत्युत्कटरूप में) आ जाता है और पुनः उससे (सुख दुःखात्मक ज्ञान के नष्ट हो जाने पर) मनुष्य लकड़ी की तरह भूमि पर गिर जाता है। इस प्रकार के गिरने को ही मोह और मूर्च्छा कहते हैं अर्थात् ये इसके पर्याय हैं।

भेद—वही मूर्च्छा वात, पित्त, कफ, शोणित, मद्य, और विष इनसे होने के कारण छः प्रकार की होती है, परन्तु इन छः मूर्च्छाओं में पित्त की ही प्रधानता होती है।

मधु०—तृष्णायां मोहो भवतीति तृष्णानन्तरं मूर्च्छा, उक्तं हि—'तृषितो मोहमायाति' इति। निदानं संप्राप्तिं चाह—क्षीणस्येत्यादि। बहुदोषस्येति विपुलदोषस्य न त्वनेकदोषस्य; तथा सत्येकदोषजायाः संप्राप्तिर्नोक्ता स्यात्। वेगाघातान्मलादिवेगधारणात्। अभिघाताल्लगुडादेः। हीनसत्त्वस्य हीनसत्त्वगुणस्य। करणं मनः, तस्यायतनानि बाह्यानि चक्षुरादीनि, आभ्यन्तराणि मनोवहानि स्रोतांसि, यैरागत्य मनश्चक्षुरादीन्यधितिष्ठति; अथवा बाह्यानि कर्मेन्द्रियाणि, आभ्यन्तराणि धीन्द्रियाणि; तेषु यदा उग्रा दोषा निविशन्ते तदा मूर्च्छन्तीति योज्यम्। पुनः कया संप्राप्त्या इत्यत आह—संज्ञावहास्वित्यादि। संज्ञावहनाडीशब्देन सिराधमनीस्रोतसां ग्रहणमित्याहुः, यतस्तैर्मन इन्द्रियदेशं प्राप्नोति। पिहितासु आवृतासु। तमो मनोगुणोऽज्ञानहेतुः, अभ्युपैति वर्धते, सहसा झटिति। अन्येषु तमोबहुलेषु रोगेषु मदात्ययादिषु सत्त्वरजसी न तथा लीयेते, यथा मूर्च्छायामित्यत आह—सुखदुःखव्यपोहकृदिति। सुखदुःखयोरसंवित्तिकरम्। एतत्तु प्रायिकत्वेनोक्तं, (त्रिविधं ज्ञानं भवति हेयोपादेयोपेक्षणीयभेदात्) तेनोपेक्षणीयज्ञानाभावो ज्ञेयः। व्यवहारार्थं तत्पर्यायावाह—मोहो मूर्च्छेति। वातादिभिस्तिस्रः, शोणितमद्यविषैश्च तिस्रः, एवं

---

१ तासु षट्स्वपि. २ हस्तौ पादौ गुदोपस्थे जिह्वेन्द्रियमथापि च। कर्मेन्द्रियाणि पंचैव (च. शा. अ. १). ३ तत्र चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं स्पर्शनमिति पञ्चेन्द्रियाणि (च. सू. अ. ८) वा मनोबुद्ध्यधिकारस्थानेषु. ४ उक्तञ्च तन्त्रान्तरे 'संज्ञोपघाते मूर्च्छायो मूर्च्छा स्यान्मूर्च्छनं तथा। कश्मलं प्रलयो मोहः, (स)स्तु मृतोपमः'.

षट्। प्रभुत्वेनेति व्यापकत्वेन, तेन वातजादिष्वपि ज्वरवद्रोगमहिम्नाऽवश्यं पित्तसंबन्धः, अत एव वक्ष्यति—"मूर्च्छा पित्ततमःप्राया" इति; चिकित्सायां च शीतक्रियाविधानमिति ॥१-५॥

तृष्णा में मोह होता है, अतः तृष्णा के बाद आचार्य मूर्च्छा का निर्देश करते हैं। कहा भी है कि 'तृषित मनुष्य मूर्च्छित हो जाता है'। 'बहुदोषस्य' का अर्थ विपुल दोष वाला है न कि अनेक दोष वाला। यदि अनेक दोष वाला, यह अर्थ ले लिया जाये तो एक दोष वाली मूर्च्छा की सम्प्राप्ति ही नहीं आती। (करणमिति—) करण शब्द से मन लिया जाता है, इसके आयतन बाह्य चक्षु आदि और आभ्यन्तरिक मनोवह स्रोत, जिनसे कि प्रकार, मन, चक्षु आदिकों में ठहरता है; अथवा बाह्य से कर्मेन्द्रिय और आभ्यन्तरिक से बुद्धीन्द्रिय ली जाती हैं; एवं इनमें जब उत्कट दोष पहुँच जाते हैं तब मनुष्य मूर्च्छित हो जाता है, ऐसी योजना करनी चाहिये। संज्ञावह नाड़ी शब्द से सिरा धमनी और स्रोतों का ग्रहण होता है, यह आचार्य कहते हैं; क्योंकि इनके द्वारा ही मन इन्द्रिय देश को प्राप्त होता है। पिहित अर्थात् आवृत (बन्द) होने पर तमोगुण अज्ञानता का कारण है। अभ्युपैति अर्थात् बढ़ता है। सहसा अर्थात् अतिशीघ्र अन्य तमोगुण बहुल मदात्यय आदि रोगों में सत्त्व और रज इस प्रकार लीन नहीं होते जैसे कि मूर्च्छा में। इसी लिये कहा है कि—सुखःदुःखव्यपोहकृदिति। सुख और दुःख की असंवित्ति (अज्ञानता) करने वाला यह प्रायिकपन से कहा है (तीन प्रकार का ज्ञान होता है—१ हेयज्ञान, २ उपादेयज्ञान और ३ उपेक्षणीयज्ञान), इससे उपेक्षणीयज्ञान का अभाव जानना चाहिए। बाकी सब स्पष्ट ही है।

मूर्च्छायाः पूर्वरूपमाह—

हृत्पीडा जृम्भणं ग्लानिः संज्ञादौर्बल्यमेव च।
सर्वासां पूर्वरूपाणि यथास्वं ता विभावयेत् ॥६॥ [सु० ६।४६]

हृदय में पीड़ा, जम्भाई, ग्लानि और संज्ञादौर्बल्य यह सभी मूर्च्छाओं के पूर्वरूप हैं, वे मूर्च्छा (रूपावस्था में) अपने लक्षणानुसार वातादि भेद से जाननी चाहिए।

मधु०—तस्याः पूर्वरूपमाह—हृत्पीडेत्यादि। संज्ञादौर्बल्यमसम्यग्ज्ञानता। सर्वासां पूर्वरूपाणीति छेदः। यथास्वं विभावयेदिति ता मूर्च्छा वातादिभेदेन जानीयात्; व्यक्तरूपावस्थायां, न तु पूर्वरूपावस्थायामिति केचित् ॥६॥

वातिकमूर्च्छायाः स्वरूपमाह—

नीलं वा यदि वा कृष्णमाकाशमथवाऽरुणम्।
पश्यंस्तमः प्रविशति शीघ्रं च प्रतिबुध्यते ॥७॥ [च० [illegible]]
वेपथुश्चाङ्गमर्दश्च प्रपीडा हृदयस्य च।
कार्श्यं श्यावाऽरुणा छाया मूर्च्छाये वातसंभवे ॥८॥ [च० [illegible]]

वातिक मूर्च्छा में मनुष्य आकाश को नीला, काला या अरुणवर्ण का देखता हुआ मूर्च्छित होता है तथा शीघ्र ही होश में आ जाता है, और इसे

[illegible]

कँपकँपी, अङ्गमर्द तथा हृदय में पीड़ा होती है, एवं उसके गात्रों में कृशता तथा श्याव (यकृत् के समान वर्ण वाला) वा अरुण छाया प्रतीत होती है।

मधु०—ता एवाह (वातजामाह)—नीलमित्यादि। नीलं स्निग्धकृष्णम्, कृष्णं रूक्षकृष्णम्, अरुणमीषल्लोहितम्। तमः प्रविशत्यन्धकारमिव प्रविशति मूर्च्छतीत्यर्थः। शीघ्रं च प्रतिबुध्यत इति वायोः शीघ्रकारित्वात्। कार्श्यं श्यावाऽरुणा च्छाया, 'गात्रे' इति शेषः। मूर्च्छायशब्दो मूर्च्छापर्यायः॥७-८॥

पैत्तिकमूर्च्छायाः स्वरूपमाह—

रक्तं हरितवर्णं वा वियत्पीतमथापि वा।
पश्यंस्तमः प्रविशति सस्वेदश्च प्रबुध्यते॥९॥ [च० १।२४]
(सपिपासः ससन्तापो रक्तपीताकुलेक्षणः।)
(जातमात्रे पतति च शीघ्रं च प्रतिबुध्यते।)
संभिन्नवर्चाः पीताभो मूर्च्छाये पित्तसंभवे॥१०॥ [च० १।२४]

पित्त से होने वाली मूर्च्छा में मनुष्य आकाश को लाल छवि वाला, शिरीषादि वृक्षों के पत्तों की तरह (हरे) वर्णवाला वा हरिद्रा जैसा (पीला) देखता हुआ मूर्च्छित हो जाता है और स्वेदयुक्त हुआ २ होश में आता है (एवं पिपासा, सन्ताप, लोहितनयन, वा पीतनयन), वर्चोभेद तथा पीली आभा (छाया) वाला होता है। यहां पर 'सपिपास' इत्यादि पाठ रक्षित ने टीकित नहीं किया और उसने 'इति क्वचिदधिकः पाठः' यह लिखकर छोड़ दिया है, परन्तु यह पाठ प्रकरणसङ्गत है तथा चरक में भी यही पढ़ा है, साथ ही इसके अनुकारी वाग्भट ने भी यही भाव स्वीकार किया है। तद्यथा—'पित्तेन रक्तं पीतं वा नभः पश्यन् विशेत्तमः। विबुध्येत च सस्वेदो दाहतृट्तापपीडितः॥ भिन्नविण्नील-पीताभो रक्तपीताकुलेक्षणः' इति (वा. नि. स्था. अ. ६)। 'जातमात्रे पतति शीघ्रम्' इत्यादि पाठ चरक सुश्रुत और वाग्भट से सम्मत नहीं है अतः प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। साथ ही 'शीघ्रं च प्रतिबुध्यते' यह वातिक लक्षणों में पढ़ा है। यहां इस पाठ से अतिरिक्त पाठ में मूर्च्छा दूर होने में काल का निर्देश नहीं किया अतः यहां यथा-सम्भव जानना चाहिए। अथवा इसे भी मान कर 'सस्वेदश्च प्रबुध्यते शीघ्रञ्च प्रतिबुध्यते' यह अर्थ ठीक है, यहां चकार से 'विलम्बेनापि' यह भाव भी निकलता है। यह विकल्प इसलिये है कि चरक, सुश्रुत और वाग्भट में काल का निर्देश

१ आसन्ना(त्) लक्ष्यते छाया प्रभा दूरात्प्रकाशते इति छायाप्रभयोर्विवेकः। इयञ्च छाया पञ्चविधा भवति, पञ्चमहाभूतकृतत्वात्। तत्र वातमूर्च्छाये श्यावारुणा छाया रिष्टरूपत्वान्मरणाय स्याद् वायव्यत्वादिति चोद्यं कुर्वन्ति। उक्तं हि 'वायव्या सा विनाशाय क्लेशाय महतेऽपि वा'-इति। तन्न, अनिमित्ता हि छाया रिष्टं विनाशयति, नतु दृश्यमाननिमित्ता। इह च वातसम्बन्धो दृश्यत एव [illegible]तम्। किं वा 'क्लेशाय महतेऽपि वा'-इति वचनादेव वायव्यच्छायाया मारकत्वं व्यभिचरितमिति [illegible]ः. २ पूर्वोक्तं 'संज्ञोपघाते मूर्च्छाय' इति शास्त्रानुसारम्.

नहीं है। यह सम्भव है कि यहां ताप के स्थान पर 'सन्ताप' कहने से वाग्भटोक्त दाह का भी ग्रहण हो जाता है और 'पीताभ' इसे उपलक्षण मान कर वाग्भटोक्त 'नीलाभ' का भी ग्रहण हो जाता है।

मधु०—पित्तजमूर्च्छायमाह—रक्तमित्यादि । वियदाकाशम् । अत्र 'सपिपासः ससन्तापो रक्तपीताकुलेक्षणः ॥' इति क्वचिदधिकः पाठः ॥९–१०॥

श्लैष्मिकमूर्च्छायाः स्वरूपमाह—

मेघसंकाशमाकाशमावृतं वा तमोघनैः।
पश्यंस्तमः प्रविशति चिराच्च प्रतिबुध्यते ॥११॥ [च० १।२४]
गुरुभिः प्रावृतैरङ्गैर्यथैवार्द्रेण चर्मणा।
सप्रसेकः सहृल्लासो मूर्च्छाये कफसंभवे ॥१२॥ [च० १।२४]

श्लैष्मिक मूर्च्छा में मनुष्य आकाश को मेघों (बादलों) जैसा तथा अन्धकार वा बादलों से आच्छादित देखता हुआ मूर्च्छित होता है और बहुत देर से होश में आता है तथा वह गीले चर्म से आवृत की तरह भारी २ अङ्गों वाला, मुखस्राव और हृल्लास से युक्त होता है।

मधु०—कफजमूर्च्छायमाह—मेघेत्यादि। तमोघनैरिति तमोभिर्घनैश्च; तमोऽन्धकारः, घनोऽत्र मेघवाची ॥११–१२॥

त्रिदोषजमूर्च्छायाः स्वरूपमाह—

सर्वाकृतिः सन्निपातादपस्मार इवागतः।
स जन्तुं पातयत्याशु विना बीभत्सचेष्टितैः ॥१३॥ [च० १।२४]

सन्निपात से होने वाली मूर्च्छा सभी लिङ्गों से युक्त होती है और वह मनुष्य को अपस्मार की तरह दन्तखादन भ्रूविक्षेपण आदि अपस्मार के बीभत्स लक्षणों के बिना शीघ्र ही गिरा देती है।

मधु०—सान्निपातिकमाह—सर्वेत्यादि। ननु, सर्वाकृतिरिति विरुद्धम्, उद्देशे 'षड्विधा सा प्रकीर्तिता' इत्यभिहितत्वात्; सन्निपातजया च सह सप्त प्रसज्येरन्? उच्यते, उद्देशः सुश्रुतग्रन्थेन, चरकग्रन्थेन च विवरणम्। चरके [illegible] नैवोक्ता [illegible]। चक्रपाणि-दत्ते—"चत्वारो मूर्च्छाया ह्यपस्मारैर्व्याख्याताः॥" (च. सू. स्था. अ. १८) इति। रक्तमद्यविषजानां यथादोषमेतास्वन्तर्भावः; सुश्रुते चैता रक्तादिजा लक्षणविशिष्टभेदप्रदर्शनार्थं साक्षात् पठिताः, त्रिदोषजायाः दोषजास्वन्तर्भावः, इत्यभिप्रायेण भेद [illegible]; संग्रहे [illegible] [illegible] अविरोध [illegible]। अपस्मार इवेति यथाऽपस्मारी [illegible] [illegible] पतति निरेण प्रतिबुध्यते। अपस्मारे फेनवमन [illegible] भेदः। बीभत्सचेष्टितैरिति फेनवमनादिभिर्विना ॥१३॥

(ननु—) 'सर्वाकृति' इत्यादि [illegible] है, क्योंकि उद्देश में 'षड्विधा सा प्रकीर्तिता' से मूर्च्छा [illegible] प्रकार की कही है, परन्तु सन्निपातजा को मानने से [illegible]

१ [illegible]

प्रकार की हो जाती है ? इस पर आचार्य रक्षित जी कहते हैं कि इस ग्रन्थ में उद्देश सुश्रुत ग्रन्थ के अनुसार और विवरण चरक ग्रन्थ के अनुसार हैं। चरक में वातादि से तीन और सन्निपात से एक, एवं चार मूर्च्छा मानी हैं। जैसे अष्टोदरीय अध्याय में लिखा भी है कि 'अपस्मारों के समान मूर्च्छाएँ चार होती हैं'। रक्तज, मद्यज और विषज मूर्च्छाओं का अपने २ दोषों के अनुसार दोषज मूर्च्छाओं में अन्तर्भाव हो जाता है और सुश्रुत में ये रक्तादिज मूर्च्छाएँ लक्षणभेद और चिकित्साभेद बताने के लिए पृथक् २ पढ़ी हैं, एवं त्रिदोषजा का भी उसने दोषज मूर्च्छाओं में अन्तर्भाव किया है। इसी अभिप्राय के अनुसार दोनों आचार्यों का परस्पर भेद है, परन्तु इस ग्रन्थ में सभी तन्त्र स्वीकृत होने से दोनों मत लिखे गए हैं, एवं यहां पूर्वोक्त से परस्पर विरोध नहीं होता। अपस्मार में फेन का आना दन्तों का घट्टन और नेत्रों की विकृति आदि इससे अधिक होती है, अतः यही अपस्मार का इससे भेद है।

रक्तजमूर्च्छाया: संप्राप्तिमाह—

पृथिव्यापस्तमोरूपं रक्तगन्धस्तदन्वयः।
तस्माद्रक्तस्य गन्धेन मूर्च्छन्ति भुविमानवाः ॥१४॥ [सु० ६।४६]
द्रव्यस्वभाव इत्येके दृष्ट्वा यदभिमुह्यति।

---

१ रक्तगन्धश्च तन्मयः. २ पृथ्वी अम्भश्च द्वयमपि तमोरूपं तमोवहुलं ('तमोरूपमिति तमस्स्वरूपम्' इति पा०); तथा चोक्तं पुरा—'तमोवहुला पृथ्वी, सत्त्वतमोवहुला आपः' (सु. शा. स्था. अ. १) इति, रक्तगन्धश्च तन्मयः (रक्तगन्धस्तदन्वय इति पृथिव्यम्भःसमुद्भवः; पाञ्चभौतिकेऽपि रक्ते पृथिव्यम्भसोः प्राधान्यात्। मूर्च्छन्ति भुविं मानवा इत्येतेन गन्धस्यतमोवहुलत्वमुक्तम्। ननु, गन्धः पार्थिवस्तत्कथं पृथिव्यम्भः-समुद्भव इत्युच्यते ? सत्यं, परस्परोपकार्यत्वात् ('अप्याकाशपवनेत्यादौ अपां चतुर्गुणत्वेन दर्शितत्वात् कथं तदन्वयेनापि गन्धो व्यपदिश्यत इति चेत् ? न, परस्परोपकारादित्युक्तः। एवमपि भूतान्तरे पृथ्वीनिमित्तत्वा-द्गन्धस्य, इति व्याख्यानं कार्तिककुण्डात्' इति पा०)। मूर्च्छन्ति भुवि मानवा इति ये मानवा पृथ्वीगुण-हुलास्तामसा इत्यर्थः। ननु, यदि रक्तगन्धो मूर्च्छाजनकः, तर्हि किमिति सर्वेषामेव न मूर्च्छामुत्पादयति ? ...त्यं; ये हीनसत्त्वास्तेषां मूर्च्छामुत्पादयन्ति न सर्वेषाम्। अपरे 'रक्तगन्धश्च तन्मय' इत्यन्यथा व्याचक्षते, ...यथा—तन्मयः पृथिव्यम्भोमयः; अत्र यथासम्भवं व्याख्यानं; तेन रक्तमम्भोमयं, द्रवत्वात्; गन्धश्च ...थ्वीमयः, पार्थिवत्वाद्गन्धस्य; तेन तमोभूयिष्ठायाः पृथिव्याः सकाशाद्गन्धस्य जातत्वाद्गन्धोऽपि तमोवहुल ...त्र, कारणानुरूपत्वात्कार्यस्य; शेषं समम्। अन्ये तु 'पृथिव्यम्भस्तमोरूपं रक्तगन्धश्च तन्मय' इति पठन्ति; ...थ्वी चाम्भश्च पृथिव्यम्भसी, तयोः सम्बन्धि यत्तमः, तद्रूपं तद्बहुलं तल्लक्षणं वा रक्तं, गन्धश्च तन्मय ...ति तमोमय इत्यर्थः; तमोवहुलपृथिव्युत्पन्नत्वाद्गन्धस्य। ऐतेन तमोभूयिष्ठपृथिव्यम्भ उत्पन्नरक्तस्य धातु-...नितत्वाद्गन्धस्य स्वयं तमोभूयिष्ठत्वाच्च रक्तगन्धो मानवैराघ्रातः सन् हृदवस्थितं तमो वर्धयन् मूर्च्छामा-...दयति। 'सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्' इत्युक्तत्वात्। ननु, तमोवहुलत्वाद्रक्तं मूर्च्छाजनकं तर्हि तमो-...यिष्ठे एते पृथिव्यम्भसी कुतो मूर्च्छां नोत्पादयतः ? सत्यं, पृथिव्यम्भसी सात्म्यतया स्वरूपतश्च मूर्च्छां नो-पादयतः। अन्ये तु पठन्ति—'पृथिव्यम्भस्तमोरूपं रक्तगन्धेन तु त्रयम्' इति, व्याख्यानयन्ति च—पृथिव्यम्भ-तमसां रूपं स्वलक्षणं यस्य रक्तस्य तत्पृथिव्यम्भस्तमोरूपं; रक्तगन्धेन कृत्वा तु पुनस्त्रय सत्त्वरजस्तमसां ...गुणानां त्रितयं 'रक्ते ज्ञायते' इति वाक्यशेषः। ननु, गन्धेन कृत्वा कथं गुणानां त्रितयं रक्ते ज्ञायते इति चेत्? ...त्यं, रक्ते गन्धो विस्रो वर्तते, गन्धश्च गुणविशेषः, उक्तं च,—'तेषां विशेषाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः'—(सु. ...ा. स्था. अ. १) इति, ते च विशेषास्त्रिगुणाः; उक्तञ्च,—'सर्व एवैते विशेषाः सत्त्वरजस्तमोमया भवन्ति'— ...ा. शा. स्था. अ. १) इति। किन्त्वत्र तमोगुणस्याधिक्यं ज्ञेयम्। एतेनैतदुक्तं भवति—पृथिव्यम्भस्तमः ...स्य रक्तस्य गन्धेन त्रिगुणेन तमोगुणविशिष्टेन मानवा मूर्च्छन्ति'—इति डल्हणः।

'तमोबहुला पृथिवी, सत्त्वतमोबहुला आपः'-(सु. शा. स्था. अ. १) इस निर्देशानुसार पृथिवी और जल तमोगुणबहुल वा तमोगुण स्वरूप हैं और रक्त भी उनसे सम्बन्धित (अन्वित) अथवा युक्त है। इस कारण रक्त की गन्ध से मनुष्य मूर्च्छित हो जाते हैं, यह आचार्य सुश्रुत का अपना मत है। अब वह दूसरे मत दिखाते हैं कि कई एक आचार्य रक्त को देखकर मूर्च्छित हो जाना उस रक्तरूप द्रव्य का स्वभाव (नैसर्गिक भाव) मानते हैं।

वक्तव्य—इसका भाव यह है कि—'तमोबहुला पृथिवी' इस निर्देशानुसार पृथिवी और 'सत्त्वतमोबहुला आपः'-इस निर्देशानुसार जल तमोगुण की अधिकता वाले हैं, एवं मूर्च्छा 'मूर्च्छा पित्ततमःप्राया'-(सु. शा. स्था. अ. ४) के अनुसार पित्त से और तमोगुण से होती है। जब ऐसा है तो रक्त को देखकर मनुष्य मूर्च्छित क्यों हो जाता है ? इस पर आचार्य ने कहा कि-'पृथिव्याप' इत्यादि। अर्थात् पृथिवी और जल में तमोगुण है और रक्त में गन्ध उनसे आती है एवं 'कारणगुणाः कार्ये गुणमारभन्ते' के अनुसार उन दोनों का तमोगुण भूयिष्ट होना रूप गुण भी गन्ध में आ जाता है। इस प्रकार जब मनुष्य उसे देखते हैं तो उसकी तमोगुण युक्त गन्ध घ्राणेन्द्रिय द्वारा भीतर जाकर मन के तमोगुण को 'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्'-(च. सू. स्था. अ. १) के अनुसार बढ़ा देती है, एवं जब मन अपने तमोदोष से आवृत हो जाता है तो उस समय शरीर में वृद्ध शारीरिक दोष को आगे कर वह (तमोगुण) संज्ञावह नाड़ियों वा मन के बाहरी और भीतरी आयतनों को व्याप्त कर देता है, तदनु मनुष्य मूर्च्छित हो जाता है; अथवा—जब तमोगुण युक्त गन्ध घ्राणेन्द्रिय द्वारा भीतर जाता है तो उस समय में प्रवृद्ध शारीरिक दोष के साथ वह (तमोगुण) मन के बाह्य और आभ्यन्तरिक स्थानों को; वा (मन के) स्रोतों को आवृत कर मन को भी तमसावृत कर देता है जिससे सुख दुःख का ज्ञान दूर हो जाता है और मनुष्य मूर्च्छित हो जाता है। अब यहां यह शंका होती है कि—'गन्ध' पृथिवी का विशेष गुण है न कि जल का। जब ऐसा है तो जलस्थ तमोगुण गन्ध में कैसे आ सकता है ? ठीक है, परन्तु 'अन्योन्यानुप्रविष्टानि सर्वाण्येतानि निर्दिशेत्। स्वे स्वे द्रव्ये तु सर्वेषां व्यक्तं लक्षणमिष्यते'-(सु. शा. स्था. अ. १) के अनुसार उनका परस्पर उपकार्योपकारकभाव सम्बन्ध होने से जल में भी गन्ध है, परन्तु अल्पश है, एवं उसमें भी गन्ध रक्त में आने से उसका तमोगुण भी आ जाता है। कई उपर्युक्त आपत्ति के लक्ष्य में रखकर '[illegible]' ऐसा पाठ मानते हैं। एवं रक्त में [illegible] जल से और गन्ध पृथिवी से आती है। इस प्रकार दोनों से तमोबहुलता रक्त में आ जाती है, जिससे यह गन्ध द्रव्य स्वशक्ति के अनुसार मूर्च्छित कर देता है।

मधु०—रक्तजमूर्च्छासंप्राप्तिमाह—पृथिव्याप इत्यादि । पृथिव्यापश्चैतद्द्वयं तमोरूपं तमोबहुलम, उक्तं हि—"तमोबहुला पृथिवी, सत्त्वतमोबहुला आपः" (सु. शा. स्था. अ. १) इति । 'पृथिव्यम्भः' इति पाठेऽयमेवार्थः । तदन्वयः पृथिव्यम्भोऽन्वयः, 'तन्मयः इति पाठे पृथिवीजलमयः, प्रकृतिविकारभावे मयट् । तस्मादिति यस्मात् पृथिव्यापस्तमोरूपं रक्तगन्धश्च तदन्वयः, मूर्च्छा च तमःप्राया, तस्मादित्यर्थः । भुविमानवा इति पाञ्चभौतिकत्वेऽपि शरीरस्योद्भूतभूमिगुणा ये ते भुविमानवाः पार्थिवाः, तामसा इत्यर्थः; नतु राजसाः सात्त्विका वा । ननु चम्पकादिगन्धेनापि मूर्च्छा प्रसज्येत ? तत्रापि गन्धस्य पार्थिवत्वात्, पृथिव्याश्च तमोरूपत्वादित्यत आह—द्रव्यस्वभाव इत्यादि । रक्तस्यायं स्वभावः, तेन तद्गत एव गन्धो मूर्च्छयतीति । स्वभावमेव द्रढयति—दृष्ट्वा यदभिमुह्यतीति । 'यच्च दृष्ट्वाऽपि मुह्यति' इति पाठान्तरम् । अन्ये तु गन्धासंबन्धेऽपि दर्शनमात्रान्मूर्च्छोपलम्भादनैकान्तिकत्वं गन्धस्य मन्यमानाः स्वभावमेव हेत्वन्तरमाहुः; एतेन गन्धस्य प्रायिकत्वमुक्तम् । अन्ये तु गन्धस्य हेतुत्वमपास्य दर्शनस्यैव हेतुत्वं मन्यन्ते; तन्न, यदाह भोजः—"स्तब्धाङ्गदृष्टिर्भवति गूढोच्छ्वासस्तथैव च । दर्शनादसृजस्तज्ज्ञाद्गन्धाच्चैव प्रमुह्यति ॥" इति । "पृथिव्या यत्तमोरूपम्"—इति पाठान्तरं सुगमम् । "पृथिव्यम्भस्तमोरूपं रक्तगन्धेन तत्त्रयम्"—इति पाठान्तरस्य जेज्जटलिखितस्यायमर्थः—रक्तगन्धेन तु यदुक्तमव्यभिचरितं प्रकृतिविकारयोस्तादर्थ्यात् किं तत्त्रयमित्यत उक्तं—पृथिव्यम्भस्तमोरूपमिति; पृथिव्यम्भस्तमसां रूपमित्यर्थः, शेषं पूर्ववत् । दृष्ट्वेति रक्तमिति शेषः ॥१४॥

(नन्विति—) यदि गन्ध के कारण ही मूर्च्छा होती है तो चम्पक (चम्वे) आदि की गन्ध से भी (उनमें भी गन्ध के पार्थिव होने के कारण और पृथिवी के तमोरूप होने से) मूर्च्छा आ जानी चाहिये ? इस पर आचार्य कहते हैं कि—यह रक्त का ही स्वभाव है, इससे उसी (रक्त) का ही गन्ध मूर्च्छित करता है (चम्पक आदि का नहीं) । दूसरे आचार्य तो गन्ध से सम्बन्ध होने के बिना केवल दर्शनमात्र से ही मूर्च्छा आ जाती है, अतः गन्ध को अनैकान्तिक मान स्वभाव को ही दूसरा हेतु मानते हैं । एवं गन्ध प्रायः मूर्च्छा करता है, यह बात आती है । कई आचार्य गन्धरूप हेतु को न मान दर्शनरूप हेतु को ही मानते हैं; परन्तु यह ठीक नहीं है । जैसे भोज ने कहा भी है कि—'स्तब्धाङ्गदृष्टिरित्यादि ।

विषजस्य मद्यजस्य च मूर्च्छायस्य रूपमाह—

गुणास्तीव्रतरत्वेन[3] स्थितास्तु विषमद्ययोः ॥१५॥ [सु० ६।४६]
त एव तस्मात्ताभ्यां तु मोहौ स्यातां यथेरितौ[4] ।

विष और मद्य में रूक्षादि दश गुण तीव्रतर रूप में हैं अतः उन दश गुणों के कारण ही विष और मद्य से यथोक्त[5] मूर्च्छाएँ होती हैं ।

वक्तव्य—सुश्रुत ने 'रूक्षमुष्णं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्ममाशु व्यवायि च । विकासि विशदं चैव लघ्वपाकि च तत्स्मृतम् ॥'—(सु. क. स्था. अ. २) विष के ये दश गुण कहे हैं और चरक ने 'लघु रूक्षमाशु विशदं व्यवायि तीक्ष्णं विकासि सूक्ष्मं च ।

१ यदाह भेडः. २ पृथिव्यापस्तमोरूपा. ३ तीव्रतमत्वेन. ४ त एव तस्माज्जायेत मोहयथेरितः. ५ यथोक्त अर्थात् तर तम आदि भेद से यथोक्त मूर्च्छाएँ होती हैं.

उष्णमनिर्देश्यरसं दशगुणयुक्तं विषं तज्ज्ञैः'–(च. चि. स्था. अ. २३) ये माने हैं। इनमें प्रायः समता है किन्तु भेद केवल इतना है कि सुश्रुत ने इसका दसवां गुण 'अपाकि' माना है और चरक ने 'अनिर्देश्यरस'। ऐसा होने पर भी विरोध नहीं है। एवं मद्य के गुण सुश्रुत ने 'मद्यमम्लं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्मं विशदमेव च। रूक्षमाशुकरं चैव व्यवायि च विकासि च॥'–(सु. उ. तं. अ. ४७) ये तथा वाग्भट ने 'तीक्ष्णोष्णरूक्षसूक्ष्माम्लं व्यवाय्याशुकरं लघु। विकाशि विशदं मद्यं'–(वा. नि. स्था. अ. ६) ये माने हैं इनमें समानता है। केवल भेद यही है कि चरक ने उष्ण और लघु ये दो नहीं कहे और वाग्भट ने कहे हैं परन्तु दोष नहीं आता। कारण कि सुश्रुत ने ये दो गुण भी मद्य के माने हैं और (सु. सू. स्था. अ. ४५) में मद्य वर्ग के प्रारम्भ में मद्य के गुण प्रकरण में कहे हैं। प्रकृत में तो इसने उष्ण को अम्ल में, लघु को रूक्ष में ले लिया है क्योंकि जो पदार्थ अम्ल हैं वे प्रायः उष्ण हैं और जो रूक्ष हैं वे प्रायः लघु हैं। विष और मद्य के गुण प्रायः समान हैं परन्तु भेद केवल इतना ही है कि विष में सुश्रुतानुसार 'अपाकि' और चरकानुसार 'अनिर्देश्यरस' माना है और मद्य में अम्लरस माना है। ऐसा होने पर भी 'ये विषस्य गुणाः प्रोक्तास्तेऽपि मद्ये प्रतिष्ठिताः' इस तथा 'तीक्ष्णादयो विषेऽप्युक्ताः'–(वा. नि. स्था. अ. ६) इस वाक्य से विरोध नहीं है। कारण कि (१) मद्य में भी दन्तहर्ष मुखस्राव आदि कार्य को ही देखकर उसमें अम्लता मानी है; परन्तु मद्य पीने पर वह व्यक्त प्रतीत नहीं होती, अतः इसमें भी अव्यक्तता है। (२) इन दोनों में भेद होने से 'ये विषस्य' तथा 'तीक्ष्णादयो विषेऽप्युक्ताः' इत्यादि की प्रायिकता प्रतीत होती है अर्थात् प्रायः विष के गुण मद्य में हैं, इत्यादि। एवं विष और मद्य में रूक्षादि दश गुण तीव्रतर रूप में हैं, अतः उन गुणों के कारण विष और मद्य से यथोक्त मूर्च्छाएँ होती हैं। (ननु—) विष और मद्य इन दोनों विकारों में सामान्यतः मूर्च्छा कह देने से पुनः यहां विशेष निर्देश क्यों किया है ? ठीक है, मूर्च्छा सामान्यतः उन २ विकारों में कह दी है परन्तु फिर भी यहां उसका कथन अन्य लक्षणों के साथ भी उसका ग्रहण हो जाने के लिए किया है। (प्रश्न—) यदि विष और मद्य में तुल्य गुण हैं, तो मद्य विष की तरह मारणात्मक क्यों नहीं है ? (उत्तर—) ठीक है, गुण तो दोनों में समान हैं, परन्तु उनकी मात्रा समान नहीं है, मद्य में वे तीक्ष्णादि गुण अतितीव्र नहीं हैं, अतः उससे मृत्यु नहीं होती। (प्रश्न—) यदि ऐसा ही है तो 'गुणास्तीव्रतरत्वेन स्थितास्तु विषमद्ययोः' इस वाक्य का खण्डन हो जाता है क्योंकि यहां समानता बताई गई है। (उत्तर—) ठीक है, यहां समानता संख्या को लक्ष्य करके बताई गई है नहि मात्रा को। एवं इन गुणों की विष और मद्य में भिन्न मात्रा में स्थिति होने से मद्य मारणात्मक नहीं है; अथवा इस श्लोक में 'तीव्रतर' शब्द से आगे 'तीव्र' शब्द ग्रहण

मधु०—रक्तजमूर्च्छासंप्राप्तिमाह—पृथिव्याप इत्यादि । पृथिव्यापश्चैतद्द्वयं तमोरूपं तमोबहुलम, उक्तं हि—"तमोबहुला पृथिवी, सत्त्वतमोबहुला आपः" (सु. शा. स्था. अ. १) इति । 'पृथिव्यम्भः' इति पाठेऽयमेवार्थः । तदन्वयः पृथिव्यम्भोऽन्वयः, 'तन्मयः इति पाठे पृथिवीजलमयः, प्रकृतिविकारभावे मयट् । तस्मादिति यस्मात् पृथिव्यापस्तमोरूपं रक्तगन्धश्च तदन्वयः, मूर्च्छा च तमःप्राया, तस्मादित्यर्थः । भुविमानवा इति पाञ्चभौतिकत्वेऽपि शरीरस्योद्भूतभूमिगुणा ये ते भुविमानवाः पार्थिवाः, तामसा इत्यर्थः; नतु राजसाः सात्त्विका वा । ननु चम्पकादिगन्धेनापि मूर्च्छा प्रसज्येत ? तत्रापि गन्धस्य पार्थिवत्वात्, पृथिव्याश्च तमोरूपत्वादित्यत आह—द्रव्यस्वभाव इत्यादि । रक्तस्यायं स्वभावः, तेन तद्गत एव गन्धो मूर्च्छयतीति । स्वभावमेव द्रढयति—दृष्ट्वा यदभिमुह्यतीति । 'यच्च दृष्ट्वाऽपि मुह्यति' इति पाठान्तरम् । अन्ये तु गन्धासंबन्धेऽपि दर्शनमात्रान्मूर्च्छोपलम्भादनैकान्तिकत्वं गन्धस्य मन्यमानाः स्वभावमेव हेत्वन्तरमाहुः; एतेन गन्धस्य प्रायिकत्वमुक्तम् । अन्ये तु गन्धस्य हेतुत्वमपास्य दर्शनस्यैव हेतुत्वं मन्यन्ते; तन्न, यदाह भोजः—"स्तब्धाङ्गदृष्टिर्भवति गूढोच्छ्वासस्तथैव च । दर्शनादसृजस्तज्जाद्गन्धाच्चैव प्रमुह्यति ॥" इति । "पृथिव्या यत्तमोरूपम्"—इति पाठान्तरं सुगमम् । "पृथिव्यम्भस्तमोरूपं रक्तगन्धेन तत्त्रयम्"—इति पाठान्तरस्य जेज्जटलिखितस्यायमर्थः—रक्तगन्धेन तु यदुक्तमव्यभिचरितं प्रकृतिविकारयोस्तादर्थ्यात् किं तत्त्रयमित्यत उक्तं—पृथिव्यम्भस्तमोरूपमिति; पृथिव्यम्भस्तमसां रूपमित्यर्थः, शेषं पूर्ववत् । दृष्ट्वेति रक्तमिति शेषः ॥१४॥

(नन्विति—) यदि गन्ध के कारण ही मूर्च्छा होती है तो चम्पक (चम्बे) आदि की गन्ध से भी (उनमें भी गन्ध के पार्थिव होने के कारण और पृथिवी के तमोरूप होने से) मूर्च्छा आ जानी चाहिये ? इस पर आचार्य कहते हैं कि—यह रक्त का ही स्वभाव है, इससे उसी (रक्त) का ही गन्ध मूर्च्छित करता है (चम्पक आदि का नहीं) । दूसरे आचार्य तो गन्ध से सम्बन्ध होने के बिना केवल दर्शनमात्र से ही मूर्च्छा आ जाती है, अतः गन्ध को अनैकान्तिक मान स्वभाव को ही दूसरा हेतु मानते हैं । एवं गन्ध प्रायः मूर्च्छा करता है, यह बात आती है । कई आचार्य गन्धरूप हेतु को न मान दर्शनरूप हेतु को ही मानते हैं; परन्तु यह ठीक नहीं है । जैसे भोज ने कहा भी है कि—'स्तब्धाङ्गदृष्टिरित्यादि ।

विषजस्य मद्यजस्य च मूर्च्छायस्य रूपमाह—

गुणास्तीव्रतरत्वेन[३] स्थितास्तु विषमद्ययोः ॥१५॥ [सु० ६।४६]
त एव तस्मात्ताभ्यां तु मोहौ स्यातां यथेरितौ[४] ।

विष और मद्य में रूक्षादि दश गुण तीव्रतर रूप में हैं अतः उन दश गुणों के कारण ही विष और मद्य से यथोक्त[५] मूर्च्छाएँ होती हैं ।

वक्तव्य—सुश्रुत ने 'रूक्षमुष्णं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्ममाशु व्यवायि च । विकासि विशदं चैव लघ्वपाकि च तत्स्मृतम् ॥'—(सु. क. स्था. अ. २) विष के ये दश गुण कहे हैं और चरक ने 'लघु रूक्षमाशु विशदं व्यवायि तीक्ष्णं विकासि सूक्ष्मं च ।

१ यदाह भेडः. २ पृथिव्यापस्तमोरूपा. ३ तीव्रतमत्वेन. ४ त एव तस्माज्जायेत मोहः यथेरितः. ५ यथोक्त अर्थात् तर तम आदि भेद से यथोक्त मूर्च्छाएँ होती हैं.

उष्णमनिर्देश्यरसं दशगुणयुक्तं विषं तज्ज्ञैः'–(च. चि. स्था. अ. २३) ये माने हैं। इनमें प्रायः समता है किन्तु भेद केवल इतना है कि सुश्रुत ने इसका दसवां गुण 'अपाकि' माना है और चरक ने 'अनिर्देश्यरस'। ऐसा होने पर भी विरोध नहीं है। एवं मद्य के गुण सुश्रुत ने 'मद्यमम्लं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्मं विशदमेव च। रूक्षमाशुकरं चैव व्यवायि च विकासि च॥'–(सु. उ. तं. अ. ४७) ये तथा वाग्भट ने 'तीक्ष्णोष्णरूक्षसूक्ष्माम्लं व्यवाय्याशुकरं लघु। विकाशि विशदं मद्यं'–(वा. नि. स्था. अ. ६) ये माने हैं इनमें समानता है। केवल भेद यही है कि चरक ने उष्ण और लघु ये दो नहीं कहे और वाग्भट ने कहे हैं परन्तु दोष नहीं आता। कारण कि सुश्रुत ने ये दो गुण भी मद्य के माने हैं और (सु. सू. स्था. अ. ४५) में मद्य वर्ग के प्रारम्भ में मद्य के गुण प्रकरण में कहे हैं। प्रकृत में तो इसने उष्ण को अम्ल में, लघु को रूक्ष में ले लिया है क्योंकि जो पदार्थ अम्ल हैं वे प्रायः उष्ण हैं और जो रूक्ष हैं वे प्रायः लघु हैं। विष और मद्य के गुण प्रायः समान हैं परन्तु भेद केवल इतना ही है कि विष में सुश्रुतानुसार 'अपाकि' और चरकानुसार 'अनिर्देश्यरस' माना है और मद्य में अम्लरस माना है। ऐसा होने पर भी 'ये विषस्य गुणाः प्रोक्तास्तेऽपि मद्ये प्रतिष्ठिताः' इस तथा 'तीक्ष्णादयो विषेऽप्युक्ताः'–(वा. नि. स्था. अ. ६) इस वाक्य से विरोध नहीं है। कारण कि (१) मद्य में भी दन्तहर्ष मुखस्राव आदि कार्य को ही देखकर उसमें अम्लता मानी है; परन्तु मद्य पीने पर वह व्यक्त प्रतीत नहीं होती, अतः इसमें भी अव्यक्तता है। (२) इन दोनों में भेद होने से 'ये विषस्य' तथा 'तीक्ष्णादयो विषेऽप्युक्ताः' इत्यादि की प्रायिकता प्रतीत होती है अर्थात् प्रायः विष के गुण मद्य में हैं, इत्यादि। एवं विष और मद्य में रूक्षादि दश गुण तीव्रतर रूप में हैं, अतः उन गुणों के कारण विष और मद्य से यथोक्त मूर्च्छाएँ होती हैं। (ननु—) विष और मद्य इन दोनों विकारों में सामान्यतः मूर्च्छा कह देने से पुनः यहां विशेष निर्देश क्यों किया है ? ठीक है, मूर्च्छा सामान्यतः उन २ विकारों में कह दी है परन्तु फिर भी यहां उसका कथन अन्य लक्षणों के साथ भी उसका ग्रहण हो जाने के लिए किया है। (प्रश्न—) यदि विष और मद्य में तुल्य गुण हैं, तो मद्य विष की तरह मारणात्मक क्यों नहीं है ? (उत्तर—) ठीक है, गुण तो दोनों में समान हैं, परन्तु उनकी मात्रा समान नहीं है, मद्य में वे तीक्ष्णादि गुण अतितीव्र नहीं हैं, अतः उससे मृत्यु नहीं होती। (प्रश्न—) यदि ऐसा ही है तो 'गुणास्तीव्रतरत्वेन स्थितास्तु विषमद्ययोः' इस वाक्य का खण्डन हो जाता है क्योंकि यहां समानता बताई गई है। (उत्तर—) ठीक है, यहां समानता संख्या को लक्ष्य करके बताई गई है नकि मात्रा को। एवं उन गुणों की विष और मद्य में स्थित मात्रा में अन्तर होने से मद्य मारणात्मक नहीं है; अथवा इस श्लोक में 'तीव्रतर' शब्द से आगे 'तीव्र' शब्द लुप्त

जानना चाहिए, एवं यह अर्थ हुआ कि 'विष में तीव्रतरता से तीक्ष्णादि गुण हैं और मद्य में तीव्रता से तीक्ष्णादि गुण हैं, जिससे मद्य विष की तरह मारणात्मक नहीं है। यहां आतंकदर्पणकार कहता है कि विष में तीव्रतम, मद्य में तीव्रतर और तैलादि में तीव्र तथा व्यस्त (कर्म) गुण होने से, विष मारणात्मक, मद्य विषवत् मूर्च्छाकर और अमारणात्मक तथा तैलादि अमूर्च्छाकर हैं। दोनों का भाव एक ही है। इसी भाव को लेकर आचार्य वाग्भट ने कहा है कि "तीक्ष्णादयो विषेऽप्युक्ताश्चित्तोपप्लाविनो गुणाः। जीवितान्ताय जायन्ते विषे तूत्कर्षवृत्तितः" (वा. नि. स्था. अ. ६) इति; तथाच तन्त्रान्तरम्—विषस्य ये गुणा दृष्टाः सन्निपातप्रकोपणाः। त एव मद्ये दृश्यन्ते विषे तु बलवत्तराः॥ त एव तस्मात्ताभ्यां (तस्य ताभ्यां) तु मोहौ स्यातां यथेरितौ" इति।

मधु०—विषमद्यजे प्राह—गुणा इत्यादि। गुणा दश; यदुक्तं दृढबलेन—"लघु रूक्षमाशु विशदं व्यवायि तीक्ष्णं विकाशि सूक्ष्मं च। उष्णमनिर्देश्यरसं दशगुणमुक्तं विषं तज्ज्ञैः॥" (च. चि. स्था. अ. २३) इति। ते तैलादौ व्यस्तास्तीव्राः सन्ति, विषमद्ययोस्तु तीव्रतराः, अतस्तैलादिभिर्न मोहः, किंतु विषमद्याभ्यामिति। त एवेति गुणा लघुत्वादयः। यथेरिताविति विषजो मोहो न स्वयं निवर्तते विषस्यापाकित्वात्, मद्यजस्तु मद्यपरिणामादेव शाम्यति, अयं च भेदो विषमद्ययोः प्रभावात्। उक्तं हि तन्त्रान्तरे—"ये विषस्य गुणाः प्रोक्ताः सन्निपातप्रकोपणाः। त एव मद्ये दृश्यन्ते विषे तु बलवत्तराः" इति ॥१५॥

(यथेरिताविति—) 'यथेरितौ' का यह अर्थ है कि विष के अपाकि होने से विषज मूर्च्छा अपने आप दूर नहीं होती और मद्यज मूर्च्छा तो मद्य के पच जाने पर शान्त हो जाती है, अर्थात् विष अपाकि है और मद्य पाकि। अतः विषज मूर्च्छा स्वयं दूर नहीं होती और मद्यज मद्य के पच जाने पर दूर हो जाती है। इनमें यह भेद इनके प्रभाव से है। जैसे कहा भी है कि तीनों दोषों को प्रकुपित करने वाले तीक्ष्णादि जो विष के गुण कहे हैं, वही (प्रायः) मद्य में दीखते हैं, परन्तु विष में वे अधिक बलवान् होते हैं।

रक्तजमूर्च्छाया रूपमाह—

स्तब्धाङ्गदृष्टिस्त्वसृजा गूढोच्छ्वासश्च मूर्च्छितः ॥१६॥ [सु० ६।४६]

रक्त की गन्ध आदि के कारण मूर्च्छित मनुष्य स्तब्ध अङ्गों वाला, स्तब्ध दृष्टि वाला और अस्पष्ट श्वास वाला होता है अर्थात् रक्तज मूर्च्छा के रोगी में ये लक्षण होते हैं।

मद्यजमूर्च्छायस्य स्वरूपमाह—

मद्येन विलपन् शेते नष्टविभ्रान्तमानसः।
गात्राणि विक्षिपन् भूमौ जरां यावन्न याति तत् ॥१७॥ [सु० ६।४६]

मद्य के कारण स्मृतिरहित तथा विक्षिप्त मन वाला मनुष्य विलाप करता या सोता है (मूर्च्छित होता है) और जब तक वह मद्य जीर्ण नहीं हो तब तक हाथों पैरों को पृथ्वी पर फेंकता हुआ मूर्च्छित ही रहता है।

विषजमूर्च्छायस्य स्वरूपमाह—

वेपथुस्वप्नतृष्णाः स्युस्तमश्च विषमूर्च्छिते ।
वेदितव्यं तीव्रतरं यथास्वं विषलक्षणैः ॥१८॥ [सु० ६।४६]

विष के कारण मूर्च्छित मनुष्य में कँपकँपी, निद्रा, पिपासा और स्तब्धता होती है, तथा मूलादि कन्दान्त विषों की तीव्रता के अनुसार उनके लक्षणों से मूर्च्छा की तीव्रता जाननी चाहिए।

मधु०—रक्तजादिमूर्च्छात्रयस्य रूपाण्याह—स्तब्धाङ्गेत्यादि मूर्च्छित इत्यन्तं रक्तजायाः। गूढोच्छ्वासश्चास्पष्टोच्छ्वासः। 'मूढ' इति पाठे संनिरुद्ध इत्यर्थ इति जेज्जटः। मद्येनेत्यादि तदिल्यन्तं मद्यजायाः। नष्टविभ्रान्तमानस इत्यत्र 'निष्टनन् भ्रान्तमानसः' इति पाठान्तरे निष्टनन् शब्दं कुर्वन्। वेपथ्वादिना विषजायाः। यथास्वं विषलक्षणैरिति विषस्य मूलपत्रक्षीरादिभेदेन प्रातिस्विकं यल्लक्षणमुक्तं सौश्रुतकल्पस्थाने (सु. क. स्था. अ. २) तल्लक्षणयुक्ता मूर्च्छा भवतीत्यर्थः ॥१६–१८॥

मूर्च्छाभ्रमतन्द्रानिद्राणां भेदमवतारयति—

मूर्च्छा पित्ततमःप्राया रजःपित्तानिलाद्भ्रमः।
तमोवातकफात्तन्द्रा निद्रा श्लेष्मतमोभवा ॥१९॥ [सु० ३।४]

मूर्च्छा पित्त और तमःप्राय होती है अर्थात् पित्त और तम से मूर्च्छा होती है; भ्रम रज, पित्त और वायु से होता है; तन्द्रा वात और कफ से होती है तथा निद्रा श्लेष्म और तम से होती है।

मधु०—संज्ञानाशसाधर्म्येऽपि मूर्च्छादीनां को भेदः? इत्याह—मूर्च्छा पित्ततमःप्रायेत्यादि। तमोवातकफादिति समाहारद्वन्द्वः। निद्रातन्द्रयोश्चैतानि कारणानि व्यस्तसमस्तानि, तेन सुश्रुतेन यदतिलङ्घितलक्षणे निद्रातन्द्रे पठिते ते विनैव कफात्, अतिलङ्घनस्य श्लेष्मक्षयहेतुत्वात् ॥१९॥

भ्रमरोगस्य लक्षणमाह—

(चक्रवद्भ्रमतो गात्रं भूमौ पतति सर्वदा।
भ्रमरोग इति ज्ञेयो रजःपित्तानिलात्मकः ॥१॥)

जिस रोग में मनुष्य का सिर चक्र की तरह घूमता है तथा उससे (खड़ा हुआ) वह (मनुष्य) पृथिवी पर हमेशा गिर जाता है, रजोगुण, पित्त और वात से उत्पन्न हुआ वह रोग भ्रम कहलाता है।

तन्द्रायाः स्वरूपमाह—

इन्द्रियार्थेष्वसंवित्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः।
निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत् ॥२०॥ [सु० ३।४]

१ यहां सभी टीकाकारों ने विष से स्थावर विष ही लिया है. २ मूलं पत्रं फलं पुष्पं त्वक् क्षीरं सार एव च। निर्यासो धातवश्चैव कन्दश्च दशमः स्मृतः॥ (सु. क. स्था. अ. २). ३ पं० च अ० सदर, दवार; इ० गिडिनेस (Giddiness). ४ इन्द्रियार्थेष्वसम्प्राप्तिः. ५ यस्यैते.

जिस मनुष्य को इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान नहीं होता और जंभाई तथा क्लम होता है; उसे तथा जिसकी चेष्टाएँ निद्रार्त की सी हों उसे तन्द्राभिभूत जानना चाहिये। इसके आगे बहुत स्थलों में क्लम का लक्षण भी मिलता है। तद्यथा—'योऽनायासः श्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः। क्लमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रबाधकः' इति; जो श्रम शरीर में श्वास वृद्धि के विना अनायास ही बढ़ जाता है, वह इन्द्रियों के विषय ग्रहण में बाधा पहुंचाने वाला क्लम जानना चाहिये।

मधु०—तन्द्रालक्षणमाह—इन्द्रियार्थेष्वित्यादि। निद्राभ्रमयोस्तु लक्षणं नोक्तमिह, अतिप्रसिद्धत्वात। निद्रा[1] हि विप्लुतमनसः सर्वेन्द्रियाणां स्वविषयनिवृत्तिः। यदाह चरकः-"यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः। विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः॥" (च. सू. स्था. अ. २१) इति। अत्र कर्मात्मान इन्द्रियाणि; निरिन्द्रियप्रदेशे मनसोऽवस्थितिर्निद्रेति मतेऽप्ययमेवार्थः। निद्रातन्द्रयोस्तूक्तकारणभेदाद्भेदः, उद्भूतजृम्भादेश्चानुभवसिद्धत्वादिति; तथा निद्रायामिन्द्रियमनोमोहः, तन्द्रायामिन्द्रियमोहः[2]। भ्रमलक्षणं तु चक्रस्थितस्येव ....तुदर्शनामिति ॥२०॥

संन्यासस्य[3] मूर्च्छायादिभ्यो भेदमवतारयति—

दोषेषु मदमूर्च्छायाः कृतवेगेषु देहिनाम्।
स्वयमेवोपशाम्यन्ति संन्यासो नौषधैर्विना ॥२१॥ [च० १।२४]

मनुष्यों को जो मूर्च्छा मद आदि के कारण होती है वह उन २ दोषों के उपशान्त वा क्षीण वेग हो जाने पर स्वयमेव शान्त हो जाती है, परन्तु संन्यास नामक रोग ओषधि के बिना शान्त नहीं होता।

मधु०—संन्यासस्य मूर्च्छादिभ्यो भेदमाह—दोषेष्वित्यादि ॥२१॥

संन्यासस्य स्वरूपमाह—

वाग्देहमनसां चेष्टामाक्षिप्यातिबला मलाः।
संन्यस्यन्त्यबलं जन्तुं प्राणायतनमाश्रिताः[4] ॥२२॥ [च० १।२४]
स ना संन्याससंन्यस्तः काष्ठीभूतो मृतोपमः।
प्राणैर्विमुच्यते[5] शीघ्रं मुक्त्वा[6] सद्यःफलां क्रियाम् ॥२३॥ [च० १।२४]

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने मूर्च्छाभ्रमनिद्रातन्द्रासंन्यासनिदानं समाप्तम् ॥१७॥

वाणी, शरीर और मन की चेष्टाओं का नाश कर चेतना के स्थान हृदय में आश्रित अतिबल वाले दोष जब निर्बल मनुष्य को संन्यासावस्था (मूर्च्छा विशेष)

---

१ निद्राऽतिविद्रुतमनसः. २ तन्द्रायां मनोमोहः. ३ नाम—सं० संन्यास; अ० सक्ता; ० ॲपॉप्लिक्सी (Apoplexy); कॅटॅलेप्सी (Catalepsy), ४ संश्रिताः. ५ विमुच्यते. ६ मुक्त्वेत्य-...ष्य। सद्यःफलामिति सद्यःप्रबोधनकारिकां तीक्ष्णाञ्जनादिकाम् इति चक्रपाणिः.

में पहुंचाते हैं, तो उसके बाद संन्यास रोग से संन्यस्त (मूर्च्छित) वह मनुष्य काष्ठ वा मुर्दे की तरह होता हुआ शीघ्र संन्यास को दूर करने वाली सूचीव्यधन आदि चिकित्सा के विना मर जाता है। अर्थात् यदि शीघ्रफलप्रद सूचीव्यधन आदि चिकित्सा न की जावे तो वह रोगी नहीं बचता।

मधु०—तल्लक्षणमाह—वागित्यादि। अतिवला इत्यनेन मूर्च्छायाः प्रारम्भकदोषेभ्योऽधिकत्वेन प्रवृद्धा दोषास्तमथ्येति बोधयति। संन्यस्यन्ति मोहयन्ति। स ना पुरुषः, संन्याससंन्यस्तः संन्यासपीडितः, काष्ठीभूत इति अत्यन्तनिष्क्रियत्वेन अकाष्ठ एव काष्ठवद्भूतः। अत एव मृतोपम इति। मुक्त्वा सद्यःफलां क्रियामिति सूचीव्यधनाञ्जनावपीडनशूकशिम्बीफलावघर्षणादिरूपा क्रिया यदि न क्रियते तदा प्राणैर्विमुच्यते, अन्यथा तु जीवतीति ॥२२-२३॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां मूर्च्छाभ्रमनिद्रातन्द्रानिदानं समाप्तम् ॥१७॥

अर्थ स्पष्ट है।

अथ पानात्ययपरमदपानाजीर्णपानविभ्रमनिदानम्।

मदात्ययस्य[1] समुत्थानमाह—

ये विषस्य गुणाः प्रोक्तास्तेऽपि मद्ये प्रतिष्ठिताः।
तेन मिथ्योपयुक्तेन भवत्युग्रो मदात्ययः ॥१॥

जो तीक्ष्णोष्ण आदि गुण विष के कहे हैं, वही गुण मद्य में भी हैं। अतः मद्य के मिथ्या उपयोग से प्रचण्ड मदात्यय रोग हो जाता है।

वक्तव्य—मिथ्योपयुक्त मद्य हानिकारक है; सम्यगुपयुक्त नहीं। इसमें कारण यह है कि शरीर में सब से अधिक सत्ताशील वस्तु, जिसके होने पर शरीर रहता है, और न होने पर नष्ट हो जाता है, ओज है। सुश्रुत ने कहा भी है कि "रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत्परं तेजस्तत्खल्वोजस्तदेव बलमिति[2]" (सु. सू. स्था. अ. १५)। इस ओज के शीत स्निग्ध आदि दश गुण होते हैं। तद्यथा—"गुरु शीतं मृदु श्लक्ष्णं बहलं मधुरं स्थिरम्। प्रसन्नं पिच्छिलं स्निग्धमोजो दशगुणं स्मृतम्" (च. चि. स्था. अ. २४)। ये दश गुण मद्य के "लघूष्णतीक्ष्णसूक्ष्माम्लव्यवायाशुगमेव च। रूक्षं विकाशि विशदं मद्यं दशगुणं स्मृतम्" (च.

---

१ नाम—सं० मदात्यय, पानात्यय; अ० खुम्र; इ० ॲल्कॉहोलिज्म् Alcoholism.
२ अथवा चरकोक्त 'हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं रक्तमीषत्सपीतकम्। शरीर ओजः संख्यातं तन्नाशान्ना प्रणश्यति' इति अष्टबिन्द्वात्मकम्। चरके हि अर्धाञ्जलिमितमपि अष्टबिन्द्वात्मकमपि चेत्युभयमप्योजः स्वीकृतमस्ति। तत्राष्टबिन्द्वात्मकन्तु 'हृदि तिष्ठतीत्यनेनोक्तम्, अर्धाञ्जलिमितञ्च 'मस्तिष्कस्यार्धाञ्जलिः'...तावदेव श्लेष्मणश्चौजस इति' (च. शा. स्था. अ. ७) अनेनोक्त

चि. स्था. अ. २४) इन दश गुणों से सर्वथा विपरीत हैं। अतः जब मद्य का अधिक उपयोग किया जाता है तो मद्य के दश गुण ओज के दश गुणों को क्षुब्ध कर चित्त को विकृत कर देते हैं, जिससे मदात्यय रोग हो जाता है। यदि मद्य कम वा मात्रा से पी जाती है, तो उसके तीक्ष्णादि गुण ओज के मृदु आदि गुणों से प्रबल नहीं होते, जिससे मदात्यय नहीं होता। इस विषय में चरक ने भी कहा है कि–"मद्यं हृदयमाविश्य स्वगुणैरोजसो गुणान्। दशभिर्दश संक्षोभ्य चेतो नयति विक्रियाम्" (च. चि. स्था. २४) इति। यह कई विद्वान् मानते हैं कि वस्तुतः मद्यपान गर्ह्य है कारण कि यह अपने ओजविरुद्ध दश गुणों से ओज के दश गुणों को क्षुब्ध कर चित्त को विकृत कर देता है। यह कहना कि मात्रा में मद्य हानिकारक नहीं है, क्योंकि उस समय मद्य के गुणों से ओज के गुण प्रबल होते हैं, जिससे मद्य हानि नहीं पहुँचा सकता, ठीक नहीं। कारण कि ओज के गुणों के प्रबल होने पर भी उनसे विरुद्ध मद्यगुण उन्हें अवश्य क्षुब्ध करते हैं। इसी भाव को लेकर चरक ने "मद्यं हृदयमाविश्य" इत्यादि कहा है। यदि यह कहें कि मात्रा में वा प्रथम मद कारक मद्य से ओजविहत नहीं होता, प्रत्युत हृदय प्रबुद्ध होता है। जैसे कि चरक ने कहा भी है कि–"ओजस्यविहते पूर्वो हृदि च प्रतिबोधिते"–(च. चि. स्था. अ. २४) इति। एवं चरकोक्तानुसार इतना मद्य विहित है तो यह भी ठीक नहीं। कारण कि प्रथम मद में भी ओज में क्षुब्धता आती है, परन्तु वह बहुत अल्प होती है। चरक का भी यही भाव है। उक्त–"ओजस्यविहते"–आदि श्लोक में नञ् 'अलवणा यवागू' 'अनुदरा कन्या' की तरह अल्पार्थवाची है, न कि निषेधवाची। इसी भाव को लक्ष्यकर वाग्भट ने इसका स्पष्टीकरण कर दिया है कि–"तीक्ष्णादिभिर्गुणैर्मद्यं मन्दादीनोजसो गुणान्। दशभिर्दश संक्षोभ्य चेतो नयति विक्रियाम्॥ आद्ये मदे"–इति (वा. नि. स्था. अ. ६); यहां आद्य मद कहने से सिद्ध है कि प्रथम मद में भी ओज के गुण क्षुब्ध होते हैं। एवं जो भी मद्य के 'किन्तु मद्यं स्वभावेन' वा 'विधिना मात्रया काले'–इत्यादि विधान वाक्य हैं, वे औषध को लक्ष्य कर कहे हैं। औषध रूप में मद्य के सेवन करने से हानि नहीं होती कारण कि उस समय उसकी आवश्यकता होती है, अन्यथा वह 'विधान' अभेषज होने से विषवत् त्याज्य है। अब इस पर यह शंका होती है कि यदि ऐसा ही है तो जब मनुष्य ने मद्य (प्रथम मदयोग्य मद्य) पी होती है, तो उसकी बुद्धि विकसित, मन हर्षित एवं मस्तिष्क कान्ति वाला क्यों हो जाता है? इसका उत्तर यही है कि यह सब शक्ति क्षुब्धता के कारण ही है, अर्थात् जब मद्य सेवन की जाती है तो वह अपने गुणों से ओज के गुणों को प्रभावित कर ओज को क्षुब्ध कर देती है, जिससे ओज अधिक कार्य करने लगता है ।. प्रतीत होने लगता है कि उक्त शक्तियाँ बढ़ गई हैं, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं

है। जब मद्य जीर्ण हो जाती है तो वे शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं प्रत्युत इतनी क्षीण हो जाती हैं कि उस मनुष्य की प्रकृतावस्था से भी कहीं अन्तर पड़ जाता है। इससे प्रतीत होता है कि वह शक्ति मद्य की उत्तेजना से ही है और उस मद्य से ओज के गुण क्षीण होते हैं, जिससे ओजोविस्रंस हो जाता है। इसी कारण मद्यप मनुष्य मद्यवेग के उतर जाने पर अपने आपको सभी प्रकार से शक्तिहीन अनुभव करता है। एवं सिद्ध होता है कि अल्प मद्य भी हानिकर ही है। इसको ठीक समझने के लिए इस दृष्टान्त को समक्ष रखिए कि दूध वाली लोहाण्डी के तले आँच देने से दूध को उबाला आता है और दूध बढ़ा हुआ प्रतीत होता है, किन्तु वस्तुतः वह बढ़ा हुआ नहीं, प्रत्युत आँच के कारण स्वल्प हुआ होता है, जैसा कि उबाला शान्त हो जाने के अनन्तर प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है। वह वृद्धि अग्नि के गुणों द्वारा दुग्ध के गुणों के उत्तेजित होने पर अधिक कार्य करने से प्रतीत होती है, किन्तु जब अग्नि का वेग कुछ शान्त हो जाता है तो प्रतीत होता है कि दूध कुछ सूख चुका है। यही हाल मद्य और ओज का है। मद्य अग्निरूप है और ओज दुग्धरूप। थोड़ा सा आँच पर रखने से दूध में क्षुब्धता होती है, और क्षीणता भी। यह बात पृथक् है कि वह अत्यल्प होने से हमें प्रतीत न हों। यही हाल मद्य और ओज का है। अत्यल्प मद्य भी ओज को क्षुब्ध एवं विस्रंसित करती है, परन्तु अत्यल्प होने से हमारी बुद्धि उसे ग्रहण नहीं कर सकती। इससे यह सिद्ध होता है कि मद्य किसी प्रकार भी स्वस्थ मनुष्य के लिए लाभदायक नहीं, प्रत्युत हानिकारक है। इसी बात को लक्ष्य में रख कर ऋषियों ने धर्म ग्रन्थों में मद्यपान को निन्दनीय माना है, यह औरों का कथन है।

मधु०—'मूर्च्छा मद्येन च विषेण च'–इति वचनान्मूर्च्छानन्तरं मद्यविकारान् मदात्ययादीनाह। ननु, कथं मद्यं मोहयतीत्याह–ये विषस्येत्यादि। ते च विषगुणा मूर्च्छाध्याये निदर्शिताः। मिथ्योपयुक्तेनेति अयथाविधिपीतेन, विधिश्चायं तद्यथा,–कुसुमितलतोपगूढैः प्ररूढनिरन्तरनवाङ्कुरनिकररोमाञ्चैर्मधुकरमधुरझङ्कारसीत्कारैर्मुक्तकण्ठकलकण्ठकूजितैर्दक्षिणसमीरणसमुल्लसितपल्लवकरप्रचारैस्तरुणतरुभिरुपकान्तलताभिरतिशोभनेषु तुषारकरकिरणराजिपराजिताशेषतापदोषेषु प्रदेशेषु[2] शृङ्गाररससमुचितालङ्कृतिकमनीयकामिनीसेवितं ललितललनोपनीयमानं सुरभिरुचिररूपरसोपदंशं कं नाम परिमितं पराध्यर्मधुपानं न सुखयति? चरके तु विस्तरेणैतदुक्तम् ॥१॥[1]

(तद्यथेति—) खिले हुए फूलों वाली लताओं के आलिङ्गनों से; सर्वदा नये २ उत्पन्न हुए अङ्कुरसमूह रूप रोमाञ्चों से; भ्रमरों के मीठे २ झंकार रूप सीत्कारों से;

१ अतः परं क्वचित्—'शुद्धकायः पिबेत्प्रातः सोपदंशं पलद्वयम्। मध्याह्ने द्विगुणं तच्च स्निग्धाहारेण पाययेत्। प्रदोषेऽष्टपलं तद्वन्मात्रा मद्यरसायने ॥ वामे रामा रमणकुशला दक्षिणे पानपात्रं चाग्रे धृत्वा मरिचलवणैश्छागलं भृष्टमांसम्। वीणानादैः परभृतकृतैः काकलीगीतयुक्तैः सोऽयं धन्यः पिबति मदिरां भैरवो यस्य तुष्टः'–इत्यधिकः पाठः. २ प्रदोषेषु.

सानन्द (पक्षियों के) मनोहर कण्ठों के कूजनों से; दक्षिण की वायु से समुल्लसित पत्र-रूप हाथों के प्रचारों से और लताओं से व्याप्त तरुण वृक्षों से अतिशोभित, चन्द्रमा की किरणावली से पराजित सम्पूर्ण सन्तापरूप दोष वाले स्थानों में, शृङ्गार के अनुकूल अलंकारों (भूषणों) से शोभित अति पेलव वा सुन्दर कामिनी से सेवित, मनोहर ललनाओं से लाया हुआ, सुगन्धयुक्त, मनोहररूप और मन्जुल रस वाला, (दांतों से काट २ कर खाए जाने वाले) भृष्ट मांस खण्ड (से) युक्त, परिमित और बहुत मूल्य वाला मद्यपान किस मनुष्य को सुख नहीं देता ?

मद्यस्य विषसाम्येऽपि युक्तियुक्तत्वेनामृतत्वमाह—

किंतु मद्यं स्वभावेन यथैवान्नं तथा स्मृतम् ।
अयुक्तियुक्तं रोगाय युक्तियुक्तं यथाऽमृतम् ॥२॥ [च० ६।२४]

विषस्य युक्तिप्रयुक्तत्वेन रसायनतामाह—

प्राणाः प्राणभृतामन्नं तदयुक्त्या हिनस्त्यसून्[1] ।
विषं प्राणहरं तच्च युक्तियुक्तं रसायनम्[2] ॥३॥ [च०६।२४]

प्रकृति से ही मद्य अन्न की तरह कहा है अर्थात् मद्य स्वभावतः अन्नवत् है । वही मद्य (वा अन्न) अयथाविधि से सेवित रोगोत्पत्ति के लिये और यथा-विधि सेवित अमृतवत् होता है । अन्न मनुष्यों का जीवन है; किन्तु दुरुपयोग से वह जीवन को नष्ट कर देता है; एवं विष बाधनरूप अभेषज होने से प्राण-हर है; परन्तु युक्तिपूर्वक औषधरूप में सेवन करने से रसायन हो जाता है ।

वक्तव्य—अब यह शङ्का होती है । कि यहां मद्य की अन्न के साथ तुलना की है । तुलना में उपमान, उपमेय और साधारण धर्मों का होना आवश्यक है; अन्यथा तुलना नहीं बनती; जैसे तुलना में कहा जाता है कि मुख चन्द्रमा की तरह आह्लादकर है, यहां सभी बातें मिलती हैं; एवं मद्य में भी विष तुल्य सभी बातें आवश्यक हैं । अतः यहां उपमान अन्न, उपमेय मद्य और साधारण धर्म युक्ति-पूर्वक सेवन से लाभ और अन्यथा हानि है । जब ऐसा है तो युक्तिपूर्वक मद्य भी लाभप्रद सिद्ध होती है; किन्तु पूर्व मद्यपान का स्वस्थावस्था में विरोध किया है; एवं या तो वह विरोध ठीक नहीं या तुलना ठीक नहीं, उभयथा दोष आता है । इसका उत्तर कुछ तो 'किन्तु मद्यं स्वभावेन' यह प्रतीक देकर पूर्व दे दिया है; शेष यहीं दिया जाता है कि—न तो पूर्वोक्त से विरोध है और न ही तुलना दूषित है, किन्तु अभिसन्धान यह है कि जिस प्रकार अन्न युक्तियुक्त लाभप्रद है उसी प्रकार मद्य भी युक्तियुक्त लाभकारी ही है । इसमें जो रहस्य है वह 'युक्तियुक्त' इसी शब्द में है । अब देखिए, युक्तियुक्त किसे कहते हैं । अन्न के युक्तियुक्त सेवन में चरक ने लिखा है कि—'उष्णं स्निग्धं मात्रावज्जीर्णे वीर्याविरुद्धमिष्टे देशे

१ निहन्त्यसून्. २ लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम् (च. चि. अ. १).

इष्टसर्वोपकरणं नातिद्रुतं नातिविलम्बितमजल्पन्नहसंस्तन्मना भुञ्जीतात्मानमभिसमीक्ष्य सम्यक्'-इति (च. वि. स्था. अ. १)। यह युक्ति है; इससे क्षुधा ठीक होती है, जिससे सब प्रकार का लाभ होता है। अब देखना है कि क्षुधा क्या है? क्षुधा स्वाभाविक व्याधि है। तद्यथाह सुश्रुतः-"स्वभावबलप्रवृत्ताः क्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्राप्रभृतयः" (सु. सू. अ. २४)। इस स्वाभाविक व्याधि का नाश अन्न करता है, पर कब? जब कि क्षुधा लगी हो, अन्यथा हानि करता है। एवं यह सिद्ध होता है कि अन्न का युक्तिपूर्वक सेवन करने से क्षुधारूप स्वभाव बल प्रवृत्त व्याधि का नाश होता है, इस प्रकार अन्न भी औषध रूप में ही सेवन किया जाता है। अब लीजिए मद्य को, मद्य किसी भी स्वाभाविक व्याधि को शान्त नहीं करता परंतु अन्य कई व्याधियों के लिये औषध रूप में प्रयुक्त होता है अतः यह भी व्याधि के समय में प्रयुक्त किया जा सकता है और तभी यह लाभप्रद है। अतः इसका युक्तिपूर्वक सेवन यही है। एवं यह सिद्ध होता है कि जिस प्रकार अन्न (क्षुधारूप) व्याधि में औषध रूप से लाभप्रद हैं उसी प्रकार मद्य भी (मदात्यय आदि) व्याधि में औषध रूप से लाभद है अन्यथा दोनों ही हानिप्रद हैं। अर्थात् स्वस्थावस्था में दोनों का प्रयोग निन्द्य है। एवं न पूर्वोक्त से विरोध है और न तुलना अशुद्ध बनती है। विशेष विवेचन ग्रन्थ की कलेवरवृद्धि के भय से यहां नहीं किया जाता।

मधु०—ननु, विषस्य ये गुणास्ते चेन्मद्येऽपि सन्ति, तर्हि विषवन्मद्यमनुपयोज्यं प्रसज्येत? अत आह—किंत्वित्यादि। यथैवान्नमिति देहधारकस्वभावं, तदेवायुक्तियुक्तमविधियुक्तं रोगाय; तस्मादहितमपि विशिष्टविधिनापयुक्तं हितं, हितमप्यविधिनोपयुक्तमनर्थाय भवतीति। अत्रैव दृष्टान्तमाह-प्राणा इत्यादि। तदयुक्त्येति अतिमात्रत्वादिना विसूच्यादिकं कृत्वा मारयतीत्यर्थः। युक्तियुक्तमिति यथा चरकरसायनप्रयोगे उक्तं-"द्वौ यवावत्र हेम्नस्तु तिलं दद्याद्विषस्य च॥" (च. चि. स्था. अ. १) इति। अत्र तिलमिति तिलप्रमाणम् ॥२-३॥

विधिप्रयुक्तमद्यस्य फलं निरूपयति—

> विधिना मात्रया काले हितैरन्नैर्यथाबलम्।
> प्रहृष्टो[1] यः पिबेन्मद्यं तस्य स्यादमृतोपमम्[2] ॥४॥ [च० ६।२४]
> स्निग्धैस्तदन्नैर्मांसैश्च भक्ष्यैश्च सह सेवितम्।
> भवेदायुःप्रकर्षाय बलायोपचयाय च ॥५॥ [सु० ६।४७]

विधिप्रयुक्तस्य मद्यस्य गुणानाह—

> काम्यता मनसस्तुष्टिस्तेजो[3] विक्रम एव च।
> विधिवत्सेव्यमाने तु मद्ये संनिहिता गुणाः ॥६॥ [सु० ६।४७]

विधि के अनुसार मात्रापूर्वक मद्यगुणों को लक्ष्य में रखकर समुचित काल में हितकर अन्नों के साथ और अपने बल के अनुसार प्रसन्न मन से जो

१ प्रहृष्टो. २ स्यादमृतं यथा. ३ धैर्यं तेजोऽतिविक्रमः.

मद्य को पीता है उसके लिए वह मद्य अमृत के समान होती है । स्निग्ध अन्न, मांस तथा अन्य भक्ष्य पदार्थों के साथ सेवित मद्य आयु तथा बल की वृद्धि के लिए होती है । सुन्दरता, मनस्तुष्टि, तेज और विक्रम ये गुण विधिपूर्वक सेवन की हुई मद्य में होते हैं ।

मधु०—विधिनोपयुक्तस्य फलमाह–विधिनेत्यादि । काल इति नित्यगे चावस्थिके च; तद्यथा–ग्रीष्मे शीतमधुरं माध्वीकादि, शीते उष्णतीक्ष्णं गौडिकपैष्टिकादि, तथा वाते स्निग्धादि, एवं वयस्युदाहार्यम् । हितैरन्नैरिति वक्ष्यमाणस्निग्धादिभिर्मद्यविपरीतगुणैः । स्निग्धैरित्युपलक्षणं तेनान्यैरपि मद्यविपरीतगुणैरिति बोद्धव्यम् । यदुक्तं सुश्रुतेन–"मद्यमम्लं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्मं विशदमेव च । रूक्षमाशुकरं चैव व्यवायि च विकाशि च ॥" (सु. उ. तं. अ. ४७) इति । अम्लरसत्वं चास्योद्भूतरसत्वेनोक्तं; यदुक्तमन्यत्र–"सर्वेषामम्लजातीनां मद्यं मूर्ध्नि व्यवस्थितम्"–इति । मूर्ध्नि व्यवस्थितमुत्कृष्टम् । अन्येऽप्यत्र रसाः सन्ति । यदाह भोजः–"मैरेयं मदिरा सीधु चतुर्थं मधु चोच्यते । एकैकं षड्रसं तत्र रसतो मद्यमीरितम्"- इति । अन्नभक्ष्यशब्दयोरुपादानेन प्रायो लेह्यं द्रवान्तरपानं च मद्यपानोचितं न भवतीति दर्शयति । अन्नभक्ष्याभ्यां लब्धेऽपि मांसे, मांसग्रहणं विशेषेण हितत्वोपदर्शनार्थम् । बलं शक्तिः, उपचयः स्थौल्यम् । अपरमपि विधिसेवागुणमाह—काम्यतेत्यादि । काम्यता कमनीयमूर्तिता, मनसस्तुष्टिः सन्तोषः । काम्यता मनस इति कमनीयवस्तुनि मनोवृत्तिः, तुष्टिश्च मनस एवेति योज्यम् । तेज उत्साहः । विक्रमः पराभिभवार्थं बलवती शरीरचेष्टा ॥४–६॥

प्रथममदस्य लक्षणमाह—

बुद्धिस्मृतिप्रीतिकरः सुखश्च पानान्ननिद्रारतिवर्धनश्च ।
संपाठगीतस्वरवर्धनश्च प्रोक्तोऽतिरम्यः प्रथमो मदो हि ॥७॥

प्रथम मद बुद्धि स्मृति प्रीति और सुख को करने वाला, पेय खाद्यादि पदार्थों में और निद्रा में रतिवर्धक, पाठ, गीत और स्वर वृद्धिकर एवं अति रमणीय होता है ।

मधु०—उक्तविधिविपर्ययेण सेव्यमानं मद्यं मदात्ययाय संपद्यते, स च त्रिविधो भवति–पूर्वो मध्यमोऽन्तिमश्चेति; तेषां क्रमेण लक्षणमाह—बुद्धीत्यादि । बुद्धिरनुभवः, स्मृतिरनुभूतार्थानुसन्धानम् । पानान्ननिद्रारतिवर्धनश्चेति पानादिषु रतिरनुरागस्तद्वर्धनः । संपाठः सम्यक् पाठः । गयदासस्तु 'संपाठ्य'–इति पठित्वा गीतनृत्यवाद्यानि मिलितानि संपाठ्यमुच्यते, गीतं तु केवलमेवेति व्याचष्टे । स्वरो ध्वनिः । प्रोक्तोऽतिरम्य इति (ननु मनोविकारकारित्वात्कथमस्यातिरम्यता ? उच्यते–) मनोविकारकारित्वेऽपि तदात्वेन दुःखापहत्वात्, अत एव सुश्रुतेन मानसविकारेषु हर्षः पठितः ॥७॥

द्वितीयमदस्य लक्षणमाह—

अव्यक्तबुद्धिस्मृतिवाग्विचेष्टः सोन्मत्तलीलाकृतिरप्रशान्तः ।
आलस्यनिद्राभिहतो मुहुश्च मध्येन मत्तः पुरुषो मदेन ॥८॥

१ बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया मतिरागामिगोचरा । प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता ॥ [illegible]तिर्भूतार्थविज्ञानं; वा अनुभवजन्यं ज्ञानं स्मृतिः.

मद्य के मद से मत्त मनुष्य अव्यक्तबुद्धि, अव्यक्तस्मृति, अव्यक्तवाणी तथा विरुद्ध चेष्टाओं वाला हो जाता है। उसकी लीला तथा आकृति उन्मत्तों जैसी हो जाती है और वह स्वयं अशान्त तथा बार २ आलस्य और निद्रा से पीड़ित होता है।

मधु०—द्वितीयमदमाह—अव्यक्तेत्यादि। विचेष्टो विरुद्धचेष्टः। उन्मत्तस्य लीलाकृतिभ्यां सह वर्तत इति सोन्मत्तलीलाकृतिः, उन्मत्तप्राय इत्यर्थः। अप्रशान्तः प्रचण्डः ॥८॥

तृतीयमदस्य लक्षणमाह—

गच्छेदगम्यांश्च गुरूंश्च मन्येत् खादेदभक्ष्याणि च नष्टसंज्ञः।
ब्रूयाच्च गुह्यानि हृदि स्थितानि मदे तृतीये पुरुषोऽस्वतन्त्रः ॥९॥

तृतीय मद में मद के आधीन मनुष्य अगमनीय गुरुपत्नी आदि वा दुष्टपान आदि में रमण, वयोवृद्ध, पिता, भ्राता आदि की अवहेलना और अभक्ष्य मांसादि शास्त्रनिषिद्ध पदार्थों को भक्षण करता है। तथा बेहोशी की दशा में हृदय में स्थित गुप्त बातों को भी कह देता है।

मधु०—तृतीयमदमाह—गच्छेदित्यादि। ननु चरके द्वितीयतृतीययोर्मध्ये मदान्तरं पठितं, यदाह—"मध्यमं मदमुत्क्रम्य मदमप्राप्य चोत्तमम्। न किंचिद[1]शुभं कुर्युर्नरा राजसतामसाः ॥ को मदं तादृशं गच्छेदु[2]न्मादमिव चापरम् ॥" (च. चि. स्था. अ. २४) इति; तत् कुतोऽत्र न पठितं ? उच्यते,—द्वितीयमदान्ते तृतीयमदस्य पूर्वावस्थैवातिनिन्दनीया, सुतरां तृतीयो मद इति प्रतिपादनार्थं तत्पठितं, न तु तयोः परमार्थतोऽन्तराले पृथङ्मदान्तरमस्ति,—यथा, "कुम्भमीनर्क्षयोर्मध्ये यदा चरति चन्द्रमाः। नाहरेत्तृणकाष्ठानि न गच्छेद्दक्षिणां दिशम्।" इति। अत्र हि कुम्भस्य शेषांशो मीनस्य प्रथमांश एतद्द्वयं मध्यशब्देनोच्यते इत्याहुर्जेज्जटादयः, हरिचन्द्रव्याख्यानं तु विस्तरत्वान्न लिखितम्। अगम्यान् गुरुदारादीन् दुष्टयानादींश्च। नष्टसंज्ञ इति संज्ञानामोल्लेखेन ज्ञानं; तन्नष्टं यस्य स तथा। गुह्यानि गोप्यानि। अस्वतन्त्रो मदपरवशः ॥९॥

चरक में द्वितीय और तृतीय मद के मध्य में एक और मद पढ़ा है, जैसे कहा भी है कि 'मध्यम मद का उल्लङ्घन कर और उत्तम मद प्राप्त होने से पूर्व राजस और तामस मनुष्य स्वल्प अशुभ करते हैं, यह नहीं प्रत्युत अत्यधिक अशुभ करते हैं, अतः दूसरे उन्माद की तरह ऐसे मद को कौन बुद्धिमान् प्राप्त करता है ? अर्थात् कोई भी नहीं' एवं इस मदान्तर को यहां क्यों नहीं कहा ? इस पर रक्षित जी कहते हैं कि दूसरे मद के अन्त में तृतीय मद की पूर्व अवस्था ही अतिनिंद्य है, परं तृतीय मदावस्था तो उससे भी निन्द्यतर है यह बतलाने के लिए उपर्युक्त श्लोक पढ़ा है, न कि वस्तुतः उनके मध्य में कोई मदान्तर है, (यह बताने के लिए पढ़ा है)। जैसे ज्योतिष शास्त्र में कहा है कि 'जब चन्द्रमा कुम्भ और मीन राशि के मध्य में फिरता है तो घास और लकड़ियाँ नहीं लानी चाहिएं और न ही दक्षिण दिशा को जाना चाहिए' इति; यहां कुम्भ के बाद मीन राशि आती है। इनके मध्य में कोई और राशि नहीं है, परन्तु श्लोक में चन्द्रमा का इनके बीच में चलना लिखा है। इससे यहां जैसे यह सिद्ध होता है कि कुम्भ का शेषांश और मीन का प्रथमांश

१ न किञ्चिन्नाशुभं. २ विद्वान्.

मध्य शब्द से लेना चाहिए वैसे ही यहाँ मदों में भी द्वितीय मद का अन्त और तृतीय मद का प्रारम्भिक अंश उक्त श्लोक से लेना चाहिए, न कि इन दोनों के मध्य में मदान्तर लेना चाहिए (इति जेज्जटादयः)। उक्त व्याख्या में पठित 'मध्यमम्' इत्यादि श्लोक में 'न किंचिदशुभं कुर्युः' यह पाठ संगत नहीं होता और इसके स्थान में चरक में 'न किञ्चिन्नाशुभं कुर्युः' यह पाठ है, जो कि प्रकरण संगत है, अतः हमने भी इसके अनुसार ही यहां अर्थ किया है।

चतुर्थमदस्य लक्षणमाह—

चतुर्थे तु मदे मूढो भग्नदार्विव निष्क्रियः।
कार्याकार्यविभागज्ञो मृतादप्यपरो मृतः ॥१०॥

दुरुपयुक्तमद्यस्य बहुदोषकरत्वमाह—

को मदं तादृशं गच्छेदुन्मादमिव चापरम्।
बहुदोषमिवामूढः कान्तारं स्ववशः कृती ॥११॥

चतुर्थ मद में मूर्ख मनुष्य, भग्नवृक्ष की तरह क्रिया रहित, अच्छे काम में बुरे काम की बुद्धि वाला वा अविवेकी और मृत सदृश हो जाता है। बहुत हिंस्र पशु आदि दोष युक्त वन की तरह बहुत सी व्याधिरूप दोष वाले ऐसे मद को जो कि दूसरे उन्माद के सदृश है, कौन कुशल, स्वतन्त्र एवं विद्वान् मनुष्य प्राप्त करना चाहता है?

मधु०—चतुर्थमदमाह—चतुर्थे त्वित्यादि। कार्याकार्यविभागज्ञः कार्यमकार्यमिति बुद्ध्या जानाति। कार्याकार्यविभागाज्ञः' इति पाठे कार्याकार्यविभागयोरज्ञ इत्यर्थः। मृतादप्यपरो मृत इति मृतमपेक्ष्यापरोऽयं मृत इव, अत्यन्ताज्ञानसाधर्म्यात्। 'अवरः' इति पाठान्तरे मृतादप्यधम इत्यर्थः, तथाविधावस्थायाः स्वयं कृतत्वात्। क इत्यादि। कः कृती कुशलः, सुकृती वा, कृतकृत्यो वा; स्ववशोऽपराधीनः, तादृशमुक्तप्रकारेण निन्दितं मदं, गच्छेत् प्राप्नुयात्; न कश्चिदेवंविधं प्राप्नुयादित्यर्थः। कमिवेत्याह—बहुदोषमिवामूढः कान्तारमिति बहुदोषं हिंस्रादियुक्तं, कान्तारं दूरशून्यमध्वानम्। यदुक्तं चरके—"गच्छेदध्वानमस्वन्तं बहुदोषमिवाऽध्वगः॥" (च. चि. स्था. अ. २४) इति, एवं विदेहेऽपि पठितमिति। अत्रास्वन्तमशोभमानमनिष्टफलत्वेन। ननु, चरकविदेहवाग्भटादिभिश्चतुर्थो मदो न पठितस्तत्कथं सुश्रुतेन पठितः? उच्यते, चरके या द्वितीयतृतीययोरन्तरालावस्था पठिता, सैव सुश्रुतेन तृतीयो मद इति कृत्वा पठितः, यस्तु चरके तृतीयः स च सुश्रुते चतुर्थः पठित इत्यविरोधः। वस्तुगत्या तु त्रय एव मदा इत्युपपादितम्। ननु, किंकारणमेतत्त्रैविध्यमिति चेत्? उच्यते, मद्यं हि वह्नितुल्यं, यथा, ह्यग्निः सुवर्णानामुत्तममध्यमाधमानामभिव्यञ्जकस्तथा मद्यमपि प्राणिनां सत्त्वरजस्तमोभूयिष्ठानां क्रमेणाभिव्यञ्जकमिति। तथाहि चरकः—"प्रधानाधममध्यानां रुक्माणां व्यक्तिदर्शकः। यथाऽग्निरेवं सत्त्वादेर्मद्यं प्रकृतिदर्शकम्॥" इति। (च. चि. स्था. अ. २४)। तस्मात् प्रथमद्वितीयतृतीयमदाः सत्त्वरजस्तमोभूयिष्ठानां क्रमेण भवन्तीत्यर्थः ॥१०-११॥

---

१ विद्वान्. २ नास्तिशोभनमन्तमवसानं परिणामं वा यस्य तमित्यर्थः. ३ अवर. ४ रूपाणां. ...नानां.

चरक विदेह और वाग्भट आदि आचार्यों ने चौथा मद नहीं माना, फिर सुश्रुत ने क्यों माना है ? इसका उत्तर यह है कि चरक में जो द्वितीय और तृतीय मद के बीच अवस्था कही है, वही सुश्रुत ने तीसरा मद माना है और जो चरक में तीसरा मद है, वह सुश्रुत ने चौथा माना है, अतः विरोध नहीं है। वस्तुतः मद तीन ही होते हैं । मदों की त्रिविधता में क्या कारण है ? इसका उत्तर यह है कि मद्य अग्नि के सदृश है। एवं जैसे अग्नि उत्तम, मध्यम और अधम सुवर्णों का परिचायक होता है, उसी प्रकार मद्य भी सत्त्व, रज और तम प्रधान प्राणियों का क्रमशः परिचायक है। चरक ने भी कहा है कि प्रधान, अधम और मध्य सुवर्णों का परिचायक जैसे अग्नि है, वैसे ही मद्य भी सत्त्व, रज और तम प्रकृतियों का परिचायक है। अतः प्रथम, द्वितीय और तृतीय मद सत्त्वप्रकृति, रजःप्रकृति और तमःप्रकृति वाले मनुष्यों को क्रमशः होते हैं।

दुरुपयुक्तमद्यस्य विकारान्तरजनकत्वमाह—

निर्भक्तमेकान्तत एव मद्यं
निषेव्यमाणं मनुजेन नित्यम्।
आपादयेत् कष्टतमान्विकारा-
नापादयेच्चापि शरीरभेदम् ॥१२॥ [सु० ६।४७]

भोजन के बिना ही अकेली सेवन की हुई मद्य अति दुःखद पानात्यय आदि विकारों को उत्पन्न कर देती है; और शरीर को भी नष्ट कर देती है। अर्थात् जो मनुष्य हमेशा भोजन से पूर्व अकेली मद्य का सेवन करता है, उसे पानात्यय आदि रोग हो जाते हैं और इससे उसका शरीर भी नष्ट हो जाता है।

मधु०—अविधिमद्यपानस्य विकारान्तरहेतुत्वमाह—निर्भक्तमित्यादि । ननु, अयमर्थः स्निग्धैस्तदन्नैरित्यादिना यदुक्तं तद्विपर्ययेणैव लब्धः, तत्कथं पुनरुच्यते ? नैवं, पूर्वं मद्यपानगुणाभिधानार्थमुक्तं, इदं तु कृच्छ्रतमव्याधिकर्तृत्वाभिधानार्थमिति भेदः। यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इत्यभिप्रायः। कष्टतमान्विकारानिति वक्ष्यमाणपानात्ययादीन्। भेदं विनाशं शरीरस्य ॥१२॥

जो 'निर्भक्तम्' इत्यादि श्लोक में अर्थ बताया है, वही अर्थ 'स्निग्धैस्तदन्नैः' इत्यादि कथित अर्थ के विपर्यय से मिल जाता है। जब ऐसा है तो पुनः यहां उसी अर्थ को क्यों कहा ? (उत्तर—) यहां पुनरुक्ति नहीं है, कारण कि पूर्व अभिधान मद्यपान के गुणों को बताने के लिये किया था और यहां कृच्छ्रतम व्याधिकारकपन बताने के लिये किया है, यह इन दोनों कथनों में भेद है; क्योंकि शब्द जिस बात को लक्ष्य रख कर उच्चारण किया जाता है, वही उस शब्द का अर्थ होता है। अतः पूर्वोक्त के गुणों का कथन और इसका कष्टतम विकारोत्पादक लक्ष्य होने से दोनों के ये भिन्न २ अर्थ हैं; एवं पौनरुक्त्य दोष 'निर्भक्तम्' में नहीं होता।

क्रोधादिसत्त्वे साम्नोपयुक्तमद्यस्यापि विविधविकारकारितामाह—

क्रुद्धेन भीतेन पिपासितेन
शोकाभितप्तेन बुभुक्षितेन।
व्यायामभाराध्वपरिक्षतेन
वेगावरोधाभिहतेन चापि ॥१३॥ [सु० ६।४७]

अत्यम्बुभक्ताववततोदरेण
साजीर्णभुक्तेन तथाऽबलेन ।
उष्णाभितप्तेन च सेव्यमानं
करोति मद्यं विविधान्विकारान् ॥१४॥ [सु० ६।४७]

क्रुद्ध, भीत, तृषित, शोकाभिभूत, क्षुधित, व्यायाम, भार और मार्ग (चलने) से थके, मूत्रादि वेगावरोध पीड़ित, अधिक जल और भोजन से पूर्ण पेट वाले, अजीर्ण भोजी, निर्बल और गर्मी से सन्तप्त मनुष्य से सेवित मद्य अनेक पानात्यय प्रभृति विकारों को कर देती है ।

मधु०—अन्नसहितस्यापि मद्यस्य क्रुद्धत्वादिकारणसहितस्य विकारकारित्वप्रदर्शनार्थमाह-क्रुद्धेनेत्यादि । परिक्षतेन क्षीणेन । अवततं व्याप्तम् । विविधान् विकारान् पानात्ययादीनिति॥ १३-१४॥

दुरुपयुक्तमद्यजान् विकारान् दर्शयति—

पानात्ययं परमदं पानाजीर्णमथापि वा ।
पानविभ्रममुग्रं च तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥१५॥ [सु० ६।४७]

वे विकार पानात्यय, पानाजीर्ण और उग्र पानविभ्रम होते हैं । अब उनके पृथक् २ लक्षण कहे जाते हैं ।

मधु०—तानेव विवृणोति—पानात्ययमित्यादि । ननु, अयमर्थः 'आपादयेत्कष्टतमान्विकारान्'—इत्यनेनैवोक्तत्वात् कथं पुनरुक्तः ? उच्यते, पूर्वेण कष्टतमविकारकारित्वमुक्तम्, अनेन तु नानाविधविकारकारित्वमिति भेदः ॥१५॥

जो अर्थ 'क्रुद्धेन' इत्यादि श्लोकों से निकलता है, वही अर्थ 'आपादयेत्' इत्यादि से प्रतिपादित होने के कारण पुनः क्रुद्धेनेत्यादि क्यों कहा ? इसका उत्तर यह है कि पूर्व कथन से कष्टतम विकारकारित्व कहा है और इससे नानाविध विकारकारित्व, यही इनका भेद है ।

वातिकमदात्ययस्य रूपमाह—

हिक्काश्वासशिरःकम्पपार्श्वशूलप्रजागरैः ।
विद्याद्बहुप्रलापस्य वातप्रायं मदात्ययम् ॥१६॥

पैत्तिकमदात्ययस्य रूपमाह—

तृष्णादाहज्वरस्वेदमोहातीसारविभ्रमैः ।
विद्याद्धरितवर्णस्य पित्तप्रायं मदात्ययम् ॥१७॥

श्लैष्मिकमदात्ययस्य लक्षणमाह—

छर्द्यरोचकहृल्लासतन्द्रास्तैमित्यगौरवैः ।
विद्याच्छीतपरीतस्य कफप्रायं मदात्ययम् ।

त्रिदोषजमदात्ययं लक्षयति—

ज्ञेयस्त्रिदोषजश्चापि सर्वलिङ्गैर्मदात्ययः ॥१८॥

१ अत्यम्ल.

बहुत प्रलापी मनुष्य को वातिक मदात्यय। हिक्का, श्वास, शिरःकम्प, पार्श्वशूल और निद्रानाश के साथ होता है। हरितवर्ण वाले मनुष्य को पैत्तिक मदात्यय पिपासा, दाह, ज्वर, स्वेद, मूर्च्छा, अतिसार और विभ्रम इनके साथ होता है। शीत से व्याप्त मनुष्य को श्लैष्मिक मदात्यय वमन, अरोचक, हृल्लास, तन्द्रा, स्तिमितता और गौरव इनके साथ होता है। एवं सान्निपातिक मदात्यय सभी लक्षणों वाला होता है। इसका भाव यह है कि वातिक मदात्ययादि में हिक्का आदि के साथ बहुप्रलापादि अर्थात् वात में बहुप्रलाप, पित्त में हरितवर्ण और कफ में शीताधिक्य भी होते हैं, साथ ही यह विशेष लक्षण हैं।

मधु०—तेषामुद्दिष्टानां लक्षणमाह—हिक्केत्यादि। प्रजागरो निद्राविच्छेदः। वात प्रायमित्यनेन सर्वे मदात्ययास्त्रिदोषजा उद्भूतत्वेन व्यपदेश इति चरके दर्शितम्। यदाह—"ये विषस्य गुणाः प्रोक्ताः सर्वदोषप्रकोपनाः॥" इत्यारभ्य, यावत् "सर्वं मदात्ययं विद्यात्-त्रिदोषम्" (च. चि. स्था. अ. २४) इति। एवं चरकसंवादात्सुश्रुतेऽपि बोध्यम्। विभ्रमो भ्रमः। हरितवर्णस्येत्यनेन हरितवर्णताऽपि लक्षणम् ॥१६-१८॥

परमदस्य लक्षणमाह—

श्लेष्मोच्छ्रयोऽङ्गगुरुता विरसास्यता च
विण्मूत्रसक्तिरथ तन्द्रिररोचकश्च।
लिङ्गं परस्य च मदस्य वदन्ति तज्ज्ञा-
स्तृष्णा रुजा शिरसि सन्धिषु चापि भेदः॥१९॥

नासास्राव आदि श्लैष्मिक कार्यों की अधिकता, शरीर में गौरव, मुख का स्वाद बिगड़ जाना, मलमूत्र की अप्रवृत्ति (अवरोध), तन्द्रा, अरोचक, पिपासा, शिर में पीड़ा और सन्धियों में भेद, ये परमद के लक्षण हैं (जो कि विद्वानों ने कहे हैं)।

मधु०—परमदमाह—श्लेष्मोच्छ्रय इत्यादि। श्लेष्मोच्छ्रयश्चात्र नासास्रावादिना ज्ञेयः। सक्तिः सङ्गः, अप्रवृत्तिरिति यावत्। तन्द्रिस्तन्द्रा। परस्य मदस्येति परमदस्य; छन्दोनुरोधाद-समासनिर्देशः ॥१९॥

'परस्य मदस्य' यहां छन्द को ठीक करने के लिए समास नहीं किया।

पानाजीर्णस्य लक्षणं वर्णयति—

आध्मानमुग्रमथ चोद्गिरणं विदाहः
पानेऽजरां समुपगच्छति लक्षणानि।

१ ऊष्माणमङ्गगुरुतां विरसाननत्वं श्लेष्माधिकत्वमरुचिं मलमूत्रसङ्गम्। लिङ्गं परस्य तु मदस्य वदन्ति तज्ज्ञास्तृष्णां रुजां शिरसि सन्धिषु चापि भेदः. २ आध्मानमुद्गिरणमम्लरसो विदाहोऽजीर्णस्य पान- तस्य वदन्ति लिङ्गम्.

उग्र आध्मान, वमनों वा उद्गारों का आना और अन्न का विदाह ये लक्षण मद्य के जीर्ण न होने पर अर्थात् पानाजीर्ण में होते हैं।

मधु०—पानाजीर्णमाह—आध्मानमित्यादि । उद्गिरणं वान्तिः, उद्गारो वा । पाने मद्ये, अजीर्णमुपगच्छति अपक्वत्वमुपगच्छतीति पानाजीर्णविकार इत्यर्थः ॥

पानविभ्रमस्य लक्षणमाह—

हृद्गात्रतोदकफसंस्रवकण्ठधूमा
मूर्च्छावमिज्वरशिरोरुजनप्रदाहाः ॥२०॥
द्वेषः सुरान्नविकृतेष्वपि तेषु तेषु
तं पानविभ्रममुशन्त्यखिलेन धीराः ।

हृदय और गात्र में सुइयों की चुभन, मुखादि से कफ का स्राव, गले से धूम निकलने की-सी पीड़ा, मोह, वमन, ज्वर, शिरोव्यथा, प्रदाह और सुरा मैरेय वारुणी आदि उन २ मद्य के विकारों में तथा लड्डू, कचौरी आदि उन २ भोजन के विकारों में द्वेष होना जिस रोग में होता है, उसको धीर विद्वान् पानविभ्रम कहते हैं ।

मधु०—पानविभ्रममाह—हृदित्यादि कण्ठधूमः कण्ठाद्धूमनिर्गमवत्पीडा। शिरोरुजनं शिरःशूलम् । सुरान्नविकृतेष्विति सुराविकृतेष्वन्नविकृतेषु च, भावे क्तः । तेषु तेष्विति नानाविकारेषु सुरामैरयपिष्टकलड्डुकादिषु । उशन्ति इच्छन्ति । एते च परमदादयस्त्रयो न चरके पठिताः, सन्निपातजेऽन्तर्भूतत्वात्; सुश्रुतेन तूक्तत्रिदोषजमदात्ययात्पृथगेते पठिताः, विकृत्या पूर्वलक्षणवैलक्षण्याभिधानार्थमित्याहुः ॥२०॥

पानात्ययादीनां प्रत्याख्येयतालक्षणान्याह—

हीनोत्तरौष्ठमतिशीतममन्ददाहं
तैलप्रभास्यमपि पानहतं त्यजेत्तु ॥२१॥ [सु० ६।४७]
जिह्वौष्ठदन्तमसितं त्वथवाऽपि नीलं
पीते च यस्य नयने रुधिरप्रभे वा ।

जिस मदात्यय के रोगी का ऊपर का ओष्ठ लटकने लग गया हो और जो बाहर से अतिशीत तथा अन्दर से अतिदाह वाला; वा भीतर से अतिशीत और बाहर अतिदाह वाला हो एवं जिसका मुख तैलाक्त दीखने लगे उस पानहत को वैद्य छोड़ दे अर्थात् उसकी चिकित्सा न करे और जिसके जिह्वा, दाँत और ओष्ठ काले हो गए हों वा नीले हो गए हों तथा जिसके नेत्र पीतवर्ण वा रक्त के समान लाल हो गए हों उस पानहत को वैद्य छोड़ दे ।

मधु०—असाध्यलक्षणमाह—हीनेत्यादि । हीनोत्तरौष्ठं प्रलम्बमानोपरितनौष्ठम् । अतिशीतं बहिः, अमन्ददाहमभ्यन्तरे, तैलप्रभास्यं तैलाक्तमुखमिव ॥२१॥

१ हृद्गात्रतोदवमथुज्वरकण्ठधूममूर्च्छाकफस्रवणमूर्धरुजोविदाहः. २ विजलात्.

पानात्ययादीनामुपद्रवानाह—

हिक्काज्वरौ वमथुवेपथुपार्श्वशूलाः
कासभ्रमावपि च पानहतं भजन्ते ॥२२॥ [सु० ६।४७]

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने पानात्ययपरमदपाना-
जीर्णपानविभ्रमनिदानं समाप्तम् ॥१८॥

हिक्का, ज्वर, वमन, कम्पन, पार्श्वशूल, कास और भ्रम ये रोग पानहत मनुष्य में उपद्रव रूप से आ जाते हैं।

मधु०—उपद्रवानाह—हिक्केत्यादि । एतैः कृच्छ्रसाध्यं भवति नत्वसाध्यम्; असाध्यलक्षणेभ्यः पृथक्पाठादिति जेज्जटः। ध्वंसकविक्षेपकाख्यौ मद्यविकारौ चरके पृथक् पठितौ; तद्यथा—"विच्छिन्नमद्यः सहसा योऽतिमद्यं निषेवते । ध्वंसो[1] विक्षेपकश्चैव रोगस्तस्योपजायते ॥ श्लेष्मप्रसेकैः[2] कण्ठास्यशोषः शब्दासहिष्णुता । तन्द्रानिद्राभियोगश्च ज्ञेयं ध्वंसकलक्षणम् ॥ हृत्कण्ठरोधैः[3] संमोहश्छर्दिरङ्गरुजा ज्वरः । तृष्णा कासैः[4] शिरःशूलमेतद्विक्षेप[5]-लक्षणम् ॥" (च. चि. स्था. अ. २४) इति; तौ च सुश्रुतेन—"विच्छिन्नमद्यः सहसा योऽतिमद्यं निषेवते । तस्य पानात्ययोद्दिष्टा विकाराः संभवन्ति हि ॥" (सु. उ. तं. अ. ४७) इत्यनेन संगृहीतौ बोद्धव्यौ। न वा चिकित्साभेदस्तयोरुक्तः, यतश्चरक एवोक्तवान्—"तयोः कर्म चिकित्सा[6] च वातिके यन्मदात्यये ॥" (च. चि. स्था. अ. २४) इति ॥२२॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां पानात्ययपरमदपाना-
जीर्णपानविभ्रमनिदानं समाप्तम् ॥१८॥

ध्वंसक और विक्षेपक इन नामों वाले दो मद्यविकार चरक ने पढ़े हैं, जिनके लक्षणादि "विच्छिन्न" इत्यादि से बताए हैं । तद्यथा—विच्छिन्न मद्य वाला (गत मद वेग वाला) जो मनुष्य पुनः एकदम बहुत सारी मद्य पी लेता है, उसे ध्वंस और विक्षेपक नामक दो रोग हो जाते हैं। उनमें से ध्वंसक का लक्षण कफस्राव, कण्ठशोष, मुखशोष, शब्द की असहिष्णुता, तन्द्रायोग और निद्रायोग से जानना चाहिए अर्थात् श्लेष्मप्रसेक आदि ध्वंसक के लक्षण हैं। विक्षेपक का लक्षण—हृदय का रोध, कण्ठ का अवरोध, संमोह, वमन, अङ्गपीड़ा, ज्वर, पिपासा, कास और शिरःशूल होना विक्षेपक का लक्षण है। ये दोनों ही सुश्रुत ने 'विछिन्नमद्यः' इत्यादि श्लोक से ही संगृहीत कर लिए हैं । वे लिखते हैं कि-'विच्छिन्न मद्य वाला जो मनुष्य पुनः एकदम बहुत सी मद्य पी लेता है, उसे पानात्यय अधिकार में कथित विकार हो जाते हैं'। एवं उन दोनों का अन्तर्भाव सुश्रुत ने यहीं कर लिया है। उनका चिकित्सा भेद भी नहीं है। जैसे चरक ने कहा भी है कि इन दोनों का कर्म और चिकित्सा जो वातिक मदात्यय में कही हैं वही है।

---

१ ध्वंसको विट्क्षयश्चैव. २ श्लेष्मप्रकोपः. ३ रोगः. ४ कालः. ५ विट्क्षयलक्षणम्. ६ तदेवेष्ट.

अथ दाहनिदानम् ।

मद्यजदाहस्य लक्षणमाह—

त्वचं प्राप्तः[1] स पानोष्मा पित्तरक्ताभिमूर्च्छितः ।
दाहं प्रकुरुते घोरं पित्तवत्तत्र भेषजम् ॥१॥

पित्त और रक्त से कुपित होकर त्वचा में प्राप्त मद्यपान से पैदा हुई ऊष्मा घोर दाह को उत्पन्न करती है । इस दाह में पित्त की तरह चिकित्सा करनी चाहिए । भाव यह है कि—पित्तवृद्धि में जिस प्रकार चिकित्सा की जाती है, उसी प्रकार यहां भी करनी चाहिए ।

मधु०—मदात्ययेऽपि दाहो भवत्यतः सप्तप्रकारं दाहमाह । तत्र मद्यजमाह—त्वचमित्यादि । पानोष्मा मद्यपानकुपितपित्तस्यौष्ण्यं; समानोष्मेति पाठान्तरमयुक्तं, सुश्रुते पानात्यये श्लोकस्यास्य पाठात् । पित्तजोऽप्ययं हेतुभेदात्पृथक् पठितः ॥१॥

रक्तजदाहस्य स्वरूपमाह—

कृत्स्नदेहानुगं रक्तमुद्रिक्तं दहति ध्रुवम् ।
स उष्यते[2] तृष्यते च ताम्राभस्ताम्रलोचनः ॥२॥
लोहगन्धाङ्गवदनो वह्निनेवावकीर्यते ।

दूषित वा बढ़ा हुआ रक्त सम्पूर्ण देह में जाकर दाह को उत्पन्न कर देता है, जिससे कि रोगी समीपस्थ अग्नि के सन्ताप जैसी गर्मी से सन्तप्त होता है तथा उसे पिपासा लगती है और उसके शरीर तथा नेत्रों की कान्ति ताम्र वर्ण की हो जाती है । एवं उसके अङ्गों और मुख से लोह की सी गन्ध आने लगती है और वह अपने अङ्गों को अग्नि से आच्छादित-सा मानता है ।

मधु०—रक्तजमाह—कृत्स्नेत्यादि । स उष्यते समीपस्थेनैव वह्निना तप्यते, संचूष्यत इति पाठान्तरे आचूषणवद्वेदनामनुभवति । ताम्राभ इति गात्रे । लोहगन्धाङ्गवदन इति लोहस्येव गन्धोऽङ्गे वदने च यस्य स तथा ॥२॥

पित्तजदाहस्य रूपमाह—

पित्तज्वरसमः पित्तात्स चाप्यस्य विधिः स्मृतः[3] ॥३॥

पित्त से होने वाला दाह पैत्तिक ज्वर के समान लक्षणों वाला होता है, और पैत्तिक ज्वर सदृश ही इसकी चिकित्सा पद्धति है ।

मधु०—पित्तजमाह—पित्तेत्यादि । पित्तज्वरसमः पित्तज्वरलिङ्गयुक्तः, पित्तज्वरे त्वामाशयदुष्ट्यादयोऽधिका इति भेदः । स चाप्यस्य विधिरिति पित्तज्वरचिकित्सा ॥३॥

पैत्तिक दाह से पैत्तिक ज्वर में आमाशय दुष्टि आदि लक्षण अधिक होते हैं और यही इनका परस्पर भेद है ।

---

१ प्राप्तस्तु. २ संचूष्यते दह्यते. ३ हितः.

तृष्णानिरोधजस्य दाहस्य लक्षणमाह—

तृष्णानिरोधादब्धातौ क्षीणे तेजः समुद्धतम्[१]।
स बाह्याभ्यन्तरं देहं प्रदहेन्मन्दचेतसः[२] ॥४॥
संशुष्कगलताल्वोष्ठो जिह्वां निष्कृष्य वेपते[३]।

पिपासा को रोकने से जलीय धातु (रस) के क्षीण हो जाने पर बढ़ी हुई पित्त की ऊष्मा देह को बाहर से तथा अन्दर से दाह पहुंचाती है। तदनु मन्द बुद्धि (पिपासा धारणज रोग ज्ञानानभिज्ञ होने से) वा मन्द संज्ञ (दाह के कारण) तथा अति शुष्क गल, तालु और ओष्ठों वाला मनुष्य जिह्वा को निकाल कर काँपता है अर्थात् गल आदि के अधिक शुष्क होने से जिह्वा को निकाल कर बलपूर्वक अतिवेग से श्वास लेता है, जिससे शरीर कांपता है अथवा व्याधि के प्रभाव से कम्पन होती है।

मधु०—तृष्णानिरोधजमाह—तृष्णेत्यादि। तेजः समुद्धतं पित्तोष्मा वृद्ध इत्यर्थः। निष्कृष्य निःसार्य ॥४॥

शस्त्रप्रहारप्रस्रुतरक्तपूर्णकोष्ठजं दाहमाह—

असृजः पूर्णकोष्ठस्य दाहोऽन्यः स्यात्सुदुस्तरः[४] ॥५॥

शस्त्र आदि के क्षत से प्रवाहित रक्त से परिपूर्ण कोष्ठ वाले मनुष्य का दाह सुदुस्तर (अत्यन्त कृच्छ्रसाध्य) होता है।

मधु०—अवगाढशस्त्रप्रहारजनितरक्तपूर्णकोष्ठजमाह—असृज इत्यादि। न चोक्तरक्तजेनास्य पौनरुक्त्यं, कृत्स्नदेहानुगमिति वचनात् कारणभेदाच्च। असृजः पूर्णकोष्ठस्येति "पूरणगुणसुहितार्थ"–इत्यादिना ज्ञापकेन कर्तरि षष्ठी, रक्तेन पूरितकोष्ठस्येत्यर्थः। कोष्ठशब्देन हृदयादयो गृह्यन्ते। यदाह सुश्रुतः–"स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च। हृदुण्डुकः फुप्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते॥" (सु. चि. स्था. अ. २) इति ॥५॥

पहले 'कृत्स्नदेहानुगम्' इस श्लोक में रक्तज दाह कहने पर भी पुनः इस रक्तज दाह के कथन में पुनरुक्ति दोष की शंका नहीं करनी चाहिए; क्योंकि उसमें 'कृत्स्नदेहानुग' कहा है तथा इनका कारण परस्पर भिन्न २ है।

धातुक्षयजनितदाहस्य स्वरूपमाह—

धातुक्षयोक्तो यो दाहस्तेन मूर्च्छातृडर्दितः[५]।
क्षामस्वरः क्रियाहीनः स सीदेद्भृशपीडितः[६] ॥६॥

रस आदि धातुओं के क्षीण होने पर जो दाह होता है, उससे उत्पन्न (उपद्रव रूप में) मूर्च्छा और पिपासा से पीड़ित, क्षीण स्वर वाला, निश्चेष्ट एवं पीड़ित वह मनुष्य अत्यधिक दुःखी होता है; अथवा क्रियाहीन अर्थात् दाह से अतिपीड़ित वह मनुष्य यदि चिकित्साहीन हो तो मर जाता है।

१ समुत्थितम. २ दहेद्दै. ३ चेष्टते. ४ दाहो भवति दुःसहः. ५ तृषान्वितः ६ भृशं सी

मधु०—धातुक्षयजमाह—धात्वित्यादि। धातवो रसादयः। क्रियाहीनो निश्चेष्टः; किंवा भृशपीडितो दाहेन क्रियाहीनश्चिकित्साहीनो यदि भवेत्तदा सीदेन्म्रियत इत्यर्थः ॥६॥

मर्माभिघातजदाहमाह—

मर्माभिघातजोऽप्यस्ति सोऽसाध्यः सप्तमो मतः।[1]

दाहानामसाध्यतामाह—

सर्व एव च वर्ज्याः स्युः शीतगात्रस्य देहिनः ॥७॥[2]

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने दाहनिदानं समाप्तम् ॥१६॥

एक मर्माभिघातज नामक सातवां दाह भी होता है, जो कि असाध्य है। शीतगात्र वाले मनुष्य में होने वाले सभी दाह वर्ज्य (असाध्य) होते हैं।

मधु०—मर्माभिघातजमाह—मर्मेत्यादि। मर्माणि शिरोहृदयबस्त्यादीनि। जेज्जटस्तु सप्तत्वमन्यथा गणयति–'त्वचं प्राप्त' इत्यादिना प्रथमः, 'कृत्स्नदेहानुगं रक्तम्'–इत्यत्र रक्तस्थाने पित्तं पठित्वा एतदादिना 'स चाप्यस्य विधिः स्मृतः' इत्यन्तेन पैत्तिको द्वितीयः, तृष्णानिरोधजस्तृतीयः, 'असृजः पूर्णकोष्ठस्य' इति चतुर्थः, धातुक्षयजः पञ्चमः, षष्ठस्य तु क्षतजस्य लक्षणं पठति–"क्षतजोऽनश्नतश्चान्नं शोचतश्चाप्यनेकधा। तेनान्तर्दह्यतेऽत्यर्थं तृष्णादाहप्रलापवान्" इति, मर्माभिघातजस्तु सप्तम इति ॥७॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां दाहनिदानं समाप्तम् ॥१६॥

अथोन्मादनिदानम्।

उन्मादशब्दस्य[3] निरुक्तिमाह—

मदयन्त्युद्धता[4] दोषा यस्मादुन्मार्गमागताः[5]।
मानसोऽयमतो व्याधिरुन्माद इति कीर्तितः[6] ॥१॥ [सु० ६।६२]

बढ़े हुए एवं मनोवह धमनियों में आए हुए दोष मनोविभ्रम कर देते हैं। अतः यह (मनोविभ्रमरूप व्याधि) मानसिक व्याधि है और इसका नाम उन्माद है।

मधु०—मदात्यये 'उन्मादमिव चापरम्'–इत्यनेनोन्मादसंकीर्तनमुन्मादसादृश्यं चोक्तं, तया मदात्ययेऽपि दाहो भवतीति स्वल्पवक्तव्यतया दाहमभिधायोन्मादारम्भः, तस्य निरुक्तिमाह—मदयन्तीत्यादि। मदयन्ति मनोविभ्रमं कुर्वन्ति, उन्मार्गमागता विमार्गमागता मनोवहधमनीरनुप्राप्ताः। उद्धता वृद्धाः, अथवोर्ध्वं हृदयं गताः, एतेनोत्पूर्वेणैव[7] दोषाणां वृद्धत्वं विमार्गगत्वं च दर्शितम् ॥१॥

उन्मादस्य भेदानाह—

एकैकशः[8] सर्वशश्च[9] दोषैरत्यर्थमूर्च्छितैः।
मानसेन च दुःखेन स च पञ्चविधो मतः[10] ॥२॥ [सु० ६।६२]

---

१ स चासाध्यतमः स्मृतः. २ शीतगात्रेषु देहिषु. ३ नाम—सं० उन्माद, अ० जनुन, पं० पागलपन, इ० इन्सानिटी (Insanity). ४ उद्धताः. ५ आश्रिताः. ६ कीर्त्यते. ७ तेन ततः पूर्वेणैव. ८ एकशोऽथ. ९ समस्तैश्च. १० स पञ्चविध उच्यते.

विषाद्भवति षष्ठश्च यथास्वं तत्र भेषजम् ।
स चाप्रवृद्धस्तरुणो मदसंज्ञां बिभर्ति च ॥३॥ [सु० ६।६२]

वात आदि एक २ दोष से तीन, अतिकुपित सब दोषों से एक, मानसिक विकार (दुःखादि) से एक, विष से एक, एवं छः प्रकार का उन्माद होता है। इनमें उन २ दोषों के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए। वही उन्माद जब तक बढ़ नहीं जाता तब तक 'मद' इस नाम से कहलाता है।

मधु०—प्रकारभेदमाह—एकैकश इत्यादि। मानसेन च दुःखेनेति शोकादिना। स चेति षड्विधोऽपि। अत्राप्रवृद्धपदमुपादायापि तरुणपदप्रयोगं कुर्वता सुश्रुतेन स्वतन्त्रोऽपि दोषजनितो मदो भवतीति दर्शितम्। अत एव चरके विधिशोणितीयाध्याये (च. सू. स्था. अ. २४) उन्मादात्पृथगेव पठितः सनिदानचिकित्सित इति ॥२-३॥

उन्मादस्य सामान्यनिदानमाह—

विरुद्धदुष्टाशुचिभोजनानि
प्रधर्षणं देवगुरुद्विजानाम् ।
उन्मादहेतुर्भयहर्षपूर्वो
मनोऽभिघातो विषमाश्च चेष्टाः ॥४॥ [च० ६।६]

विरुद्ध;-क्षीर मत्स्यादि, संयोगादि विरुद्ध द्रव्य और सममधुघृतादि मात्राविरुद्ध, पदार्थों के सेवन से, दुष्ट—गरादियुक्त अन्नादि के सेवन से, अपवित्र भोजन के सेवन से और देवता, गुरु तथा ब्राह्मणों का तिरस्कार करने से उन्माद नामक रोग होता है। इसमें भयपूर्वक वा हर्षपूर्वक मनोऽभिघात होता है, तथा चेष्टाएँ विषम होती हैं।

मधु०—सामान्यहेतुमाह—विरुद्धेत्यादि। दुष्टं गरसहितमन्नादि। प्रधर्षणं 'धृष' प्रधर्षणे, इत्यस्मात् प्रधर्षणमभिभवः। भयहर्षपूर्वो मनोभिघात इति भयहर्षाभ्यां मनसोऽभिभवः, भयहर्षपूर्व इति भयं हर्षो द्वौ वा पूर्वौ यस्य स तथा, पूर्वशब्दोऽत्र कारणवाची; चकारोऽत्र लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः, तेन कामक्रोधलोभादयोऽपि कारणमिति जेज्जटः; अन्ये त्वाहुः—क्रोधादिभिरपि भयहर्षपूर्वक एव भवतीति, तेन तौ निर्दिष्टौ। विषमाश्च चेष्टा इति विषमाङ्गन्यासबलवद्विग्रहादय उन्मादहेतव इति योज्यम् ॥४॥

उन्मादस्य संप्राप्तिमाह—

तैरल्पसत्त्वस्य मलाः प्रदुष्टा
बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य ।
स्रोतांस्यधिष्ठाय मनोवहानि
प्रमोहयन्त्याशु[1] नरस्य चेतः ॥५॥ [च० ६।६]

---

१ प्रमोहयन्तीह.

उन पूर्वोक्त कारणों से अल्प सत्त्व वाले मनुष्य के प्रदुष्ट दोष बुद्धि के स्थान हृदय को दूषित कर और मनोवह स्रोतों में जाकर मनुष्य के चित्त को शीघ्र ही मोहयुक्त कर देते हैं।

मधु०—संप्राप्तिमाह—तैरित्यादि। तैरुक्तहेतुभिः। अल्पसत्त्वस्य अल्पसत्त्वगुणस्येति चक्रः; जेज्जटस्त्वाह—सत्त्वं मनः, तस्य चाल्पत्वं रजस्तमोभ्यामावृतत्वेनाल्पज्ञानजनकत्वात्। मला वातादयः। बुद्धेर्निवासं हृदयमित्यनेन हृदयस्याश्रयस्य दुष्ट्या तदाश्रितज्ञानस्यापि दुष्टिर्भवतीति दर्शयति। स्रोतांसि मनोवहानीति हृदयाश्रिता दश धमन्यः; एतच्च विशेषेण बोध्यं, निखिलदेहस्रोतसामेव मनोऽधिष्ठानत्वेन चरके दर्शितत्वात्। अधिष्ठाय व्याप्येत्यर्थः ॥५॥

उन्मादस्य सामान्यस्वरूपमाह—

धीविभ्रमः सत्त्वपरिप्लवश्च
पर्याकुला दृष्टिरधीरता च।
अवद्धवाक्त्वं हृदयं च शून्यं
सामान्यमुन्मादगदस्य लिङ्गम् ॥६॥ [च० ६।६]

बुद्धि का विभ्रम होना, मन का चञ्चल होना, नेत्रों का व्याकुल होना, धैर्य का नाश होना, वचनों का असम्बद्ध होना और हृदय का शून्य होना ये उन्माद के सामान्य लक्षण हैं।

मधु०—सामान्यरूपमाह—धीविभ्रम इत्यादि। एतत् सामान्यं पूर्वरूपमिति जेज्जटः, सामान्यरूपमिति चक्रः। धीविभ्रमो भ्रान्तज्ञानत्वम्। सत्त्वपरिप्लवो मनसश्चञ्चलत्वम्। अधीरता कातरत्वम्। अवद्धवाक्त्वमसंबद्धवचनत्वम्। लिङ्ग्यतेऽनेनेति लिङ्गं, तेन पूर्वरूपं रूपं चेति व्याख्यातम् ॥६॥

वातिकोन्मादस्य समुत्थानसंप्राप्तिपूर्वकं स्वरूपमाह—

रूक्षाल्पशीतान्नविरेकधातु-
क्षयोपवासैरनिलोऽतिवृद्धः।
चिन्तादिदुष्टं हृदयं प्रदूष्य
बुद्धिं स्मृतिं चाप्युपहन्ति शीघ्रम् ॥७॥ [च० ६।६]
अस्थानहासस्मितनृत्यगीत-
वागङ्गविक्षेपणरोदनानि।
पारुष्यकार्श्यारुणवर्णता[1]श्च
जीर्णे बलं चानिलजस्य रूपम् ॥८॥ [च० ६।६]

रूक्ष, स्वल्प और शीत अन्न से, विरेचन से, रसादि धातुओं के क्षय से, तथा उपवास से अत्यन्त बढ़ा हुआ वायु चिन्ता आदि से दुष्ट हृदय को प्रदूषित कर शीघ्र ही बुद्धि और स्मृति को नष्ट कर देता है। इसमें असामयिक हास्य,

१ वर्णता च.

स्मित, नर्तन, गायन, वाणी विक्षिप्तता, अङ्ग विक्षिप्तता, रोदन, परुषता, कृशता और रक्तवर्णता होती है, एवं जीर्णान्न में इसका बल अधिक होता है । ये सब लक्षण वातिक उन्माद के स्वरूप हैं ।

मधु०—वातजमाह—रूक्षेत्यादि । विरेकशब्देनात्र वान्तिरप्यभिधीयते, विरेचयति देहान्मलं पृथक्करोतीति व्युत्पत्त्या । अस्थानहासेत्यादि अस्थानेऽविषये हासोऽस्थानहासः; एवमस्थानशब्दः स्मितादिषु प्रयोज्यः । स्मितमीषद्धासः । अङ्गविक्षेपो विरुद्धचेष्टा । जीर्णे बलमिति जीर्णे आहारे व्याधेर्बलं भवति ॥७–८॥

पित्तजोन्मादस्य समुत्थानसंप्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

अजीर्णकट्वम्लविदाह्यशीतै-
भोज्यैश्चितं पित्तमुदीर्णवेगम् ।
उन्मादमत्युग्रमनात्मकस्य
हृदि स्थितं पूर्ववदाशु कुर्यात् ॥९॥ [च० ९।६]

अमर्षसंरम्भविनग्नभावाः
सन्तर्जनातिद्रवणौष्ण्यरोषाः ।
प्रच्छायशीतान्नजलाभिलाषः
पीता च भाः पित्तकृतस्य लिङ्गम् ॥१०॥ [च० ९।६]

आमादि अजीर्ण से; कटु, अम्ल, विदाही और उष्ण भोज्यों से सञ्चित एवं बढ़े हुए वेग वाला पित्त मिथ्याहारविहारोपसेवी मनुष्य की पूर्ववत् चिन्तादि से दुष्ट हृदय में स्थित चेतना को दूषित कर अति प्रचण्ड उन्माद कर देता है । इसमें असहनशीलता, संरम्भ, नग्नपन, त्रासन, धावन (दौड़ना), उष्णता, क्रोध, छाया की अभिलाषा, शीत अन्न की अभिलाषा और पीत वर्ण की कान्ति होती है । यही पित्तोन्माद का स्वरूप है ।

मधु०—पित्तजमाह—अजीर्णेत्यादि । अशीतैरिति उष्णैः । उन्मादमत्युग्रमिति अत्युग्रं तीव्रवेगम्, 'उन्मादयत्युग्रम्' इति पाठान्तरे उग्रं यथा भवति तथोन्मादं करोति । अनात्मकस्य अनात्मवतः । पूर्ववदिति चिन्तादिदुष्टहृदयस्य बुद्ध्यादिकमुपहत्येत्यादि द्रष्टव्यम् । कुर्यादिति वक्ष्यमाणं लिङ्गमिति शेषः । अत्र पक्षे किं तल्लिङ्गमित्याह—अमर्षेत्यादि ।—अमर्षः असहिष्णुत्वं, न तु रोषः; तस्य वक्ष्यमाणत्वात् । संरम्भ आरभटी; विनग्नभावो नग्नता । सन्तर्जनम् परित्रासनम्, अतिद्रवणं पलायनम्, औष्ण्यं गात्रस्य; औष्ठ्यमिति पाठान्तरे निष्ठीवनम् । प्रच्छायशीतान्नजला-भिलाष इति छायायां शीतयोरन्नजलयोश्चाभिलाषः ॥९–१०॥

श्लैष्मिकोन्मादस्य समुत्थानसंप्राप्तिपूर्वकं लक्षणं दर्शयति—

संपूरणैर्मन्दविचेष्टितस्य
सोष्मा कफो मर्मणि संप्रवृद्धः ।

१ श्रितं. २ वदेव. ३ सन्तर्जनाभि. ४ विचेष्टैः.

बुद्धिं स्मृतिं चाप्युपहत्य चित्तं
प्रमोहयन् संजनयेद्विकारम् ॥११॥ [च० ६।६]
वाक्चेष्टितं मन्दमरोचकश्च
नारीविविक्तप्रियताऽतिनिद्रा ।
छर्दिश्च लाला च बलं च भुंक्ते
नखादिशौक्ल्यं च कफात्मके स्यात् ॥१२॥ [च० ६।६]

परिश्रमरहित मनुष्य का स्निग्ध भोजनादि सम्पूर्ण कारणों से हृदय में दुष्ट कफ पित्त के साथ बुद्धि और स्मृति को नष्ट करके मन को मोहान्वित करता हुआ उन्माद नामक विकार को उत्पन्न कर देता है, जिसमें कि वाणी की चेष्टा मन्द हो जाती है, अरुचि होती है, नारीप्रियता, एकान्तप्रियता, लालास्राव, वमन और नखनयनादिकों में शुक्लता होती है, तथा भोजन करने के बाद ही इसका बल अधिक होता है।

मधु०—कफजमाह—संपूरणैरित्यादि । मन्दविचेष्टितस्य आयासशून्यस्य । संपूरणैर्भोजनादिभिः, कफो दुष्ट इति संबन्धः । सोष्मा सपित्तः । कफेनापि क्रियमाण उन्मादोऽवश्यं सपित्तेन क्रियते व्याधिमहिम्ना, यथा मूर्च्छा । अन्ये त्वाहुः—केवलकफेनापि क्रियते, सोष्मपदेन तु द्वन्द्वजोऽपि भवतीति सूच्यते । अन्ये त्वाहुः—ऊष्मशब्देन शक्तिरुच्यते, तेनोत्कृष्टशक्तिकः कफ इत्यर्थः । मर्मणीति हृदयम् । विकारमुन्मादम् । नारीविविक्तप्रियतेति नारीप्रियता विजनप्रियता च । बलं च भुक्ते इति 'व्याधेः' इति शेषः। नखादीत्यादिशब्देन त्वङ्मूत्रनेत्रादीनां ग्रहणम् ॥११-१२॥

सान्निपातिकोन्मादस्य निदानादिपूर्वकं लक्षणमाह—

यः सन्निपातप्रभवोऽतिघोरः
सर्वैः समस्तैः स च हेतुभिः स्यात् ।
सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति तादृग्
विरुद्धभैषज्यविधिर्विवर्ज्यः ॥१३॥ [च० ६।६]

जो भयानक उन्माद सन्निपात से तथा अपने अनेक निदानों से उत्पन्न होता है, वह सम्पूर्ण रूपों को धारण करता है एवं वह विरुद्ध भैषज्य विधि होने से वर्ज्य है। इसका भाव यह है कि त्रिदोषज में वातादि के प्रतिकूल ही चिकित्सा करनी होती है, परन्तु वह परस्पर विरुद्ध होती है, और त्रिदोषनाशक आमलक आदि द्रव्य बहुत स्वल्प हैं, परन्तु वे भी यहां अनुपयोगी होने से प्रयुक्त नहीं होते, अतः 'पूर्वोक्तविरुद्ध भैषज्य चिकित्सा होने के कारण यह वर्ज्य है' इस प्रकार इसकी सङ्गति होती है। इसमें 'सर्वैः' कहने पर भी जो 'समस्तैः' कहा है उसका यह भाव है कि वातादि अपने अनेक निदानों से प्रकुपित हुए २ ही उन्माद को उत्पन्न करते हैं न कि प्रत्येक वातादि एक २ निदान से कुपित

१ भुङ्क्ते.

होकर उन्माद को करते हैं। (प्रश्न—) यदि ऐसा ही है तो सभी सान्निपातिक रोग ऐसे क्यों नहीं हैं ? (उत्तर—) इस प्रकार की सम्प्राप्ति विशेष वाला वा रोग विशेष ही असाध्य होता है, सभी वर्ज्य नहीं हैं। उक्त श्लोक में सन्निपात कहने से ही जब तीनों दोष आ जाते हैं तो पुनः 'सर्वैः' पद का निर्देश रज और तम के ग्रहणार्थ किया है। इससे सिद्ध हुआ कि वातादि रज और तम इन दोषों से मिलकर और समस्त निदानों से प्रकुपित होकर उन्माद उत्पन्न करते हैं।

मधु०—सान्निपातिकमाह—य इत्यादि । सर्वैः समस्तैरिति सर्वैरिति कृत्वाऽपि यत् समस्तैरिति करोति तेनैवं बोधयति—वातादयोऽनेकैः स्वनिदानैः कुपिता उन्मादं जनयन्ति, ननु प्रत्येकमेकनिदानकुपिताः । विरुद्धभैषज्यविधिर्विवर्ज्य इति । अयमभिसन्धिः—त्रिदोषजे प्रत्येकं वातादिप्रत्यनीका क्रिया कार्या, सा च परस्परविरोधिनी, त्रिदोषहरं च किंचिदेव द्रव्यमामलक्यादि, तत्तु नात्र यौगिकं, 'न हि सर्वाणि सर्वत्र यौगिकानि भवन्ति' इति-वचनात्। ननु, यद्येवं तदा सर्व एव हि त्रिदोषजविकारा असाध्या भवेयुरित्यत उक्तं—तादगिति। कोऽप्ययं संप्राप्तिविशेषो रोगविशेषो वा, येनायं विरुद्धभैषज्यविधिर्न तु सर्व इत्यर्थः। अन्ये त्वाहुः—सर्वैः समस्तैर्हेतुभिर्यः कृतः स एवासाध्यः, न स्वल्पहेतुकृत इति ॥१३॥

शोकादिप्रभवोन्मादस्य समुत्थानं संप्राप्तिञ्चाह—

चोरैर्नरेन्द्रपुरुषैररिभिस्तथाऽन्यै-
र्वित्रासितस्य धनबान्धवसंक्षयाद्वा।
गाढं क्षते मनसि च प्रियया रिरंसो-
र्जायेत चोत्कटतमो मनसो विकारः ॥१४॥ [सु० ६।६२]

शोकादिप्रभवोन्मादस्य रूपमाह—

चित्रं ब्रवीति च मनोऽनुगतं विसंज्ञो
गायत्यथो हसति रोदिति चापि मूढः।

चोर, राजपुरुष, शत्रु और अन्यसिंहादिकों से भीत, अथवा धन बान्धवादिकों के क्षय से युक्त, वा प्रिया के साथ सम्भोग करने की उत्कट इच्छा वाले मनुष्य का मन यदि अत्यधिक उपहत हो जाता है, तो उसे अत्युत्कट (उन्माद नामक) मानसिक विकार हो जाता है। इसमें मनुष्य संज्ञारहित होकर मन में स्थित अनेक गोप्य भावों को भी कह देता है। एवं वह कभी गाता है, कभी हंसता है और कभी २ रोता भी है।

मधु०—शोकादिजमाह—चोरैरित्यादि । क्षते उपहते, प्रियया रिरंसोः कामुकस्य, अप्राप्तया प्रियया क्षते मनसीति संबन्धः। तस्य लक्षणमाह—चित्रमित्यादि। चित्रं विचित्रं मनोऽनुगतं गोप्यमपि। विसंज्ञो विपरीतज्ञानः, अत एव मूढः ॥१४॥

१ स जल्पति. २ मूढसंज्ञः.

विषजोन्मादस्य स्वरूपमाह—

रक्तेक्षणो हतबलेन्द्रियभाः सुदीनः
श्यावाननो विषकृतेऽथ भवेद्विसंज्ञः ॥१५॥ [सु० ६।६२]

विष जन्य उन्माद में रोगी रक्त नयनों वाला, नष्ट शक्ति वाला, हत इन्द्रियों वाला, नष्ट कान्ति वाला, अतिदीन, श्यावमुख और नष्ट संज्ञा वाला होता है।

मधु०—विषजमाह—रक्तेक्षण इत्यादि । हतबलेन्द्रियभा इति हतं बलमिन्द्रियाणि भाश्च यस्य स तथा । भा दीप्तिः ॥१५॥

उन्मादस्य प्रत्याख्येयतालक्षणमाह—

अवाञ्ची वाऽप्युदञ्ची वा क्षीणमांसबलो नरः ।
जागरूको ह्यसंदेहमुन्मादेन विनश्यति ॥१६॥

जो उन्मादी मनुष्य अधोमुख, ऊर्ध्वमुख, क्षीणमांस, क्षीणबल और नष्ट निद्रा वाला होता है, वह निःसंशय उन्माद रोग से नष्ट हो जाता है।

मधु०—असाध्यलक्षणम्-अवाञ्चीत्यादि । अवाञ्ची अधोमुखः, उदञ्ची ऊर्ध्वमुखः, अत एवान्ये 'अवाङ्मुखस्तून्मुखो वा' इति पठन्ति । जागरूकोऽनिद्रः ॥१६॥

भौतिकोन्मादस्य सामान्यस्वरूपमाह—

अमर्त्यवाग् विक्रमवीर्यचेष्टो[3]
ज्ञानादिविज्ञानबलादिभिर्यः ।
उन्मादकालोऽनियतश्च यस्य
भूतोत्थमुन्मादमुदाहरेत्तम् ॥१७॥ [च० ६।१६]

जो मनुष्य मनुष्यों की वाणी, विक्रम, वीर्य तथा चेष्टाओं के सदृश वाणी, विक्रम तथा चेष्टाओं को न रखता हो (मनुष्यों की अपेक्षा यह सब उसमें अधिक हों) वह तथा जो ज्ञान, विज्ञान और बल आदिकों से युक्त होता है, एवं जिसका औन्मादिक समय नियत नहीं रहता उसका उन्माद भूतोत्थ उन्माद जानना चाहिये।

मधु०—भौतिकोन्मादस्य सामान्यलक्षणमाह—अमर्त्यवागित्यादि । अमर्त्या अमनुष्या अनुचिता वा वागादयो यस्य स तथा । विक्रमः पराक्रमः; वीर्यं शक्तिः, चेष्टा शारीरिकी क्रिया । ज्ञानादिविज्ञानबलादिभिरित्युपलक्षणे तृतीया । ज्ञानं तत्त्वज्ञानं, विज्ञानं शिल्पादिज्ञानं; किंवा ज्ञानं शास्त्रज्ञानं, विज्ञानं तदर्थनिश्चयः; आदिशब्देन स्मृत्यादीनां ग्रहणं, तेषां बलम् । अनियत इति न वातजादिवदाहारजीर्णादिकालवत् कालनियमः । नियत इति पाठे तु वक्ष्यमाणानियततिथ्यादीनां ग्रहणं, देवग्रहाः पौर्णमास्यामित्यादि । भूतशब्देनात्र सर्व एव वक्ष्यमाणा देवादयोऽभिधीयन्ते ॥१७॥

१ च. २ भवेत परासुः. ३ चेष्टा.

देवाविष्टस्य लक्षणमाह—

संतुष्टः शुचिरतिदिव्यमाल्यगन्धो
निस्तन्द्रीरवितथसंस्कृतप्रभाषी ।
तेजस्वी स्थिरनयनो वरप्रदाता
ब्रह्मण्यो भवति नरः स देवजुष्टः ॥१८॥ [सु० ६।६०]

जो मनुष्य सन्तुष्ट, स्नानादि पवित्रताशील, अलौकिक माल्य के समान अत्युत्कट गन्ध वाला, तन्द्रारहित, सत्यवक्ता, संस्कृतवादी, तेजयुक्त, निमेष रहित, वरदाता और ब्राह्मणानुरागी होता है, वह इस उन्माद रोग में देवजुष्ट जानना चाहिये ।

मधु०—देवजुष्टमाह—संतुष्ट इत्यादि । अतिदिव्यमाल्यगन्ध इति अतिमात्रो दिव्यमाल्यस्येव गन्धो यस्य स तथा । निस्तन्द्रीरनिद्रः । अवितथं सत्यम् । विदेहेऽपि,—"निःस्वप्नं सत्यसंस्कृतभाषिणम्"–इति पठितम् । ब्रह्मण्यो ब्राह्मणानुरक्तः । देवजुष्टो देवग्रहपीडितः । देवग्रहणेन गणमातृकादयोऽपि ग्राह्याः । विदेहेऽपि पठ्यते,–"क्रोधनः स्रस्तसर्वाङ्गो लालाफेनाविलाननः । निद्रालुः कम्पनो मूको गणमातृभिरर्दितः–" इति ॥१८॥

असुरजुष्टस्य रूपं दर्शयति—

संस्वेदी द्विजगुरुदेवदोषवक्ता
जिह्माक्षो विगतभयो विमार्गदृष्टिः ।
संतुष्टो न भवति चान्नपानजातै-
र्दुष्टात्मा भवति स देवशत्रुजुष्टः ॥१९॥ [सु० ६।६०]

इस रोग में जो मनुष्य अतिस्वेदयुक्त, ब्राह्मण, गुरु और देवताओं की निन्दा करने वाला, कुटिल नेत्र, निर्भीक, कुमार्गगामी, अन्नपान के समूह से भी असन्तोषी और पापात्मा होता है, वह असुरजुष्ट होता है ।

मधु०—देवशत्रुजुष्टमाह—संस्वेदीत्यादि ॥१६॥

गन्धर्वाविष्टस्य स्वरूपमाह—

हृष्टात्मा पुलिनवनान्तरोपसेवी
स्वाचारः प्रियपरिगीतगन्धमाल्यः ।
नृत्यन्वै प्रहसति चारु चाल्पशब्दं
गन्धर्वग्रहपरिपीडितो मनुष्यः ॥२०॥ [सु० ६।६०]

गन्धर्वग्रह से प्रपीड़ित मनुष्य प्रसन्न चित्त, नदियों के तटों और वन के मध्य भागों का सेवन करने वाला, सदाचारी, गीत और गन्धमाल्य में अत्यनुरागी होता है; तथा किसी भाव के आश्रय पर नाचता हुआ कुछ कह कर

१ शुचिरपि. २ चेष्टमाल्यगन्धी. ३ ह्यवितथ. ४ संतुष्टो भवति न चान्नपानजातैः. ५
६ अन्यद्भावाश्रयं नृत्यं नृत्तं ताललयाश्रयम् । आद्यं पदार्थाभिनयो मार्गो, देशी तथा परम्–इति ९
धनञ्जयः.

सुन्दर हंसी से हंसता है, अथवा मञ्जुलता से नाचता हुआ अल्प शब्द से हंसता है अर्थात् उत्तम हास्य से हंसता है; क्योंकि इस प्रकार के हास्य को, हास्य के बहुत से भेदों में से, उत्तम पंक्ति में गिना है। जैसे दशरूपक में कहा भी है कि—"स्मितमिह विकासिनयनं, किञ्चिल्लक्ष्यद्विजं तु हसितं स्यात्। मधुरस्वरं विहसितं, सशिरःकम्पमिदमुपहसितम्॥ अपहसितं सास्राक्षं, विक्षिप्ताङ्गं भवत्यतिहसितम्। द्वे द्वे हसिते चैषां ज्येष्ठे मध्येऽधमे क्रमशः॥"-इति। एवं उपर्युक्त हास्य 'हसित' को लक्ष्य रखकर कहा है।

मधु०—गन्धर्वाविष्टमाह—हृष्टेत्यादि। पुलिनं तोयोज्झितं तटम्, अन्तरं मध्यं, विशेषो वा। स्वाचारोऽनिन्दिताचारः। प्रियेत्यादि प्रियाणि परि सर्वतो गीतगन्धमाल्यानि यस्य स तथा। नृत्यन्नित्यादि चारु (यथा भवति तथा) नृत्यन्नल्पशब्दं यथा भवति तथा प्रहसतीति योज्यम्॥२०॥

यक्षावेशजोन्मादस्य लक्षणमाह—

ताम्राक्षः प्रियतनुरक्तवस्त्रधारी
गम्भीरो द्रुतगतिरल्पवाक् सहिष्णुः।
तेजस्वी वदति च किं ददामि कस्मै
यो यक्षग्रहपरिपीडितो मनुष्यः॥२१॥ [सु० ६।६०]

इस रोग में जो मनुष्य ताम्रलोचन, सुन्दर एवं सूक्ष्म वस्त्रसेवी, गम्भीर, शीघ्रगामी, मितभाषी, सहनशील और तेजस्वी होता है, तथा जो यह कहता है कि 'मैं किस को क्या दूँ' वह यक्षग्रह से अभिभूत होता है।

मधु०—यक्षाविष्टमाह—ताम्राक्ष इत्यादि। प्रियेत्यादि प्रियं शोभनं, तनु सूक्ष्मं, रक्तं च वस्त्रं धर्तुं शीलं यस्य स तथा॥२१॥

पित्रावेशजोन्मादस्य लक्षणमाह—

प्रेतानां स दिशति संस्तरेषु पिण्डान्
शान्तात्मा जलमपि चापसव्यवस्त्रः।
मांसेप्सुस्तिलगुडपायसाभिकाम-
स्तद्भक्तो भवति पितृग्रहाभिजुष्टः॥२२॥ [सु० ६।६०]

पितृग्रह से ग्रस्त मनुष्य कुशपत्रादि निर्मित संस्तरणों पर पितरों के पिण्डों को देता है और शान्त चित्त से वह उत्तरीय वस्त्र वाम (स्कन्ध पर) करके उन संस्तरणों पर जल भी रखता है, मांस खाने की अभिलाषा तथा तिल, गुड़ और खीर की कामना करता है और वही खाता है।

मधु०—पितृजुष्टमाह—प्रेतानामित्यादि। प्रेतानां मृतपितॄणां, संबन्धमात्रविवक्षया न चतुर्थी। दिशति ददाति। संस्तरेषु कुशपत्रादिरचितास्तरणेषु। अपसव्यवस्त्रो वामोत्तरीयः।

१ दशरूपकीयचतुर्थे प्रकाशे ७६–७७ तमे सूत्रे. २ द्रुतमति. ३ प्रेतेभ्यो विसृजति संस्तरेषु ७८। ४ तद्भक्तः.

मांसेप्सुरित्यादि । एतदभिधानप्रयोजनं यस्मिन् यस्येच्छा भवति तस्य तेनैव बलिर्दातव्यः एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । तद्भक्तः पितृभक्तः ॥२२॥

नागावेशजोन्मादं लक्षयति—

यस्तूर्व्यां प्रसरति सर्पवत्कदाचित्
सृक्कण्यौ विलिहति जिह्वया तथैव ।
क्रोधालुर्गुडमधुदुग्धपायसेप्सु-
र्ज्ञातव्यो भवति भुजङ्गमेन जुष्टः ॥२३॥ [सु० ६।६०]

जो मनुष्य कभी २ सर्प की तरह पृथ्वी पर रेंगता है, तथा उस (सर्प) की तरह सृक्कणियों को जीभ से चाटता है, एवं जो क्रोधी तथा गुड़, मधु, दुग्ध एवं खीर की इच्छा करता है, वह सर्पग्रह से अभिभूत जानना चाहिए।

मधु०—नागाविष्टमाह—यस्त्वित्यादि । प्रसरति सर्पवदिति उरसा गच्छति । सृक्कण्यौ ओष्ठप्रान्तौ । सृक्कणीशब्द ईकारान्तोऽप्यस्तीत्युन्नेयम् ॥२३॥

राक्षसावेशजोन्मादस्य लक्षणमाह—

मांसासृग्विविधसुराविकारलिप्सु-
र्निर्लज्जो भृशमतिनिष्ठुरोऽतिशूरः ।
क्रोधालुर्विपुलबलो निशाविहारी
शौचद्विड् भवति स राक्षसैर्गृहीतः ॥२४॥ [सु० ६।६०]

मांस, रुधिर तथा अनेक प्रकार के मद्य विकारों (वारुणी आदिकों) का अभिलाषी, अतिनिर्लज्ज, अतिनिष्ठुर, अतिशूर, क्रोधी, बलवान्, रात्रि में विचरणशील और पवित्रता का द्वेषी होना राक्षसाविष्ट उन्माद का स्वरूप है।

मधु०—राक्षसाविष्टमाह—मांसेत्यादि । निशाविहारी निशायामेव भ्रमणशीलः । राक्षसशब्देन ब्रह्मराक्षसादयोऽपि ग्राह्याः । तथा राक्षसानन्तरं विदेहोऽपि पठति—"देवविप्रगुरुद्वेषी वेदवेदाङ्गनिन्दकः । आत्मपीडाकरो हासी ब्रह्मराक्षससेवितः"—इति ॥२४॥

पिशाचावेशजोन्मादस्य लक्षणमाह—

उद्धस्तः कृशपरुषोऽचिरप्रलापी
दुर्गन्धो भृशमशुचिस्तथाऽतिलोलः ।
बह्वाशी विजनवनान्तरोपसेवी
व्याचेष्टन् भ्रमति रुदन् पिशाचजुष्टः ॥२५॥ [सु० ६।६०]

पिशाचग्रहाभिभूत मनुष्य ऊर्ध्वबाहु, कृशपुरुष, अचिरप्रलापी, दुर्गन्धयुक्त, अति अपवित्र, अतिचञ्चल, बहुभोजी और निर्जन वन में विचरणशील होता है तथा विरुद्ध वा विविध चेष्टाएँ करता हुआ एवं रोता हुआ घूमता है।

१ भूमौ यः. २ विलिखति. ३ निद्रालुः. ४ विंशर्या [illegible]. ५ भवति [illegible]. ७ राक्षसान्तरम्. ८ चिरप्रलापी, विरुद्धलापी. ९ तथानिद्रालुः. १० [illegible] विघ्नो, व्याचेष्टं.

विरुद्ध चेष्टा करता हुआ तथा रोता हुआ शून्य वनों में घूमने वाला मनुष्य पिशाचजुष्ट उन्मादी कहलाता है।

मधु०—पिशाचाविष्टमाह—उद्धस्त इत्यादि। उद्धस्त ऊर्ध्ववाहुः; उद्धस्त्र इति पाठान्तरं न्याय्यं, विदेहेऽपि दिगम्बरपाठात्; उद्धस्त्रो नग्नः। परुषो रूक्षः। लोलः सर्वस्मिन्नन्ने पाने च सतृष्णः। लोलुरिति पाठान्तरे स एवार्थः। व्याचेष्टन्निति विरुद्धमाचेष्टन् ॥२५॥

भौतिकोन्मादानां प्रत्याख्येयतालक्षणमाह—

स्थूलाक्षो[1] द्रुतमटनः स[2] फेनलेही
निद्रालुः पतति च कम्पते च यो[3] हि।
यश्चाद्रिद्विरदनगादिविच्युतः स्यात्[4]
सोऽसाध्यो भवति तथा त्रयोदशाब्दे[5] ॥२६॥ [सु० ६।६०]

हिंसा, क्रीड़ा और पूजा इनके लिये ग्रह मनुष्यों को पकड़ते हैं। जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—"अशुचिं भिन्नमर्यादं क्षतं वा यदि वाऽक्षतम्। हिंस्युर्हिंसा विहारार्थं सत्कारार्थमथाऽपि च"–(सु. उ. तं. अ. ६०) अर्थात् अपवित्र, श्रौत-स्मार्तोक्त धर्मविरुद्ध विरुद्धाचारी, सव्रणी, अथवा निर्व्रणी को ग्रह हिंसा के लिये, रति के लिये और पूजा के लिये ग्रहण करते हैं। इनमें से हिंसार्थगृहीत असाध्य होता है। उसी के लक्षण कहते हैं कि—स्थूलाक्ष इत्यादि। जो मनुष्य सशोथ वा विवृत नेत्रों वाला, शीघ्रगामी, फेनमेही, निद्राशील और पतनशील तथा कम्प-युक्त होता है वह असाध्य होता है, और जो मनुष्य पर्वत, हस्ती और वृक्षादिकों से गिरा वा गृहीत होता है, वह असाध्य होता है। एवं सम्पूर्ण उन्मादी तेरहवें वर्ष में असाध्य हो जाते हैं।

मधु०—त्रिविधं हि हिंसाक्रीडापूजार्थं ग्रहा गृह्णन्ति। यदुक्तम्—"अशुचिं भिन्नमर्यादं क्षतं वा यदि वाऽक्षतम्। हिंस्युर्हिंसाविहारार्थं सत्कारार्थमथापि च॥" (सु. उ. तं. अ. ६०) इति। तत्र हिंसार्थं गृहीतोऽसाध्यो भवति, तस्य श्लोकार्धद्वयेन लक्षणमाह—स्थूलाक्ष इत्यादि। स्थूलाक्षो विवृतनेत्र इति जेज्जटः, द्रुतमटनो द्रुतगतिः, अत एव त्वरितगतिरिति जेज्जटेन पठितम्। यश्चेत्यादि।—पर्वतादिपतितः सन् यो गृह्यते सोऽप्यसाध्यः, नगो वृक्षः। सर्व एवोन्मादी त्रयोदशेऽब्दे देवतागृहीतोऽप्यसाध्यः। विदेहेऽधिकमप्यसाध्यलक्षणं पठ्यते,—"मेढ्रप्रवृत्तः क्षतजः साश्राक्षः स्रुतनासिकः। रूक्षजिह्वः पूतिगर्भो हतवागतिदुर्बलः"—इत्यादि ॥२६॥

देवादीनामावेशसमयमवतारयति—

देवग्रहाः पौर्णमास्यामसुराः सन्ध्ययोरपि।
गन्धर्वाः प्रायशोऽष्टम्यां यक्षाश्च प्रतिपद्यथ ॥२७॥ [सु० ६।६०]
पित्र्याः कृष्णक्षये हिंस्युः[6] पञ्चम्यामपि चोरगाः।
रक्षांसि रात्रौ पैशाचाश्चतुर्दश्यां विशन्ति हि[7] ॥२८॥

---

१ त्वरितगतिः. २ स्व. ३ योऽति. ४ सन ५ संसृष्टो न भवति वार्धकेन जुष्टः. ६ कृष्णक्षये च ग्र।.. ७ च.

पौर्णमासी को देवग्रह, दोनों सन्ध्याकालों में असुर, अष्टमी को गन्धर्व, प्रतिपद् को यक्ष, अमावस्या को पितृग्रह, पञ्चमी को सर्प, रात्रि को यक्ष और चतुर्दशी को पिशाच मनुष्य में प्रायः प्रवेश करते हैं।

मधु०—देवादीनां ग्रहणकालमाह—देवग्रहा इत्यादि। पौर्णमास्यां पूर्णिमायाम्। कृष्णक्षयेऽमावास्यायाम्। प्रायोग्रहणादन्यत्रापि। तिथ्यभिधानप्रयोजनं लक्षणार्थं तत्तिथौ बलिदानार्थं च ॥२७-२८॥

आविशतां देवादीनां प्रत्यक्षानुपलब्धौ निदर्शनं प्रमाणीकरोति—

दर्पणादीन् यथा छाया शीतोष्णं प्राणिनो यथा।
स्वमणिं भास्करार्चिश्च यथा देहं च देहधृक् ॥२९॥ [सु० ६।६०]
विशन्ति च न दृश्यन्ते ग्रहास्तद्वच्छरीरिणः।

यदि ग्रहप्रवेश से उन्माद होता है, तो प्रविष्ट होते हुए ग्रह क्यों नहीं दीखते? इस पर आचार्यसुश्रुतपाठप्रदर्शी माधव जी कहते हैं कि दर्पण आदिकों में जैसे छाया, प्राणियों में जैसे शीतता और उष्णता, सूर्यकान्तमणि में जैसे सूर्य की किरणें और शरीर में जैसे आत्मा प्रविष्ट होता हुआ नहीं दीखता, वैसे ही मनुष्यों में ग्रह प्रविष्ट होते हुए नहीं दीखते।

मधु०—ननु, यदि ग्रहाविष्टानां पुंसामुन्मादः स्यात, तदा विशन्तो ग्रहाः कुतो न लक्ष्यन्ते? इत्यत आह—दर्पणादीनित्यादि। अस्मदादिदर्शनायोग्यत्वान्न दृश्यन्त इत्यर्थः। आदिशब्देन प्रकारवाचिना जलतैलादीनां ग्रहणम्। छाया प्रतिकृतिः, शीतोष्णमिति कर्तृपदं, प्राणिन इति कर्मपदम्। स्वमणिमिति सूर्यकान्तम्। देहधृगात्मा, मन इति जेज्जटः। अनेकदृष्टान्तप्रयोजनं जेज्जटलिखितं तच्चात्रानुपयुक्तत्वेन विस्तरभयाच्च न लिखितम्। देवशब्देन चात्र देवस्यानुचरा देवसधर्माणो गृह्यन्ते, देवानां मनुष्यशरीरेणाशुचिना संबन्धाभावात्। यदाह सुश्रुतः—"न ते मनुष्यैः सह संविशन्ति न[2] ते मनुष्यान् क्वचिदाविशन्ति। ये त्वाविशन्तीति वदन्ति मोहात्ते भूतविद्याविषयादपेताः[3] ॥" (सु. उ. तं. अ. ६०) इति ॥२९॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामुन्मादनिदानं समाप्तम् ॥२०॥

प्रविश्याशु शरीरं हि पीडां कुर्वन्ति दुःसहाम् ॥३०॥ [सु० ६।६०]

(वे ग्रह प्रविष्ट होते हुए नहीं दीखते) परन्तु शरीर में प्रविष्ट होकर शीघ्र ही दुःसह पीड़ा को करते हैं।

देवादीनां विशिष्टप्रभावजत्वं तद्भृत्यादीनामावेशकर्तृत्वं चाऽऽदर्शयन्नेनाह—

तपांसि तीव्राणि तथैव दानं
व्रतानि धर्मो नियमश्च[4] सत्यम्।
गुणास्तथाऽष्टावपि तेषु नित्या
व्यस्ताः समस्ताश्च यथाप्रभावम् ॥३१॥ [सु० ६]

१ ग्रहास्तद्वच्छरीरिणम्. २ न वा. ३ विषयादपेताः. ४ नियमाश्च.

न ते मनुष्यैः सह संविशन्ति
न वा मनुष्यान्कचिदाविशन्ति ।
ये त्वाविशन्तीति वदन्ति मोहा-
स्ते भूतविद्याविषयादपोह्याः ॥३२॥ [सु० ६।६०]
तेषां ग्रहाणां परिचारका ये
कोटिसहस्रायुतपद्मसंख्याः ।
असृग्वसामांसभुजः सुभीमा
निशाविहाराश्च तथाऽऽविशन्ति ॥३३॥ [सु० ६।६०]

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने उन्मादनिदानं समाप्तम् ॥२०॥

तीव्र तपश्चर्या, दान, व्रत, धर्म, नियम, सत्य और अणिमादि आठ सिद्धियाँ रूप आठ गुण, वा दृष्टि आदि अष्टविध ऐश्वर्य रूप आठ गुण उन ग्रहों में सर्वदा प्रभावानुसार असमस्त रूप से वा समस्त रूप से रहते हैं । इसका भाव यह है कि उपर्युक्त तपादि से अष्टविधगुणान्त कही हुई विशेषताएँ ग्रहों में होती हैं; परन्तु वे विशेषताएँ ग्रह २ के अनुसार न्यूनाधिक होती हैं, अर्थात् जो देवग्रह होते हैं उनमें सभी विशेषताएँ होती हैं और जो असुरग्रह होते हैं, उनमें उनके प्रभावानुसार कुछ एक होती हैं । देवग्रह नियमादियुक्त होते हैं, अतः वे मनुष्यों की अपवित्र देह में प्रविष्ट नहीं होते और उनके अनुचर वा असुरग्रह प्रविष्ट होते हैं । इसी बात को आचार्य कहते हैं कि वे देवग्रह मनुष्यों से नहीं मिलते, अर्थात् मनुष्यों से सम्पर्क नहीं करते और न ही कहीं मनुष्यों में प्रविष्ट होते हैं । अतः जो वैद्य मोह (अज्ञान) के वश यह कहते हैं कि देवग्रह मनुष्यों में प्रविष्ट होते हैं, वे (वैद्य) भूतविद्या से निकाल देने चाहिएँ अर्थात् उन्हें भूतविद्या का ज्ञान नहीं है, अतः उन्हें इस विद्या का अज्ञ समझना चाहिए । यदि ऐसा है तो कौन ग्रहण करते हैं ? इस पर आचार्य कहते हैं कि उन देवादि ग्रहों के, शत लक्ष प्रमाण से गुणित (एक करोड़), सहस्र, दश सहस्र और पद्म संख्या वाले, रक्त, वसा और मांसभोजी, अतिभयंकर और निशाविहारी जो परिचारक हैं, वे प्रविष्ट होते हैं । इस पाठ से सुश्रुत ने असुरग्रह प्रवेश माना है, परन्तु देवग्रह प्रवेश नहीं माना, यह भाव निकलता है; न कि भूतावेश होता ही नहीं, यह भाव निकलता है; अन्यथा पूर्वोक्त लक्षणाभिधान व्यर्थ होता है ।

---

१ अपेता. २ तमाविशन्ति. ३ अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा । प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वञ्चाष्टसिद्धयः. ४ आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया । दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टश्चादर्शनम्.

अथापस्मारनिदानम् ।

अपस्मारस्य सम्प्राप्तिमाह—

(चिन्ताशोकादिभिर्दोषाः क्रुद्धा हृत्स्रोतसि स्थिताः ।
कृत्वा स्मृतेरपध्वंसमपस्मारं प्रकुर्वते ॥१॥)

अपस्मारस्य सामान्यस्वरूपमाह—

तमःप्रवेशः संरम्भो दोषोद्रेकहतस्मृतेः ।
अपस्मार इति ज्ञेयो गदो घोरश्चतुर्विधः ॥१॥

(चिन्ता, शोक आदिकों से क्रुद्ध दोष हृत्स्रोत अर्थात् चेतनास्थान में स्थित हो स्मृति का नाश कर अपस्मार रोग को कर देते हैं) । अन्धकार में प्रविष्ट होने का सा ज्ञान होना और नेत्रों का विकृत होना, दोषों की प्रबलता के कारण नष्ट स्मृति वाले मनुष्य में होता है, इस प्रकार नष्ट स्मृति को ही अपस्मार कहा जाता है, और वह चार प्रकार का होता है ।

मधु०—मनोदुष्टिसाधर्म्यात् समानचिकित्स्यत्वादुन्मादानन्तरमपस्मारारम्भः । तस्य निरुक्तिः सुश्रुतेन कृता—"स्मृतिर्भूतार्थविज्ञानमपस्तत्परिवर्जनम् । अपस्मार इति प्रोक्तस्ततोऽयं व्याधिरन्तकृत् ॥" (सु. उ. तं. अ. ६१) इति । स्मृतिश्च ज्ञानोपलक्षणं, तेनानुभवागमोऽपि बोध्यः । तस्य सामान्यलक्षणमाह—तमःप्रवेश इत्यादि । तमःप्रवेशोऽन्धकारप्रवेश इव ज्ञानाभाव इत्यर्थः । संरम्भो नेत्रविकृतिः, हस्तपादादिक्षेपणादिकं च ॥१॥

तस्य पूर्वरूपमवतारयति—

हृत्कम्पः शून्यता स्वेदो ध्यानं मूर्च्छा प्रमूढता ।
निद्रानाशश्च तस्मिंश्च भविष्यति भवत्यथ ॥२॥ [सु० ६।६१]

हृदय में कम्पन और शून्यता होनी, स्वेद, चिंता, मनोमोह, इन्द्रियमोह और निद्रानाश होना अपस्मार के पूर्वरूप हैं ।

मधु०—पूर्वरूपमाह—हृत्कम्प इत्यादि । शून्यता हृदयस्यैव । ध्यानं जिह्मायनम् । अत्र मूर्च्छा मनोमोहः, प्रमूढता इन्द्रियमोहः ॥२॥

वातिकापस्मारस्य स्वरूपमाह—

कम्पते प्रदशेद्दन्तान् फेनोद्वामी श्वसित्यपि ।
परुषारुणकृष्णानि पश्येद्रूपाणि चानिलात् ॥३॥ [च० ६।१०]

वातिक अपस्मार रोगी काँपता है, दाँतों को चबाता है, मुख से झाग छोड़ता है, खर श्वास लेता है और कठोर, अरुण तथा कृष्ण रूपों को देखता है ।

मधु०—वातिकलक्षणमाह—कम्पत इत्यादि । श्वसिति खरश्वासो भवति । रूपाणीति प्राणिनः, 'नीलो मामनुधावति'–इति सुश्रुतवचनात्, एवं पैत्तिके 'पीतो मामनुधावति'–इति, एवं श्लैष्मिके 'श्वेतो मामनुधावति'–इति ॥३॥

---

१ नाम—सं० अपस्मार; पं० बिहोशी, मिरगी; अ० सरआ; इ० एपीलेप्सी (Epilepsy).

पैत्तिकापस्मारस्य स्वरूपमाह—

पीतफेनाङ्गवक्त्राक्षः पीतासृग्रूपदर्शकः।
सतृष्णोष्णानलव्याप्तलोकदर्शी च पैत्तिकः ॥४॥ [च० ६।१०]

पैत्तिक अपस्मार का रोगी पीले झाग वाला, पीताङ्ग, पीतमुख और पीताक्ष होता है; तथा वह सब वस्तुओं को पीत रक्त वर्ण की देखता है। एवं वह तृष्णा तथा ऊष्मा से आर्त हुआ २ लोक को अग्नि से व्याप्त सा देखता है।

मधु०—पैत्तिकलक्षणमाह—पीतेत्यादि। पीतासृग्रूपदर्शक इति पीतलोहितवर्णसमस्त-वस्तुदर्शी। सतृष्णेत्यादि सतृष्णश्चासावुष्णश्चेति सतृष्णोष्णः, सतृष्णोष्णश्चासावनलव्याप्त-लोकदर्शी चेति समासः ॥४॥

श्लैष्मिकापस्मारस्य लक्षणमाह—

शुक्लफेनाङ्गवक्त्राक्षः शीतहृष्टाङ्गजो गुरुः।
पश्येच्छुक्लानि रूपाणि श्लैष्मिको मुच्यते चिरात् ॥५॥ [च० ६।१०]

श्लैष्मिक अपस्मार का रोगी श्वेत झाग वाला, श्वेताङ्ग, श्वेतमुख और श्वेतनेत्र होता है, तथा वह शीतगात्र, हृष्टरोम और गौरवयुक्त होता है। एवं वह सर्वत्र शुक्ल रूपों को देखता है और देर बाद मूर्च्छा के वेग से मुक्त होता है, अर्थात् विलम्ब से मुक्त होता है।

मधु०—श्लैष्मिकलक्षणमाह—शुक्लेत्यादि। हृष्टाङ्गजो हृष्टरोमा। चिरादित्यनेन वात-पित्तयोरचिरेण वेगमोक्ष इति सूचयति ॥५॥

सान्निपातिकापस्मारस्य रूपमाह—

सर्वैरेतैः समस्तैश्च लिङ्गैर्ज्ञेयस्त्रिदोषजः।

अपस्मारस्य दोषादिवैशिष्ट्येन असाध्यतामाह—

अपस्मारः स चासाध्यो यः क्षीणस्यानवश्च यः ॥६॥ [च० ६।१०]
प्रस्फुरन्तं सुबहुशः क्षीणं प्रचलितभ्रुवम्।
नेत्राभ्यां च विकुर्वाणमपस्मारो विनाशयेत् ॥७॥

वातादि सभी दोषों से तथा इनके सभी लक्षणों से होने वाला अपस्मार त्रिदोषज होता है। यह त्रिदोषज अपस्मार और क्षीण मनुष्य में चिरोत्पन्न अपस्मार असाध्य होता है। अत्यन्त काँपते हुए, क्षीण, प्रचलित और नेत्रों से विकृत मनुष्य को अपस्मार नष्ट कर देता है।

मधु०—सान्निपातिकलक्षणमाह—सर्वैरित्यादि। स चेति स सान्निपातिकः। क्षीणस्यै-कदोषजोऽप्यसाध्यः। एवमनवश्च बोध्यः। प्रस्फुरन्तं प्रकम्पन्तम्। नेत्राभ्यां च विकुर्वाणमिति नेत्राभ्यां विकृतिमासादयन्तम् ॥६–७॥

अपस्मारावेगसमयमवतारयति—

पक्षाद्वा द्वादशाहाद्वा मासाद्वा कुपिता मलाः।
अपस्माराय कुर्वन्ति वेगं किंचिदथान्तरम् ॥८॥ [च० ६।१०]

देवे वर्षत्यपि यथा भूमौ बीजानि कानिचित् ।
शरदि प्रतिरोहन्ति यथा व्याधिसमुच्छ्रयाः ॥९॥ [सु० ६।६१]

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदानेऽपस्मारनिदानं समाप्तम् ॥२१॥

प्रकुपित दोष पैत्तिक अपस्मार को एक पक्ष के बाद, वातिक अपस्मार को एक द्वादशाह के बाद और श्लैष्मिक अपस्मार को एक मास के बाद करते हैं। किञ्च दोषों की तरतमतानुसार इससे न्यूनाधिक समय में भी वेग हो सकते हैं। (प्रश्न—) वेग के अनन्तर वेगारम्भक दोष तो देह में रहता ही है, फिर वेग सर्वदा क्यों नहीं रहता ? अपने समय पर ही क्यों आता है ? (उत्तर—) वर्षा होने पर भी पृथ्वी पर कुछ एक बीज शरद् ऋतु में ही उत्पन्न होते हैं न कि वर्षा ऋतु में; एवं दोषों के सर्वदा होने पर भी अपस्मार आदि रोग वा अपस्मार रोग अपने समय पर ही होता है। इसका विशेष व्याख्यान पीछे ज्वरप्रकरण में कर दिया गया है।

मधु०—अपस्मारप्रकोपकालमाह—पक्षादित्यादि। पक्षात् पैत्तिकः, द्वादशाहाद्वातिकः, मासाच्छ्लैष्मिकः। द्वादशाहानन्तरं पक्षे वक्तव्ये तत्पूर्वं पक्षाभिधानं, तेनातोऽधिककालेनापि वेगं करोतीत्याहुः। किंचिदथान्तरमिति उक्तकालेभ्योऽर्वागपि दोषतारतम्यादिति। ननु, वेगं कृत्वाऽपस्मारारम्भको दोषोऽस्त्येव तत् कुतः सर्वदा वेगं न कुरुते ? द्वादशाहादिष्वेव कुरुत इत्याह—देवे वर्षतीत्यादि। अयमभिसन्धिः—तेजोवनीपवनपयःसनाथं विद्यमानमपि बीजं कालविशेष एवाङ्कुरं जनयति, कालविशेषस्य सहकारित्वात्; तथा गतस्याप्यपस्मारस्य पुनरुद्भवः संभवति। शरदीति तत्कालोचितबीजाभिप्रायेण, तेन कानिचिद्बीजानि वर्षास्वपि भवन्तीति। अयं च न्यायश्चातुर्थिकज्वरादिष्वपि बोध्यः ॥८-९॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामपस्मारनिदानं समाप्तम् ॥२१॥

अथ वातव्याधिनिदानम् ।

सामान्येन वातव्याधीनां समुत्थानमाह—

रूक्षशीताल्पलघ्वन्नव्यवायातिप्रजागरैः ।
विषमादुपचाराच्च दोषासृक्स्रवणादपि ॥१॥ [च० ६।२८]
लङ्घनप्लवनात्यध्वव्यायामातिविचेष्टितैः[1] ।
धातूनां संक्षयाच्चिन्ताशोकरोगातिकर्षणात् ॥२॥ [च० ६।२८]
वेगसंधारणादामादभिघातादभोजनात्[3] ।
मर्माबाधाद्गजोष्ट्राश्वशीघ्रयानापतंसनात्[4,5] ॥३॥ [च० ६।२८]

---

१ प्रथमं. २ व्यायामातिविचेष्टितैः. ३ अत्र द्वितीयतृतीयश्लोकयोरन्तराले 'दुःखशय्यासनाक्रोधादिवास्वप्नाद्भयादपि' इति चरके अधिकोऽपि पाठोऽस्ति. ४ मर्माघातात्. ५ अवतंसनात्.

वातव्याधीनां सामान्येन संप्राप्तिमाह—

देहे स्रोतांसि रिक्तानि पूरयित्वाऽनिलो बली।
करोति विविधान् व्याधीन् सर्वाङ्गैकाङ्गसंश्रयान्[१] ॥४॥ [च० ६।२८]

रूक्ष, शीतल, मात्रा में अल्प, स्वभावलघु वा द्रव्यलघु अन्न के सेवन करने से; अतिमैथुन से; रात को जागने से; विषम उपचार करने से; मलस्राव से; रक्तस्रावण से, लङ्घन (उछलने से), तरण, अतिमार्गगमन, व्यायाम और विरुद्ध चेष्टाओं से, धातुओं के क्षय से, चिन्ता, शोक और रोग (जन्य कृशता) स, वेगावरोध से, आम दोष से, अभिघात से, उपवास से, मर्मज बाधा से तथा हस्ति, उष्ट्र, अश्व आदि शीघ्रगामी सवारी से गिरने के कारण बढ़ा हुआ वायु देह में खाली स्रोतों को पूर्ण कर सर्वाङ्ग वा एकाङ्ग में होने वाली अनेक व्याधियों को करता है।

मधु०—अपस्मारवद्वातविकाराणामप्याक्षेपकादीनां वेगकर्तृत्वादपस्मारानन्तरं वातव्याध्यारम्भः। ननु, वातव्याधिरिति कोऽर्थः? किं वात एव व्याधिर्वातव्याधिः, उत वातेन जनितो व्याधिर्वातव्याधिः? आद्ये स्वस्थेष्वपि प्रसङ्गः, द्वितीये ज्वरादिषु। उच्यते, व्याधिपदसामानाधिकरण्याद्विकृतो दुःखकारी वातो वातव्याधिः। उक्तं हि सुश्रुते—"पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलाटोपौ करोति च॥" (सु. नि. स्था. अ. १) इति। वातजनितोऽसाधारणव्याधिर्वातव्याधिरिति विशेषणीयं, तेनोभयत्राप्रसङ्गः। यच्चोक्तं,—"कफपित्तान्वितो वायुर्वायुरेव च केवलः। कुर्यादाक्षेपकम्" इत्यादि; तत्रारम्भको वायुरेव, पित्तकफौ त्वनुबन्धाविति न विरोधः स्यात्। चरके हि द्विविधा व्याधय उक्ताः सामान्यजा नानात्मजाश्चेति, तत्र सामान्यजा ये वातादिभिः समस्तैर्व्यस्तैर्वा जन्यन्ते, यथा—ज्वरादयः, नानात्मजा ये नियतैकदोषजन्याः, यथा—आक्षेपकादयो ये वातेनैव जन्यन्ते, न स्वतन्त्रेण पित्तेन कफेन वा; तथौषचोषादयः पित्तेनैव, न वातेन कफेन च; तथा तृप्त्यादयः कफेनैव, न वातेन, न पित्तेन; एवं व्यवस्थिते वातव्याधिवत् पित्तकफव्याधी कस्मान्नोक्तौ? उच्यते,—वायोरतिबलत्वेनाशुकारित्वेन च गरीयस्त्वात्तद्विकाराणां दुःसाध्यत्वादाश्वात्ययकरत्वाद्विशिष्टचिकित्सात्वाद्वातव्याध्यभिधानं, नतु कफपित्तव्याध्यभिधानम्। अत एव चरकसुश्रुतादिष्वपि वातरोगाध्याय एव निर्दिष्टो, नतु पित्तकफरोगाध्यायः। चन्द्रिकाकारस्त्वाह—पित्तकफयो रूपरसादियोगाद्दूष्यविशेषयोगाद्वा हरिद्राचूर्णसंयोगवदत्यन्तविसदृशा रसादिमन्तो विकाराः पृथङ्नामानो जायन्ते, वायोस्तु रूपरसाद्यभावाद्दूष्यानिरपेक्षा आक्षेपकादयो वातादनतिभिन्नरूपा नानात्मजाः, तेन वातविकाराः पृथगुच्यन्ते, नतु पित्तकफविकारा इति। एतत्तु वकुलकरप्रभृतयो नानुमन्यन्ते, चरकविरोधात्। चरके हि पित्तकफयोरपि नानात्मजा उक्ताः, यथा—"अशीतिर्वातविकाराः चत्वारिंशत् पित्तविकाराः, विंशतिः श्लेष्मविकाराः॥" (च. सू. स्था. अ. २०) इति। सुश्रुतेन तु शल्याध्यायिना पित्तकफनानात्मजा न दर्शिताः, पराधिकारेषु न विस्तरोक्तिरित्यभिप्रायेणेति। लङ्घनमुत्पतनम्, उपवासस्यानशनशब्देन वमनादेश्च दोषस्रवणशब्देन वक्ष्य-

१ संश्रितान्.

मारणत्वात्। प्लवनं बाहुभ्यां जलप्रतरणम्। आमादिति आमरसात्, तस्य कारणत्वं मार्गावरण-द्वारेण नतु स्वरूपेण; आयासादिति पाठान्तरमयुक्तं, तस्य व्यायामशब्देनोक्तत्वात्। मर्माबाधा-न्मर्माभिघातात्। अपतंसनं गजादिभ्यः शीघ्रयानेन पतनं, उच्छ्वासावरोधो वा; धातुकर्षणमिति खरनादः ॥१-४॥

अपस्मार की तरह आक्षेपक आदि वात विकार भी वेगकारक होने से अपस्मार के बाद वातव्याधि का प्रारम्भ आचार्य माधव ने किया है। (प्रश्न—) 'वातव्याधि' इस शब्द का अर्थ क्या है? क्या इसका अर्थ 'वात ही व्याधि है' यह है; अथवा 'वात से उत्पन्न व्याधि वातव्याधि है' यह है? यदि वातव्याधि का प्रथम अर्थ स्वीकार कर लिया जावे तो वात के सर्वदा सब में होने से सभी (मनुष्य) वातव्याधि में आ जावेंगे, अर्थात् वातव्याधि सर्व मनुष्यों में सर्वदा रहेगी वा सभी रोगों में वातव्याधि यह नाम व्याप्त हो जायगा और यदि 'वातव्याधि' इस शब्द का दूसरा अर्थ लिया जावे तो (वातिक) ज्वर आदि भी वातजन्य होने से वातव्याधि कहलावेंगे, अर्थात् वातव्याधि शब्द उनमें भी व्याप्त हो जायगा। इस पर रक्षित जी कहते हैं कि—व्याधि पद के समानाधिकरणी (समानस्थानी) होने से इसका अर्थ विकृत अर्थात् दुःखदायक वात, यह है। सुश्रुत में भी कहा है कि—'पक्वाशयस्थ वायु अन्त्रों में कूजन, शूल और आटोप करता है'। अथवा इसमें 'असाधारण' यह विशेषण लगा देना चाहिए, इससे वात से उत्पन्न होने वाली असाधारण व्याधि वातव्याधि है, यह वातव्याधि का अर्थ होता है। इससे पूर्वोक्त दोनों स्थानों में वातव्याधि शब्द व्याप्त नहीं होता। और जो यह कहा है कि—कफपित्त से युक्त वायु अथवा अकेला वायु आक्षेपक रोग को करता है इत्यादि। यहां भी आरम्भक वायु ही है, पित्त और कफ तो अनुबन्ध रूप से हैं, एवं विरोध नहीं आता। चरक में दो प्रकार की व्याधियां कही हैं, एक सामान्यज और दूसरी नानात्मज। उनमें से जो वातादि की समस्तता वा व्यस्तता से होती हैं, वे सामान्यज हैं; यथा—ज्वर आदि। नानात्मज वे हैं जो केवल एक ही दोष से हों, यथा—आक्षेपक आदि; जो कि वात से ही होती हैं, न कि स्वतन्त्र पित्त वा कफ से; एवं ओष चोषादि पित्त से ही होती हैं, न कि वात और कफ से; तथा तृप्ति आदि कफ से ही होती हैं, न कि वात वा पित्त से। (प्रश्न—) ऐसी व्यवस्था होने पर वातव्याधि की तरह पित्त और कफव्याधि क्यों नहीं कही? (उत्तर—) वायु के अति बलवान् होने से, शीघ्रकारी होने से, इसके अधिक विकार होने से, दुःसाध्य होने से, शीघ्र नाशकारी होने से और विशेष चिकित्सा होने से वातव्याधि का निर्देश किया है। इसी लिये चरक सुश्रुतादिकों में भी वातरोगाध्याय का ही निर्देश किया है; न कि कफपित्तरोगाध्याय का। चन्द्रिकाकार तो कहता है कि—पित्त और कफ का रूप और रस से योग होने से, अथवा दूष्य विशेष के साथ सम्बन्ध होने से उसके हरिद्राचूर्ण संयोग की तरह अत्यन्त भिन्न रसादि युक्त भिन्न २ नामों वाले अनेक विकार होते हैं। परन्तु वायु में रूप और रस का अभाव होने से दूष्य की सहायता के बिना ही वात से मिलते जुलते रूप वाले आक्षेपक आदि नानात्मज रोग होते हैं, अतः वे वात-विकार पृथक् कहे हैं, तथा पित्त और कफ के विकार पृथक् नहीं कहे। चन्द्रिकाकार का यह मत चरक से विरुद्ध होने के कारण बकुलकर आदि आचार्य नहीं मानते। चरक में पित्त और कफ के भी नानात्मज रोग कहे हैं। यथा—'अशीतिर्वातविकाराः, चत्वारिंशत्पित्तविकाराः, विंशतिः श्लेष्मविकाराः'–(च. सू. स्था. अ. २०)। सुश्रुत ने तो शल्याध्यायी होने से 'दूसरों

के अधिकार में विस्तार से नहीं कहना चाहिए' इस न्याय के अनुसार कफ और पित्त के नानात्मज नहीं दिखाए।

तेषां सामान्येन पूर्वरूपमाह—

अव्यक्तं लक्षणं तेषां पूर्वरूपमिति स्मृतम्।
आत्मरूपं तु यद्व्यक्तमपायो लघुता पुनः ॥५॥ [च० ६।२८]

उन वातविकारों के अपने २ अव्यक्तरूप ही पूर्वरूप होते हैं न कि ज्वरादि रोगों की भांति भिन्न पूर्वरूप होते हैं। और वही रूप जब अव्यक्तावस्थारूपी पूर्वरूप से व्यक्तावस्था में आ जाते हैं, तो रूप कहलाते हैं। उन संकोचादि लक्षणों का अपाय (नाश) वायु के चल होने से होता है और शरीर में लघुता भी वायु द्वारा सब धातुओं के शोषण करने से हो जाती है।

मधु०—पूर्वरूपादिकमाह—अव्यक्तमित्यादि। अव्यक्तमिति वक्ष्यमाणानां वातविकाराणां रूपमेवाव्यक्तं पूर्वरूपं, नतु ज्वरादिवद्विशिष्टमन्यत्। आत्मरूपमित्यादि तदेव व्यक्तमात्मरूपं दोषादिभेदेन सम्यक् प्रकाशितं स्वलक्षणमित्यर्थः। अपाय इति वायोश्चलत्वेन स्तम्भसंकोचकम्पादीनां कदाचिदभावात्, यदुक्तं—"गते वेगे भवेत् स्वास्थ्यं सर्वेष्वाक्षेपकादिषु"—इति लघुतेति शरीरस्य, वायुना सर्वधातुशोषणात्। अथवा अपायो लघुता इति सर्ववातविकाराणामपायोऽभावः, किं तदित्याह—लघुतेति।—वातलिङ्गानां लघुताऽत्यल्पत्वेनावस्थानं, नतु निःशेषनिवृत्तिः; यथा—वहिरायामनिवृत्तावपि न रूक्षत्वादिनिवृत्तिरित्याहुः ॥५॥

वातव्याधीनां सामान्येन नामान्याह—

संकोचः पर्वणां स्तम्भो भङ्गोऽस्थ्नां पर्वणामपि।
रोमहर्षः प्रलापश्च पाणिपृष्ठशिरोग्रहः ॥६॥ [च० ६।२८]
खाञ्ज्यपाङ्गुल्यकुब्जत्वं शोथोऽङ्गानामनिद्रता।
गर्भशुक्ररजोनाशः स्पन्दनं गात्रसुप्तता ॥७॥ [च० ६।२८]
शिरोनासाक्षिजत्रूणां ग्रीवायाश्चापि हुण्डनम्।
भेदस्तोदोऽर्तिराक्षेपो मुहुश्चायास एव च ॥८॥ [च० ६।२८]

पर्वों का संकोच और स्तम्भ, अस्थि और पर्वों का भङ्ग, रोमहर्ष, प्रलाप, पाणिग्रह, पृष्ठग्रह, शिरोग्रह, खञ्जत्व, पङ्गुत्व, कुब्जत्व, अङ्गों में शोथ, निद्रानाश, गर्भनाश, शुक्रनाश, रजोनाश, कँपकँपी, सुप्तिवात, शिर, नासा, नेत्र, जत्रु और ग्रीवा का हुण्डन (विकृति वा नाश), ओष्ठादिकों का भेद, तोद, पीड़ा, वार २ आक्षेप और आयास इत्यादि (वातिक विकार हैं)।

मधु०—करोति विविधान् व्याधीनिति यदुक्तं तद्व्याकरोति—संकोच इत्यादि। स्तम्भः पर्वणामेव। पाङ्गुल्यं पङ्गुता। शोथोऽङ्गानामिति बाहुमुखादीनाम्। अनिद्रतेत्यनेनाल्पनिद्रतेत्याहुः। गर्भशुक्ररजोनाश इति गर्भशय्याया वाताधिष्ठितत्वेन गर्भाग्रहणमिति जेज्जटः; गर्भादिविकृतिरप्यत्र द्रष्टव्या। स्पन्दनं कम्पनम्। हुण्डनं शिरःप्रभृतीनामन्तःप्रवेशो वक्रत्वं वा, धातूनामनेकार्थत्वात्।

१ तद्यक्तम्. २ शोषो. ३ मोहश्चायास.

अन्ये त्वाहुः,—शिरोहुण्डनं केशभूमिस्फुटनं शङ्खललाटभेदश्च, नासाहुण्डनं घ्राणनाशः, अक्षिहुण्डनमक्ष्णोर्व्युदासः, जत्रुहुण्डनं वक्षउपरोधः, ग्रीवाहुण्डनं ग्रीवास्तम्भः। भेद इति ओष्ठदन्तश्रोण्यादीनाम्[1]। तोदः शूलम्। अर्तिः पीडा, सा च पादपार्श्वश्रोत्राक्षिवक्षसामिति जेज्जटः। आक्षेपश्च आक्षेपकादिषु वक्ष्यमाणः। आयासः श्रमः ॥६–८॥

'शोथोऽङ्गानाम्' का अर्थ यह है कि बाहु मुख आदिकों का सूजन युक्त होना। अनिद्रता से अल्पनिद्रता लिया जाता है, क्योंकि यहां 'नञ्' अल्पार्थवाची है। गर्भ, शुक्र, रजोनाशः, अर्थात् वात से अधिष्ठित होने के कारण गर्भशय्या का गर्भग्रहण न करना (यह जेज्जट कहता है)। यहां गर्भादि की विकृति भी जाननी चाहिए। स्पन्दन अर्थात् कँपकँपी, हुण्डन अर्थात् शिर आदिकों का अन्दर की ओर झुकना वा टेढ़ा होना, यह अर्थ धातु के अनेक अर्थ होने से है। इस पर दूसरे आचार्य कहते हैं कि—शिरोहुण्डन का अर्थ केशभूमि का फटना तथा शङ्ख एवं ललाट प्रदेश का भेद होता है; नासाहुण्डन अर्थात् घ्राण का नाश होना; अक्षिहुण्डन का अर्थ नेत्रों का व्युदास अर्थात् ऊपर को निकला सा होना है; जत्रु हुण्डन का अर्थ वक्ष का उपरोध (रुकना) है; एवं ग्रीवाहुण्डन का अर्थ ग्रीवा का स्तम्भ होना है। भेद शब्द से ओष्ठ, दन्त, श्रोणी आदिकों का भेद लिया जाता है। शेष सब स्पष्ट ही है।

हेत्वादिवैशिष्ट्येन वायोः रोगविशेषजनकत्वमाह—

एवंविधानि रूपाणि करोति कुपितोऽनिलः।
हेतुस्थानविशेषाच्च भवेद्रोगविशेषकृत् ॥९॥ [च० ६।२८]

प्रकुपित वायु उपर्युक्त प्रकार के रोगों को करता है; परन्तु आवरण आदि कारणविशेष तथा कोष्ठ आदि स्थानविशेष के अनुसार विशेष रोगकारी भी हो जाता है।

वक्तव्य—इसका भाव यह है कि वस्तुतः प्रकुपित वायु 'संकोच' इत्यादि कथित रोगों को करता है, परन्तु जब वह किसी कारणविशेष से वा स्थानविशेष में प्रकुपित होता है, तो विशेष २ रोग भी कर देता है। यथा—श्लेष्मा के आवरणरूप हेतुविशेष से कुपित वायु मन्यास्तम्भ आदि रोगों को करता है; एवं पक्वाशयरूप स्थानविशेष में प्रकुपित वायु अन्त्रकूजन आदि रोगों को करता है।

मधु०—हेत्वित्यादि। हेतुविशेष आवरणादिः, यथा—श्लेष्मावृतो मन्यास्तम्भकारी; स्थानविशेषः कोष्ठादिः,—यथा-पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजमित्यादि ॥९॥

कोष्ठाश्रितवातस्य स्वरूपमाह—

तत्र कोष्ठाश्रिते दुष्टे निग्रहो मूत्रवर्चसोः।
ब्रध्नहृद्रोग गुल्मार्शः पार्श्वशूलं च मारुते ॥१०॥ [च० ६।२८]

सर्वाङ्गकुपितवातस्य स्वरूपमाह—

सर्वाङ्गकुपिते वाते गात्रस्फुरणभञ्जनम्।
वेदनाभिः परीताश्च स्फुटन्तीवास्य सन्धयः ॥११॥ [च० ६।२८]

---

१ श्रोत्रादीनाम्.

कोष्ठाश्रित वायु के दुष्ट हो जाने से रोगी का मलमूत्र रुक जाता है; और उसे ब्रध्न, हृद्रोग, गुल्म, अर्श और पार्श्वशूल हो जाता है । एवं वायु के सर्वाङ्ग में प्रकुपित होने पर गात्रों में स्फुरण तथा भञ्जन होता है, और रोगी की सन्धियाँ पीड़ा से फूटती हुई-सी प्रतीत होती हैं ।

मधु०—एतदेव विवृणोति (कोष्ठाश्रितवातलक्षणमाह)—तत्रेत्यादि । कोष्ठशब्देनाविशेषात् सर्वे आमाशयादयो गृह्यन्ते, आमाशयादिगं तु पृथगपि वक्ष्यति । निग्रहोऽप्रवृत्तिः । ब्रध्नः कोशवङ्क्षणसन्धिः ॥१०–११॥

गुदाश्रितकुपितवातस्य लक्षणमाह—

ग्रहो विण्मूत्रवातानां शूलाध्मानाश्मशर्कराः ।
जङ्घोरुत्रिकपात्पृष्ठरोगशोषौ गुदे स्थिते ॥१२॥ [च० ६।२८]

आमाशयगतकुपितवातस्य लक्षणमाह—

रुक्[1] पार्श्वोदरहृन्नाभेस्तृष्णोद्गारविसूचिकाः ।
कासः कण्ठास्यशोषश्च श्वासश्चामाशयस्थिते ॥१३॥ [च० ६।२८]

पक्वाशय में प्रकुपित वात के होने पर मलमूत्र और अपानवायु का अवरोध होता है, तथा शूल आध्मान अश्मरी और शर्करा रोग हो जाते हैं; एवं जङ्घा, ऊरु, त्रिक, पाद और पृष्ठ में पीड़ा तथा शोष हो जाती है । इसी प्रकार यदि वायु आमाशय में स्थित हो तो पार्श्व, उदर, हृदय और नाभि में पीड़ा, तृष्णा, उद्गार, विसूचिका, कास, कण्ठशोष और श्वास ये रोग होते हैं ।

मधु०—गुदस्थितवातलक्षणमाह—ग्रह इत्यादि । अश्मा अश्मरी । रोगो रुजा । गुद इत्युत्तरगुदे पक्वाशय इत्यर्थः, ननु गुदमात्रे; तथा सत्यश्मरीकर्तृत्वानुपपत्तेः ॥१२–१३॥

पक्वाशयगतकुपितवातस्य स्वरूपं दर्शयति—

पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूला[2]टोपौ करोति च ।
कृच्छ्रमूत्रपुरीषत्वमानाहं त्रिकवेदनाम् ॥१४॥ [च० ६।२८]

श्रोतादिगतकुपितवातस्य रूपमाह—

श्रोत्रादिष्विन्द्रियवधं कुर्याद् दु[3]ष्टसमीरणः ।

पक्वाशयस्थ वायु अन्त्रकूजन, शूल, आटोप, मूत्रकृच्छ्र, पुरीषकृच्छ्र, आनाह और त्रिकशूल इन रोगों को करता है । श्रोत्रादि इन्द्रियगत वायु श्रोत्रादि इन्द्रियों का नाश कर देता है ।

मधु०—पक्वाशयस्थवातलक्षणमाह—पक्वाशयस्थ इत्यादि । ननु पक्वाशयस्थ इति पुनरुक्तिः, गुदे स्थित इत्यनेनैवोक्तत्वात् । उच्यते, गुदे स्थित इति दृढबलस्य लक्षणं, पक्वाशयस्थ इति सुश्रुतस्य; उभयलिङ्गोपन्यासस्तु सकललिङ्गप्रदर्शनार्थमित्यविरोधः ॥१४॥

---

१ हृन्नाभिपार्श्वोदररुक्तृष्णोद्गारविसूचिकाः. २ शूलं नाभौ करोति च. ३ क्रुद्धः. ४ सांप्रतं चरके द्वयमेव दृश्यते, सुश्रुते च पक्वाशयस्थ इति दृश्यते । 'पक्वाशयस्थ' इत्यादि सार्धपद्यमुभयत्र (चरकसुश्रुतयोः) दृश्यते.

(प्रश्न—) पक्वाशय ऐसा कहना पुनरुक्ति दोष आता है। (उत्तर—) 'गुदे स्थिते' यह दृढबल का लक्षण है और 'पक्वाशयस्थे' यह सुश्रुत का लक्षण है। दोनों के लक्षणों का उपन्यास सम्पूर्ण लक्षणों को दिखाने के लिए किया है; अतः पुनरुक्तिरूप दोष नहीं आता।

त्वग्गतकुपित वातस्य लक्षणमाह—

त्वग्रूक्षा स्फुटिता सुप्ता कृशा कृष्णा च तुद्यते।
आतन्यते सरागा च पर्वरुक् त्वग्गतेऽनिले ॥१५॥ [च० ६।२८]

दुष्ट वायु के त्वक्गत होने पर त्वचा रूक्ष, स्फुटित, सुप्त, कृश, कृष्ण, तोदयुक्त, विस्तारयुक्त और रक्त होती है; एवं इस रोग में पर्वों में पीड़ा होती है।

मधु०—त्वग्गतवातलक्षणमाह—त्वगित्यादि। आतन्यते विस्तार्यत एव। त्वग्गत इति उपधातुरूपां त्वचं प्राप्ते; चन्द्रिकाकारस्तु त्वक्शब्देन रसमाह, तेन रसगत इत्यर्थः। हृदयस्थस्य च रसस्यामाशयसामीप्यादामाशयगतवातलक्षणेनैव तदधिगते रसगतस्यानभिधानमिति कार्तिकः॥१५॥

त्वक् शब्द से चन्द्रिकाकार रस लेता है, इत्यादि।

रक्तगतकुपितवातस्य लक्षणमाह—

रुजस्तीव्रा ससन्तापा वैवर्ण्यं कृशताऽरुचिः।
गात्रे चारूंषि भुक्तस्य स्तम्भश्चासृग्गतेऽनिले ॥१६॥ [च० ६।२८]

रक्तगत वात में सन्ताप सहित तीव्र पीड़ाएँ, विवर्णता, कृशता, अरुचि, शरीर में व्रण और भोजनानन्तर गात्रस्तम्भ ये लक्षण होते हैं।

मधु०—असृग्गतवातलक्षणमाह—रुज इत्यादि। अरूंषि व्रणाः। भुक्तस्य स्तम्भो भुक्तवतो गात्रस्तम्भः, सन्तर्पणेन रक्तस्य वृद्धेः। अन्ये त्वसृग्गतवातलक्षणं न पठन्ति, वातरक्तेन सहाभेदात्; तन्न, अत्र दुष्टो वायू रक्तेनावृतः कुप्यति, वातरक्ते तु स्वकारणादुभावपि हस्त्यादिगमनकुपितौ विशिष्टसंप्राप्त्या हस्तपादगतावेव वातरक्ताख्यं विकारं जनयत इति॥१६॥

(अन्ये त्वित्यादि—) कई आचार्य रक्तगत वात रोग के लक्षणों को नहीं पढ़ते; क्योंकि इसका वातरक्त के साथ कोई भेद नहीं है। वस्तुतः यह मन्तव्य ठीक नहीं है; क्योंकि रक्तगत वात रोग में दुष्ट वायु रक्त से आवृत होकर कुपित होती है और वातरक्त में तो (वात और रक्त) दोनों ही अपने २ हस्त्यश्वादिगमनरूप कारणों से कुपित हो विशिष्ट संप्राप्ति के द्वारा हाथ और पैरों में जाकर ही वातरक्त नाम वाले रोग को पैदा करते हैं।

मांसमेदोगतकुपितवातस्य रूपमाह—

गुर्वङ्गं तुद्यतेऽत्यर्थं दण्डमुष्टिहतं यथा।
सरुक् श्रमितमत्यर्थं मांसमेदोगतेऽनिले ॥१७॥ [च० ६।२८]

मज्जास्थिगतकुपितवातस्य रूपं दर्शयति—

भेदोऽस्थिपर्वणां सन्धिशूलं मांसबलक्षयः।
अस्वप्नः संतता रुक् च मज्जास्थिकुपितेऽनिले ॥१८॥ [च० ६।२८]

वायु के मांस तथा मेदोगत होने से अङ्ग भारी तथा दण्ड और के प्रहारों से पीड़ित की तरह कष्टप्रद होते हैं; एवं शरीर में पीड़ा सहित

प्रतीत होता है। वायु के मज्जा तथा अस्थिगत होने से अस्थि और पर्वों में वा अस्थियों के पर्वों में भेद, सन्धियों में शूल, मांस और बल की क्षीणता, निद्रानाश और सर्वदा पीड़ा होती है।

मधु०—मांसमेदोगतवातलक्षणमाह—गुर्वित्यादि। श्रमितं श्रान्तं निःसहमित्यर्थः। मांसमेदोगतवायोरेकलिङ्गत्वम्, अदूरान्तरेण प्रत्यासत्तेराश्रयाभेदात्[1]। एवं मज्जास्थिकुपितेऽपि वाच्यम् ॥१७–१८॥

शुक्रगतकुपितवातस्य लक्षणमाह—

क्षिप्रं मुञ्चति बध्नाति शुक्रं गर्भमथापि वा।
विकृतिं जनयेच्चापि शुक्रस्थः कुपितोऽनिलः ॥१९॥ [च० ६।२८]

शुक्र नामक धातु में स्थित प्रकुपित वायु शुक्र और गर्भ को शीघ्रपतनशील अथवा निकलने से रोक देता है; एवं इससे शुक्र और गर्भ में विकृति भी आ जाती है।

मधु०—शुक्रस्थवातलक्षणमाह—क्षिप्रमित्यादि। गर्भमिति दुष्टशुक्रारब्धत्वाद्गर्भस्य। विकृतिमिति गर्भस्य शुक्रस्य च ॥१९॥

सिरागतकुपितवातस्य लक्षणमाह—

कुर्यात्सिरागतः शूलं सिराकुञ्चनपूरणम्। [सु० २।१]
स बाह्याभ्यन्तरायामं खल्लीं कौब्ज्यमथापि वा[2] ॥२०॥ [च० ६।२८]

स्नायुगतकुपितवातस्य लक्षणमाह—

सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च कुर्यात्स्नायुगतोऽनिलः।

सिरागत वायु शूल, सिरासंकोच, सिरापूरण, बाह्यायाम, आभ्यन्तरायाम, खल्ली और कुब्जपन कर देता है। एवं स्नायुगत वायु सर्वाङ्गरोग और एकाङ्गरोग कर देता है।

मधु०—सिरागतवातलक्षणमाह—कुर्यादित्यादि। आकुञ्चनं संकोचः। पूरणं स्थूलत्वं, यदुक्तमन्यत्र—"सुप्तास्तन्व्यो बृहत्यो वा सिरा वाते सिरागते"—इति। खल्लीं वक्ष्यमाणाम् ॥२०॥

सन्धिगतकुपितवातस्य स्वरूपमाह—

हन्ति सन्धिगतः सन्धीन् शूलाटोपौ करोति च ॥२१॥

सन्धिगत दुष्ट वायु सन्धिभङ्ग, शूल और आटोप करता है। इसका भाव यह है कि वायु के सन्धिगत होने से सन्धिभङ्ग, सन्धिशूल और सन्धि-आटोप होता है। अथवा शूल से केवल शूल और आटोप से अफारा भी लिया जा सकता है; क्योंकि इनके स्थानों में भी सन्धियाँ होती हैं।

मधु०—सन्धिगतवातलक्षणमाह—हन्तीत्यादि। हन्ति सन्धिगतः सन्धीनिति सन्धिविश्लेषं स्तम्भादिकं वा करोति ॥२१॥

---

१ प्रत्यासत्तेराश्रयप्रभावात्. २ बाह्याभ्यन्तरायामं खल्लिं कुब्जत्वमेव च.

पित्तकफावृतप्राणवायोः स्वरूपमाह—

(प्राणोदानौ समानश्च व्यानश्चापान एव च।
स्थानस्था मारुताः पञ्च यापयन्ति शरीरिणम्॥)
प्राणे पित्तावृते छर्दिर्दाहश्चैवोपजायते।
दौर्बल्यं सदनं तन्द्रा वैरस्यं[1] च कफावृते॥२२॥ [सु० २।१]

पित्तकफावृतोदानवायोः स्वरूपमाह—

उदाने पित्तयुक्ते[2] तु दाहो मूर्च्छा भ्रमः क्लमः।
अस्वेदहर्षौ मन्दोऽग्निः शीतता[3] च कफावृते॥२३॥ [सु० २।१]

पित्तकफावृतस्य समानवायोः स्वरूपमाह—

स्वेददाहौष्ण्यमूर्च्छाः स्युः समाने पित्तसंवृते[4]।
कफेन सक्ते विण्मूत्रे गात्रहर्षश्च जायते॥२४॥

पित्तकफावृतस्यापानवायोर्लक्षणमाह—

अपाने पित्तयुक्ते तु दाहौष्ण्यं रक्तमूत्रता[5]।
अधःकाये[6] गुरुत्वं च शीतता[7] च कफावृते॥२५॥ [सु० २।१]

पित्तकफावृतव्यानवायोः स्वरूपमाह—

व्याने पित्तावृते दाहो गात्रविक्षेपणं क्लमः।
स्तम्भनो दण्डकश्चापि शूलशोथौ कफावृते॥२६॥ [सु० २।१]

प्राण, उदान, समान, व्यान और अपान यह पांच प्रकार की वायु अपने २ स्थान पर स्थित रहने से मनुष्यों को ठीक रखती हैं। भाव यह है कि प्राणादि पञ्चविध वायु स्वस्थानस्थित होने पर मनुष्य को स्वस्थ और अन्यस्थानस्थ वा कुपित होने पर मनुष्य को अस्वस्थ कर देती है। उनकी स्थान में स्थिति सुश्रुत ने इस प्रकार निर्दिष्ट की है कि—"वायुर्यो वक्त्रसञ्चारी स प्राणो नाम देहधृक्। सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तः प्राणांश्चाप्यवलम्बते॥ उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तमः। तेन भाषितगीतादिविशेषोऽभिप्रवर्तते॥ आमपक्वाशयचरः समानो वह्निसङ्गतः। सोऽन्नं पचति तज्जांश्च विशेषान् विविनक्ति हि॥ कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः। स्वेदासृक्स्रावणश्चापि पञ्चधा चेष्टयत्यपि॥ पक्वाधानालयोऽपानः काले कर्षति चाप्ययम्। समीरणः शकृन्मूत्रशुक्रगर्भार्तवान्यधः" (सु. नि. स्था. अ. १)। इस प्रकार अनेक प्रकार के वातप्रकोप से होने वाले रोग भी सुश्रुत चरक में कहे हैं। विस्तार भय से यहां उनका निर्देश नहीं किया जाता। वायु का प्रकोप दो प्रकार से होता है। यथाह चरकः—"वायोर्धातुक्षयात्कोपो मार्गस्यावरणेन च"—(च. चि. स्था. अ. २८)। एवं वायु जब अन्य दोष

१ वैवर्ण्यं. २ उदाने पित्तसंयुक्ते स्वेददाहौष्ण्यमूर्च्छनम्. ३ शीतस्तम्भौ. ४ समाने पित्तसंयुक्ते स्वेददाहौष्ण्यमूर्च्छनम्। कफाधिकश्च विण्मूत्रं रोमहर्षः कफावृते. ५ अपाने पित्तसंयुक्ते दाहौष्ण्ये स्यादसृग्दरः. ६ अधःकाय. ७ तस्मिन्नेव.

से आवृत होता है, तब भी कोप होता है। इसी को दर्शाने के लिये आचार्य माधव पित्तादि आवृत प्राणादि वायु का निर्देश करते हैं कि—प्राण इत्यादि। प्राण वायु यदि पित्त से आवृत हो तो वमन और दाह; यदि कफ से आवृत हो तो दुर्बलता, साद, तन्द्रा और मुखविरसता हो जाती है। उदान वायु यदि पित्त से आवृत हो तो दाह, मूर्च्छा, भ्रम और क्लम; यदि कफ से आवृत हो तो अस्वेद (पसीना न आना), अहर्ष (हर्ष न होना), अग्निमान्द्य और शीतत होती है। समान वायु यदि पित्त से आवृत हो तो स्वेद, दाह, मूर्च्छा और गर्मी यदि कफ से आवृत हो तो विट्सङ्ग, मूत्रसङ्ग और गात्रहर्ष होता है। अपान वायु यदि पित्त से आवृत हो तो दाह, ऊष्मा और रक्तमूत्र; यदि कफ से आवृत हो तो अधःशरीर में गौरव और शीतता होती है। एवं व्यान वायु यदि पित्त से आवृत हो तो दाह, गात्रावक्षेपण और क्लम; यदि कफ से आवृत हो तो स्तम्भ, दण्डक, शूल और शोफ होता है। एवं चरक में इनके और भी आवरण कहे हैं। तद्यथा—"प्राणो वृणोत्युदानादीन् प्राणं वृण्वन्ति तेऽपि च। उदानाद्यास्तथान्योऽन्यं सर्वे एव यथाक्रमम्॥ विंशतिर्वरणान्येतान्युल्बणानां परस्परम् मारुतानां हि पञ्चानाम्'..." इति (च. चि. अ. २८)। इनका विशेष विवरण उस ग्रन्थ में देखना चाहिए; ग्रन्थ विस्तार भय से यहां उल्लेख नहीं हो सकता।

मधु०—पित्तकफावृतानां प्राणादीनामर्धार्धश्लोकेन लिङ्गान्याह—प्राण इत्यादि। गात्रहर्षो रोमाञ्चः। दण्डको दण्डवत् स्तम्भः। परस्परं च प्राणादीनामावरणानि विंशतिर्भवन्ति। यदुक्तं चरके—"मारुतानां हि पञ्चानामन्योन्यावरणं शृणु॥" (च. चि. स्था. अ. २८) इत्यादि। एषां च लक्षणं चरक एव द्रष्टव्यम्। विदेहे चैक एव वायुः स्थानकर्मभेदात् पञ्चेत्याहुः संसर्गिद्रव्यत्वेनैकाश्रये जलवत्पृथगवस्थानानुपपत्तेः। ईशानोऽप्याह,—यथैको देवदत्तः स्थानभेदात् गृहस्थो वानप्रस्थः, कर्मभेदात् कुम्भकारो मालाकार इत्युच्यते, तथा वायुरपीति॥२२-२६॥

आक्षेपकस्य सामान्यलक्षणमाह—

यदा तु धमनीः सर्वाः कुपितोऽभ्येति मारुतः।
तदाऽऽक्षिपत्याशु मुहुर्मुहुर्देहं मुहुश्चरः॥२७॥ [सु० २।१]
मुहुर्मुहुश्चाक्षेपणादाक्षेपक इति स्मृतः।

कुपित वायु जब सब धमनियों में आ जाता है, तब वह (वायु) बार २ शीघ्रतापूर्वक शरीर को आक्षिप्त करता है; एवं बार २ आक्षेपण करने से ही इस व्याधि को आक्षेपक कहा जाता है।

मधु०—आक्षेपकस्य सामान्यलक्षणमाह—यदा त्वित्यादि। सर्वा इति ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्गाः। आक्षिपति देहं हस्त्यारूढपुरुषस्येव गात्रं चालयति। मुहुश्चर इति हेतुगर्भविशेषणम्।

१ मुहुर्मुहुस्तदाक्षेपात्. २ अयं रोगः अरब्बीभाषायां (युनानी वैद्यके) 'तशन्नुज' इत्यभिधानेन, आंग्लभाषायाञ्च Convulsions 'कन्वल्शन्स' इत्यभिधानेन प्रसिद्धः.

'बहिश्चर' इति पाठान्तरे कोष्ठाद्बहिः शाखागतश्चरन्नाक्षेपकं करोतीत्यर्थः । चन्द्रिकाकारस्त्वेतन्नानुमन्यते, स्थानगाम्भीर्यादाक्षेपकस्य तदारम्भकवायोर्बहिश्चरत्वायुक्तत्वात् ॥२७॥

(बहिश्चर इति—) मुहुश्चर के स्थान पर 'बहिश्चर' इस पाठान्तर में इसका अर्थ यह है कि कोष्ठ से बाहर अर्थात् शाखाओं में घूमता हुआ वायु आक्षेपक को करता है; परन्तु चन्द्रिकाकार इस व्याख्यान से सहमत नहीं है; कारण कि आक्षेपक का स्थान गम्भीर होता है, अतः उसके आरम्भक वायु का भी स्थान गम्भीर होना चाहिए, उसका बहिश्चरण अयुक्त है ।

अपतन्त्रकस्य स्वरूपमाह—

क्रुद्धः स्वैः कोपनैर्वायुः स्थानादूर्ध्वं प्रपद्यते ॥२८॥
पीडयन् हृदयं गत्वा शिरः शङ्खौ च पीडयन् ।
धनुर्वन्नमयेद् गात्राण्याक्षिपेन्मोहयेत् तदा ॥२९॥
स कृच्छ्रादुच्छ्वसेच्चापि स्तब्धाक्षोऽथ निमीलकः ।
कपोत इव कूजेच्च निःसंज्ञः सोऽपतन्त्रकः ॥३०॥

अपतानकस्य लक्षणमाह—

दृष्टिं संस्तभ्य संज्ञां च हत्वा कण्ठेन कूजति ।
हृदि मुक्ते नरः स्वास्थ्यं याति मोहं वृते पुनः ॥३१॥
वायुना दारुणं प्राहुरेके तदपतानकम् ।

अपने रूक्ष आदि प्रकोपनों (निदानों) से प्रकुपित हुआ वायु जब स्थान (पक्काशय) से ऊपर (शिर) की ओर जाता है, तो पूर्व हृदय में जा उसे पीडित कर तदनु शिर और शंख स्थान को प्राप्त हो तथा उन्हें पीडित करता हुआ गात्रों को धनुष की तरह नमाता है, शरीर को चलाता है और इन्द्रियों को मोहित कर देता है । एवं रोगी कठिनता से श्वास लेता है और स्तब्धनेत्र वा निमीलितनेत्र हो जाता है । साथ ही वह रोगी विसंज्ञ होकर कबूतर की तरह कूजन करता है । इसे अपतन्त्रक रोग कहा है । भाव यह है कि जिसमें उक्त लक्षण हों, वह अपतन्त्रक रोग है । जब प्रकुपित वात रूपग्रहणसमर्थ दृष्टि को आच्छादित कर ज्ञानविषयिणी बुद्धि को नष्ट कर कण्ठ से कूजन कराती है तथा जब वह प्रकुपित वात हृदय को छोड़ देती है, तब मनुष्य स्वास्थ्य को प्राप्त हो जाता है; और पुनः जब वह हृदय को व्यावृत कर लेता है तो मनुष्य मूर्च्छित हो जाता है । इसी रोग को कई अपतानक रोग कहते हैं अथवा इसी अपतन्त्रक को ही कई आचार्य अपतानक मानते हैं ।

वक्तव्य—भाव यह है कि 'क्रुद्धैः' से 'सोऽपतानकः' तक अपतानक का लक्षण है और तदनु अपतन्त्रक का लक्षण है, ऐसा कोई कहते हैं परन्तु अन्य कई

---

१ अयं हि अरव्वीभाषायां 'इखूतनाक उल रहम' इतिनाम्ना; इङ्गलिशभाषायाञ्च 'हिस्टेरिया' (Hysteria) इति नाम्ना प्रसिद्धः. २ अयं हि इङ्गलिशभाषायां 'टिटनस्' (Totanus) नाम्ना प्रसि°
३ अत्रान्तर्भाविण्यर्थः.

आचार्य कहते हैं कि जब वही अपतन्त्रक दृष्टि को स्तम्भित करना आदि लक्षणों से युक्त होता है, तो अपतानक कहलाता है। यहां आतङ्कदर्पणकार कहता है कि—तमेवापतन्त्रकमेके त्वपतानकमाहुः। तन्त्रान्तरेऽपतन्त्रकलक्षणं पठितम्। तद्यथा—"क्रुद्धः स्वैः कोपनैर्वायुरपानोना भिसंश्रयः। संदूष्य हृदयस्थं च मनो व्याकुलयेत्ततः॥ पीडयन् हृदयं प्राप्य शिरः शङ्खौ च पीडयेत्। आक्षिप्य चाखिलं देहं मोहयेच्च पुनः पुनः॥ स कृच्छ्रादुच्छ्वसेच्चापि स्वेदशैत्ययुतो बहिः। स निद्रां लभते नीरं प्राप्य चाशु प्रबुध्यते॥ त्रसते कम्पते भूयो निसंज्ञः सोऽपतन्त्रकः। प्रलापो वक्त्रकटुता भ्रमो मूर्च्छाऽरुचिस्तृषा॥ तस्मिन्पित्तान्विते स्वेदः पीताभः शीतकामिता। शिरोऽङ्गगौरवं ग्लानिः शीतद्विट् मन्दवेदनः। कफान्विते च सदनं शैत्यं च हृदयग्रहः॥ वातोल्बणेऽङ्गस्फुरणं शिरोमन्याकटिव्यथा। धैर्यादिविप्लवो दैन्यं विषयेष्वनवस्थितिः" इति (आ० द०)।

मधु०—अस्यैवावस्थाविशेषावपतन्त्रकापतानकावाह—क्रुद्ध इत्यारभ्य एके तदपतानकमित्यन्तेन। स्वैः कोपनैरित्यनेन रूक्षादिकुपितः स्वतन्त्रो नत्वावरणकुपित इतीशानः। निमीलिताक्षः स्तब्धाक्षो वा भवतीत्यर्थः। आक्षेपकश्चतुर्विधो भवति, दण्डापतानकोऽभ्यन्तरायामो वहिरायामोऽभिघातजश्चेति। दृढबलेन यद्यप्याक्षेपकात् पूर्वमन्तरायामवहिरायामौ पठितौ, तथाऽप्याक्षेपकविशेषावेतौ मन्तव्यौ, सुश्रुतदर्शनात् ॥२८-३१॥

आक्षेपक चार प्रकार का होता है—१ दण्डापतानक, २ आभ्यन्तरायाम, ३ बहिरायाम और ४ अभिघातज। यद्यपि दृढबल ने अन्तरायाम और बहिरायाम आक्षेपक से पूर्व ही पढ़े हैं, परन्तु फिर भी ये आक्षेपक के भेद ही हैं; कारण कि सुश्रुत में ऐसा ही दीखता है।

दण्डापतानकस्य लक्षणमाह—

कफान्वितो भृशं वायुस्तास्वेव यदि तिष्ठति ॥३२॥ [सु० २।१]
दण्डवत्स्तम्भयेद्देहं स तु दण्डापतानकः[1]।

कफान्वित वायु जब उन धमनियों में ठहर जाता है, तो देह को दण्ड की तरह स्तब्ध कर देता है। इस रोग को दण्डापतानक कहते हैं।

मधु०—एषां लक्षणमाह—कफान्वित इत्यादि। भृशं कफान्वित इत्यनेन पित्तमपि न वार्यत इत्याहुः। चरके त्वस्यासाध्यत्वं केवलवातजत्वेन द्रष्टव्यम्। यदाह—"पाणिपादशिरःपृष्ठश्रोणीः स्तभ्नाति मारुतः। दण्डवत् स्तब्धगात्रस्य दण्डकः सोऽनुपक्रमः॥" (च. चि. स्था. अ. २८) इति। तास्विति सर्वधमनीषु ॥३२॥

'भृशं' शब्द से यह प्रतीत होता है कि इसमें पित्त का विवरण भी नहीं है। चरक ने वातजन्य होने पर ही इसकी असाध्यता मानी है, इत्यादि।

धनुःस्तम्भस्य लक्षणमाह—

धनुस्तुल्यं नमेद्यस्तु स धनुःस्तम्भसंज्ञकः[2] ॥३३॥ [सु० २।१]

---

१ स दण्डवत्स्तम्भयति कृच्छ्रो दण्डापतानकः. २ अयं हि आंग्लभाषायां 'प्लेनोस्थोटेनस' (Plenosthotonos) इति नाम्ना प्रसिद्धः.

जो मनुष्य धनुष के समान नँव जाता है, उसे धनुस्तम्भ जानना चाहिए। इसका भाव यह है कि जिस रोग में मनुष्य धनुष के समान झुक जाता है उसे धनुस्तम्भ रोग कहते हैं।

मधु०—अन्तरायामवहिरायामयोः साधारणं रूपमाह—धनुस्तुल्यमित्यादि ॥३३॥

अभ्यन्तरायामस्य धनुःस्तम्भस्य लक्षणमाह—

अङ्गुलीगुल्फजठरहृद्वक्षोगलसंश्रितः ।
स्नायुप्रतानमनिलो यदाऽऽक्षिपति वेगवान् ॥३४॥ [सु० २।१]
विष्टब्धाक्षः स्तब्धहनुर्भग्नपार्श्वः कफं वमन् ।
अभ्यन्तरं धनुरिव यदा नमति मानवम्[1] ॥३५॥ [सु० २।१]
तदाऽस्याभ्यन्तरायामं[2] कुरुते मारुतो बली ।

वाह्यायामस्य (धनुःस्तम्भस्य) लक्षणमाह—

वाह्यस्नायुप्रतानस्थो वाह्यायामं[3] करोति च ॥३६॥ [सु० २।१]
तमसाध्यं बुधाः प्राहुर्वक्षःकट्यूरुभञ्जनम् ।

अँगुली, गुल्फ, उदर, हृदय, वक्ष और गल में संश्रित वेगवान् वायु जब स्नायु आदि के जाल को आक्षिप्त (प्रचालित) करता है तो मनुष्य विष्टब्धनेत्र, स्तब्धहनु, त्रुटितपार्श्व एवं कफोद्वामी होता हुआ यदि धनुष की तरह अन्दर की ओर झुक जाता है; अथवा जब बली वायु धनुष की तरह अन्दर की ओर झुका देता है तो आभ्यन्तरायाम हो जाता है। एवं यदि वही वायु बाह्य स्नायु आदि के जाल में स्थित हो जाता है तो बाह्यायाम कर देता है। इस बाह्य आयाम को वक्ष, कटी और ऊरुभंजक होने के कारण विद्वान् असाध्य कहते हैं।

मधु०—विशेषलक्षणमाह—अङ्गुलीत्यादि । वक्षो वाहुद्वयान्तरम् । हृदयं तदभ्यन्तरं धङ्गुलम् । स्नायुप्रतानं लतावदनेकप्ररोहं स्नायुजालं; स्नायुरित्युपलक्षणं, तेन सिराकण्डरयोरपि ग्रहणम् । यदुक्तं तन्त्रान्तरे,—"महाहेतुर्बली वायुः सिराः सस्नायुकण्डराः । मन्यापृष्ठाश्रिता वाह्याः संशोष्यायामयेद्बहिः"—इत्यादि । अभ्यन्तरायामं क्रोडे नतं, वाह्यायामं पृष्ठे नतम् । अन्तरायाम-वहिरायामाभ्यां तन्त्रान्तरोक्तकुब्जस्यावरोधः । यदुक्तं,—"हृदयं यदि वा पृष्ठमुन्नतं क्रमशः सरुक् । क्रुद्धो वायुर्यदा कुर्यात्तदा तं कुब्जमादिशेत्"—इति ॥३४—३६॥

अन्तरायाम और बहिरायाम से कुब्ज का भी अवरोध (ग्रहण) हो जाता है; भाव यह है कि—तन्त्रान्तर में कुब्ज एक रोग माना है, परन्तु यहां नहीं माना; कारण कि यहां कुब्ज का अन्तर्भाव अन्तरायाम और बहिरायाम में हो जाता है।

अभिघातजाक्षेपस्य लक्षणमाह—

कफपित्तान्वितो वायुर्वायुरेव च केवलः ॥३७॥ [सु० २।१]
कुर्यादाक्षेपकं त्वन्यं चतुर्थमभिघातजम् ।

---

१ मानवः. २ अयं हि इङ्गलिशभाषायां 'एम्प्रोस्थोटोनस्' (Emprosthotonos) कथ्यते. ३ अयं च 'ओपिस्थोटोनस्' (Opisthotonos) नाम्नोच्यते.

कफ से अन्वित वायु वा पित्त से अन्वित वायु अथवा केवल वायु आक्षेपक को करता है। एवं चतुर्थ आक्षेपक अभिघातज होता है।

मधु०—उक्तानामाक्षेपकप्रकाराणां कफपित्तानुबन्धमाह—कफपित्तान्वित इत्यादि। एतच्च दण्डापतानकलक्षणमेव जेज्जटेन व्याख्यातम्। पित्तकफानुबन्धश्चात्र शैत्यशोथगुरुत्वानी-त्यादिनोक्तलक्षण एव बोध्यः। चतुर्थमभिघातजमिति दण्डापतानकादित्रितयापेक्षया चतुर्थत्वम्, अभिघातजं दण्डाद्यभिघातकुपितवातजम्, अस्य च लक्षणं—"यदा तु धमनीः सर्वाः"—इत्यादि-नोक्तसामान्यलक्षणं द्रष्टव्यम् ॥३७॥

अपतानकस्य प्रत्याख्येयतामाह—

गर्भपातनिमित्तश्च शोणितातिस्रवाच्च यः ॥३८॥ [सु० २।१]
अभिघातनिमित्तश्च न सिद्ध्यत्यपतानकः।

जो अपतानक गर्भपात से, रक्तातिस्राव से वा अभिघात से होता है, वह साध्य नहीं होता।

मधु०—असाध्यत्वमाह—गर्भपातेत्यादि। गदाधरस्त्वाह—कफपित्तान्वित इत्यादिना निमित्तभेदेनाक्षेपकश्चतुर्धेति, तद्यथा—एकः कफान्वितेन वातेन, द्वितीयः पित्तान्वितेन, तृतीयः केवलेन, चतुर्थोऽभिघातेनेति। अत्र पक्षे गर्भपातशोणितातिस्रावजौ केवलवातेन ग्राह्यौ, एतेषां च मुहुर्मुहुराक्षेपणं बोध्यम्, आक्षेपकविशेषत्वात् ॥३८॥

पक्षवधस्य संप्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

गृहीत्वाऽर्धं तनोर्वायुः सिराः स्नायूर्विशोष्य च ॥३९॥ [वा० ३।१५]
पक्षमन्यतरं हन्ति सन्धिबन्धान्विमोक्षयन्।
कृत्स्नोऽर्धकायस्तस्य स्यादकर्मण्यो विचेतनः ॥४०॥ [वा० ३।१५]
एकाङ्गरोगं[1] तं केचिदन्ये पक्षवधं विदुः।

सर्वाङ्गरोगस्य लक्षणमाह—

सर्वाङ्गरोगस्तद्वच्च[2] सर्वकायाश्रितेऽनिले ॥४१॥ [वा० ३।१५]

प्रकुपित वायु अर्धनारीश्वराकार से शरीर के आधे हिस्से को प्राप्त कर वहां की सिरा और स्नायुओं को सुखाता हुआ, सन्धियों के बन्धनों को शिथिल कर किसी एक शरीर के अर्धभाग को नष्ट कर देता है; अर्थात् जिस आधे शरीर में प्रविष्ट होता है, उसी आधे शरीर के सिरास्नायुओं को सुखा, सन्धिबन्धनों को शिथिल कर उस आधे शरीर को भी निश्चेष्ट कर देता है। एवं जिस मनुष्य को यह रोग हो जाता है, उस मनुष्य का सम्पूर्ण आधा शरीर कर्मशक्ति तथा चेतना-शक्ति से रहित हो जाता है। इस रोग को कई एक आचार्य एकाङ्गरोग कहते हैं; और दूसरे पक्षवध कहते हैं (जानते हैं)। उपर्युक्त प्रकार से प्रकुपित वायु

१ अ० इस्तिरखा, 'फालीज'; इ० हेमिप्लेजिया (Hemiplegia). २ इ० डायप्लेजिआ (Diplegia).

यदि सारे शरीर में व्याप्त होकर सारे शरीर में उपर्युक्त लक्षण कर दे, तो उसे सर्वाङ्ग वात (रोग) कहा जाता है।

मधु०—पक्षवधमाह—गृहीत्वेत्यादि । अर्धमिति अर्धमर्यादयाऽर्धनारीश्वरवत् । पक्षं बाहुकक्षपार्श्वादिभागम्, अन्यतरमिति वामं दक्षिणं वा । सन्धिबन्धान् कफसहितस्नायुभिर्बद्धान् मोक्षयन्निति गदाधरः; अत एव सिराः स्नायूर्विशोष्येत्युक्तम् । अर्धकाय इत्युक्तेऽपि कृत्स्नग्रहणं युगपत् सर्वार्धाङ्गव्याप्त्यर्थम् । अकर्मण्य ईषच्चेष्टाक्षमः । विचेतनोऽल्पचेतनः, ईषत्स्पर्शादिज्ञानवानित्यर्थः । तद्वच्चेत्यनेन सिराः स्नायूर्विशोष्य चेत्यादिसंप्राप्तिं लक्षणं चातिदिशति ॥३६–४१॥

तत्तद्दोषावृतत्वरूपेण पक्षवधस्य साध्यत्वादिकलक्षणान्याह—

दाहसन्तापमूर्च्छाः स्युर्वायौ पित्तसमन्विते ।
शैत्यशोथ[1]गुरुत्वानि तस्मिन्नेव कफान्विते ॥४२॥ [सु० २।१]
शुद्धवातहतं पक्षं कृच्छ्रसाध्यतमं विदुः ।
साध्यमन्येन संयु[2]क्तमसाध्यं क्षयहेतुकम् ॥४३॥ [सु० २।१]

उपर्युक्त रोग में वायु जब पित्तान्वित हो तो दाह, सन्ताप और मूर्च्छा होती है; एवं कफान्वित हो तो शीतता, शोथ और गुरुता होती है । शुद्ध वात से हतपक्ष (पक्षाघात) कृच्छ्रसाध्यतम होता है; और जब पित्त वा कफ से अन्वित वात से पक्षाघात हो तो साध्य, परन्तु जब धातुओं के क्षय से प्रकुपित केवल वातजन्य पक्षाघात हो, तो वह असाध्य होता है । इसमें शुद्धवातज पक्षाघात को कृच्छ्रसाध्यतम कहा है; इसका भाव यह है कि रोगों के भेद दो प्रकार के होते हैं; एक साध्य, दूसरा असाध्य । इनमें से प्रथम (साध्य) दो प्रकार का होता है । एक सुसाध्य, दूसरा कृच्छ्रसाध्य । एवं असाध्य भी दो प्रकार का होता है; एक याप्य, दूसरा अचिकित्स्य । इसके बाद साध्य के दोनों भेद (सुखसाध्य और कृच्छ्रसाध्य) तीन भेदों में विभक्त होते हैं—एक प्रथम, दूसरा मध्य और तीसरा उत्कृष्ट । इसी अभिप्राय को लेकर आचार्य सुश्रुत ने यहां 'तमप्' प्रत्यय दिया है; क्योंकि शुद्ध वात से हतपक्ष तीसरी कोटि का कृच्छ्रसाध्य है; अर्थात् इसकी साध्यता में अत्यन्त परिश्रम की आवश्यकता है[3] ।

मधु०—तस्यैव साध्यासाध्यज्ञानार्थमाह—दाहेत्यादि । एतच्च लक्षणमन्यत्रापि वातरोगे द्रष्टव्यम्, अत एव सामान्येन वायाविति कृतवान् । शुद्धः केवलः । अन्येनेति कफेन पित्तेन वा । क्षयहेतुकमिति धातुक्षयकुपितशुद्धवातजमिति ॥४२–४३॥

अर्दितस्य निदानपूर्विकां संप्राप्तिं लक्षयति—

उच्चैर्व्याहरतोऽत्यर्थं खादतः कठिनानि वा[4] ।
हसतो जृम्भतो वापि भाराद्विषमशायिनः[5] ॥४४॥ [सु० २।१]

---

१ शोफ. २ संसृष्टं. ३ एनमेव प्रकारं निर्दिशन्नाह चरको यथा—"सुखसाध्यं मतं साध्यं कृच्छ्रसाध्यमथापि च । द्विविधं चाप्यसाध्यं स्याद्याप्यं यच्चानुपक्रमम् ॥ साध्यानां त्रिविधश्चाल्पमध्यमोत्कृष्टतां प्रति । विकल्पो, नत्वसाध्यानां नियतानां विकल्पना" (च. सू. स्था. अ. १०) ॥. ४ च. ५ विषमाच्छयनादपि.

शिरोनासौष्ठचिबुकललाटेक्षणसन्धिगः ।
अर्दयत्यनिलो वक्त्रमर्दितं जनयत्यतः ।

आर्दितस्य स्वरूपमाह—

वक्रीभवति वक्त्रार्धं ग्रीवा चाप्यपवर्तते ॥४५॥ [सु० २।१]
शिरश्चलति वाक्सङ्गो नेत्रादीनां च वैकृतम् ।
ग्रीवाचिबुकदन्तानां तस्मिन्पार्श्वे च वेदना ॥४६॥ [सु० २।१]
(यस्याग्रजो रोमहर्षो वेपथुर्नेत्रमाविलम् ।
वायुरूर्ध्वं त्वचि स्वापस्तोदो मन्याहनुग्रहः ॥)
तमर्दितमिति प्राहुर्व्याधिं व्याधिविचक्षणाः । [सु० २।१]

अत्यधिक ऊँचे बोलते हुए, अत्यधिक कठिन पदार्थों को खाते हुए, (अत्यधिक) हंसते हुए, जृम्भाई लेते हुए अथवा ऊँचे नीचे स्थान में सोते हुए मनुष्य के सिर, नासिका, ओष्ठ, चिबुक, ललाट और नेत्र की सन्धियों में स्थित वायु जब मुख को पीड़ित करती है, तो अर्दित को उत्पन्न कर देती है। उस अर्दित से आधा मुख टेढ़ा हो जाता है और ग्रीवा भी कुछ मुड़ जाती है। सिर हिलने लगता है, वाणी स्तब्ध (बोलने में रुकावट) हो जाती है और नेत्रादि विकृत हो जाते हैं। एवं जिस ओर अर्दित होता है, उसी ओर ग्रीवा, चिबुक और दाँतों में व्यथा होने लगती है। (जिसकी पूर्वरूपावस्था में रोमहर्ष, कँपकँपी, नेत्रमलिनता, वायु का ऊर्ध्वगमन वा ऊर्ध्ववात, त्वक्सुप्तता, तोद, मन्याग्रह और हनुग्रह होता है, उस व्याधि को व्याधिज्ञ वैद्य अर्दित कहते हैं।

मधु०—अर्दितमाह—उच्चैरित्यादि। अर्दयति पीडयति। अपवर्तते वक्रीभवति। चलति कम्पते। वाक्सङ्गोऽनिर्गमो वचनस्य। आदिशब्देन भ्रूगण्डादीनां ग्रहणम्। वैकृतं वेदनास्फुरण-वक्रत्वादिकम्। ग्रीवेत्यादि, यस्मिन् पार्श्वेऽर्दितं तस्मिन् ग्रीवादीनां वेदनेति योज्यम्। तन्त्रान्तरे तु मुखार्धवच्छरीरार्धव्यापकोऽप्यर्दितः पठितः। यदाह दृढबलः,–"अर्धे तस्मिन् मुखार्धे वा केवले स्यात्तदर्दितम् ॥" (च. चि. स्था. अ. २८) इति । ननु, यद्येवं तदाऽर्दितार्धाङ्ग-वातयोः को भेदः ? उच्यते, वेगित्वेनार्दिते कदाचिद्वेदना भवति, अर्धाङ्गवाते तु सर्वदैवेति भेदः; अथवा यथोक्तः सर्वलिङ्गोऽर्दितस्तद्विपरीतस्त्वर्धाङ्गवात इत्याहुः । सुश्रुतेन तु मुखमात्र एवार्दितः पठितः, अर्धशरीरस्यार्धाङ्गवातेन लब्धत्वात्। स एवात्र माधवेन लिखितः ॥४४–४६॥

(तन्त्रान्तर इत्यादि—) तन्त्रान्तर में तो आधे मुख की तरह आधे शरीर में भी होने वाला अर्दित कहा है। जैसे दृढबल ने कहा है कि 'आधे शरीर में वा आधे मुख में अथवा केवल आधे शरीर वा आधे मुख में उपर्युक्त लक्षणों वाला जो रोग होता है, वह अर्दित है' (प्रश्न—)। यदि ऐसा ही है, तो अर्दित और अर्धाङ्गवात का परस्पर भेद क्या है ? इस पर आचार्य कहते हैं कि—वेग के समय अर्दित में कभी २ पीड़ा होती है,

१ अर्दयित्वा. २ तु. ३ अर्दितरोगो युनानी वैद्यके 'लकवा' इति नाम्ना आंग्लभाषायाञ्च 'फेशल परेलिसिस्' (Facial paralysis) इति नाम्ना प्रसिद्धः.

परन्तु अर्धाङ्गवात में सर्वदा पीड़ा होती है, यह इनका परस्पर भेद है । अथवा कई 'यथोक्त सर्वलिङ्गान्वित अर्दित होता है और उससे विपरीत अर्धाङ्गवात होता है' ऐसा कहते हैं । सुश्रुत ने तो अर्दित केवल मुख में ही कहा है, क्योंकि आधे शरीर का अर्दित अर्धाङ्गवात से आ जाता है ।

अर्दितस्य प्रत्याख्येयतामाह—

क्षीणस्यानिमिषाक्षस्य प्रसक्ताव्यक्तभाषिणः ॥४७॥ [सु० २।१]
न सिध्यत्यर्दितं गाढं त्रिवर्षं वेपनस्य च । [सु० २।१]

क्षीण, निमेष में असमर्थ, प्रसक्तभाषी और अव्यक्तभाषी मनुष्य का अर्दित, तथा तीन वर्ष का पुराना एवं कम्पनशील मनुष्य का गाढ अर्दित अच्छा नहीं होता ।

मधु०—तस्यासाध्यलक्षणमाह—क्षीणस्येत्यादि । अनिमिषाक्षस्य निमेषासमर्थचक्षुषः । प्रसक्ताव्यक्तभाषिण इति प्रसक्तं प्रकर्षेण सक्तमप्रवृत्तम्, अव्यक्तं प्रपीडितवर्णपदं भाषितुं शीलं यस्य स तथा । अन्ये तु प्रसक्तं निरन्तरमाहुः; तन्न, चरके—"दीना जिह्वा समुत्क्षिप्ता काले सज्जति चास्य वाक् ॥" (च. चि. स्था. अ. २८) इति वचनात् । त्रिवर्षमिति अतीतवर्षत्रयम्; अथवा त्रयाणां मुखनासाचक्षुषां वर्षः स्रवणं यत्र तत्तथेत्याहुः ॥४७॥

सभी आक्षेपकादि रोगों के वेग शान्त होने पर मनुष्य स्वस्थ हो जाता है ।

आक्षेपकादीनां वेगोपशमे स्वस्थताजनकत्वमाह—

गते वेगे भवेत् स्वास्थ्यं सर्वेष्वाक्षेपकादिषु ॥४८॥ [वा० ३।१५]

मधु०—आक्षेपकादीनामर्दितान्तानां वेगित्वमाह—गत इत्यादि । स्वास्थ्यं पीडालाघवं, भारापगमे सुखित्वव्यपदेशवत् ॥४८॥

हनुग्रहस्य निदानपूर्विकां संप्राप्तिमाह—

जिह्वानिर्लेखनाच्छुष्कभक्षणादभिघाततः ।
कुपितो हनुमूलस्थः स्रंसयित्वाऽनिलो हनुम् ॥४९॥ [वा० ३।१५]

हनुग्रहस्य लक्षणमाह—

करोति विवृतास्यत्वमथवा संवृतास्यताम् ।
हनुग्रहः[1] स तेन स्यात्कृच्छ्राच्चर्वणभाषणम् ॥५०॥ [वा० ३।१५]

जिह्वा घर्षण से, शुष्क द्रव्यों के खाने से और अभिघात से कुपित हनु-मूलस्थ वायु हनु को ढीला (स्थान से च्युत) कर मुख को खुला हुआ वा बन्द कर देता है । इसी को हनुग्रह कहा जाता है । इस रोग में चबाने और बोलने में कठिनता होती है ।

मधु०—हनुग्रहमाह—जिह्वेत्यादि । हनुमूलस्थः कपोलमूलस्थः[3] । हनुं स्रंसयित्वाऽधः कृत्वा । विवृतास्यत्वमास्यविवृतिं, संवृतास्यतामास्यसंवृतिं; सा च वायोरनियतकारित्वात् ॥४९-५०॥

---

१ प्रसक्त सक्तभाषिणः. २ हनुस्तम्भः, ट्रिस्मस् (Trismus), लॉक् जॉ (Lock jaw).
३ कपोलस्थः.

मन्यास्तम्भस्य निदानसंप्राप्तिपूर्वकं स्वरूपमाह—

दिवास्वप्नासमस्थानविवृतोर्ध्वनिरीक्षणैः[1] ।

मन्यास्तम्भं[2] प्रकुरुते स एव श्लेष्मणाऽऽवृतः ॥५१॥ [सु० २।१]

दिन में सोने से, असमस्थान तथा वक्रमार्गावलोकन से श्लेष्मावृत प्रकुपित वही वायु मन्यास्तम्भ नामक रोग को कर देता है।

मधु०—मन्यास्तम्भमाह—दिवास्वप्नेत्यादि । स एवेति वातः ॥५१॥

जिह्वास्तम्भस्य लक्षणमाह—

वाग्वाहिनीसिरासंस्थो जिह्वां स्तम्भयतेऽनिलः ।

जिह्वास्तम्भः[3] स तेनान्नपानवाक्येष्वनीशता ॥५२॥ [वा० ३।१५]

वाणी को वहन करने वाली सिराओं में स्थित वायु जिह्वा को स्तब्ध कर देता है। इस रोग को जिह्वास्तम्भ कहा जाता है। इसमें अन्न खाने, जल पीने और भाषण आदि करने की शक्ति नहीं रहती।

मधु०—जिह्वास्तम्भमाह—वागित्यादि । वाग्वाहिनीसिरासंस्थ इति वाग्वाहिनी या सिरा तत्र संस्थ इति योज्यं, समस्तपक्षे "पुंवत् कर्मधारयजातीयदेशीयेषु–" इत्यनेन पुंवद्भावप्राप्तेः । अन्नपानवाक्येष्वनीशतेति अन्नपानाभ्यवहारवचनेष्वसामर्थ्यम् ॥५२॥

सिराग्रहस्य लक्षणमाह—

रक्तमाश्रित्य पवनः कुर्यान्मूर्धधराः सिराः ।

रूक्षाः सवेदनाः कृष्णाः सोऽसाध्यः स्यात्सिराग्रहः ॥५३॥ [वा० ३।१५]

वायु रक्त में स्थिति कर ग्रीवागत सिराओं को रूक्ष, पीड़ित और कृष्ण कर देता है; इस रोग को सिराग्रह कहा जाता है, और यह स्वरूप से ही असाध्य है।

मधु०—सिराग्रहमाह—रक्तमित्यादि । मूर्धधरा इति ग्रीवागताः, तासां रूक्षत्वं वेदनावत्त्वं कृष्णत्वं च कुर्यात् । सोऽसाध्य इति स्वरूपेणैव, काकणकुष्ठवत् । शिरोग्रह इति पाठान्तरे शिरोधारकसिरादुष्ट्या शिरोवेदनाकारित्वात् 'शिरोग्रह' इति व्यपदेशः, लक्षणं तु तदेव ॥५३॥

गृध्रस्याः स्वरूपमाह—

स्फिक्पूर्वा कटिपृष्ठोरुजानुजङ्घापदं क्रमात् ।

गृध्रसी[4] स्तम्भरुक्तोदैर्गृह्णाति स्पन्दते मुहुः ॥५४॥ [च० ६।२८]

वाताद्वातकफात्तन्द्रागौरवारोचकान्विता । [च० ६।२८]

---

१ विकृताध्वनिरीक्षणैः. २ मन्यास्तम्भः युनानीवैद्यके इस्तिरखाय्उलचस्त्ररनाम्ना; ऑंग्लभाषायां च राय नेक (Wry neck) नाम्ना वा स्टिफ नेक (Stiffneck) अथवा टॉर्टिकॉलिस (Torticolis) नाम्ना प्रसिद्धः. ३ अ० इस्तिरखाय् उल लसान, इं० पॅरॅलिसिस् ऑफ द्री टंग् (Paralysis of the Tongue); ग्लॅासल पॅल्सी (Glossale Palsy). ४ गृध्रसी युनानी वैद्यके अरकुन्निशा वा वजे उल वरक इति नाम्ना, ऑंग्लभाषायां च सायाटिका (Sciatica) इति [illegible], भाषायां च रींगनवॉ इति नाम्ना प्रसिद्धः.

वातकफोल्वणस्वरूपायाः गृध्रस्या विशिष्टलक्षणमाह—

[वातजायां भवेत्तोदो देहस्यापि प्रवक्रता (?)।
जानुकट्यूरुसंधीनां स्फुरणं स्तब्धता भृशम् ॥५५॥
वातश्लेष्मोद्भवायां तु निमित्तं वह्निमार्दवम्।
तन्द्रा मुखप्रसेकश्च भक्तद्वेषस्तथैव च ॥५६॥]

वातिक गृध्रसी रोग स्फिक् स्थान से प्रथम प्रारम्भ होकर क्रमशः कटि, पृष्ठ, ऊरु, जानु, जङ्घा और पाँव में स्तम्भ, पीड़ा, तोद (सुई सी चुभान) तथा बार २ स्पन्दन करता है। इसका भाव यह है कि जो गृध्रसी स्तम्भ, पीड़ा और तोद से क्रमशः कटि, पृष्ठ, ऊरु, जानु, जङ्घा और पाँव को ग्रहण करती है, तथा बार २ स्पन्दन करती है, वह वातिक गृध्रसी जाननी चाहिए। एवं वात कफ से होने वाली गृध्रसी तन्द्रा, गुरुता और अरुचि से युक्त होती है। (वातिक गृध्रसी में तोद, शरीर का टेढ़ापन, जानु, कटि और ऊरु की सन्धियों में स्फुरण होता है; एवं इसमें स्तब्धता अत्यधिक होती है, वा बार २ होती है; एवं वातकफात्मक गृध्रसी में जठराग्नि की मृदुता कारण होती है, और उसमें तन्द्रा, मुखप्रसेक और भोजन में अरुचि हो जाती है)।

मधु०—गृध्रसीमाह—स्फिक्पूर्वेत्यादि। स्फिक् पूर्वा प्रथमतो ग्राह्या स्तम्भरुक्तोदैर्यस्याः सा स्फिक्पूर्वा; ईशानस्तु पूर्वा प्रथमा गृध्रसी वातादिति योजयति, एषा च व्याख्या स्फिक्शब्दस्य नपुंसकत्वेन 'पूर्वा स्फिक्कटीपृष्ठ'—इत्यादिपाठेन वोपपद्यते नान्यथा स्फिक्पूर्वम्' इति पाठान्तरं जानुजङ्घापदमित्यनेन योज्यम्। क्रमादिति न युगपत्। वातादिति छेदः। वातकफारब्धा गृध्रसी, सोक्तवातलक्षणयुक्ताऽपि तन्द्रागौरवादियुक्ता भवतीति गृध्रसीद्वयमुक्तम् ॥५४-५६॥

विश्वाच्याः स्वरूपमाह—

तलं प्रत्यङ्गुलीनां याः कण्डरा बाहुपृष्ठतः ॥५७॥ [सु० २।१]
बाह्वोः कर्मक्षयकरी विश्वाची चेति सोच्यते।

बाहु के पृष्ठभाग से प्रारम्भ होकर हस्ततल (हाथ के ऊपरले भाग) तक अँगुलियों की कण्डराओं को दूषित कर बाहुओं के कर्म को नष्ट करने वाली व्याधि 'विश्वाची' कहलाती है। यहां 'बाह्वोः' इस प्रकार का द्विवचन संभवता को लेकर दिया है। एवं सुश्रुत ने अपने गृध्रसी के "पार्ष्णि प्रत्यंगुलीनान्तु कण्डरा याऽनिलार्दिताः। सक्थ्नोः क्षेपं निगृह्णीयात् गृध्रसीति हि सा स्मृता"–(सु. नि. स्था. अ. १) इस लक्षण में भी द्विवचन सम्भवता को लक्ष्य करके ही दिया है; इसका यह अभिप्राय नहीं कि ये रोग एक अङ्ग में होते ही नहीं, प्रत्युत एकाङ्ग में भी बहुलता से देखे जाते हैं।

१ अयं रोगः युनानीवैद्यके 'इस्तिरखाय् उल यद' नाम्ना इङ्गलिशभाषायां च 'रेडियो अल्नर पॅरलिसिस् (Radio-ulnar Para lysis). २ सक्थ्न.

मधु०—विश्वाचीमाह—तलमित्यादि। तलं हस्तस्योपरिभागः, तलशब्दोऽत्रोपरिवचनः, यथा—भूतलमिति गयदासः। तेनायमर्थः—वाह्वोः पृष्ठं वाहुपृष्ठं, तत आरभ्य हस्ततलं लक्षीकृत्याङ्गुलीनां याः कण्डरास्ताः संदूष्य वाह्वोः कर्मक्षयकरी या सा विश्वाची; वाह्वोः कर्म ग्रहणाकुञ्चनादि, द्वित्वं चात्र संभवपरं, तेनैकवाहावपि भवति वातरक्तवत्। विश्वाची चेति चकारेण गृध्रसीविश्वाच्योः खल्लीसंज्ञां दर्शयति, तयोरपि करमूलावमोटनकारित्वात्; यदुक्तं हारीते—"विश्वाची गृध्रसी चोक्ता खल्ली तीव्ररुजान्विता"—इति गयदासः। चक्रस्त्वाह चरके-'खल्ली तु पादजङ्घोरुकरमूलावमोट्टनी' (च. चि. स्था. श्र. २८) इत्यनेन विश्वाच्याः पृथगेव खल्ली पठिता, सुश्रुतेन तु खल्ली न पठितैव; नहि तेन तन्त्रान्तरोक्तसर्वविकाराः पठ्यन्ते, चरकोक्तपरस्परवातावरणलक्षणमेव न पठितं, हारीतेन तु तीव्ररुजायोगाद्गृध्रसीविश्वाच्योः खल्लीत्वं पठितं, भवति हि धर्मान्तरयोगात् कस्यचिद्विकारस्य रोगान्तरत्वं, यथा—अष्ठीलैव प्रत्यष्ठीला, अश्मर्येव शर्करा, पाण्डुरोग एव कामलेत्यादि ॥५७॥

'विश्वाची चेति' में 'च' से गृध्रसी और विश्वाची की खल्ली संज्ञा दर्शाई है; क्योंकि ये भी करमूलावमोटन करती हैं। हारीत ने कहा भी है कि 'उक्त विश्वाची तथा गृध्रसी जब तीव्र पीड़ान्वित हो जाती है, तो खल्ली कही (जाती) है, (इति गयदासः)। इस पर चक्रपाणि कहता है कि—चरक में पाद, जङ्घा, ऊरु और कर इनके मूल को अवमोटन (जकड़ाहट वा मोड़न) करने वाली खल्ली होती है'। इस वाक्य से खल्ली विश्वाची से पृथक् ही पढ़ी है। सुश्रुत ने तो खल्ली पढ़ी ही नहीं, क्योंकि उसने तन्त्रान्तरों में कहे सारे विकार नहीं पढ़े। चरक प्रतिपादित परस्पर वातावरण के लक्षण ही नहीं पढ़े हैं। हारीत ने तो तीव्र पीड़ा रूप धर्म को लेकर गृध्रसी और विश्वाची को खल्ली कहा है; क्योंकि धर्मान्तर के साथ सम्बन्ध होने से कोई विकार दूसरा विकार भी हो जाता है। यथा—अष्ठीला ही प्रत्यष्ठीला, अश्मरी ही शर्करा और पाण्डुरोग ही कामला हो जाता है।

क्रोष्टुकशीर्षस्य स्वरूपमवतारयति—

वातशोणितजः शोथो जानुमध्ये महारुजः ॥५८॥ [सु० २।१]
ज्ञेयः क्रोष्टुकशीर्षस्तु स्थूलः क्रोष्टुकशीर्षवत्[२]।

वातरक्त नामक विकार से वा वात और शोणित से उत्पन्न, अत्यन्त पीड़ा वाला, शृगाल के सिर की तरह स्थूल, जानु में होने वाला शोथ क्रोष्टुकशीर्ष कहलाता है।

मधु०—क्रोष्टुकशीर्षमाह—वातेत्यादि। वातशोणितज इति वातरक्ताख्यविकारजः, चिकित्साभेदार्थं पृथक् पठित इति गयदासः। वातशोणिताभ्यां जात इति जेज्जटः। दृश्यते ह्ययं वातरक्तव्यतिरेकेणापि, जानुदेशनियतत्वेन विशिष्टलक्षणत्वेन चेतरवातरक्तशोथाद्भेद इति। क्रोष्टुकशीर्षवत् शृगालमस्तकवत् स्थूलः ॥५८॥

१ इन्फ्लेम्ड नी (Inflamd knee) इति आङ्ग्लभाषायाम्. २ शिरःक्रोष्टुकपूर्वं तु स्थूलः ष्टुक.पूर्ववत्.

गयदास इस व्याधि को वातरक्त नामक विकार से और जेज्जट वात और रक्त दोनों से उत्पन्न मानता है। यह वातरक्त विकार के बिना भी होता है, तथा केवल जानु देश में होने से एवं विशेष लक्षणों वाला होने से (यह) वातरक्त रोग से भिन्न है।

आद्यपादत्रयेण खञ्जस्य तुरीयपादेन च पङ्गोः स्वरूपमाह—

वायुः कट्याश्रितः सक्थ्नः कण्डरामाक्षिपेद्यदा ॥५९॥ [सु० २।१]
खञ्जस्तदा भवेज्जन्तुः पङ्गुः सक्थ्नोर्द्वयोर्वधात्।

कटी प्रदेश में आश्रित वायु जब सक्थि प्रदेश की कण्डरा को आक्षिप्त कर देता है, तो मनुष्य खञ्ज-लंगड़ा हो जाता है। एवं यदि दोनों सक्थियाँ प्रभावित (नष्ट) हो जाती हैं, तो मनुष्य पंगु (लूला) हो जाता है।

मधु०—खञ्जमाह—वायुरित्यादि। सक्थ ऊर्ध्वजङ्घायाः, कण्डरां महास्नायुम्, आक्षिपेत् ईषत् क्षिपेत्, किंचिद्गतिमत्त्वादिति गयदासः। सक्थ्नोरिति द्विवचनेनैव द्वित्वे लब्धे द्वयोरिति पदेन नियमयति,–सक्थिद्वयस्यैव वधात् पङ्गुः, एकसक्थिवधात् खञ्ज इति; वधश्चात्र गमनादि-क्रियानाशः ॥५६॥

कलायखञ्जस्य लक्षणं दर्शयति—

प्रक्रामन् वेपते यस्तु खञ्जन्निव च गच्छति ॥६०॥ [सु० २।१]
कलायखञ्जं तं विद्यान्मुक्तसन्धिप्रबन्धनम्।

जो मनुष्य चलता हुआ वा चलना प्रारम्भ करते ही काँपता है और खञ्ज की तरह चलता है, उस शिथिल सन्धि बन्धन वाले को कलायखञ्ज रोग से पीड़ित जानना चाहिए। यह रोग भी एक प्रकार का खञ्ज ही है। भेद केवल इतना है कि—इसमें खञ्जत्व स्वल्प होता है और खञ्ज में खञ्जत्व अधिक होता है। गमनारम्भ में कम्पन इसका विशेष तथा भेदकारक लक्षण है। 'कलायखञ्ज' शब्द रूढ़ है, परन्तु इसका अर्थ अल्पखञ्ज है।

मधु०—खञ्जविशेषमाह—प्रक्रामन्नित्यादि। प्रक्रामन्निति गमनमारभमाणो वेपते। प्रशब्दोऽयमादिकर्मणि। खञ्जन्निव गच्छति विकलयन्निव गच्छति, गमनारम्भे न वेपते तेन खञ्जादस्य भेदः। मुक्तसन्धिप्रबन्धनमिति शिथिलीकृतसन्धिबन्धनम्। कलायखञ्ज इति शास्त्रे रूढा संज्ञा; अयमेवान्यत्र खञ्जवात इत्युक्तः ॥६०॥

वातकण्टकस्य स्वरूपमाह—

रुक् पादे विषमन्यस्ते श्रमाद्वा जायते यदा ॥६१॥
वातेन गुल्फमाश्रित्य तमाहुर्वातकण्टकम्। [वा० ३।१५]

जब विषम—ऊँचे नीचे में पैर रखने के कारण वा श्रम के कारण प्रकुपित वायु से गुल्फ में पीड़ा होने लगती है, तो उसे वातकण्टक कहते हैं। यही वातकण्टक तन्त्रान्तर में 'खुड्कावात' तथा लोक में 'मचकोड' (मोच) कहलाता है। इसी को सुश्रुत ने भी इस प्रकार कहा है कि—"न्यस्ते तु विषमं(मे) पादे

१ लिम्प् (Limp). २ पॅरॅप्लेजिआ (Paraplegia). ३ लेथिरिज़्म् (Lathi

रुजः कुर्यात्समीरणः । वातकण्टक इत्येष विज्ञेयः खुडु(ल)काश्रितः"-(सु. नि. अ. १) इति ।

मधु०—वातकण्टकमाह—रुगित्यादि । यदा विषमपादन्यासकुपितः श्रमकुपितो वा वायुर्गुल्फे वेदनां जनयति, तं वातकण्टकमित्याहुः, अयमेवान्यत्र 'खुडुकावात' इत्युक्तः ॥६१॥

पाददाहं लक्षयति—

पादयोः कुरुते दाहं पित्तासृक्सहितोऽनिलः ॥६२॥ [सु० २।१]
विशेषतश्चंक्रमतः[1] पाददाहं तमादिशेत् ।

पित्त और रक्त से अन्वित वायु विशेषतः घूमते हुए मनुष्य के पैरों में दाह करता है । इस रोग को 'पाददाह' कहना चाहिए । भाव यह है कि—यह रोग अधिकतर घूमने पर होता है; परन्तु कभी २ बैठे हुए मनुष्यों के पैरों में भी होता है; अथवा पित्तरक्तान्वित वायु पैरों में जलन करता है और जो मनुष्य अतिभ्रमणशील होते हैं उनके पैरों में अत्यधिक जलन करता है अर्थात् अल्पभ्रमणशीलों में अल्प और बैठा रहने वालों को अत्यल्प जलन करता है ।

मधु०—पाददाहमाह—पादयोरित्यादि । विशेषतश्चङ्क्रमत इत्यनेन स्थितस्य मन्दो दाह इति दर्शयति । वैवर्ण्यादेरभावाद्वातरक्तादस्य भेदः ॥६२॥

पादहर्षस्य स्वरूपमाह—

हृष्येते चरणौ यस्य भवेतां चापि सुप्तकौ[2] ॥६३॥ [सु० २।१]
पादहर्षः[3] स विज्ञेयः कफवातप्रकोपतः[4] ।

जिस मनुष्य के पाँव रोमाञ्चान्वित झिनझिनाहट युक्त हों वा सो जावें (सुप्ति वात युक्त हो जावें) उस मनुष्य को वह कफ और वात के प्रकोप से हुआ 'पादहर्ष' नामक रोग जानना चाहिए ।

मधु०—पादहर्षमाह—हृष्येत इत्यादि । हृष्येते हर्षयुक्तौ भवतः, हर्षश्च रोमाञ्चप्रायोऽन्तः-शीतो झिणिझिणिवद्वेदनाविशेष इत्याहुः, झिणिझिणि तु न चिरानुबन्धिनी केवलवातजेति भेदः ॥६३॥

अंसशोषस्य रूपमाह—

अंसदेशस्थितो वायुः शोषयेदंसबन्धनम्[5] ॥६४॥ [सु० २।१]

अंस प्रदेश में स्थित प्रकुपित वात अंस के बन्धन को सुखा देती है जिससे अंसशोष रोग हो जाता है ।

मधु०—अंसेत्यादि । अंसेत्यादिना श्लोकार्धेनांसशोषः केवलवातज उच्यते । अंसबन्धकारकः श्लेष्मा अंसबन्धनः; एतदनन्तरम् ' अंसशोषं जनयेत् ' इति शेष इति कार्तिकः ॥६४॥

---

१ विशेषतश्चङ्क्रमणात्. २ हृष्यतश्चरणौ यस्य भवतश्च प्रसुप्तवत्. ३ अयमांग्लभाषायां नम्नेस ऑफ् फीट् (Numbnes of feet) अनेनाभिधानेनाभिधीयते. ४ प्रकोपजः. ५ शोषयित्वा. ऑस्टिओआर्थ्राइटिस् ऑफ दी शोल्डर जॉइन्ट (Osteoarthritis of the shoulder joint.)

अववाहुकस्य लक्षणमाह—

सिराश्चाकुञ्च्य तत्रस्थो जनयेदववाहुकम् ।

अंशप्रदेशस्थ प्रकुपित वात सिराओं (की कण्डराओं) का आकुञ्चन करके अवबाहुक रोग को उत्पन्न कर देता है ।

मधु०—अववाहुकमाह—सिराश्चेत्यादिना । तत्रस्थोऽसदेशस्थः, सिरा आकुञ्च्याववाहुकं जनयेत् । अयं वातकफजः । अन्ये तु मिलित्वाऽववाहुकलक्षणमाहुः; तन्न, यतः सुश्रुतेनोक्तम्—"अंसशोषाववाहुकयोर्बाहुमध्ये सिराव्यधः ॥" (सु. शा. स्था. अ. ८) इति । एतदनन्तरं सुश्रुतेन वाधिर्यं पठितम्—"यदा शब्दवहं वायुः" (सु नि. स्था. अ. १) इत्यादिना, माधवेन तु प्रकरणानुरोधं मन्यमानेन कर्णरोग एव तत् पठितं, किंतु सुश्रुतेन वातव्याधौ वाधिर्यं पठित्वाऽपि वाधिर्यकर्णशूलौ शालाक्येऽपि पठितौ, पुनरुक्तमिति चेत्; न, संप्राप्तिभेदभिन्नत्वात्; वातव्याधौ शब्दवहमित्यनेन कर्णशष्कुल्यवच्छिन्ननभोदेश उक्तः, शालाक्ये च शब्दवहाः सिरा इत्युक्तम् । माधवेन तु कर्णरोगे शब्दाश्रवणत्वाविशेषादेतदेव तत्र पठितमित्यविरोधः ॥—

(अन्ये त्वित्यादि—) अन्य आचार्य उपर्युक्त अर्धपद्य और इस अर्धपद्य के मेल से ही अवबाहुक लक्षण मानते हैं । परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि सुश्रुत ने कहा है कि—'अंसशोष और अववाहुक रोग में बाहु के मध्य भाग में शिरावेध करना चाहिए' । सुश्रुत ने इस रोग के अनन्तर यदेत्यादि से बाधिर्य का निर्देश किया है, परं माधव ने प्रकरणवश उसका निर्देश कर्ण रोग में ही किया है । सुश्रुत ने वातव्याधि में बाधिर्य का निर्देश करने के बाद शालाक्य में भी पढ़ा है, परन्तु यहां पुनरुक्त दोष नहीं है, क्योंकि इनकी सम्प्राप्ति में भेद है । वातव्याधि में पठित बाधिर्य में 'शब्दवहं' का अर्थ कर्णशष्कुली सहित नभः (रिक्त) स्थान कहा है, परन्तु शालाक्य में शब्दवह शिराएं कही हैं, अतः दोष नहीं है । माधव ने तो दोनों की शब्दाश्रवण रूप समानता को लेकर एक ही कहा है, क्योंकि दूसरे के धर्म का भी कथन उसके कहने से ही हो जाता है ।

संप्राप्तिपूर्वकं मूकमिन्मिनगद्गदवाचां लक्षणमाह—

आवृत्य वायुः सकफो धमनीः शब्दवाहिनीः ॥६५॥ [सु० २।१]
नरान् करोत्यक्रियकान् मूकमिन्मिनगद्गदान्[3] ।

कफरहित वायु शब्दवाहिनी धमनियों को आवृत कर मनुष्य को अक्रिय अर्थात् अवचन वा अल्पवचनशील कर देता है । जो वाणी रहित होते हैं, वे मूक, जो अल्पवाणी वाले तथा सानुस्वार बोलते हैं, वे मिन्मिन और जो कुछ छोड़ २ कर बोलते हैं, वे गद्गद होते हैं ।

मधु०—मूकादींस्त्रीनाह—आवृत्येत्यादि । अक्रियकान् अवचनक्रियकान्; नञयमभावे ईषदर्थे च । आद्यो मूकोऽवचनः, द्वितीयो मिन्मिनः सानुनासिकसर्ववचनः, तृतीयो गद्गदो लुप्तपदव्यञ्जनाभिधायी । एषां च समानकारणाभिधानेऽपि दुष्टेरुत्कर्षादिभिरदृष्टवशाद्वा भेद इत्युन्नेयम् ॥६५॥

१ अत्र कण्डरार्थे सिराशब्दप्रयोगः इति प्रत्यक्षशारीरोपोद्घाते आचार्य गणनाथसेनः. २ सकफो वायुः. ३ सं० मूकत्व, पं० गूंगापन, अ० बुकम, इ० अफेजिया (Aphasia).

तून्याः स्वरूपमाह—

अधो या वेदना याति वर्चोमूत्राशयोत्थिता ॥६६॥ [सु० २।१]
भिन्दतीव गुदोपस्थं सा तूनी[1] नाम नामतः ।

पक्काशय और मूत्राशय से उठकर गुदा और लिङ्ग[2] (के स्थानों) का भेदन सा करती हुई जो पीड़ा नीचे (गुदा और उपस्थ) की ओर जाती है, वह (पीड़ारूप व्याधि) नाम से तूनी कहलाती है ।

मधु०—तूनीमाह—अध इत्यादि । अध इति गुदोपस्थम् । वेदना शूलम् । वर्चोमूत्राशयोत्थिता पक्काशयमूत्राशयोत्थिता, पक्काशयमूत्रपुटयोर्व्यस्तसमस्तयोर्जाता । उपस्थं स्त्रीपुंसयोर्गुह्यम् । नामतः प्रसिद्धितः ॥६६॥

प्रतितून्याः स्वरूपमाह—

गुदोपस्थोत्थिता या तु प्रतिलोमं[3] प्रधाविता ॥६७॥ [सु० २।१]
वेगैः पक्काशयं याति प्रतितूनीति सोच्यते[4] ।

गुदा और लिङ्ग (के स्थान) से उठकर ऊपर की ओर जाती हुई जो पीड़ा वातकृत वेगों से पक्काशय को जाती है, वह प्रतितूनी कहलाती है । भाव यह है कि—यह रोग तूनी से सर्वथा विपरीत है । तद्यथा— तूनी में पीड़ा मूत्राशय और मलाशय से उठकर गुदा और उपस्थ को पीड़ित करती हुई नीचे की ओर गुदा और उपस्थ तक जाती है; और यह नीचे से अर्थात् गुदा और उपस्थ से उठकर गुदा और उपस्थ को व्यथित करती हुई ऊपर की ओर पक्काशय और मूत्राशय की ओर जाती है ।

मधु०—प्रतितूनीमाह—गुदेत्यादि । प्रतिलोममित्यूर्ध्वम् । वेगैर्वातकृतोद्गमैः । सेत्यनेन भिन्दतीवेत्यतिदिश्यते ॥६७॥

आध्मानस्य लक्षणं दर्शयति—

साटोपमत्युग्ररुजमाध्मातमुदरं भृशम् ॥६८॥ [सु० २।१]
आध्मानमिति[5] तं विद्याद्घोरं वातनिरोधजम्[6] ।

गुड़ गुड़ शब्द, अत्युग्र पीड़ा और अतीव फुलाव से युक्त उदर जिस रोग में हो, उस वातनिरोधज घोर रोग को 'आध्मान' जानना चाहिए ।

वक्तव्य—व्यवहार में आध्मान, आटोप और आनाह ये तीन शब्द प्रायः एक से आते हैं, परन्तु इनमें भेद अवश्य है और वह निम्न है—

	आध्मान	आनाह	आटोप
१ दोष–	वातज	वात(कफ)ज	सपित्तदोषद्वयज
२ स्थान–	पक्काशय (गुदा)	आमाशय; पक्काशय	समस्तोदर
३ लक्षण–	वेदना के वेग	निचित आम और मल की अप्रवृत्ति	उदर तना हुआ

१ तूनीत्यभिधीयते. २ लिङ्गं विशेषकं चिह्नम. ३ प्रतिलोमविसर्पिणी. ४ सा स्मृता. ५ ट्योन: टिस् (Tympanites). ६ आध्मानमिति जानीयात्.

प्रत्याध्मानस्य स्वरूपमाह—

विमुक्तपार्श्वहृदयं तदेवामाशयोत्थितम् ॥६९॥ [सु० २।१]
प्रत्याध्मानं विजानीयात्कफव्याकुलितानिलम् ।

आटोपादि लक्षणयुक्त वही आध्मान जब पार्श्व और हृदय को छोड़ कर आमाशय में होता है, तब उसे कफावृत वात वाला प्रत्याध्मान जानना चाहिए। भाव यह है कि जब आध्मान पार्श्व हृदय को छोड़ केवल आमाशय में ही होता है, तब उसे प्रत्याध्मान कहते हैं; इसमें वात कफावृत होता है।

मधु०—आध्मानमाह–साटोपमित्यादि। साटोपमिति आटोपश्चलचलनमिति गयदासः; गुडगुडाशब्द इति कार्तिकः। आध्मातं वातपूर्णचर्मपुटकस्थानीयम्। उदरमिति पक्वाशयः, प्रत्याध्मानस्यामाशयसंभवत्वात्। घोरमिति कष्टप्रदम्। आमाशयसमुत्थत्वेन प्रत्यासत्त्या पार्श्वहृदययोरपि वेदनाशङ्कानिरासार्थमाह–विमुक्तेत्यादि। तदेवेत्यनेन साटोपादित्वमातिदिशति। कफव्याकुलितानिलं कफावृतवातम् ॥६८–६९॥

अष्ठीलायाः स्वरूपमवतारयति—

नाभेरधस्तात्संजातः संचारी यदि वाऽचलः ॥७०॥
अष्ठीलावद्घनो[2] ग्रन्थिरूर्ध्वमायत उन्नतः।
वाताष्ठीलां विजानीयाद्बहिर्मार्गावरोधिनीम् ॥७१॥ [सु० २।१]

नाभि के नीचे उत्पन्न हुई २ सञ्चरण अथवा असञ्चरणशील अष्ठीला (पत्थर) की तरह कठिन, कुछ ऊपर आई हुई एवं उन्नत ग्रन्थि, जो कि वात मूत्र और पुरीष आदिकों के वेगों को रोकने वाली (घूमने फिरने वाली) होती है, वह वाताष्ठीला नाम वाली व्याधि जाननी चाहिए।

प्रत्यष्ठीलायाः लक्षणं निरूपयति—

[3]एतामेव रुजोपेतां वातविण्मूत्ररोधिनीम्।
प्रत्यष्ठीलामिति वदेज्जठरे तिर्यगुत्थिताम् ॥७२॥ [सु० २।१]

इसी अष्ठीला को जब कि यह पीड़ा से युक्त, वात, मल और मूत्र को रोकने वाली, एवं पेट में तिरछी उठी होती है, तो प्रत्यष्ठीला कहते हैं।

मधु०—अष्ठीलामाह—नाभेरित्यादि। अष्ठीला उत्तरापथे वर्तुलः पाषाणविशेष इति जेज्जटमतानुवादी कार्तिकः, कर्मकाराणां वर्तुला दीर्घा लौहभाण्डीति गयदासः। ऊर्ध्वमायत उपरि दीर्घः। उन्नतस्तिर्यगुन्नतः। वातकृता अष्ठीला वाताष्ठीलेति स्वरूपपरं, व्यावृत्त्यभावात्। बहिर्मार्गावरोधिनीं वातमूत्रपुरीषावरोधिनीम्। एतामित्यादि सैव जठरे तिर्यगुत्थिता तिर्यगायता प्रत्यष्ठीलेति भेदः। वातविण्मूत्ररोधिनीमिति विशेषपरम् ॥७०–७२॥

---

१ क्वचित् सु. अयमर्धश्लोको न दृश्यते. २ घनं ३ एनामेव.

प्रतिलोमगवस्तिगतवायोः विविधविकारजनकत्वमाह—

मारुतेऽनुगुणे बस्तौ मूत्रं सम्यक् प्रवर्तते।
विकारा विविधाश्चात्र प्रतिलोमे भवन्ति च ॥७३॥ [सु० २।३]

जब बस्तिपुट में वायु सम्यक्सञ्चरणशील हो तो मूत्र भली प्रकार आता है, परन्तु जब बस्ति में वायु विकृत वा विपरीत हो तो अनेक प्रकार के मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, शर्करा प्रभृति विकार हो जाते हैं।

मधु०—अष्ठीलाव्यतिरिक्तामपि वातविकृतिं मूत्ररोधिनीमाह—मारुत इत्यादि। अनुगुणेऽनुलोमे, प्रतिलोमे मारुत इति संवन्धः। विकारा अश्मरीमूत्रकृच्छ्रादयः ॥७३॥

वेपथुवातस्य (कम्पवातस्य) स्वरूपमाह—

सर्वाङ्गकम्पः शिरसो वायुर्वेपथुसंज्ञकः।

सर्वाङ्ग और शिर का काँपना वेपथुसंज्ञक वायु रोग है।

वक्तव्य—सर्वाङ्ग कथन से ही शिर का ग्रहण हो जाता है, फिर शिर का पृथक् निर्देश यह बतलाता है कि शिर में विशेष (अधिक) कम्पन होती है। आतंकदर्पणकार इसे सर्वाङ्गकम्पवात कहता है। अतः उसने इस सूत्र की अवतरणिका में लिखा है कि "सर्वाङ्गकम्पवातमाह—सर्वाङ्गेत्यादि। सर्वाङ्गस्य शिरसश्च कम्प इति सम्बन्धः"-(आ. द.)

मधु०—वेपथुवातविकारमाह—सर्वेत्यादि। शिरसः कम्प इति संवन्धः, शिर इत्यन्यथोपलक्षणं, तेन हस्तादेरपि कम्पो वेपथुरित्यर्थः ॥

खल्लीस्वरूपमाह—

खल्ली तु पादजङ्घोरुकरमूलावमोटिनी ॥७४॥ [च० ६।२८]

पाँव, जंघा, ऊरु और हाथ इनके मूल का अवमोटन (ऐंठन वा परिवर्तन) करने वाली 'खल्ली' कहलाती है।

ऊर्ध्ववातस्य लक्षणमाह—

अधः प्रतिहतो वायुः श्लेष्मणा मारुतेन वा।
करोत्युद्गारबाहुल्यमूर्ध्ववातः स उच्यते ॥७५॥

कफ अथवा वायु से प्रतिहत (रोकी हुई वा प्रतिकूल की हुई) अधोवायु (जब) उद्गारबहुलता कर देती है (तब) वह ऊर्ध्ववात कहलाती है।

मधु०—खल्लीत्यादि। खल्ली सिरावमोटन इति लोके। 'अधः प्रतिहतो वायुः श्लेष्मणा मारुतेन च। करोत्युद्गारवाहुल्यमूर्ध्ववातं प्रचक्षते' इत्यत्राधिकं केचित् पठन्ति ॥७४–७५॥

अनुक्तवातातङ्कसंग्रहमाह—

स्थाननामानुरूपैश्च लिङ्गैः शेषान्विनिर्दिशेत्। [च० ६।२८]
सर्वेष्वेतेषु संसर्गं पित्ताद्यैरुपलक्षयेत् ॥७६॥

१ आ० रामशा, इ० पॅरॅलिसिस् ॲजिटन्स (Paralysis Agitans).

मधु०—इदानीं पञ्चविधस्यापि प्रकृतिस्थस्य वायोर्लिङ्गं कार्यं चाह—अव्याहतेत्यादि। यस्येति पुरुषस्य, अव्याहतगतिरनवरुद्धमार्गः, स्थानस्थः स्वाश्रयव्यवस्थितः, प्रकृतिस्थितोऽक्षीणश्चाप्रवृद्धः, एतद्विशेषणत्रयं हेतुहेतुमद्भावेन योज्यम्। वीतरोगो नीरोगः, कफपित्तदुष्टेरपि प्रेरकवातेनान्तरीयकत्वात्। अधिकं समाः शतमिति पञ्च दिनाधिकं सविंशं वर्षशतम्। यदाह वराह आयुर्निरूपणे,—"समाः षष्टिर्द्विघ्ना मनुजकरिणां पञ्च च निशाः"—इत्यादि ॥८०॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां वातव्याधिनिदानं समाप्तम् ॥२२॥

(अधिकमित्यादि—) 'अधिकं समाः शतं' का अर्थ पांच दिन अधिक एक सौ बीस वर्ष है। जैसे आयु निरूपण में वराह ने कहा भी है कि—मनुष्य और हस्तियों की अवस्था दो षष्टि अर्थात् १२० वर्ष और पांच रात्रि अर्थात् दिन होती है।

अथ वातरक्तनिदानम्।

वातरक्तस्य[1] निदानमाह—

लवणाम्लकटुक्षारस्निग्धोष्णाजीर्णभोजनैः ।
क्लिन्नशुष्काम्बुजानूपमांसपिण्याकमूलकैः ॥१॥ [च० ६।२८]
कुलत्थमाषनिष्पावशाकादिपललेक्षुभिः ।
दध्यारनालसौवीरशुक्ततक्रसुरासवैः ॥२॥ [च० ६।२९]
विरुद्धाध्यशनक्रोधदिवास्वप्नप्रजागरैः ।
प्रायशः सुकुमाराणां मिथ्याहारविहारिणाम् । [च० ६।२६]
स्थूलानां सुखिनां[2] चापि कुप्यते वातशोणितम् ॥३॥

लवण, अम्ल, कटु, क्षार, स्निग्ध, उष्ण और अजीर्ण भोजनों से; क्लेदयुक्त, सूखे हुए, जलीय वा आनूपज मांस से; खल एवं मूलियों से; कुलथी, माष, निष्पाव, शाकादिक, पलल (भृष्टमांस), गन्ने, दधि, काञ्जी, सौवीर (सुरा वा कांजी), सिरके, तक्र, शराब और आसवों से; मात्राविरुद्ध भोजन द्रव्यविरुद्ध भोजन, मानविरुद्ध अध्यशन, क्रोध, दिवास्वप्न और रात्रि जागरण से; प्रायः सुकुमारों, मिथ्याहारविहारियों, स्थूलों और सुखियों का वातरक्त कुपित होता है।

मधु०—वातव्याधिविशेषत्वात्तदनन्तरं वातरक्तमाह। ननु, सुश्रुते वातरोगाध्याय एव वातरक्तं पठितं तत् कुतोऽत्र संग्रहे पृथक् पाठः? उच्यते, सत्यपि वातरोगत्वे निदानवैशिष्ट्याद्विशिष्टदोषदूष्यख्यापनार्थं हस्तादिदेश एव संप्राप्तिकथनार्थं क्रियाविशेषख्यापनार्थं च पृथक्करणम्। अत एव चरकेऽपि वातव्याध्यनन्तरं पृथग्वातरक्ताधिकारः। ननु, रुजस्तीव्राः ससंतापा इत्यादिना रक्तगतस्य वातस्य लक्षणं वातव्याधावेवोक्तं, ततश्च वातरक्ताभिधानं पुनरुक्तं स्यात्; नैवं, वातरक्त

[1] सं० वातरक्त, वातशोणित, खुण्डुरुक् वातबलास, आढ्यवात; इं० गाऊट (Gout) [आढ्यवातं चरकादयो वातरक्तेनामनन्ति, अन्ये चोरुस्तम्भत्वेनेति मतभेदः। चरके यथोक्तं—'खुण्डं वातबलासाख्यमाढ्यवातञ्च नामभिः'—(च. चि. स्था, अ. २९)]. [2] अचङ्क्रमणशीलानां.

हि दुष्टेन वातेन दुष्टेन रक्तेन च विशिष्टसंप्राप्तिकं विकारान्तरमेव । उक्तं हि चरके-"वायुः प्रवृद्धो वृद्धेन रक्तेनावारितः पथि । क्रुद्धः संदूषयेद्रक्तं तज्ज्ञेयं वातशोणितम् ॥" (च. चि. स्था. अ. २६) इति । रक्तगतवाते तु वात एव दुष्टो रक्तमदुष्टमेव गच्छतीति भेदः । लवणाम्लेत्यादि, क्लिन्नशुष्कशब्दौ मांसेन संबध्येते । पिण्याकस्तिलकल्कः । निष्पावः शिम्बिः, पललं मांसम् । प्रायश इत्यादि, सुकुमारा मृदुदेहावयवाः, तेषामल्पचेष्टत्वाल्लवणादिभी रक्तं कटुतिक्तप्रजागरादिभिश्च वातः कुप्यतीतीशानः ॥१-३॥

(प्रश्न—) सुश्रुत में वातरक्त वातरोगाध्याय में ही पढ़ा है, परन्तु इस संग्रह में इसका पृथक् पाठ क्यों किया है ? (उत्तर—) इसमें वातरोगपन होने पर भी निदान की विशिष्टता होने के कारण, विशेषदोषदूष्य बतलाने के लिए, हस्तादि देश में ही सम्प्राप्ति कहने के लिए और चिकित्सा विशेष कहने के लिए इसका अभिधान पृथक् किया है। चरक ने भी इसी कारण वातरक्त को वातव्याधि के अनन्तर पढ़ा है। (प्रश्न—) 'रुजस्तीव्राः ससन्तापाः' इत्यादि से रक्तगत वात के लक्षण वातव्याधि में ही कह दिए गए हैं; अतः उनका यहां पुनरभिधान पुनरुक्तिदोष होगा। (उत्तर—) नहीं, वातरक्त दुष्टवात से और दुष्टरक्त से विशिष्ट सम्प्राप्ति वाला उससे (वातव्याधि में कथित वातशोणित से) पृथक् ही है। चरक में कहा है कि 'बढ़े हुए रक्त से मार्ग में रोका हुआ वा प्रवृद्ध वायु क्रुद्ध होकर रक्त को दूषित कर देता है और यही रोग वातशोणित नाम से जानना चाहिए'। रक्तगत वात में तो दुष्ट वायु ही अदुष्ट रक्त से मिलता है, यह इनका परस्पर भेद है।

वक्तव्य—इसका भाव यह है कि वातव्याध्युक्त वातशोणित में दुष्ट वायु अदुष्ट रक्त में मिलकर रोग उत्पन्न करता है, और यहां प्रवृद्ध रक्त से मार्गावरोध के कारण प्रदुष्ट प्रवृद्ध वात पुनः रक्त को दूषित करता है, यह इनका परस्पर भेद है।

वातरक्तस्य संप्राप्तिमाह—

हस्त्यश्वोष्ट्रैर्गच्छतश्चाश्नतश्च
विदाह्यन्नं सविदाहोऽशनस्य ।
कृत्स्नं रक्तं विदहत्याशु तच्च
स्रस्तं दुष्टं पादयोश्चीयते तु ।
तत्संपृक्तं वायुना दूषितेन
तत्प्राबल्यादुच्यते वातरक्तम् ॥४॥

हस्ति, अश्व और उष्ट्र आदि की सवारी पर जाने से, भोजन करने के उपरांत उसी समय चलने से, विदाही अन्न के खाने से वह अन्न का विदाह शीघ्र ही सम्पूर्ण रक्त को विदग्ध कर देता है। तदनु वह दुष्ट रक्त ऊर्ध्वकाय से नीचे आकर पैरों में सञ्चित हो जाता है; इसके अनन्तर अपने कारणों से दुष्ट वायु से मिलकर तथा उसकी (वायु की) प्रधानता के कारण वातरक्त कहलाता है।

मधु०—संप्राप्तिमाह—हस्त्यश्वेत्यादि । हस्त्यादिगमनं [illegible] स्याद्योगमनेऽपि हेतुः, विदाह्यन्नं च शोणितवृद्धौ । हस्त्यादिगमनं [illegible]

१ विवृद्ध. २ कृत्स्नं.

हेतुरेव । तदुक्तम् । संपृक्तं वायुना दूषितेन स्वहेतुत्रद्धेन । तत्प्रावल्यादिति द्वयोर्दुष्टत्वेऽपि वातस्य प्रावल्याद्दोषत्वेन प्राधान्याद्वातरक्तव्यपदेशः, नतु रक्तवात इति ॥४॥

वातरक्तस्य पूर्वरूपं दर्शयति—

स्वेदोऽत्यर्थं न वा कार्ष्ण्यं स्पर्शाज्ञत्वं क्षतेऽतिरुक् ।
सन्धिशैथिल्यमालस्यं सदनं पिडकोद्गमः ॥५॥ [च० ६।२६]
जानुजङ्घोरुकट्यंसहस्तपादाङ्गसन्धिषु ।
निस्तोदः स्फुरणं भेदो गुरुत्वं सुप्तिरेव च ॥६॥ [च० ६।२६]
कण्डूः सन्धिषु रुग्भूत्वा भूत्वा नश्यति चासकृत् ।
वैवर्ण्यं मण्डलोत्पत्तिर्वातासृक्पूर्वलक्षणम् ॥७॥ [च० ६।२६]

स्वेद का अत्यधिक आना वा सर्वथा न आना, अङ्गों का कृष्ण होना स्पर्श का ज्ञान न होना, चोट लगने से अत्यधिक पीड़ा होनी, सन्धियों का शिथिल होना, आलस्य होना, पीड़ा होनी, पिडिकाओं का निकलना, जानु, जङ्घा, ऊरु, अंस हस्त, पाद एवं अङ्गों की सन्धियों में तोद, स्फुरण, भेद, गौरव, सुप्ति और कण्डू होना, सन्धियों में बार २ पीड़ा का हो होकर दूर होना तथा विवर्णता और मण्डल की उत्पत्ति होनी वातरक्त का पूर्वरूप है।

मधु०—पूर्वरूपमाह—स्वेदेत्यादि । स्वेदोऽत्यर्थं न वेति घर्मागमनमत्यर्थं भवति सर्वथ वा न भवति, एतच्च व्याधिमहिम्ना कुष्ठवत् । क्षतेऽतिरुगिति यदि कारणान्तरात् क्षतं स्यात्तदाऽतिशयं रुजा स्यात्, तद्देशस्य दुष्टत्वात् ॥५-७॥

वातोल्वणस्य वातरक्तस्य लक्षणमाह—

वातेऽधिकेऽधिकं तत्र शूलस्फुरणभञ्जनम् ।
शोथस्य रौक्ष्यं कृष्णत्वं श्यावतावृद्धिहानयः ॥८॥ [वा० ३।१६]
धमन्यङ्गुलिसन्धीनां संकोचोऽङ्गग्रहोऽतिरुक् ।
शीतद्वेषानुपशयौ स्तम्भवेपथुसुप्तयः ॥९॥ वा० ३।१६]

रक्तोल्वणस्य वातरक्तस्य रूपमाह—

रक्ते शोथोऽतिरुक्तोदस्ताम्रश्चिमिचिमायते ।
स्निग्धरूक्षैः शमं नैति कण्डूक्लेदसमन्वितः ॥१०॥ [वा० ३।१६]

पित्तोल्वणस्य तस्यैव रूपमाह—

पित्ते विदाहः संमोहः स्वेदो मूर्च्छा मदस्तृषा ।
स्पर्शासहत्वं रुग्रागः शोथः पाको भृशोष्मता ॥११॥ [वा० ३।१६]

कफोल्वणस्य तस्यैव रूपमाह—

कफे स्तैमित्यगुरुतासुप्तिस्निग्धत्वशीतताः ।
कण्डूर्मन्दा च रुग्द्वन्द्वं सर्वलिङ्गं च संकरात् ॥१२॥ [वा० ३।१६]

यदि वातरक्त में वात का अनुबन्ध अधिक हो, तो उसमें शूल स्फुरण और भञ्जन अधिक होता है; वातरक्त की शोथ रूक्ष, कृष्ण एवं श्याव होती है और बढ़ती

तथा घटती भी रहती है। इसमें धमनी और अंगुलियों की सन्धियों का संकोच, अङ्गग्रह तथा पीड़ा अधिक होती है। रक्त के अधिक होने पर शोथ, अतिपीड़ा, तोद, ताम्रवर्णता और चिमचिमायन होता है; इसमें कण्डू और क्लेद होता है और यह स्निग्ध एवं रूक्ष पदार्थों से शान्त नहीं होता। जब वातरक्त में पित्त अधिक होता है तो उसमें विदाह, संमोह, स्वेद, मूर्च्छा, मद, तृष्णा, स्पर्शासहत्व, रुजा, लालिमा, शोथ, पाक और भृशोष्मता (अत्यधिक गर्मी) होती है। एवं जब वातरक्त में कफ अधिक होता है, तो स्तिमितता, गुरुता, सुप्ति, स्निग्धता, शैत्य मन्द २ कण्डू और पीड़ा होती है। इसी प्रकार यहां वातरक्त से दो दोषों के मेल में दो दोषों के लक्षण और तीन दोषों के मेल से तीनों दोषों के लक्षण होते हैं।

मधु०—वातरक्तस्य दोषान्तरसंसर्गेण लक्षणान्याह—वातेऽधिक इत्यादि। शूलादीनामय इति वातरक्तलक्षणानाम्। रक्त इत्यादि। रक्त इत्यत्र 'अधिक' इत्यनुवर्तनीयम् एवं वक्ष्यमाण-पित्तादिषु। एतच्चारम्भकरक्तादन्यद्रक्तान्तरं बोध्यं, रक्तमपि रक्तान्तरदूषकं भवति। यदुक्तं दुष्टरक्त-लक्षणे—"पित्तवद्रक्तेनातिकृष्णं च॥" (सु. सू. स्था. अ. १४) इति। शमं नैति शान्ति न याति। कफ इत्यादि। द्वन्द्वसर्वलिङ्गं च संकरादिति संकरात् द्विदोषत्रिदोषमेलकात् द्वन्द्वलिङ्गं सर्वलिङ्गं च क्रमाद्वातरक्तं भवति॥८-१२॥

वातरक्तस्य विशिष्टप्रागुत्पत्तिप्रदर्शनपूर्वकं तस्य सर्वदेहविसर्पित्वमाह—

पादयोर्मूलमास्थाय कदाचिद्धस्तयोरपि।
आखोर्विषमिव क्रुद्धं तद्देहमुपसर्पति॥१३॥ [सु० २१।]

पैरों के मूल में आकर और कभी २ हाथों के मूल में भी आकर मूषक विष की तरह कुपित हुआ २ वह शरीर की ओर फैल जाता है।

मधु०—पादयोर्जातमप्रतिक्रियमाणं देशान्तरं [illegible] दर्शयन्नाह—पादयोरित्यादि। आखोर्विषमित्यनेन मन्दविसर्पित्वं [illegible] द्विविधमुक्तम्। यदाह—"उत्तानमथ गम्भीरं द्विविधं [illegible] गम्भीरं त्वन्तराश्रयम्॥" (च. चि. स्था. अ. [illegible]) इति। [illegible] नत्योत्तरकालं गम्भीरत्वमुक्तमिति मतभेद एव॥१३॥

यह वातरक्त चरक ने दो प्रकार का [illegible] "उत्तान और गम्भीर [illegible] प्रकार का वातरक्त होता है। उत्तान वातरक्त [illegible] और गम्भीर अन्तराश्रित होता है"। [illegible] गम्भीर होना माना है।

वातरक्तस्य [illegible]—

आजानु स्फुटितं [illegible]
उपद्रवैश्च [illegible]

१ [illegible]नुवर्तते.

वातरक्तमसाध्यं स्याद्याप्यं संवत्सरोत्थितम् ।

उपद्रवयोगेन असाध्यतामाह—

अस्वप्नारोचकश्वासमांसकोथशिरोग्रहाः ॥१५॥ [च० ६।२६]
संमूर्च्छामदरुक्तृष्णाज्वरमोहप्रवेपकाः ।
हिक्कापाङ्गुल्यवीसर्पपाकतोदभ्रमक्लमाः ॥१६॥ [च० ६।२६]
अङ्गुलीवक्रतास्फोटदाहमर्मग्रहार्बुदाः ।
एतैरुपद्रवैर्वर्ज्यं मोहेनैकेन वाऽपि यत् ॥१७॥ [च० ६।२६]
अकृत्स्नोपद्रवं याप्यं साध्यं स्यान्निरुपद्रवम् ।

दोषभेदेन साध्यत्वादिकमाह—

एकदोषानुगं साध्यं नवं याप्यं द्विदोषजम् ।
त्रिदोषजमसाध्यं स्याद्यस्य च स्युरुपद्रवाः ॥१८॥ [च० ६।२६]

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने वातरक्तनिदानं समाप्तम् ॥२३॥

जो वातरक्त जानुपर्यन्त पहुंच जाता है, जिसमें त्वचा दलित वा विदीर्ण हो जाती है और जो प्राणक्षय एवं मांसक्षय आदि उपद्रवों से युक्त होता है, वह असाध्य होता है। जो वातरक्त एक साल का पुराना हो जाता है, वह याप्य होता है। निद्राभाव (नींद न आनी), अरुचि, श्वास, मांसकोथ (मांस में सड़ान), शिरोग्रह (सिर में जकड़ाहट), मूर्च्छा, मद, रुजा, तृष्णा, ज्वर, मोह, कँपकँपी, हिक्का, पाङ्गुल्य (लूलापन), वीसर्प, पाक, तोद, भ्रम, क्लम, वक्राङ्गुलित्व (अङ्गुलियों का टेढ़ा होना), स्फोट, दाह, मर्मग्रह और अर्बुद इन उपद्रवों से युक्त वा अकेले मोह से युक्त जो वातरक्त होता है, वह वर्ज्य है। जिस वातरक्त में सम्पूर्ण अर्थात् मोह के विना शेष लक्षण सम्पूर्ण न हों, वह याप्य और निरुपद्रव वातरक्त साध्य होता है। एक दोष वाला वातरक्त साध्य, दो दोषों वाला नवीन याप्य, तीन दोषों वाला एवं बहुत उपद्रवों वाला असाध्य होता है।

मधु०—असाध्यत्वादिकमाह—आजान्वित्यादि। आजानु जानुपर्यन्तं गतमसाध्यम्। तथा स्फुटितादिकं स्फुटितं दलितत्वक्, प्रभिन्नं विदीर्णत्वक्, उपद्रवैरित्यादौ आदिशब्देन वक्ष्यमाणानामस्वप्नादीनां ग्रहणम्। याप्यं संवत्सरोत्थितमित्यनेन संवत्सरादर्वाक् साध्यं, यदि स्फुटितत्वगादयो न भवेयुरित्याहुः। अस्वप्नेत्यादि। पाङ्गुल्यं पङ्गुता। मोहेनैकेनेति वचनात् पूर्वोक्तैः समस्तैर्द्वित्रादिभिश्चेति ज्ञापयतीति ॥१४–१८॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां वातरक्तनिदानं समाप्तम् ॥२३॥

---

१ शोणितं तदसाध्यं स्यात्. २ मूर्च्छा च. ३ स्फोटः.

अथोरुस्तम्भनिदानम् ।

ऊरुस्तम्भस्य निदानपूर्विकां संप्राप्तिमाह—

शीतोष्णद्रवसंशुष्कगुरुस्निग्धैर्निषेवितैः ।
जीर्णाजीर्णे तथाऽऽयाससंक्षोभस्वप्नजागरैः ॥१॥ [वा० ३।१५]
सश्लेष्ममेदःपवनः साममत्यर्थसंचितम् ।
अभिभूयेतरं दोषमूरू चेत्प्रतिपद्यते ॥२॥ [वा० ३।१५]
सक्थ्यस्थिनी प्रपूर्यान्तः श्लेष्मणा स्तिमितेन च ।

तस्य सामान्यलक्षणमाह—

तदा स्तभ्नाति तेनोरू स्तब्धौ शीतावचेतनौ ॥३॥ [वा० ३।१५]
परकीयाविव गुरू स्यातामतिभृशव्यथौ ।
ध्यानाङ्गमर्दस्तैमित्यतन्द्राच्छर्द्यरुचिज्वरैः ॥४॥ [वा० ३।१५]
संयुक्तौ पादसदनकृच्छ्रोद्धरणसुप्तिभिः ।
तमूरुस्तम्भमित्याहुराढ्यवातमथापरे ॥५॥ [वा० ३।१५]

शीत, उष्ण, द्रव, अतिशुष्क, गुरु और स्निग्ध पदार्थों के सेवन से; जीर्णाजीर्ण (अधिक जीर्ण और स्वल्प अजीर्ण अन्नादि को जीर्णाजीर्ण कहते हैं), परिश्रम, संक्षोभ, स्वाप और जागरण से श्लेष्म और मेदा के साथ वायु अत्यन्त संचित साम तथा दूसरे दोष पित्त को अभिभव करके यदि ऊरुओं में आ जाता है तो मन्द श्लेष्मा से सक्थि में पूरित कर ऊरुओं को स्तम्भित कर देता है। इस रोग में ऊरु स्तब्ध, शीत, चेतनारहित, परकीय की तरह (दूसरों की तरह) गुरु, अति व्यथा युक्त, ध्यान, अङ्गमर्द, स्तिमितता, तन्द्रा, छर्दि, अरुचि, ज्वर, पादसदन, कृच्छ्रोद्धरण और सुप्ति से युक्त होते हैं; इसी रोग को आचार्य ऊरुस्तम्भ कहते हैं; परन्तु कई अचार्य इसे आढ्यवात भी कहते हैं।

मधु०—वातव्याधिविशेषत्वादूरुस्तम्भमाह—शीतोष्णेत्यादि । शीतोष्णग्रहणमनुक्तपरस्परविरोधिद्वन्द्वोपलक्षणार्थं, तेन गुरुस्निग्धाभ्यां लघुरूक्षयोर्ग्रहणं बोध्यमिति जेज्जटः । संशुष्कं कठिनं, द्रवविरोधित्वात् । जीर्णाजीर्णे इति प्रभूतं जीर्णं, स्तोकमजीर्णमित्याहुः, तस्मिन्; 'भोजने' इति शेषः । अत एव दृढबलेन—"जीर्णाजीर्णे समश्नतः ॥" (च. चि. स्था. अ. २७) इति पठितम् । एते च यथासंभवं श्लेष्मादीनां हेतवः । सश्लेष्ममेदःपवन इति सश्लेष्ममेदश्चासौ पवनश्चेति सश्लेष्ममेदःपवन इति विग्रहः । इतरं दोषं पित्तम् । अस्यां संप्राप्तौ वातस्य प्राधान्यमुक्तम्, अत एव सुश्रुतेन महावातव्याधावयं रोगः पठितः । चरके तु कफस्य प्राधान्यमुक्तम् । यदाह—"ऊरू श्लेष्मा समेदस्को वातपित्तेऽभिभूय तु ॥" (च. चि. स्था. अ. २७) इत्यादि । तत्र चरके आवरकस्य श्लेष्मणः प्राक्चिकित्स्यत्वेन प्राधान्यम्, आरम्भकत्वेन तु सुश्रुते

---

१ नाम—सं० ऊरुस्तम्भ, आढ्यवात; अ० इस्तिर खाय् उलफख्फ; इ० पॅराप्लेजिआ (Parapl-

पवनस्येति न विरोधः । परकीयाविवेत्यनेनोत्क्षेपणगमनादिष्वप्रभुत्वं दर्शयति । ध्यानादिभिर्ज्वरान्तैरुपलक्षितः 'पुरुष' इति शेषः ॥१–५॥

(अस्यामिति—) इसकी सम्प्राप्ति में वायु की प्रधानता कही है, और इसी कारण सुश्रुत ने महावात रोगाध्याय में इसे पढ़ा है । चरक ने इसमें कफ की प्रधानता मानी है । तद्यथाह—ऊर्वित्यादि । परन्तु ऐसा होने पर भी विरोध नहीं है, कारण कि चरक में आवरक श्लेष्मा के पूर्व चिकित्स्य होने से उसकी (श्लेष्मा की) प्रधानता और आरम्भक होने से सुश्रुत में वायु की प्रधानता मानी है ।

ऊरुस्तम्भस्य पूर्वरूपमाह—

प्राग्रूपं तस्य निद्राऽतिध्यानं स्तिमितता ज्वरः ।
रोमहर्षोऽरुचिश्छर्दिर्जङ्घोर्वोः सदनं तथा ॥६॥ [च० ६।२७]

ऊरुस्तम्भ के पूर्वरूप, नींद का अधिक आना, अतिचिन्तन, स्तैमित्य, ज्वर, रोमहर्ष, अरुचि, छर्दि, जङ्घाओं तथा ऊरुओं में साद होना, ये हैं ।

तस्य विशिष्टलक्षणमाह—

वातशङ्किभिरज्ञानात्तस्य स्यात्स्नेहनात्पुनः ।
पादयोः सदनं सुप्तिः कृच्छ्रादुद्धरणं तथा ॥७॥ [च० ६।२७]
जङ्घोरुग्लानिरत्यर्थं शश्वच्चादाहवेदने ।
पादं च व्यथते न्यस्तं शीतस्पर्शं न वेत्ति च ॥८॥ [च० ६।२७]
संस्थाने पीडने गत्यां चालने चाप्यनीश्वरः ।
अन्यस्येव हि संभग्नावूरू पादौ च मन्यते ॥९॥ [च० ६।२७]

सुप्ति संकोचादि लक्षणों को देखकर वात की भ्रान्ति में होकर यदि अज्ञानवश इसमें स्नेहन कर दिया जावे तो पावों में साद, सुप्ति और कृच्छ्रोद्धरण हो जाता है; एवं जङ्घाएं तथा ऊरु भी अत्यन्त ग्लानियुक्त और दाह तथा वेदना वाले हो जाते हैं । इसमें पृथ्वी पर धरा हुआ पांव पीड़ित होता है, तथा शीत स्पर्श को अनुभव नहीं कर सकता । जिसे यह रोग होता है, वह खड़ा होने में, पीड़न में, चलने में, पैर हिलाने में समर्थ नहीं होता, एवं वह ऊरुओं और पावों को दूसरे के-से वा भग्न मानता है ।

तस्य प्रत्याख्येयतामाह—

यदा दाहार्तितोदार्तो वेपनः पुरुषो भवेत् ।
ऊरुस्तम्भस्तदा हन्यात्साधयेदन्यथा नवम् ॥१०॥ [च० ६।२७]

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने ऊरुस्तम्भनिदानं समाप्तम् ॥२४॥

जब ऊरुस्तम्भ वाला पुरुष दाह, अर्ति और तोद से पीड़ित एवं कम्पनशील होता है तब उसे वह (ऊरुस्तम्भ) मार देता है, और जो इससे विपरीत एवं नवीन होता है वैद्य उसको सिद्ध करें अर्थात् वह साध्य है ।

मधु०—अनुपशयमाह—वातेत्यादि । वातशङ्किभिरिति सुप्तिसंकोचकम्पादिवातरोग- [illegible] । अज्ञानादनिश्चयात्, मोहादितीशानः । तत्रोपशयानुपशयज्ञानार्थं

स्नेहनं, यदुक्तं चरके—"गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत ॥" (च. चि. स्था. अ. ४) इति; ततः स्नेहनादनुपशयो भवतीत्याह—पादयोरित्यादि । उद्धरणमूर्ध्वचालनम् । आदाहवेदने इति आङ् ईषदर्थे; अन्ये त्वीषदर्थ एव नञमाहुः, उद्भूतदाहस्यासाध्यत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् । 'आनाहवेप(द)ने' इति पाठान्तरमयुक्तं, चरकटीकाकारैः सर्वैरव्याख्यातत्वात् । व्याधिस्वभावादयं चोरुस्तम्भ एक एव त्रिदोषारब्धः, नतु वातादिभेदादनेकविधः । उक्तं हि चरके व्याधिसंख्यायाम्—"एक एवोरुस्तम्भः" (च. सु. स्था. अ. १६) इति । संभग्नाविति संभग्नाविव संभग्नौ ॥७–१०॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामूरुस्तम्भनिदानं समाप्तम् ॥२४॥

व्याधि के स्वाभाविक गुणानुसार ऊरुस्तम्भ सान्निपातिक एक ही होता है, वातादि भेद से बहुत प्रकार का नहीं होता । जैसे चरक ने कहा भी है कि ऊरुस्तम्भ एक ही होता है ।

अथामवातनिदानम् ।

आमवातस्य निदानपूर्विकां संप्राप्तिमाह—

विरुद्धाहारचेष्टस्य मन्दाग्नेर्निश्चलस्य च ।
स्निग्धं भुक्तवतो ह्यन्नं व्यायामं कुर्वतस्तथा ॥१॥
वायुना प्रेरितो ह्यामः श्लेष्मस्थानं प्रधावति ।
तेनात्यर्थं विदग्धोऽसौ धमनीः प्रतिपद्यते ॥२॥
वातपित्तकफैर्भूयो दूषितः सोऽन्नजो रसः ।
स्रोतांस्यभिष्यन्दयति नानावर्णोऽतिपिच्छिलः ॥३॥
जनयत्याशु दौर्बल्यं गौरवं हृदयस्य च ।
व्याधीनामाश्रयो ह्येष आमसंज्ञोऽतिदारुणः ॥४॥
युगपत्कुपितावन्तस्त्रिकसन्धिप्रवेशकौ ।
स्तब्धं च कुरुतो गात्रमामवातः स उच्यते ॥५॥

संयोगादि विरुद्ध भोजन खाने वाले, विरुद्ध चेष्टा करने वाले, मन्दाग्नि, निश्चेष्ट, स्निग्ध भोजनानन्तर व्यायामशील मनुष्य का आम, वायु से प्रेरित हुआ, श्लेष्मा के स्थान आमाशय, उर, शिर, कण्ठ और सन्धियों की ओर जाता है, तो वहां स्थित वात से दूषित आम सिराओं में पहुँचता है, तदनु वहां पुनः (स्रोतों को दूषित करता है) दूषित हुआ २ अनेक वर्णों वाला एवं अतिपिच्छिल वह अन्नज (आम) रस स्रोतों को अभिष्यन्दित कर देता है अर्थात् दूषित कर देता है, जिससे शरीर में दुर्बलता और हृदय में गौरव अतिशीघ्र होता है । एवं अतिदारुण यह आम-

१ नाम—सं० आमवात, पं० गठिया, अ० वजअ ऊल् मुफ़ासील, इं० र्‍हूमॅटिज़्म् (Rheumatism).

संज्ञक व्याधियों का आश्रय है। वात और कफ दोनों समकाल प्रकुपित हुए २ कोष्ठ, त्रिकप्रदेश, सन्धियाँ आदि में प्रवेश करके शरीर को स्तब्ध करते हैं; अथवा गात्रों को स्तब्ध करते हैं, यह रोग आमवात कहलाता है।

मधु०—ऊरुस्तम्भे वायुः साम इत्युक्तम्, अतस्तदनन्तरमामवातनिदानमाह—विरुद्धेत्यादि। विरुद्धाहारः संयोगादिविरुद्धः, विरुद्धा च चेष्टा यथा—अजीर्णे व्यायामव्यवायनलप्रतरणादि। स्निग्धं भुक्तवतो व्यायामं कुर्वत इति मिलितो हेतुः, न पृथक्त्वेन। श्लेष्मस्थानमामाशयसन्ध्यादि। तेन वातेन विदग्धो दूषितोऽसावामो धमनीः प्रतिपद्यते, 'धमनीभिः प्रपद्यत' इति पाठान्तरे श्लेष्मस्थानमिति योज्यम्। सोऽन्नजो रस इति आमः, अन्नरसस्यैवापक्वस्य तन्त्रान्तरे आमव्यपदेशात्। यदुक्तम्—"ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम्। दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते॥" (वा. सू. स्था. अ. १३) इत्यादि। अन्यैरप्युक्तम्—"आमाशयस्थः कायाग्नेर्दौर्बल्यादविपाचितः। आद्य आहारधातुर्यः स आम इति कीर्तितः"—इति। अपरे त्वाहुः—"अविपक्वमसंयुक्तं दुर्गन्धं बहु पिच्छिलम्। सदनं सर्वगात्राणामाम इत्यभिधीयते"—इति। अन्ये त्वाहुः—"आहारस्य रसः शेषो यो न पक्वोऽग्निलाघवात्। स मूलं सर्वरोगाणामाम इत्यभिधीयते"—इति। तथाचापरे—"आममन्नरसं केचित्, केचित्तु मलसंचयम्। प्रथमां दोषदुष्टिं च केचिदामं प्रचक्षते" इति। नानावर्ण इति वातादिदूषितत्वाद्बहुवर्णः। युगपदित्यादि, वातकफौ युगपत्कुपितावन्तः कोष्ठत्रिकसन्धिप्रवेशकौ भवतः, अथवा गात्रं स्तब्धं कुरुतः; त्रिकसन्धिषु प्रवेशस्तद्गतवेदनया बोध्यः॥१-५॥

अन्नज रस से आम लेना चाहिए क्योंकि अपक्व अन्नज रस ही तन्त्रान्तर में आम शब्द से व्यपदिष्ट होता है। जैसे कहा है कि 'जठराग्नि के निर्बल होने से यह पहली रस नामक धातु अपक्व हुई २ (दुष्ट होकर जब) आमाशय में जाती है तो आम कहलाती है' इत्यादि। अन्य आचार्यों ने भी कहा है कि शरीराग्नि के दुर्बल होने के कारण अपक्व आमाशय में स्थित रसनामक प्रथम आहारधातु आम कहलाती है। अपर आचार्य कहते हैं कि 'अपक्व, असंयुक्त, 'दुर्गन्धित, बहुत और पिच्छिल होते हुए सब गात्रों में (पीड़ा) करने वाला आम कहलाता है'। अन्य आचार्य कहते हैं कि 'आहार का बचा हुआ रस, जो कि अग्निमांद्य के कारण अपक्व होता है, सब रोगों का मूलकारण 'आम' यह नाम कहलाता है'। किञ्च दूसरे आचार्य 'कई अन्नरस को, कई मलसंचय को और कई दोषों की प्रथम दुष्टि को आम कहते हैं' यह मानते हैं।

तस्य सामान्यलक्षणमाह—

अङ्गमर्दोऽरुचिस्तृष्णा ह्यालस्यं गौरवं ज्वरः।
अपाकः शूनताऽङ्गानामामवातस्य लक्षणम्॥६॥

अङ्गमर्द, अरुचि, तृष्णा, आलस्य, गौरव (हृदय तथा शरीर में), ज्वर, अहारापाक और अङ्गों में शोथ होना यह आमवात का लक्षण है।

मधु०—आमवातस्य सामान्यलक्षणमाह—अङ्गमर्द इत्यादि॥६॥

तस्य विशिष्टलक्षणमाह—

स कष्टः सर्वरोगाणां यदा प्रकुपितो भवेत्।
हस्तपादशिरोगुल्फत्रिकजानूरुसन्धिषु ॥७॥

करोति सरुजं शोथं यत्र दोषः प्रपद्यते।
स देशो रुजतेऽत्यर्थं व्याविद्ध इव वृश्चिकैः ॥८॥

आमवात जब प्रकुपित होता है, तो वह सब रोगों से कृच्छ्रसाध्य होता है। हाथ, पाँव, सिर, गुल्फ, त्रिक, जानु, ऊरु और शरीर की सन्धियों में वा इनकी सन्धियों में पीड़ायुक्त शोथ कर देता है। दोष जिस स्थान पर पहुँचता है, वही देश बिच्छुओं से काटे हुए की तरह अत्यन्त पीड़ित होता है।

जनयेत्सोऽग्निदौर्बल्यं प्रसेकारुचिगौरवम्।
उत्साहहानिं वैरस्यं दाहं च बहुमूत्रताम् ॥९॥
कुक्षौ कठिनतां शूलं तथा निद्राविपर्ययम्।
तृट्छर्दिभ्रममूर्च्छाश्च हृद्ग्रहं विड्विबद्धताम्।
जाड्यान्त्रकूजमानाहं कष्टांश्चान्यानुपद्रवान् ॥१०॥

वह आमवात अग्निमान्द्य, लालास्राव, अरुचि, गौरव, उत्साहह्रास, विरसता, दाह, बहुमूत्र, कुक्षि में कठिनता और शूल, निद्रानाश, पिपासा, वमन, भ्रम, मूर्च्छा, हृद्ग्रह, विड्ग्रह, जड़ता, अन्त्रकूजन, आनाह और अन्य वातव्याधियुक्त उपद्रवों को करता है।

मधु०—तस्यैवातिवृद्धस्य लक्षणमाह—स इत्यादि। वृश्चिकैः सविषकीटविशेषैः। स इति आमवातः। जाड्यमकर्मण्यत्वम्। अन्यानुपद्रवान् संकोचखञ्जत्वादीन् ॥७-१०॥

आमवातस्य दोषानुबन्धत्वेन विशिष्टलक्षणमाह—

पित्तात्सदाहरागं च सशूलं पवनानुगम्।
स्तिमितं गुरुकण्डूं च कफदुष्टं तमादिशेत् ॥११॥

यदि आमवात पित्तान्वित हो, तो उसमें दाह और राग होता है; यदि वातान्वित हो, तो उसमें शूल होता है; और यदि उसमें स्तिमितता, गुरुता और कण्डू हो, तो वह (आमवात) कफ से दुष्ट जानना चाहिए।

मधु०—तस्य विशेषलक्षणान्याह—पित्तादित्यादि ॥११॥

तस्य प्रत्याख्येयतादिकमाह—

एकदोषानुगः साध्यो द्विदोषो याप्य उच्यते।
सर्वदेहचरः शोथः स कृच्छ्रः सान्निपातिकः ॥१२॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने आमवातनिदानं समाप्तम् ॥२५॥

एक दोष से सम्बन्ध रखने वाला आमवात साध्य, दो दोषानुग याप्य और त्रिदोषानुग एवं सर्वशरीरसञ्चारी कृच्छ्रसाध्य होता है।

मधु०—तस्य साध्यत्वादिकमाह—एकेत्यादि ॥१२॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामामवातनिदानं समाप्तम् ॥२५॥

अथ शूलपरिणामशूलान्नद्रवशूलनिदानम्।

शूलस्य सन्निकृष्टनिदानं तद्भेदांश्चाह—

दोषैः पृथक् समस्तामद्वन्द्वैः शूलोऽष्टधा भवेत्।
सर्वेष्वेतेषु शूलेषु प्रायेण पवनः प्रभुः ॥१॥

पृथक् २ दोषों से तीन, समस्त (सन्निपात) से एक, आम से एक और दो २ दोषों से तीन एवं शूल आठ प्रकार का होता है, परन्तु इन सब शूलों में प्रायः वायु ही प्रधान होता है।

मधु०—आमवातेऽपि शूलं भवतीत्यतस्तदनन्तरं शूलनिदानम्। ज्वरादिवच्छूलस्यापि प्रागुत्पत्तिरस्ति। यदाह हारीतः—"अनङ्गनाशाय हरस्त्रिशूलं मुमोच कोपान्मकरध्वजश्च। तमापतन्तं सहसा निरीक्ष्य भयार्दितो विष्णुतनुं प्रविष्टः॥ स विष्णुहुङ्कारविमोहितात्मा पपात भूमौ प्रथितः स शूलः। स पञ्चभूतानुगतं शरीरं प्रदूषयत्यस्य हि पूर्वसृष्टिः" इति। एतेन शूल(लि)-संभवत्वादस्य शूलमिति संज्ञा, शूलनिखातवद्वेदनाजनकत्वाच्च। तदाह वृद्धसुश्रुतः—"शङ्कुस्फोटनवत्तस्य यस्मात्तीव्रा हि वेदना। शूलासक्तस्य भवति तस्माच्छूलमिहोच्यते॥" (सु. उ. तं. अ. ४२) इति। कफपित्तादिशूलेष्ववश्यंभावी वायुरित्याह—सर्वेष्वित्यादि। प्रभुः कर्ता॥१॥

ज्वरादि की तरह शूल की प्रागुत्पत्ति कथा है। हारीत ने जैसे कहा भी है कि कामदेव को नष्ट करने के लिये महादेव ने क्रुद्ध हो त्रिशूल छोड़ा; एवं जब आते हुए त्रिशूल को कामदेव ने देखा, तो वह डर कर विष्णु के शरीर में जा प्रविष्ट हो गया। पुनः वहां विष्णु ने हुंकार की, जिससे मूर्च्छित होकर वह त्रिशूल पृथ्वी पर आ गिरा; बस उसी दिन से वह शूल नाम से प्रसिद्ध हो गया। वही शूल पांचभौतिक शरीरों को कष्ट देता है, यह इसकी पूर्वोत्पत्ति है। इससे यह सिद्ध होता है कि शूल(लि) से उत्पन्न होने के कारण भी इसे शूल कहा जाता है और शूल गाड़ने की-सी पीड़ा देने के कारण भी इसे शूल कहा जाता है। जैसे वृद्ध सुश्रुत ने कहा भी है कि शूल वाले मनुष्य को शंकु (कील) गाड़ने की सी पीड़ा होती है, इसी लिये इस व्याधि का नाम भी शूल है।

आद्यपद्यद्वयेन वातिकशूलस्य निदानं अन्त्यपद्यद्वयेन च स्वरूपमाह—

व्यायामयानादतिमैथुनाच्च
प्रजागराच्छीतजलातिपानात्।
कलायमुद्गाढकिकोरदूषा-
दत्यर्थरूक्षाध्यशनाभिघातात् ॥२॥
कषायतिक्तातिविरूढजान्न-
विरुद्धवल्लूरकशुष्कशाकात्।
विट्शुक्रमूत्रानिलवेगरोधा-
च्छोकोपवासादतिहास्यभाष्यात् ॥३॥

१ नाम—सं० शूल, हिं० शूल, पं० सूल, अ० वजअ उल मेअदा, इं० कॉलिक् (Colic).

वायुः प्रवृद्धो जनयेद्धि शूलं
हृत्पार्श्वपृष्ठत्रिकबस्तिदेशे ।
जीर्णे प्रदोषे च घनागमे च
शीते च कोपं समुपैति गाढम् ॥४॥
मुहुर्मुहुश्चोपशमप्रकोपी
विड्वातसंस्तम्भनतोदभेदैः ।
संस्वेदनाभ्यञ्जनमर्दनाद्यैः
स्निग्धोष्णभोज्यैश्च शमं प्रयाति ॥५॥

व्यायाम, यान (वाहनादि), अतिव्यवाय, प्रजागरण, शीत जल पान, कलाय, मूंग, आढकी, कोदों, अतिरूक्ष, अध्यशन, अभिघात, कषाय, तिक्त, अङ्कुरित धान्य निर्मित अन्न, संयोगादिविरुद्ध, शुष्कमांस, शुष्कशाक, विट्, शुक्र, मूत्र और अधोवायु के अवरोध, शोक, उपवास, अतिहसन और अतिभाषण से बढ़ा हुआ वायु हृदय, पार्श्व, पृष्ठ, त्रिक और बस्ति में शूल कर देता है, जो कि भोजन के जीर्ण हो जाने पर, सायं समय, वर्षाऋतु में, एवं ठण्डी में खूब कुपित होता है, विट् और अधोवायु के अवरोध, एवं तोद और भेद सहित बार २ शान्त और बार २ प्रकुपित होता है। स्वेदन, अभ्यञ्जन, मर्दन आदि विहारों से तथा स्निग्ध और उष्ण आहारों (भोजनों) से शान्त हो जाता है, अर्थात् ये उपशय रूप हैं।

मधु०—वातिकमाह—व्यायामेत्यादि। शीतजलातिपानाच्छीतलजलस्य प्रभूतपानात्। आढकी तुवरी, कोरदूषः कोद्रवः, विरूढजान्नमङ्कुरितधान्यकृतमन्नं, विरुद्धं क्षीरमत्स्यादिकं, वल्लूरं शुष्कमांसम्। यद्यपि सर्वैरेव वातकोपनैर्वातशूलं स्यात्तथाऽपि व्यायामादिपाठेनैतद्दर्शयति,—व्यायामादयो यथा वातहेतवस्तथा शूलहेतवोऽपीति; दोषव्याधिहेतव इत्यर्थः। एवं पित्तशूलादिषु द्रष्टव्यम्। जीर्णे इत्याहारे। घनागमे वर्षासु, मेघोदये च। मुहुर्मुहुरुपशमप्रकोपौ वायोश्चलत्वेन ॥२–५॥

पैत्तिकशूलस्य निदानादिपूर्वकं स्वरूपमाह—

क्षारातितीक्ष्णोष्णविदाहितैल-
निष्पावपिण्याककुलत्थयूषैः ।
कट्वम्लसौवीरसुराविकारैः
क्रोधानलायासरविप्रतापैः ॥६॥
ग्राम्यातियोगादशनैर्विदग्धैः
पित्तं प्रकुप्याशु करोति शूलम्।
तृण्मोहदाहार्तिकरं हि नाभ्यां
संस्वेदमूर्च्छाभ्रमचोषयुक्तम् ॥७॥
मध्यन्दिने कुप्यति चार्धरात्रे
विदाहकाले जलदात्यये च।

शीते च शीतैः समुपैति शान्ति
सुस्वादुशीतैरपि भोजनैश्च ॥८॥

क्षार, अति तीक्ष्ण, अतिउष्ण, विदाहि, तैल, निष्पाव, खल, कुल्थी के यूष, कटु पदार्थ, अम्ल पदार्थ, काञ्जी, मद्यविकार, क्रोध, अग्निसेवा, प्रयास, सूर्य-संताप, अतिमैथुन और विदग्धाशन से प्रकुपित पित्त तृषा, मूर्च्छा एवं नाभि में दाह और अर्ति करने वाले शूल को शीघ्र ही कर देता है, जो कि स्वेद, मूर्च्छा, भ्रम और चोष से युक्त होता है; और जो मध्याह्न में, मध्यरात्र में, भोजन की पच्यमानावस्था में, एवं शरद् ऋतु में प्रकुपित होता है; तथा शीत में शीतवीर्य वाले पदार्थों एवं सुस्वादु सुशीत भोजनों से शान्त हो जाता है।

मधु०—पैत्तिकमाह—क्षारेत्यादि । क्षारो यवक्षारादिः मुष्ककादिकृतक्षारद्रव्यं च, तीक्ष्णोष्णं मरिचराजिकादि, विदाहि वंशकरीरादि, तैलं तिलविकृतिः, निष्पावः शिम्बिः, पिण्याको निःस्नेहः सर्षपादिकल्कः, कुलत्थयूषोऽत्र कुलत्थान्नपानोपलक्षणः । सौवीरं सन्धानविशेषः । रविप्रतापो रौद्रः । ग्राम्यातियोगो मैथुनातिसेवा । विदाहीति पूर्वं पठित्वाऽपि अशनैर्विदग्धैरित्यनेनाविदाहिवस्तुनोऽपि दोषवशेन विदाहित्वं दर्शितम् । यदाह सुश्रुतः—"स्रोतस्यन्नवहे पित्तमग्नौ वा यस्य तिष्ठति। विदाहि भुक्तमन्यद्वा तस्याप्यन्नं विदह्यते ॥" (सु. सू. स्था. अ. ४६) इति । विदाहकाल इत्याहारस्य । जलदात्यये शरदि ॥६–८॥

श्लैष्मिकशूलस्य निदानमाह—

आनूपवारिजकिलाटपयोविकारै-
र्मांसेक्षुपिष्टकृशरातिलशष्कुलीभिः ।
अन्यैर्बलासजनकैरपि हेतुभिश्च
श्लेष्मा प्रकोपमुपगम्य करोति शूलम् ॥९॥

तस्य लक्षणमाह—

हृल्लासकाससदनारुचिसंप्रसेकै-
रामाशये स्तिमितकोष्ठशिरोगुरुत्वैः ।
भुक्ते सदैव हि रुजं कुरुतेऽतिमात्रं
सूर्योदयेऽथ शिशिरे कुसुमागमे च ॥१०॥

जलप्रदेशचारियों के मांस, जलचरों के मांस, किलाट के विकार, दुग्ध के विकार, मांस, इक्षु (गन्ना), पीठी, खिचड़ी, तिल, जलेबी, इनसे तथा अन्य कफजनक कारणों से श्लेष्मा प्रकुपित होकर शूल को उत्पन्न कर देता है, जिसमें कि—हृल्लास, कास, गात्रभङ्ग (अवसाद), अरुचि, लालाप्रसेक, आमाशय में शूल, कोष्ठबद्धता और शिरोगौरव होता है; अथवा प्रकुपित श्लेष्मा इन उपद्रवों के साथ आमाशय में शूल करता है; और यह (शूल) भोजन के तत्काल बाद, सूर्य के उदय होने पर (प्रातः), शिशिर तथा वसन्त में अत्यन्त पीड़ा करता ।

मधु०—श्लैष्मिकमाह—आनूपेत्यादि । आनूपवारिजं मांसादिकं, किलाटं तक्रकूर्चिका, कृशरा तिलतण्डुलमाषयवागूः । सूर्योदये प्रातः । कुसुमागमे वसन्ते ॥९-१०॥

सान्निपातिकशूलस्य स्वरूपमाह—

सर्वेषु दोषेषु च सर्वलिङ्गं
विद्याद्भिषक् सर्वभवं हि शूलम् ।
सुकष्टमेनं विषवज्रकल्पं
विवर्जनीयं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥११॥

सब दोषों से होने वाला सर्व लक्षणान्वित शूल सान्निपातिक कहलाता है; यह शूल विष और वज्र के समान कृच्छ्र वा कष्टसाध्य है, इसे आयुर्वेदज्ञ वर्ज्य मानते हैं ।

आमशूलं लक्षयति—

आटोपहृल्लासवमीगुरुत्व-
स्तैमित्यकानाहकफप्रसेकैः ।
कफस्य लिङ्गेन समानलिङ्ग-
मामोद्भवं शूलमुदाहरन्ति ॥१२॥

आटोप, हृल्लास, छर्दि, गौरव, स्तिमितता, आनाह और कफस्राव से युक्त आमोद्भव शूल को आचार्य कफशूल के समान लक्षणों वाला मानते हैं ।

मधु०—आमशूलमाह—आटोपेत्यादि । कफस्य लिङ्गेन कफशूलोक्तलिङ्गेन ॥११-१२॥

द्विदोषजशूलस्य लक्षणमाह—

बस्तौ हृत्पार्श्वपृष्ठेषु स शूलः कफवातिकः ।
कुक्षौ हृन्नाभिमध्येषु स शूलः कफपैत्तिकः ॥१३॥
दाहज्वरकरो घोरो विज्ञेयो वातपैत्तिकः ।

जो शूल मूत्राशय, हृत्प्रदेश, पार्श्वयुगल और पृष्ठभाग में होता है वह कफवातिक; जो कुक्षि (उदर), हृदय, नाभि और मध्य में वा हृदय और नाभि के मध्यस्थ स्थानों में होता है वह कफपैत्तिक; एवं जो सर्वाङ्गताप और ज्वरकर होता है वह वातपैत्तिक होता है, जो कि दारुण होता है ।

मधु०—वातपैत्तिकश्वरकोक्तवातपैत्तिकशूलस्थाने द्रष्टव्यः । एवं सान्निपातिकोऽपि उक्तदोषत्रयस्थाने । यदुक्तं—"वातात्मकं वस्तिगतं वदन्ति, पित्तात्मकं चापि वदन्ति नाभ्याम् । हृत्पार्श्वकुक्षौ कफसंनिविष्टं, सर्वेषु देशेषु च सन्निपातात्"–इति ॥१३॥

शूलस्य साध्यत्वादिकलक्षणमाह—

एकदोषोत्थितः साध्यः कृच्छ्रसाध्यो द्विदोषजः ॥१४॥
सर्वदोषोत्थितो घोरस्त्वसाध्यो भूर्युपद्रवः ।

एक दोष से उत्पन्न शूल साध्य, दो दोषों से उत्पन्न कृच्छ्रसाध्य और तीनों दोषों से उत्पन्न दारुण, एवं बहुत से उपद्रवों वाला असाध्य होता है ।

मधु०—साध्यत्वादिलक्षणमाह—एकेत्यादि । भूर्युपद्रव इति । उपद्रवास्तु वेदनादय यदुक्तं—"वेदना च तृषा मूर्च्छा ह्यानाहो गौरवारुची । कासः श्वासश्च हिक्का च शूलस्योपद्र स्मृताः" इति ॥१४॥

उपद्रव शब्द से वेदनादिकों को लेना चाहिए और वे 'वेदना, पिपासा, मूर आनाह, गौरव, अरुचि, कास, श्वास और हिक्का ये (शूल के उपद्रव) हैं।'

परिणामशूलस्य निदानसंप्राप्तिपूर्वकं सामान्यलक्षणमाह—

स्वैर्निदानैः प्रकुपितो वायुः संनिहितस्तदा ॥१५॥
कफपित्ते समावृत्य शूलकारी भवेद्बली ।
भुक्ते जीर्यति यच्छूलं तदेव परिणामजम् ॥१६॥
तस्य लक्षणमप्येतत्समासेनाभिधीयते ।

अपने निदानों से प्रकुपित बलवान् वायु निकट होने से जब कफ अ पित्त को व्याप्त कर लेता है, तो शूलकारी हो जाता है। खाए हुए भोजन के जाने पर जो शूल होता है, वह परिणामज शूल कहलाता है। उसी के लक्षण संक्षि रूप से अब बतलाये जाते हैं। अब यहां शंका होती है कि पैत्तिकशूल भी भोज की जीर्यमाणावस्था में होता है और यह भी, तो इनमें भेद क्या होगा ? इस उत्तर यह है कि पैत्तिकशूल में दिन, रात, ऋतु आदिकों का भी प्रभाव पड़ता वह इनके पैत्तिक कालों में बढ़ जाता है, परन्तु यह केवल भोजन की पच मानावस्था में ही होता है। साथ ही यह त्रिदोषज है।

मधु०—परिणामशूलमाह—स्वैरित्यादि । अस्य च त्रिदोषजस्यापि नियतपरिणा कालसंभवत्वेन पित्तोल्बणत्वं द्रष्टव्यम् । यदुक्तमन्यत्र—"बलासः प्रच्युतः स्थानात्पित्तेन मूर्च्छितः । वायुमादाय कुरुते शूलं जीर्यति भोजने ॥ कुक्षौ जठरपार्श्वेषु नाभौ वस्तौ स्तनान्तं पृष्ठमूलप्रदेशेषु सर्वेष्वेतेषु वा पुनः ॥ भुक्तमात्रेऽथवा वान्ते जीर्णेऽन्ने च प्रशाम्यति । षष्टिकव्री शालीनामोदनेन विवर्धते ॥ तत्परिणामजं शूलं दुर्विज्ञेयं महागदम् । तमाहू रसवाहानां स्रोत दुष्टिहेतुकम् ॥ केचिदन्नद्रवं प्राहुरन्ये तत्पक्तिदोषतः । पक्तिशूलं वदन्त्येके केचिदन्नविदाहजम्' इति । भुक्ते जीर्यत्याहारे पच्यमाने ॥१५-१६॥

यद्यपि यह (पक्ति) शूल त्रिदोषज है, तथापि परिणाम के समय में ही नि रूप से होने के कारण पित्तोल्बण है। जैसे अन्यत्र कहा भी है कि—अपने स्थान प्रच्युत पित्त के साथ मिला हुआ कफ, वायु को साथ लेकर, भोजन की जीर्यमाण अवस में शूल उत्पन्न करता है। यह शूल कुक्षि, उदर, पार्श्वयुगल, नाभि, मूत्राशय, स्तनों मध्यभाग और पृष्ठमूल के स्थानों को व्यष्टि वा समष्टिरूप से पीड़ित करता है; एवं भोजन के तत्काल बाद अथवा वमन के बाद एवं अन्न के जीर्ण हो जाने के अनन्तर शा हो जाता है। साठी, व्रीहि और शालि के चावलों से बढ़ जाता है; यही बड़ी भारी व्या दुर्विज्ञेय परिणाम शूल है; यह रसवह स्रोतों की दुष्टि के कारण होता है। इसे कई आच अन्नद्रव, दूसरे पक्तिदोषज, तीसरे पक्तिशूल और चौथे अन्नविदाहज कहते हैं।

नाम—सं० पक्तिशूल; परिणामशूल; अन्नविदाहजशूल; परिणतिशूल, इं० गेस्ट्राल्गोकेनोसि पेन (Gastralgokenosis Hunger Pain).

वातिकपरिणामशूलस्य लक्षणमाह—

आध्मानाटोपविण्मूत्रविबन्धारतिवेपनैः ॥१७॥
स्निग्धोष्णोपशमप्रायं वातिकं तद्वदेद्भिषक् ।

पैत्तिकपरिणामशूलस्य लक्षणमाह—

तृष्णादाहारतिस्वेदं कट्वम्ललवणोत्तरम् ॥१८॥
शूलं शीतशमप्रायं पैत्तिकं लक्षयेद् बुधः ।

श्लैष्मिकपरिणामशूलस्य लक्षणमाह—

छर्दिहृल्लाससंमोहं स्वल्परुग्दीर्घसन्तति ॥१९॥
कटुतिक्तोपशान्तं च तच्च ज्ञेयं कफात्मकम् ।

द्वन्द्वजादिभेदेन तस्य लक्षणमाह—

संसृष्टलक्षणं बुद्ध्वा द्विदोषं परिकल्पयेत् ॥२०॥
त्रिदोषजमसाध्यं तु क्षीणमांसबलानलम् ।

आध्मान, आटोप, विड्विबन्ध, मूत्रविबन्ध, अरति और कँपकँपी के साथ, स्निग्ध और उष्ण पदार्थों से शान्त होने वाला शूल वातिक परिणामशूल कहलाता है। तृष्णा, दाह, अरति और स्वेद के साथ; कटु, अम्ल और लवण से बढ़ने तथा शीत पदार्थों से शान्त होने वाला शूल पैत्तिक परिणामशूल कहलाता है। वमन, हृल्लास, संमोह, स्वल्प पीड़ा तथा दीर्घकालस्थायी, कटु और तिक्त पदार्थों से शान्त होने वाला श्लैष्मिक परिणामशूल होता है। इनके मिलित दो दोषों के लक्षणों को देखकर द्वन्द्वज समझना चाहिए। तीन दोषों के मिलित लक्षण जिसमें हों वह क्षीणमांस, क्षीणबल और क्षीणाग्नि वाला सान्निपातिक परिणामशूल असाध्य होता है।

मधु०—तस्य वातादिभेदेन लक्षणान्याह—आध्मानेत्यादि । तृष्णादाहारतिस्वेदा यत्र सन्ति तत्तृष्णादाहारतिस्वेदम् । कट्वम्ललवणोत्तरं कट्वम्ललवणैर्वृद्धम् । शीतशमप्रायं शीतलोपशम(य)बहुलम् । छर्दिहृल्लाससंमोहलिङ्गानि यस्मिन् सन्ति तच्छर्दिहृल्लाससंमोहम् । दीर्घसन्ततीति चिरानुबन्धि ॥१७-२०॥

अन्नद्रवाख्यशूलस्य लक्षणमाह—

जीर्णे जीर्यत्यजीर्णे वा यच्छूलमुपजायते ॥२१॥
पथ्यापथ्यप्रयोगेण भोजनाभोजनेन च ।
न शमं याति नियमात्सोऽन्नद्रव उदाहृतः ॥२२॥

तस्यासाध्यतामाह—

(अन्नद्रवाख्यशूलेषु न तावत्स्वास्थ्यमश्नुते ।
वान्तमात्रे जरत्पित्ते शूलमाशु व्यपोहति ॥१॥)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने शूलपरिणामशूलान्नद्रवशूलनिदानं समाप्तम् ॥२६॥

भोजन के जीर्ण हो जाने पर, जीर्यमाण होने पर वा अजीर्ण होने पर जो शूल उत्पन्न होता है, तथा जो पथ्य वा कुपथ्य से, भोजन वा अभोजन से किसी भी अवस्था में शान्त नहीं होता, वह अन्नद्रव शूल है। (अन्नद्रवाख्य शूलों में तब तक आराम नहीं आता जब तक कि वमन से पित्त निकल नहीं जाता; जब हो जाता है, तो वह शीघ्र शूल को वन्द कर देता है।

मधु०—त्रिदोषविकृतिविशेषमन्नद्रवाख्यं शूलमाह—जीर्णे इत्यादि। जीर्णे 'आहारे' इति शेषः, एवं जीर्यत्यजीर्णे वेत्यत्र, सर्वदेत्यर्थः। न शमं याति नोपशेत इत्यर्थः; न त्वसाध्यं, चिकित्साविधानादिति ॥२१-२२॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां शूलनिदानं समाप्तम् ॥२६॥

अथोदावर्तानाहनिदानम्।

उदावर्तस्य निदानमाह—

वातविण्मूत्रजृम्भास्त्रक्षवोद्गारवमीन्द्रियैः ।
क्षुत्तृष्णोच्छ्वासनिद्राणां धृत्योदावर्तसंभवः ॥१॥

अधोवायु, मल, मूत्र, जम्भाई, अश्रु (नेत्रजल), छींक, उद्गार (डकार), शुक्र, भूख, प्यास, श्वास और नींद इनके धारण अर्थात् रोकने से उदावर्त हो जाता है। ये वेग हैं, जिनका धारण व्याधिजनक होने से निषिद्ध है। यथोक्तमपि—"वेगान्न धारयेद्वातविण्मूत्रक्षवतृट्क्षुधाम् । निद्राकासश्रमश्वासजृम्भाश्रुच्छर्दिरेतसाम्" (वा. सू. स्था. अ. ४)।

मधु०—उदावर्तेऽपि शूलं भवतीति शूलानन्तरमुदावर्तमाह—वातेत्यादि। अस्रमश्रु, इन्द्रियशब्देनात्र शुक्रं, क्षुत् बुभुक्षा। धृत्या वेगविधारणेन। एते वातादयस्त्रयोदश नियमार्थाः, तेनान्येषां क्रोधादीनां वेगविधारणं न तद्धेतुः, स्वास्थ्यहेतुत्वात्। यदाह चरकः,—"लोभशोकभयक्रोधमानवेगान् विधारयेत् ॥" (च. सू. स्था. अ. ७) इत्यादि। सर्वोदावर्तेषु न वायुरेव कारणम्। यदाह सुश्रुतः—"सर्वेष्वेतेषु विधिवदुदावर्तेषु कृत्स्नशः। वायोः क्रिया विधातव्या स्वमार्गप्रतिपत्तये ॥" (सु. उ. तं. अ. ५५) इत्यादि। उद्भूतेन वेगविधारणेनावृतस्य वायोर्वर्तनमित्युदावर्तनिरुक्तिः; अन्ये तु वायोरूर्ध्वमावर्तो गमनमित्युदावर्तमाहुः; तन्न, अश्रुस्रावादेरव्यापकत्वात्; छत्रिणो गच्छन्तीति न्यायेन वा समाधेयम् ॥१॥

उद्भूत वेग विधारण से वायु का आवृत होना, यह उदावर्त की निरुक्ति है; परन्तु दूसरे आचार्य वायु का ऊर्ध्व अर्थात् ऊपर की ओर आवर्त अर्थात् जाना उदावर्त है, यह निर्वचन मानते हैं। पर यह निर्वचन अश्रुस्राव आदिकों में अव्याप्त होने के कारण ठीक नहीं है; अथवा 'छत्रिणो गच्छन्ति' इस न्याय से समाधान करना चाहिए।

---

१ Regurgitation.

वातनिरोधजोदावर्तस्य लक्षणमाह—

वातमूत्रपुरीषाणां सङ्गो ध्मानं क्लमो रुजा।
जठरे वातजाश्चान्ये रोगाः स्युर्वातनिग्रहात् ॥२॥

अधोवात को रोकने से अधोवायु, मूत्र और मल रुक जाता है; आध्मान, क्लम और रुजा होती है, एवं पेट में अन्य वातज विकार हो जाते हैं।

पुरीषविघातजोदावर्तं लक्षयति—

आटोपशूलौ परिकर्तिका च
सङ्गः पुरीषस्य तथोर्ध्ववातः।
पुरीषमास्यादथवा निरेति
पुरीषवेगेऽभिहते नरस्य ॥३॥ [सु० ६।५५]

पुरीष के वेग को रोकने से आटोप, शूल, गुदा में काटने की-सी पीड़ा, पुरीषावरोध, ऊर्ध्ववात वा मुख से मल की प्रवृत्ति होने लगती है।

मूत्रनिग्रहजोदावर्तस्य स्वरूपमाह—

वस्तिमेहनयोः शूलं मूत्रकृच्छ्रं शिरोरुजा।
विनामो वङ्क्षणानाहः स्याल्लिङ्गं मूत्रनिग्रहे ॥४॥

मूत्र का वेग रोकने से मूत्राशय और शिश्न में शूल, मूत्रकृच्छ्र, शिरोवेदना, वङ्क्षणों का विनाम (देह का विनाम तथा वङ्क्षण का फूलना) और आनाह होता है।

जृम्भोपघातजोदावर्तस्य रूपमाह—

मन्यागलस्तम्भशिरोविकारा
जृम्भोपघातात्पवनात्मकाः स्युः।
तथाऽक्षिनासावदनामयाश्च
भवन्ति तीव्राः सह कर्णरोगैः ॥५॥

जँभाई को रोकने से मन्यास्तम्भ, गलस्तम्भ, वातप्रधान शिर के विकार, नेत्रों के विकार, नासिका के विकार और मुख के विकार, पीनस रोग के साथ २ अति तीव्र रूप से हो जाते हैं।

अश्रुनिग्रहजोदावर्तं लक्षयति—

आनन्दजं वाऽप्यथ शोकजं वा
नेत्रोदकं प्राप्तममुञ्चतो हि।
शिरोगुरुत्वं नयनामयाश्च
भवन्ति तीव्राः सह पीनसेन ॥६॥ [सु० ६।५५]

आनन्द के कारण उत्पन्न होकर व शोक के कारण उत्पन्न होकर नेत्रों में प्राप्त आँसुओं को न छोड़ने से पीनस रोग के साथ २ शिर का भारीपन और नेत्र की तीव्र व्याधियाँ हो जाती हैं।

क्षवथुविघातजोदावर्तस्य लक्षणमाह—

मन्यास्तम्भः शिरःशूलमर्दितार्धावभेदकौ ।
इन्द्रियाणां च दौर्बल्यं क्षवथोः स्याद्विधारणात् ॥७॥

मन्यास्तम्भ, शिरःशूल, अर्दित, अर्धावभेदक और इन्द्रियों की दुर्बलता ये लक्षण छींक के वेग को रोकने से होते हैं ।

उद्गारनिग्रहजोदावर्तस्य स्वरूपमाह—

कण्ठास्यपूर्णत्वमतीव तोदः
कूजश्च वायोरथवाऽप्रवृत्तिः ।
उद्गारवेगेऽभिहते भवन्ति
घोरा विकाराः पवनप्रसूताः ॥८॥ [सु० ६।५५]

उद्गार को रोकने से कण्ठ और मुख वायु से भरा सा हो जाता है, तोद अत्यन्त होता है, कूजन होती है, वायु की प्रवृत्ति नहीं होती और अन्य वात-जन्य घोर विकार भी हो जाते हैं ।

छर्दिविघातजोदावर्तस्य लक्षणमाह—

कण्डूकोठारुचिव्यङ्गशोथपाण्ड्वामयज्वराः ।
कुष्ठवीसर्पहृल्लासाश्छर्दिनिग्रहजा गदाः ॥९॥

कण्डू, कोठ (चकत्ते), अरुचि, व्यङ्ग, शोथ, पाण्डु, ज्वर, कुष्ठ, वीसर्प और हृल्लास ये रोग वमन के वेग को रोकने से होते हैं ।

शुक्रनिरोधजोदावर्तं लक्षयति—

मूत्राशये वै गुदमुष्कयोश्च
शोथो रुजा मूत्रविनिग्रहश्च ।
शुक्राश्मरी तत्स्रवणं भवेच्च
ते ते विकारा विहते च शुक्रे ॥१०॥ [सु० ६।५५]

शुक्र के वेग को रोकने से, मूत्राशय, गुदा और अण्डकोषों पर शोथ और पीड़ा होती है, मूत्र का अवरोध होता है; एवं शुक्राश्मरी, शुक्रस्राव तथा वातकुण्डलिका आदि विकार होते हैं ।

पूर्वार्द्धेन क्षुद्विघातजस्य उत्तरार्द्धेन तृड्विघातजस्य चोदावर्तस्य रूपमाह—

तन्द्राङ्गमर्दावरुचिः श्रमश्च
क्षुधाभिघातात्कृशता च दृष्टेः ।
कण्ठास्यशोषः श्रवणावरोध-
स्तृष्णाविघातादृहृदये व्यथा च ॥११॥ [सु० ६।५५]

प्यास के रोकने से तन्द्रा, अङ्गमर्द, अरुचि, श्रम और दृष्टिदौर्बल्य होता है; एवं तृष्णा के अभिघात से कण्ठ और मुख का सूखना, शब्द का न सुनाई देना और हृदय में पीड़ा होती है ।

पूर्वार्द्धेन निःश्वासनिग्रहजस्य उत्तरार्द्धेन निद्राभिघातजस्य चोदावर्तस्य लक्षणमाह—

श्रान्तस्य निःश्वासविनिग्रहेण
हृद्रोगमोहावथवाऽपि गुल्मः ।
जृम्भाऽङ्गमर्दोऽक्षिशिरोतिजाड्यं
निद्राभिघातादथवाऽपि तन्द्रा ॥१२॥ [सु० ६।५५]

थका हुआ मनुष्य जब श्वास को रोकता है, तो उसे हृद्रोग, मोह अथवा गुल्मरोग हो जाता है। निद्रा के वेग को रोकने से जृम्भा, अङ्गमर्द, नेत्रों में जड़ता, शिर में जड़ता, अथवा तन्द्रा हो जाती है।

मधु०—उक्तवाताद्युदावर्तानां क्रमेण लक्षणमाह—वातेत्यादि। अन्ये इति तोदशूलादयः। मेहनं शेफः। विनाम आनाहपीडया (बन्धनवत्पीडया) नतगात्रत्वम्। वङ्क्षणयोरानाहो बन्धनवत्पीडा। नेत्रोदकमश्रु, प्राप्तमागतममुञ्चतो 'नरस्य' इति शेषः। चकारात्तन्त्रान्तरोक्तप्रतिश्यायहृद्रोगारुचिप्रभृतीनां ग्रहणम्। अर्धावभेदोऽर्धशिरःशूलम्। कूजोऽव्यक्तभाषणमिति कार्तिकः। वायोरप्रवृत्तिरुच्छ्वासनिरोधः। घोरा विकारा पवनजा हिक्कादयः। मूत्राशये वस्तौ, 'मूत्रायन' इति पाठे स एवार्थः। वैशब्दः पादपूरणे। तत्स्रवणं शुक्रस्य स्यन्दनम्। अतिजाड्यं गौरवम्। "शिरोगात्राक्षिगौरवम्–" इति तन्त्रान्तरे पाठः ॥२–१२॥

रूक्षादिजनितोदावर्तस्य समुत्थानमाह—

वायुः कोष्ठानुगो रूक्षैः कषायकटुतिक्तकैः।
भोजनैः कुपितः सद्य उदावर्तं करोति हि ॥१३॥ [सु० ६।५५]

तस्य संप्राप्तिमाह—

वातमूत्रपुरीषासृक्कफमेदोवहानि वै।
स्रोतांस्युदावर्तयति पुरीषं चातिवर्तयेत् ॥१४॥ [सु० ६।५५]

तस्यैव स्वरूपमवतारयति—

ततो हृद्वस्तिशूलार्तो हृल्लासारतिपीडितः।
वातमूत्रपुरीषाणि कृच्छ्रेण लभते नरः ॥१५॥ [सु० ६।५५]
श्वासकासप्रतिश्यायदाहमोहतृषाज्वरान्।
वमिहिक्काशिरोरोगमनःश्रवणविभ्रमान्।
बहूनन्यांश्च लभते विकारान् वातकोपजान् ॥१६॥ [सु० ६।५५]

कोष्ठ में गया हुआ वायु रूक्ष, कषाय, कटु और तिक्त भोजनों से प्रकुपित हुआ २ शीघ्र ही उदावर्त को कर देता है; इसमें वायु अधोवात, मूत्र, पुरीष, रक्त, कफ और मेदोवह स्रोतों को उदावर्तित कर पुरीष को भी अतिवर्तित (अधिक उदावर्तित) कर देती है। इसके अनन्तर हृदय, वस्ति, शूल, हृल्लास और अरति से पीड़ित मनुष्य कठिनता से वात, मूत्र और पुरीष को त्यागता है; और श्वास, कास, प्रतिश्याय, दाह, मोह, तृषा, ज्वर, वमन,

हिक्का, शिरोरोग, मनोविभ्रम (मन का ठीक कार्य न करना), श्रवणविभ्रम (कान का शब्द न सुनना) और अन्य बहुत से वातिक विकारों को प्राप्त करता है।

मधु०—वेगनिरोधजानुदावर्तानभिधाय रूक्षादिकुपितवातजमाह—वायुरित्यादि। उदावर्तयत्यावृणोति। अतिवर्तयेच्छोषयेत्। कृच्छ्रेण लभत इति कष्टेन प्रवर्तयति। अत्र केचित् सुश्रुतोक्तमसाध्यलक्षणं पठन्ति—"तृष्णार्दितं परिक्लिष्टं क्षीणं शूलैरुपद्रुतम्। शकृद्वमन्तं मतिमानुदावर्तिनमुत्सृजेत्॥" (सु. उ. तं अ. ५५) इति ॥१३-१६॥

Chronstipation / आनाहस्य लक्षणं दर्शयति—

आमं शकृद्वा निचितं क्रमेण
भूयो विबद्धं विगुणानिलेन।
प्रवर्तमानं न यथास्वमेनं
विकारमानाहमुदाहरन्ति ॥१७॥ [सु० ६।५६]

थोड़ा २ करके एकत्रित आम अथवा मल पुनः दुष्ट वायु से विबद्ध होकर जब अपने २ मार्ग से प्रवृत्त नहीं होता, तब यह विकार आनाह कहलाता है।

आमोत्थितमानाहं लक्षयति—

तस्मिन् भवन्त्यामसमुद्भवे तु
तृष्णाप्रतिश्यायशिरोविदाहाः।
आमाशये शूलमथो गुरुत्वं
हृत्स्तम्भ उद्गारविघातनं च ॥१८॥ [सु० ६।५६]

उस आमोत्पन्न आनाह के उत्पन्न हो जाने पर तृष्णा, प्रतिश्याय, शिरोविदाह, आमाशय में शूल और गौरव, हृदय में स्तम्भ तथा उद्गारों का विघात होता है।

पक्वाशयोत्थितानाहस्य लक्षणमाह—

स्तम्भः कटीपृष्ठपुरीषमूत्रे
शूलोऽथ मूर्च्छा शकृतश्च छर्दिः।
शोथश्च पक्वाशयजे भवन्ति
तथाऽलसोक्तानि च लक्षणानि ॥१९॥ [सु० ६।५६]

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने उदावर्तानाहनिदानं समाप्तम् ॥२७॥

पक्वाशयज पुरीषजन्य आनाह में कटी, पृष्ठ, पुरीष और मूत्र का स्तम्भ, शूल, मूर्च्छा, छर्दि, शोथ तथा अलसक में कथित लक्षण होते हैं।

मधु०—इदानीं विगुणानिलजत्वेन समानचिकित्स्यत्वेनानाहमाह—आममित्यादि। नेति पूर्वेण संबध्यते। छर्दिरित्येक एव छकारश्छन्दोऽनुरोधात्। स्तम्भशब्दः कट्यादेः स्तब्धतावाची, मूत्रपुरीषयोश्चाप्रवृत्तिवाची। अलसोक्तानीति आध्मानवातनिरोधादीनि ॥१७-१९॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामुदावर्तानाहनिदानं समाप्तम् ॥२७॥

अथ गुल्मनिदानम् ।

गुल्मस्य निदानसंप्राप्तिपूर्वकं तदाश्रयस्थानानि परिगणयति—

दुष्टा वातादयोऽत्यर्थं मिथ्याहारविहारतः ।
कुर्वन्ति पञ्चधा गुल्मं कोष्ठान्तर्ग्रन्थिरूपिणम् ।
तस्य पञ्चविधं स्थानं पार्श्वहृन्नाभिबस्तयः ॥१॥

मिथ्या आहार और मिथ्या विहार से अत्यन्त प्रकुपित वात आदि दोष कोष्ठ में गाँठ के से रूप वाले पाँच प्रकार के गुल्म को करते हैं । दोनों पार्श्व, हृदय, नाभि और वस्ति ये उसके पाँच स्थान हैं ।

मधु०—गुल्मेऽप्यानाहो भवतीत्यानाहानन्तरं गुल्ममाह—दुष्टा इत्यादि । पञ्चधेति वातपित्तकफसन्निपातरक्तजाः । द्वन्द्वजास्तु प्रकृतिसमसमवेतत्वान्न पृथग्गण्यन्ते, अर्शोरोगवत् । कोष्ठान्तरामाशयादिमध्ये, ग्रन्थिरूपिणं गुडकाकारम् । तस्येत्यादि । एतदेव विवृणोति—पार्श्वेत्यादि । पार्श्वे द्वे गणनीये, अन्यथा पञ्चत्वानुपपत्तिः, अत एव 'पार्श्वे' इति द्विवचनान्तमेव क्वचित् पठ्यते ॥१॥

तस्य सामान्यस्वरूपमवतारयति—

हृन्नाभ्योरन्तरे ग्रन्थिः संचारी यदि वाऽचलः ।
वृत्तश्चयापचयवान् स गुल्म इति कीर्तितः ॥२॥

हृदय और नाभि के मध्य में सञ्चरणशील अथवा असञ्चरणशील, गोल, बढ़ने-घटने वाली ग्रन्थि गुल्म कहलाती है ।

मधु०—सामान्यगुल्मरूपमाह—हृदित्यादि । नाभिशब्देन वस्तिर्बोध्यः, सामीप्यात्; यथा गङ्गायां घोष इत्याहुः, बस्तेरपि गुल्माश्रयत्वेनोक्तत्वात् । अत एव 'हृद्बस्त्योरन्तरे' इति पाठान्तरम् । अन्ये त्वाहुः—बस्तौ विद्रधिरेव स्यान्नतु गुल्म इति । तन्न, बस्तेरपि गुल्मस्थानत्वात्; तथा च चरके—"पञ्चस्थानानि गुल्मस्य पार्श्वहृन्नाभिबस्तयः ॥" इति । एतत् पञ्चस्थानकथनं दोषजाभिप्रायेण, रक्तजस्य तु गर्भाशयः स्थानं; अथवा पार्श्वस्थितत्वाद्गर्भाशयस्य पार्श्वग्रहणेनैव ग्रहणम् । वृत्तो वर्तुलः । चयापचयवानिति कदाचिदुपचीयते, कदाचिदपचीयते; एतच्च सामान्योक्तमपि वातिके व्यवतिष्ठते, तल्लक्षणे तदभिधानादिति जेज्जटः; गदाधरस्तु सामान्यलक्षणमाह, सर्वगुल्मानां वातमूलत्वात् । 'चयोपचयवान्' इति पाठान्तरे दोषस्य चयेनोपचयवानिति वृद्धिमानित्यर्थः । गुल्म इति लतादिपिहितसंस्थानविशेषादौ गुल्मव्यपदेशो लोके, तत्सादृश्यात् संचितपरिपिण्डितदोषेऽपि गुल्मसंज्ञेत्याहुः, वाप्यचन्द्रस्त्वाह,—संपिण्डितदोषो गुडकेन मीयत इति निरुक्तिः ॥२॥

(अन्ये त्वाहुरित्यादि—) दूसरे आचार्य कहते हैं कि बस्ति में विद्रधि ही होती है, गुल्म नहीं होता । यह पक्ष ठीक नहीं, कारण कि बस्ति भी गुल्म का स्थान है । जैसे चरक ने भी कहा है कि गुल्म के पांच स्थान होते हैं, जिनके कि नाम दोनों पार्श्व, हृदय, नाभि और वस्ति ये हैं । यह स्थानों का पञ्चत्व निर्देश दोषज के अभिप्राय से है । रक्तज गुल्म का स्थान

१ नाम—सं० गुल्म, इं० ॲब्डॉमिनल ट्यूमर (Abdominal Tumour).

गर्भाशय है; अथवा पार्श्व में स्थित होने के कारण पार्श्वग्रहण से ही गर्भाशय का ग्रहण हो जाता है।

तस्य पञ्च भेदानाह—

स व्यस्तैर्जायते दोषैः समस्तैरपि चोच्छ्रितैः।
पुरुषाणां तथा स्त्रीणां ज्ञेयो रक्तेन चापरः॥३॥ [सु० ६।२४]

वह गुल्म मनुष्यों में उच्छ्रित समस्त दोषों से वा व्यस्त दोषों से होता है; एवं स्त्रियों में एक रक्तज गुल्म भी होता है।

मधु०—पूर्वोक्तं पञ्चविधत्वं विवृणोति—स इत्यादि। व्यस्तैरित्यनेनैकजो द्वन्द्वजोऽपि ग्राह्यः। पञ्चधा गुल्म इत्यनेन विरोध इति चेत्। न, नहि तत्रावधारणं कृतं, पञ्चधैवेति। अत एव सूत्रस्थाने चरकेण—"पञ्च गुल्माः" (च. सू. स्था. अ. १६ ?) इत्यभिधायापि "संसृष्टलिङ्गानपरांश्च गुल्मांस्त्रीनादिशेदौषधकल्पनार्थम्॥" (च. चि. स्था. अ. ५) इत्युक्तं, समानचिकित्स्यत्वेन तत्रान्तर्भावात्। रक्तेन चापर इति स्त्रीणामेव। वक्ष्यति हि—"स रौधिरः स्त्रीभव एव गुल्मः॥" (च. चि. स्था. अ. ५) इति। रक्तं चात्रार्तवं न धातुरूपं, धातुरूपरक्तजस्तु गुल्मो यद्यप्यन्योऽस्ति तथाऽपि नैतत्संप्राप्तिको भवतीति पृथगुपदिश्यते। पृथग्ज्ञानानभिधानं तु पित्तगुल्मसमाननिदानचिकित्स्यत्वेन तत्रान्तर्भावात्, सुश्रुते रक्तातीसारवत्। विशेषलक्षणं च यदाह चरकः—"तृष्णाज्वरपरीदाहशूलस्वेदाग्निमार्दवैः। गुल्मिनामरुचौ चापि रक्तमेवावसेचयेत्॥" (च. चि. स्था. अ. ५) इति। धातुरूपरक्तजः स्त्रीणां पुंसां च भवतीति भट्टारहरिचन्द्रः। तथाच क्षारपाणिः—"स्त्रीणामार्तवजो गुल्मो न पुंसामुपजायते। अन्यस्त्वसृग्भवो गुल्मः स्त्रीणां पुंसां च जायते" इति। वाप्यचन्द्रस्त्वाह,—वातादिदोषजस्यैवापचाराद्रक्ते दुष्टे रक्तजव्यपदेशः, यथा चरके कफपित्तमेहानामतिकर्षणादुत्तरकालं वातसंसर्गे सति वातमेहत्वमुक्तम्। यदुक्तं—"या वातमेहान् प्रति पूर्वमुक्ता वातोल्बणानां विहिता क्रिया सा। वायुर्हि मेहेष्वतिकर्षितेषु कुप्यत्यसाध्यान् प्रति नास्ति चिन्ता॥" (च. चि. स्था. अ. ६) इति। क्षारपाणेरप्येवमेवाभिप्रायः। यदि तु पृथक् स्यात्तदा तमपि नवमं लिङ्गस्थानादिभिरभिधास्यत, न चोक्तः[1]। जेज्जटगयदासाभ्यां तु हरिचन्द्रमतमेवानुमतमिति। सर्वगुल्मेषु वातकारणत्वं ज्ञेयम्। यदुक्तं चरके—"गुल्मिनामनिलशान्तिरुपायैः सर्वशो विधिवदाचरितव्या। मारुते ह्यवजितेऽन्यमुदीर्णं दोषमल्पमपि कर्म निहन्यात्॥" (च. चि. स्था. अ. ५) इति; सुश्रुतेऽप्युक्तं—"कुपितानिलमूलत्वात्संचितत्वान्मलस्य च। तुल्यत्वाद्वा विशालत्वाद्गुल्म इत्यभिधीयते॥" (सु. उ. तं. अ. ४२) इति। न चैतावता नानात्मजत्वप्रसङ्गः, वातस्यानुबन्धरूपत्वात्, ज्वरे पित्तवत्। ननु, वाताव्यभिचाराद्द्विदोषजस्त्रिदोषजो वा गुल्मः स्यान्न केवलं कफजः पित्तजो वेति, ततश्च पञ्चवेति विरोधः। नैतत्, अनुबन्धरूपेण वातजव्यपदेशो, नत्वनुबन्ध्यरूपेणेति॥३॥

'व्यस्तैः' इस शब्द से एक२ दोष से तथा दो२ दोषों से उत्पन्न होने वाला गुल्म लिया जाता है। (प्रश्न—) यदि ऐसा है, तो पूर्वोक्त 'पञ्चधा गुल्मम्' से विरोध आता है, क्योंकि

१ तच्च नोक्तम्.

मधु०—पूर्वरूपमाह—उद्गारेत्यादि । पुरीषबन्धो विड्बन्धः । तृप्तिरनन्नाभिलाषः। सुश्रुतेऽपि हि "द्वेषोऽन्ने" (सु. उ. तं. अ. ४२) इति पठितम् । अक्षमत्वमसामर्थ्यम्। आटोपोऽत्र रुजापूर्वकः क्षोभः, तनतनं वा; नतु गुडगुडाशब्दः, तस्यान्त्रकूजनेनैव गृहीतत्वात्; नाप्याध्मानं, तस्योपात्तत्वात् । अपक्तिशक्तिर्मन्दाग्निता; 'अपक्तृशक्तिः' इति पाठे स एवार्थः ॥४॥

गुल्मस्य सामान्यलक्षणमाह—

अरुचिः कृच्छ्रविण्मूत्रवातताऽन्त्रविकूजनम् ।
आनाहश्चोर्ध्ववातत्वं सर्वगुल्मेषु लक्षयेत् ॥५॥

अरुचि, विट्कृच्छ्रता, मूत्रकृच्छ्रता, अधोवातकृच्छ्रता, अन्त्रविकूजन, आनाह और ऊर्ध्ववात ये सब गुल्मों में (वैद्य) जानें ।

मधु०—गुल्मसाधारणरूपमाह—अरुचिरित्यादि ।

वातिकगुल्मस्य समुत्थानमाह—

रूक्षान्नपानं विषमातिमात्रं
विचेष्टनं वेगविनिग्रहश्च ।
शोकोऽभिघातोऽतिमलक्षयश्च
निरन्नता चानिलगुल्महेतुः ॥६॥ [च० ६।५]

तस्य लक्षणमाह—

यः स्थानसंस्थानरुजाविकल्पं
विड्वातसङ्गं गलवक्त्रशोषम् ।
श्यावारुणत्वं शिशिरज्वरं च
हृत्कुक्षिपार्श्वांसशिरोरुजं च ॥७॥ [च० ६।५]
करोति जीर्णे त्वधिकं प्रकोपं
भुक्ते मृदुत्वं समुपैति यश्च ।
वातात्स गुल्मो नच तत्र रूक्षं
कषायतिक्तं कटु चोपशेते ॥८॥ [च० ६।५]

रूक्ष, विषम, अत्यधिक, वा अन्नपान, विरुद्ध चेष्टाएँ, वेगावरोध, शोक, अभिघात, अतिमलक्षय और अभोजन, ये वातिक गुल्म के हेतु हैं। जो (गुल्म) स्थान विकल्प से अर्थात् कभी नाभि में, कभी पार्श्वों में और कभी वस्ति आदि स्थानों में होता है; जो संस्थानविकल्प से अर्थात् कभी अल्प, कभी महान्, कभी वृत्त और कभी दीर्घ आदि आकार वाला होता है; एवं जो रुजा के विकल्प से अर्थात् कभी स्वल्प रुजा वाला, कभी अधिक रुजा वाला, कभी तोद वाला और कभी भेदादि वाला होता है, वह तथा विट्सङ्ग, वातसङ्ग, गलशोष, मुखशोष, श्याववर्ण, अरुणवर्ण, शीतज्वर, हृद्रुजा, कुक्षिरुजा, पार्श्वरुजा, अंसरुजा और शिरोरुजा वाला होता है; वह एवं जो भोजन के

जीर्ण होने पर अधिक प्रकोप और भोजन के खाने पर कम हो जाता है वह गुल्म वातिक होता है। उसमें रूक्ष, कषाय, तिक्त और कटु पदार्थ उपशय रूप (हितकारक) नहीं होते।

मधु०—वातिकमाह—रूक्षेत्यादि । विषमातिमात्रमित्यन्नपानविशेषणम् । विचेष्टनं विरुद्धचेष्टा बलवद्विग्रहादि । अतिमलक्षयो विरेकादिना । निरन्नता निराहारता । विकल्पशब्दः स्थानादिभिः प्रत्येकं योज्यः । स्थानविकल्पो यथा–कदाचिन्नाभौ, कदाचित्पार्श्वयोः, कदाचिद्वस्ति-शिरआदिस्थानान्तरगमनम् । संस्थानविकल्पो यथा–कदाचिदल्पः, कदाचिन्महान्, वृत्तो, दीर्घो वेति । रुजाविकल्पो यथा–कदाचिदल्पा, कदाचिन्महती, तोदरूपा, भेदरूपा, अनेकरूपा वेति । नच तत्रोपशेते न सुखयति ॥६–८॥

पैत्तिकगुल्मस्य निदानमाह—

कट्वम्लतीक्ष्णोष्णविदाहिरूक्ष-
क्रोधातिमद्यार्कहुताशसेवा ।
आमाभिघातो रुधिरं च दुष्टं
पैत्तस्य गुल्मस्य निमित्तमुक्तम् ॥९॥ [च० ६।५]

पैत्तिकगुल्मस्य लक्षणमाह—

ज्वरः पिपासा वदनाङ्गरागः
शूलं महज्जीर्यति भोजने च ।
स्वेदो विदाहो व्रणवच्च गुल्मः
स्पर्शासहः पैत्तिकगुल्मरूपम् ॥१०॥ [च० ६।५]

कटु, अम्ल, तीक्ष्ण, उष्ण, विदाहि, रूक्ष, क्रोध, अतिमद्य, सूर्य और अग्नि का सेवन; विदग्धाजीर्णजनित दुष्टरस से अभिघात; एवं दुष्ट हुआ २ रक्त पैत्तिक गुल्म का कारण होता है। इसमें ज्वर, जलाभिलाषा, मुख और शरीर में अरुणता, भोजन की जीर्यमाणावस्था में महान् शूल, स्वेद, विदाह और गुल्म का व्रण की तरह स्पर्शासह होना पैत्तिक गुल्म के लक्षण हैं।

मधु०—पैत्तिकमाह—कट्वित्यादि । आमाभिघात इति विदग्धाजीर्णजनितदुष्टरसेनाभिभवः; अन्ये तु 'आमाभिघातौ' इति पठन्ति, तत्राम उक्तरूपः, अभिघातो लगुडादेः स्फाद्यथो ज्ञेयः । जीर्यतीति सप्तम्यन्तम् । व्रणवत् स्पर्शासह इति योज्यम् ॥९–१०॥

आद्यपादत्रयेण श्लैष्मिकस्य तुरीयपादेन सान्निपातिकस्य च गुल्मस्य निदानमाह—

शीतं गुरु स्निग्धमचेष्टनं च
संपूरणं प्रस्वपनं दिवा च ।
गुल्मस्य हेतुः कफसंभवस्य
सर्वस्तु दुष्टो निचयात्मकस्य ॥११॥

श्लैष्मिकस्य गुल्मस्य स्वरूपमाह—

स्तैमित्यशीतज्वरगात्रसाद-
हृल्लासकासारुचिगौरवाणि ।
शैत्यं रुगल्पा कठिनोन्नतत्वं
गुल्मस्य रूपाणि कफात्मकस्य ॥१२॥ [च० ६।५]

शीतद्रव्य, गुरुद्रव्य, स्निग्धद्रव्य, अत्यल्पचेष्टन, तर्पण और दिवास्वाप ये कफगुल्म के कारण हैं। उपर्युक्त वातपित्त और कफ के सभी प्रकुपित निदान सान्निपातिक गुल्म के कारण हैं। स्तिमितता, शीतज्वर, गात्रसाद, हृल्लास, कास, अरुचि, गौरव, शीतगात्रता, स्वल्पपीड़ा और गुल्म का कठिन एवं उन्नत होना कफगुल्म के रूप हैं।

मधु०—श्लैष्मिकमाह—शीतमित्यादि। संपूरणं तृप्तिभोजनम्। सर्वे इति वातजाद्युक्ताः। निचयात्मकस्य सन्निपातजस्य। कठिनोन्नतत्वं गुल्मस्य ॥११-१२॥

द्वन्द्वजादिगुल्मानामातिदेशेन लक्षणमाह—

निमित्तरूपाण्युपलभ्य गुल्मे
द्विदोषजे दोषबलाबलं च।
व्यामिश्रलिङ्गानपरांश्च गुल्मां-
स्त्रीनादिशेदौषधकल्पनार्थम् ॥१३॥ [च० ६।५]

द्विदोषज गुल्म में कारण, रूप और दोषों का बलाबल देखकर औषध-कल्पना के लिए व्यामिश्र लिङ्गों वाले अन्य तीन गुल्मों का भी आदेश करना चाहिए।

मधु०—द्व्यात्मकेषु त्रिष्वेकजहेतुलक्षणातिदेशार्थमाह—निमित्तेत्यादि। निमित्तानि च रूपाणि चेति द्वन्द्वः। दोषबलाबलं चेत्यनेन समद्विदोषद्वन्द्वजत्रयेणैकोल्वणादिद्विदोषजोऽपि ग्राह्य इति दर्शयति, अन्यथा बहुत्वापत्तेः। औषधकल्पनार्थमित्येकदोषजाभिहितचिकित्सामेलकेन तांश्चिकित्सेदित्यर्थः ॥१३॥

सान्निपातिकगुल्मस्य लक्षणं तत्प्रत्याख्येयतां चाह—

महारुजं दाहपरीतमश्मव-
द्घनोन्नतं शीघ्रविदाहि दारुणम्।
मनःशरीराग्निबलापहारिणं
त्रिदोषजं गुल्ममसाध्यमादिशेत् ॥१४॥ [च० ६।५]

अत्यन्त पीड़ायुक्त, दाहसहित, पाषाणसदृश घन एवं ऊँचा, शीघ्रविदाहि, दारुण, मन में विकलताकारक, दुर्बल और रंग बदल देने वाला, अग्निमन्दकारक और बलनाशक त्रिदोषज गुल्म को असाध्य कहना चाहिए।

मधु०—सान्निपातिकमाह—महारुजमित्यादि। अश्मवद्घनोन्नतं पाषाणवत् कठिनमुन्नतं च। मन इत्यादि मनोऽपहारिणं मनोवैकल्यकारिणम्, शरीरापहारिणं कृशत्ववैवर्ण्यकरम्, अग्न्य-

पहारिणमग्निवैषम्यकरम्, बलापहारिणमसामर्थ्यकरम्। ननु,असाध्यमिति विरुद्धं, "सन्निपातोत्थिते गुल्मे त्रिदोषघ्नो विधिर्हितः॥" (सु. उ. तं. अ. ४२) इति सुश्रुतवचनात्। नैवम्, अयं च विकृतिविषमसमवेतोऽसाध्यः, प्रकृतिसमसमवेतस्तु साध्य इत्याहुः। ननु, सोऽप्यसाध्यः, यदाह सुश्रुतः—"सर्वात्मके सर्वरुजोपपत्तिस्तं चाप्यसाध्यं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः॥" (सु. उ. तं. अ.४२) इति। उच्यते, तं चापीत्यपिशब्दादचिरोत्थितः साध्यो विश्वामित्रसंवादादिति गयदासः ॥१४॥

(ननु—) इसमें कहा हुआ साध्यपन विरुद्ध बैठता है, क्योंकि 'सन्निपातोत्थित गुल्म में त्रिदोषघ्न विधि हितकर है' इस सुश्रुत वचन से विरोध आता है। इसका उत्तर यह है कि नहीं, प्रकृत में विकृतिविषमसमवेत होने से असाध्य है, परन्तु प्रकृतिसमसमवेत साध्य है, यह आचार्य कहते हैं। (ननु—) यह भी असाध्य है, जैसे सुश्रुत ने कहा है कि 'सर्वात्मक गुल्म में सभी प्रकार की पीड़ाएँ होती हैं और उसको भी वैद्य असाध्य कहते हैं'। इस पर आचार्य कहते हैं कि यहां 'तं चापि' में अपि शब्द से अचिरोत्थित साध्य होता है, क्योंकि विश्वामित्र भी ऐसा मानता है, यह गयदास का मन्तव्य है।

रक्तगुल्मस्य निदानं संप्राप्तिञ्च दर्शयति—

नवप्रसूताऽहितभोजना या
या चामगर्भं विसृजेदृतौ वा।
वायुर्हि तस्याः परिगृह्य रक्तं
करोति गुल्मं सरुजं सदाहम्।

रक्तगुल्मस्य लक्षणमाह—

पैत्तस्य लिङ्गेन समानलिङ्गं
विशेषणं चाप्यपरं निबोध ॥१५॥ [सु० ६।४२]
यः स्पन्दते पिण्डित एव नाङ्गै-
श्चिरात् सशूलः समगर्भलिङ्गः।
स रौधिरः स्त्रीभव एव गुल्मो
मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः ॥१६॥ [च० ६।५]

जो स्त्री नवप्रसव वाली होने पर अहित भोजन सेवन करने वाली हो, जो आमगर्भ को गिरा दे (जिसका आमगर्भ गिर जावे) वा जो आर्तव प्रवृत्ति (मासिक धर्म) के समय अहित भोजन करे उसका प्रकुपित वायु रक्त को लेकर पीड़ा और दाहयुक्त गुल्म को कर देता है। वह गुल्म पैत्तिकगुल्म के समान लक्षणों वाला होता है और उसके यह विशिष्ट लक्षण भी हैं, जो गर्भ पिण्डित हुआ २ ही स्पन्दन करता है और अङ्गों से नहीं स्पन्दन करता, वह तथा जो शूलान्वित गर्भ के समान लक्षणों वाला होता है वह रुधिर से होने वाला स्त्रीभवगुल्म दशम मास के व्यतीत हो जाने पर चिकित्स्य होता है। यहां 'समगर्भलिङ्गः' से 'स्तनयोः कृष्णमुखता रोमराज्युद्गमस्तथा। अक्षिपक्ष्माणि चाप्यस्या निमील्यन्ते विशेषतः।

१ अयं रोग आंग्लभाषायाम् 'ऑव्हेरियन् आर युटेराइन ट्यूमर' (Ovarian or [illegible] tumour) इति नाम्ना प्रसिद्धः.

अकामतश्छर्दयति गन्धादुद्विजते शुभात् । प्रसेकः सदनं चापि गर्भिण्या लिङ्गम्" इति सुश्रुतोक्त गर्भिणी के समान लिङ्गान्वित, लेना चाहिए; अथवा चरक में प्रतिपादित गर्भिणी के लक्षणों के से लक्षणों वाला लेना चाहिए।

मधु०—रक्तगुल्ममाह—नवेत्यादि । आमगर्भे विसृजेदिति नवममासादर्वाक् प्रसूतेः, ऋतावार्तवप्रवृत्तिकाले, अहितभोजनेति संबन्धः । एतच्चोपलक्षणार्थं, तेनाहाराचारादिकं ज्ञेयम् । यदाह चरकः—"ऋतावनाहारतया भयेन विरूक्षणैर्वेगविधारणैश्च संस्तम्भनोल्लेखन-योनिदोषैर्गुल्मः स्त्रियं रक्तभवोऽभ्युपैति ॥" (च. चि. स्था. अ. ५) इति । पैत्तस्य पैत्तिकगुल्मस्य । विशेषणं पैत्तिकगुल्माद्विशेषलक्षणम् । पिण्डितः समुदितः । एवकारोऽत्राव-धारणे । एतदेव स्फुटयति—नाङ्गैर्नावयवैश्चिरात् स्पन्दत इति संबन्धः । समगर्भलिङ्ग इति आर्तवादर्शनमुखस्रवणस्तनमुखकृष्णत्वदोहदादिगर्भलक्षणयुक्तः, एतच्च व्याधिप्रभावात्; यथा-क्षयार्शसोः स्त्रीरिरंसाकृष्णत्वङ्खादयः । अन्ये तु समगर्भलिङ्गोऽविकृतगर्भलिङ्ग इत्याहुः । उक्त-विशेषणैरेव स्त्रीभवत्वे लब्धे स्त्रीग्रहणेन कुमारीमतिवृद्धां च निषेधयति, अनुद्भूतक्षीणरजस्क-त्वात्तयोः । व्यतीतेऽतिक्रान्ते । गर्भसमानलिङ्गत्वेन संशयः—गर्भो वा, रक्तगुल्मो वा, इति; तच्छङ्कानिरासार्थं दशमे मासे व्यतीते इत्युक्तं; नवमदशमयोः प्रसवकालत्वादित्येके । तत्र, 'यः स्पन्दते पिण्डित एव नाङ्गैः' इत्यादिनैव विशेषदर्शनेन संशयस्य निवर्तितत्वात् । गर्भो हि निरन्तरं प्रत्यङ्गैर्निःशूलं स्पन्दते, गुल्मस्त्वेतद्विपरीतेन । किंच नवमे दशमे प्रसूत इत्युत्सर्गः, नतु नियमः, तदधिककालेऽपि प्रसवदर्शनात्, आगमाच्च । उक्तं हि चरके—"तं स्त्री प्रसूते सुचिरेण गर्भं पुष्टो यदा वर्षगणैरपि स्यात् ॥" (च. शा. स्था. अ. २) इति; तस्मान्नेदं दशम-मासव्यतिक्रमे चिकित्साविधानस्य प्रयोजनं, किंतु व्याधिमहिम्ना तावतैव कालेन तस्य चिकित्सया सुखोच्छेदनमिति । यथा ज्वरे पुराण एव क्षीरपानविरेचने । उक्तं हि तन्त्रान्तरे—"रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्" इति । पुराणता चास्य दशममासव्यतिक्रमेणैव भवति । जेज्जटेनाप्युक्तम्—यद्यर्वाग्रक्तभेदनं क्रियते तदा गर्भशय्यां क्षिणोति, तल्लीनत्वाद्रक्तस्य; एकादशमासे तु परिपिण्डितगुल्मे स्नेहादिनोपस्कृतदेहाया न गर्भशय्याया विकृतिमादधाति रक्तभेदनमिति॥ १५-१६॥

(उक्तेति—) जब कि उक्त विशेषणों से ही यह सिद्ध हो जाता है कि—यह गुल्म स्त्रियों को ही होता है, पुनः 'स्त्री' शब्द का ग्रहण यह बताता है कि यह युवा स्त्री को ही हो सकता है, कन्या और वृद्धा को नहीं हो सकता। क्योंकि उनमें रज अनुद्भूत एवं क्षीण होता है। इसमें गर्भ के समान लक्षण होने से संशय होता है कि—गर्भ है, वा रक्त गुल्म ? इसी शंका को मिटाने के लिये दशम मास के अनन्तर चिकित्स्य कहा है, क्योंकि नवम और दशम मास प्रसवकाल होता है। यदि गर्भ होगा तो प्रसव हो जायगा अन्यथा गुल्म जान रक्त ह्रास आदि चिकित्सा करनी चाहिए। इस पर रक्षित कहते हैं कि—नहीं, जो पिण्डित ही स्पन्दन करता है, अङ्गों से नहीं, इस विशेष कथन से ही संशय की निवृत्ति हो जाती है। गर्भ निरन्तर प्रत्यङ्गों से निःशूल स्पन्दन करता है, परन्तु गुल्म इससे विपरीत होता है। किञ्च—नवम वा दशम मास में प्रसव होता है, यह उत्सर्ग है, न कि नियम। क्योंकि इसके अनन्तर भी प्रसव दीखता है और शास्त्र भी कहता है। चरक में कहा है कि—'ऐसे गर्भ को स्त्री बहुत देर बाद जनती है, जो कई वर्षों के अनन्तर पुष्ट हो'। इसका

भाव यह है कि जब वह पुष्ट होगा, चाहे वह कई वर्षों के अनन्तर क्यों न हो, तभी उत्पन्न करती है। इससे सिद्ध होता है कि दशम मास में चिकित्साविधान का यह फल नहीं है किन्तु व्याधि का प्रभाव ही ऐसा है कि उसकी चिकित्सा इसी समय में करने से वह सुखसाध्य होता है। जैसे कि—पुराने ज्वर में ही क्षीरपान तथा विरेचन कराया जाता है। तन्त्रान्तर में कहा भी है कि—'रक्तगुल्म में प्राचीनता सुखसाध्यता का लक्षण है' और पुरानापन इसमें १० मास व्यतीत हो जाने पर ही होता है। जेज्जट ने भी कहा है कि—'यदि पहले ही रक्तभेदन किया जावे तो वह गर्भशय्या को खराब करता है, क्योंकि रक्त उसी में लीन होता है'। ११वें मास में तो गुल्म के परिपिण्डित होने से रक्तभेदन स्नेहादि से उपस्कृत गर्भशय्या को विकृत नहीं करता।

गुल्मस्य आकृतिविशेषेण प्रत्याख्येयतायाः लक्षणान्याह—

संचितः क्रमशो गुल्मो महावास्तुपरिग्रहः।
कृतमूलः सिरानद्धो यदा कूर्म इवोत्थितः ॥१७॥ [च० ६।५]
दौर्बल्यारुचिहृल्लासकासच्छर्द्यरतिज्वरैः।
तृष्णातन्द्राप्रतिश्यायैर्युज्यते स न सिध्यति ॥१८॥ [च० ६।५]

सोपद्रवस्य गुल्मस्य प्रत्याख्येयतायाः लक्षणान्याह—

गृहीत्वा सज्वरं श्वासच्छर्द्यतीसारपीडितम्।
हृन्नाभिहस्तपादेषु शोथः कर्षति गुल्मिनम् ॥१९॥ [च० ६।५]
श्वासः शूलं पिपासाऽन्नविद्वेषो ग्रन्थिमूढता।
जायते दुर्बलत्वं च गुल्मिनो मरणाय वै ॥२०॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने गुल्मनिदानं समाप्तम् ॥२८॥

क्रम से संचित, बड़े घेरे वाला (उदर में व्यापक) गुल्म जब धात्वन्तरावगाही, सिरा जाल से अन्वित, कछुए की तरह उन्नत एवं दौर्बल्य, अरुचि, हृल्लास, कास, छर्दि, अरति, ज्वर, तृष्णा, तन्द्रा और प्रतिश्याय से युक्त होता है, तो ठीक नहीं हो सकता। ज्वर, श्वास, छर्दि और अतीसार से पीड़ित गुल्म रोगी को हृदयशोथ, नाभिशोथ, करशोथ वा पादशोथ मार देती है। श्वास, शूल, पिपासा, अन्न में द्वेष, ग्रन्थिमूढ़ता और दुर्बलता गुल्मी मनुष्य को मारने के लिए होती है।

मधु०—चिरजस्यावस्थायामसाध्यत्वमाह—संचित इत्यादि। महावास्तुपरिग्रहः सकलोदरव्यापी। कृतमूलो धात्वन्तरावगाही। सिरानद्धः सिराजालवान्। हृदयादौ गृहीत्वा शोथो गुल्मिनं कर्षति, 'मरणाय' इति शेषः। ग्रन्थिमूढ़ता ग्रन्थिरूपस्य गुल्मस्याकस्माद्विलयनमिति। ननु च, अन्तर्विद्रधिगुल्मयोः को भेदः, समानस्थानसंभवत्वात्। उच्यते, विद्रधिः पच्यते गुल्मो न पच्यते, निराश्रयत्वात्। यदाह सुश्रुतः—"न निबन्धोऽस्ति गुल्मस्य विद्रधिः सनिबन्धनः। गुल्मस्तिष्ठति दोषे स्वे विद्रधिर्मांसशोणिते ॥ विद्रधिः पच्यते तस्माद्गुल्मः क्वापि न पच्यते ॥" (सु. नि. स्था. अ. ६) इति। ननु, गुल्मोऽपि पच्यत एव। यदाह चरकः—"विदाहशूलसंक्षोभस्वमनाशारतिज्वरैः। विदह्यमानं जानीयाद् गुल्मं तमुपनाहयेत् ॥"

(च. चि. स्था. अ. ५) इति । उच्यते-गुल्मो न पच्यते निराश्रयत्वात्; यदा तु कारणवशादाश्रयं मांसादिकमासादयति, वातोपशमनार्थं कृतस्वेदादिभिर्वा रक्तदुष्टिर्भवति तदा पच्यमानो विदाहनिमित्तकं विद्रधित्वमाप्नोति । उक्तं हि-"स वै शीघ्रविदाहित्वाद्विद्रधीत्यभिधीयते ॥" (च. सू. स्था. अ. १७) इति । न हि यस्मात् विकाराद्यदुत्पद्यते विकारान्तरं तत् स एव भवतीति; माभूत् प्लीहैवोदरम्, अश्मर्येव शर्करा, इत्यादि शास्त्रोक्तविरोधविस्तरः । तस्माद्विद्रधिः पच्यते, गुल्मो न पच्यत इति सिद्धान्तो निरपवादः । ये त्वन्तर्विद्रधिं न पठन्ति तेषामयमभिप्रायः,-गुल्मे पक्के विद्रधौ च पाटनशोधनरोपणादेः, अपक्के च विरेकलेपविम्लापनादेश्चिकित्सितस्य प्रायो विशेषाभावादलं पृथग्विकारस्वीकारेणेति ॥१७-२०॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां गुल्मनिदानं समाप्तम् ॥२८॥

(प्रश्न—) विद्रधि और गुल्म का उत्पत्तिस्थान एक होने से परस्पर भेद क्या होगा ? (उत्तर—) इनका परस्पर भेद यह है कि विद्रधि पकती है, परन्तु गुल्म पकता नहीं, क्योंकि गुल्म का कोई आश्रय नहीं होता । जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—'गुल्म का निबन्ध नहीं होता, परन्तु विद्रधि निबन्धन वाली होती है, गुल्म अपने दोष में ही रहता है, परन्तु विद्रधि मांस और रक्त में होती है । इसी कारण विद्रधि पकती है और गुल्म कहीं भी नहीं पकता'। (ननु—) गुल्म भी पकता है, जैसे चरक ने कहा भी है कि 'विदाह, शूल, संक्षोभ, निद्रानाश, अरति और ज्वर इनसे जब गुल्म विदह्यमान होता है, तो उसका उपनाहन करें' । इस पर आचार्य कहते हैं कि आश्रयरहित होने से गुल्म पकता नहीं है । जब वह कारणवश मांसादिक का आश्रय ले लेता है, वा वातशान्ति के लिए किये हुए स्वेदादिकों से रक्तदुष्टि हो जाती है, तो पच्यमान वह विदाह से उत्पन्न विद्रधीपन को प्राप्त करता है । कहा भी है कि—'वह शीघ्रविदाही होने से विद्रधि इस नाम से पुकारी जाती है'। जिस विकार से जो दूसरा विकार उत्पन्न होता है, वह वही नहीं होता, जिससे कि प्लीहा ही उदर, अश्मरी ही शर्करा इत्यादि शास्त्रविरोध न हो। इसलिए विद्रधि पकती है और गुल्म नहीं पकता, यह निरपवाद सिद्धान्त है । जो अन्तर्विद्रधि को नहीं मानते, उनका यह अभिप्राय है कि पक्वविद्रधि और गुल्म में पाटनशोधन रोपणादि, अपक्वगुल्म में विरेक लेप विम्लापन आदि चिकित्सा का प्रायः विशेषाभाव होने से पृथक् विकार स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं ।

अथ हृद्रोगनिदानम् ।

हृद्रोगस्य निदानमाह—

अत्युष्णगुर्वन्नकषायतिक्त-
श्रमाभिघाताध्यशनप्रसङ्गैः ।
संचिन्तनैर्वेगविधारणैश्च
हृदामयः पञ्चविधः प्रदिष्टः ॥१॥

१ नाम—सं० हृद्रोग, हृदामय; अ० वजअ उल कल्ब; इं० डिसीजेस आफ दी हार्ट (Diseases of the Heart) ॲन्जाइना पेक्टोरिस् (Angina pectoris).

अति उष्णान्न, अति गुरु अन्न, अति कषाय पदार्थ, अति तिक्त पदार्थ, अति श्रम, अत्यभिघात और अत्यशन, इनके निरन्तर सेवन से; एवं संचिन्तन और वेगावरोध से होने वाला हृदयरोग पाँच प्रकार का होता है ।

मधु०—गुल्मस्य हृदयं स्थानमुक्तम्, अतो हृदयसंकीर्तनाद्धृद्रोगारम्भः । प्रसङ्गः सातत्येन सेवा, अत्युष्णादयो यथायोग्यं वातादीनां क्रिमेश्च निदानमिति बोध्यम् ॥१॥

हृदामयस्य संप्राप्तिपूर्वकं सामान्यस्वरूपमाह—

दूषयित्वा रसं दोषा विगुणा हृदयं गताः ।
हृदि बाधां प्रकुर्वन्ति हृद्रोगं तं प्रचक्षते ॥२॥ [सु० ६।४३]

हृदय में गए हुए दुष्ट दोष रस को दूषित कर हृदय में बाधा कर देते हैं, इस रोग को हृद्रोग कहा जाता है ।

मधु०—तस्य संप्राप्तिं सामान्यलक्षणं चाह—दूषयित्वेत्यादि । दूषयित्वा रसमिति रसस्य हृदयाश्रयत्वात् । विगुणाः कुपिताः । हृद्रोगमिति वाच्ये यद्बाधाग्रहणं, तद्दोषभेदेन बाधावैचित्र्यज्ञापनार्थं; बाधाशब्देन चात्र नानाविधा पीडेति जेज्जटः, भङ्गवत् पीडेति गयदासः । हृद्रोगमिति 'वा शोकष्यञ्रोगेषु–' इति रोगे परे हृदयस्य हृद्भावः, अथवा हृदो रोगो हृद्रोगः ॥२॥

वातिकहृदामयस्य लक्षणमाह—

आयम्यते मारुतजे हृदयं तुद्यते तथा ।
निर्मथ्यते दीर्यते च स्फोट्यते पाट्यतेऽपि च ॥३॥ [सु० ६।४३]

वातिक हृद्रोग में हृदय खिंचता सा, तुदित सा, मथित सा, विदीर्ण सा, स्फुटित सा और फटता हुआ सा प्रतीत होता है ।

मधु०—वातिकहृद्रोगलक्षणमाह—आयम्यत इत्यादि । आयम्यते आकृष्यत इव । तुद्यते सूच्येव । निर्मथ्यते दण्डेनैव । दीर्यते द्विधेव क्रियते । स्फोट्यते आरयेव । पाट्यते कुठारेणैव ॥३॥

पैत्तिकहृदामयस्य लक्षणमाह—

तृष्णोष्मादाहचोषाः स्युः पैत्तिके हृदयक्लमः ।
धूमायनं च मूर्च्छा च स्वेदः शोषो मुखस्य च ॥४॥ [सु० ६।४३]

पैत्तिक हृद्रोग में तृष्णा, ऊष्मा, दाह, चोष, हृदयक्लम, धूमायन, मूर्च्छा, स्वेद और मुखशोष होता है ।

मधु०—पैत्तिकलक्षणमाह—तृष्णेत्यादि । ऊष्मा किंचिद्दाहः । हृदयक्लमो हृदयाकुलत्वं, ग्लानिरिति यावत् ॥४॥

श्लैष्मिकहृदामयस्य स्वरूपमाह—

गौरवं कफसंस्रावोऽरुचिः स्तम्भोऽग्निमार्दवम् ।
माधुर्यमपि चास्यस्य बलासावतते हृदि ॥५॥ [सु० ६।४३]

कुपित कफ से व्याप्त हृदय में गौरव, कफसंस्राव, अरुचि, स्तम्भ, अग्निमार्दव और मुखमाधुर्य होता है ।

मधु०—श्लैष्मिकमाह—गौरवमित्यादि । बलासावतते कुपितकफव्याप्ते, "दोषा दुष्ट दूषयितारो भवन्ति"—इत्यागमात् ॥५॥

सान्निपातिकहृदामयस्य तदवस्थान्तरविशेषस्य क्रिमिहृद्रोगस्य च लक्षणमाह—

विद्यात् त्रिदोषं त्वपि सर्वलिङ्गं
तीव्रार्तितोदं क्रिमिजं सकण्डूम् ।
उत्क्लेदः ष्ठीवनं तोदः शूलं हृल्लासकस्तमः ।
अरुचिः श्यावनेत्रत्वं शोथश्च क्रिमिजे भवेत् ॥६॥ [सु० ६।४३]

त्रिदोषज हृद्रोग प्रकृतिसमसमवायानुसार सभी लिङ्गों वाला होता है और क्रिमिज हृद्रोग तीव्रपीड़ा, तोद एवं कण्डूयुक्त होता है । सान्निपातिक हृद्रोग में उत्क्लेद, ष्ठीवन, तोद, शूल, हृल्लास और मूर्च्छा होती है । एवं क्रिमिज में अरुचि, श्यावनयनत्व और शोथ होती है । उपर्युक्त व्याख्यान जेज्जट वाचस्पत्यादि के अनुसार है । गयदास आदिकों का भिन्न मत है, जो कि इसी की मधुकोश की भाषा में आगे विशद किया जायगा ।

मधु०—सान्निपातिकमाह—विद्यादित्यादि । सर्वलिङ्गमित्यनेन प्रकृतिसमसमवायारब्धत्वमुक्तं, तेन चिकित्साऽप्यस्य प्रत्येकं वातादिजस्य या सा मिलितैव कार्या । अपचाराच्चेह ग्रन्थिरुत्पद्यते ततः क्रिमिसंभवः । उक्तं हि चरकेण—"त्रिदोषजे तु हृद्रोगे यो दुरात्मा निषेवते । तिलक्षीरगुडादीनि ग्रन्थिस्तस्योपजायते ॥ मर्मैकदेशे संक्लेदं रसश्चास्योपगच्छति । संक्लेदात् क्रिमयश्चास्य भवन्त्युपहतात्मनः ॥" (च. सू. स्था. अ. १७) इति । तस्यैवेदं लक्षणमाह—तीव्रार्तितोदं क्रिमिजं सकण्डूमिति । उत्क्लेद इत्यादिना तमोन्तं त्रिदोषजहृद्रोगलक्षणं, तत्र तोदशूले वातात्, उत्क्लेदहृल्लासौ कफात्, तमः पित्तात्, ष्ठीवनं कफपित्तात्; अरुचिरित्यादिना क्रिमिजस्येति जेज्जटः । गयदासस्त्वाह—श्यावनेत्रत्वपर्यन्तेन त्रिदोषजलक्षणमिति । स्यादेतत्, त्रिदोषजपदं न तावदत्र सुश्रुतेन पठितम्; अतः सर्वमेवोत्क्लेदादि शोथान्तं क्रिमिजलक्षणं भविष्यति । नैवम्, "विद्यात् त्रिदोषं त्वपि सर्वलिङ्गं तीव्रार्तितोदं क्रिमिजं सकण्डूम् ॥" (च. चि. स्था. अ. २६) इति दृढबलस्य वाक्यात् । उत्क्लेद इत्यादिस्त्वेक एव श्लोकः सुश्रुतेन पठितः, नतु पृथक् सन्निपातलक्षणं, ततस्त्रिदोषजस्यानभिधाने सुश्रुते न्यूनत्वं स्यात् । त्रिदोषाश्मरीवत्तस्यासंभव एवेति चेत् ? नैवं, तन्त्रान्तरेषु पठितत्वात् । तथाच हारीतः,—"सर्वाणि रूपाणि च सन्निपाताच्चिरोत्थितं चापि वदन्त्यसाध्यम्" इति । चरकेऽप्युक्तं—"हेतुलक्षणसंसर्गादुच्यते सान्निपातिकः ॥" (च. सू. स्था. अ. १७) इति; तथा—"त्रिदोषजे तु हृद्रोगे यो दुरात्मा निषेवते ॥" (च. सू. स्था. अ. १७) इत्यादि । कण्ठरवेण तु त्रिदोषजपदं यन्न पठितं सुश्रुतेन, तत् क्रिमिजस्यापि त्रिदोषजत्वख्यापनार्थमित्याचक्षते । ननु, दोषजावान्तरावस्थाविशेषत्वात् क्रिमिजोऽपि दोषज एव, तत् कथं हृदामयः पञ्चविध इति ? नैवं, रोगजस्यापि रोगस्य पृथक्त्वदर्शनात् । यदुक्तं,—'निदानार्थकर' इत्यादि । द्विदोषजस्त्वनुक्तोऽपि प्रकृतिसमवायाद्बोध्यः ॥६॥

(अपचाराच्चेति—) इसी सान्निपातिक हृद्रोग में अपचार से ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है और तदनु उसमें क्रिमि उत्पन्न हो जाते हैं । जैसे चरक ने कहा भी है कि 'त्रिदोषज हृद्रोग में जो दुरात्मा तिल, दूध और गुड़ आदि का सेवन करता है, उसमें (उस के हृदय में) ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है जिससे कि हृदय के (मर्म के) किसी एक प्रदेश में उसका रस संक्लिन्न हो जाता है । एवं तदनन्तर उस उपहतात्मा मनुष्य में संक्लेद के कारण क्रिमि उत्पन्न हो जाते हैं' । उसी का 'तीव्रार्तितोदं क्रिमिजं सकण्डूम्' यह लक्षण है । 'उत्क्लेद' इत्यादि से 'तमः' तक त्रिदोषज हृद्रोग का लक्षण है । वहां तोद और शूल वायु से, उत्क्लेद और हृल्लास कफ से, तम पित्त से और ष्ठीवन कफपित्त से, 'अरुचि' इत्यादि से आगे क्रिमिज हृद्रोग का लक्षण है, यह जेज्जट का मत है । गयदास कहता है कि 'श्यावनेत्रत्वं' तक के पाठ से त्रिदोष का लक्षण है । होगा ऐसा, परन्तु यहां सुश्रुत ने त्रिदोषज पद नहीं दिया; अतः उत्क्लेदादि शोथान्त सम्पूर्ण पाठ क्रिमिज हृद्रोग का लक्षण होगा । इस पर आचार्य कहते हैं कि नहीं, 'विद्यात् त्रिदोषजं त्वपि सर्वलिङ्गं तीव्रार्तितोदं क्रिमिजं सकण्डूम्' इस दृढ़बल के वाक्य से ऐसा प्रतीत नहीं होता । 'उत्क्लेद' इत्यादि एक ही श्लोक सुश्रुत ने पढ़ा है, न कि पृथक् सन्निपात का लक्षण । त्रिदोषज हृद्रोग के न कहने से सुश्रुत में न्यूनता आती है । यदि कहा जावे कि न्यूनता नहीं, क्योंकि त्रिदोषज अश्मरी की तरह यह भी त्रिदोषज नहीं होता तो तन्त्रान्तरों से विरोध आता है, क्योंकि उनमें त्रिदोषज हृद्रोग माना है । यथा हारीत ने कहा है कि 'सन्निपात से होने वाले हृद्रोग में सभी लक्षण होते हैं और चिरोत्थित सान्निपातिक हृद्रोग असाध्य होता है' । चरक ने भी कहा है कि 'हेतु और लक्षणों के संसर्ग से होने वाला सान्निपातिक हृद्रोग कहता हूँ' इत्यादि । एवं यह सिद्ध होता है कि सुश्रुत ने अपने पाठ में जो 'त्रिदोषज' पद स्पष्ट नहीं दिया वह इसलिए कि जिससे यह भी ख्यापना होवे कि क्रिमिज हृद्रोग सान्निपातिक ही है । (ननु—) दोषज हृद्रोग की अवान्तर अवस्था विशेष होने से क्रिमिज हृद्रोग भी दोषज ही है, जब ऐसा है तो हृद्रोग पांच प्रकार का कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि रोग से होने वाला रोग भी पृथक् रूप से दीखता है । जैसे कहा भी है कि रोग भी रोग के प्रति निदानार्थकर अर्थात् रोगोत्पत्ति में कारण हो जाता है ।

क्रिमिजहृद्रोगस्य संप्राप्तिमाह—

(मर्मैकदेशे संक्लेदं रसश्चाप्युपगच्छति ।
संक्लेदात्क्रिमयश्चास्य भवन्त्युपहतात्मनः ॥) [च० १।१७]

तेषामुपद्रवानाह—

क्लमः सादो भ्रमः शोषो ज्ञेयास्तेषामुपद्रवाः ।
क्रिमिजे क्रिमिजातीनां श्लैष्मिकाणां च ये मताः ॥७॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने हृद्रोगनिदानं समाप्तम् ॥२९॥

क्लम, साद, भ्रम और शोष ये उन हृद्रोगों के उपद्रव हैं जो हृल्लास, मुखस्राव आदि श्लैष्मिक हृद्रोग के उपद्रव हैं, वे ही उपद्रव क्रिमिज हृद्रोग में भी होते हैं ।

मधु०—सर्वेषामुपद्रवानाह—क्लम इत्यादि । श्लैष्मिकाणां ये उपद्रवास्ते क्रिमिजहृद्रोगेऽपि स्युः । ते च हृल्लासास्यस्रवणाविपाकादयः ॥७॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां हृद्रोगनिदानं समाप्तम् ॥२९॥

अथ मूत्रकृच्छ्रनिदानम् ।

मूत्रकृच्छ्रस्य निदानमाह—

व्यायामतीक्ष्णौषधरूक्षमद्य-
प्रसङ्गनित्यद्रुतपृष्ठयानात् ।
आनूपमांसाध्यशनादजीर्णात्
स्युर्मूत्रकृच्छ्राणि नृणां तथाऽष्टौ ॥१॥ [च० ६।२६]

तस्य संप्राप्तिमाह—

पृथङ्मलाः स्वैः कुपिता निदानैः
सर्वेऽथवा कोपमुपेत्य बस्तौ ।
मूत्रस्य मार्गं परिपीडयन्ति ।
यदा तदा मूत्रयतीह कृच्छ्रात् ॥२॥ [च० ६।२६]

व्यायाम, तीक्ष्णौषध, रूक्ष पदार्थ, अतिमद्यसेवन, शीघ्रगामी घोड़े आदि की सवारी करना, आनूपमांस, अध्यशन और अजीर्ण से मनुष्यों को आठ मूत्रकृच्छ्र होते हैं। अपने कारणों से कुपित हुए पृथक् २ दोष अथवा सभी कुपित दोष बस्ति में प्राप्त होकर जब मूत्रमार्ग को परिपीड़ित करते हैं, तो मनुष्य कठिनता से मूत्र त्यागता है।

मधु०—सप्तोत्तरे मर्मशते त्रीणि मर्माणि शिरोहृदयबस्तयः प्रधानानि । तत्र हृदयगतविकारानभिधाय बस्तिगतविकारानाह—व्यायामेत्यादि । मूत्रकृच्छ्राणीति मूत्रस्य कृच्छ्रेण महता दुःखेन प्रवृत्तिः । अष्टाविति दोषैः पृथक् त्रीणि, सन्निपातेनैकं, शल्यजपुरीषजशुक्रजाश्मरीजानीत्येकैकानि । ननु, शर्कराजं मूत्रकृच्छ्रं सुश्रुतेन पठितं; तच्चात्र संग्रहेऽपि पठितम्, 'अश्मरी शर्करा चैव तुल्यसंभवलक्षणे'—इत्यादिना; तत् कथमष्टौ ? नव प्राप्नुवन्ति । उच्यते, शर्करा अश्मरीभेद एव । यदाह दृढबलः—"एषाऽश्मरी मारुतभिन्नमूर्तिः स्याच्छर्करा मूत्रपथात् क्षरन्ती ॥" (च. चि. स्था. अ. २६) इति । अतोऽश्मरीजेनैव शर्कराजग्रहणमिति मन्यमानो दृढबलोऽष्टावित्यपठत् ॥१–२॥

(नन्विति—) शर्कराजन्य मूत्रकृच्छ्र सुश्रुत ने पढ़ा है और वही यहां संग्रह में भी पढ़ा है तो ये आठ कैसे हुए ? कारण कि शर्कराज के साथ नौ बनते हैं। इस पर कहा है कि शर्करा अश्मरी का ही एक भेद है। जैसे दृढबल ने कहा भी है कि—'यह अश्मरी वायु से भिन्न शरीर वाली होकर मूत्रमार्ग से गिरती हुई शर्करा कहलाती है'। इस कारण अश्मरीज मूत्रकृच्छ्र से ही शर्कराज मूत्रकृच्छ्र का ग्रहण हो जाता है। इसी को मानते हुए दृढबल ने इसे आठ प्रकार का पढ़ा है।

---

१ नाम—सं. मूत्रकृच्छ्र; अ. तकतीर उर बौल; इ. डिस्यूरिया (Dysuria), स्ट्रँग्युअरी (Stranguary); पेनफुल मिक्च्युरिशन् (Painful micturition).

प्रतिपाद्यार्द्धेन क्रमशो वातिकपैत्तिकश्लैष्मिकसान्निपातिकमूत्रकृच्छ्राणां लक्षणानि दर्शयति—

तीव्रार्तिरुग्वङ्क्षणबस्तिमेढ्रे
स्वल्पं मुहुर्मूत्रयतीह वातात् ।
पीतं सरक्तं सरुजं सदाहं
कृच्छ्रं मुहुर्मूत्रयतीह पित्तात् ॥३॥ [च० ६।२६]
वस्तेः सलिङ्गस्य गुरुत्वशोथौ
मूत्रं सपिच्छं कफमूत्रकृच्छ्रे ।
सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपाताद्
भवन्ति तत्कृच्छ्रतमं हि कृच्छ्रम् ॥४॥ [च० ६।२६]

शल्याभिघातजमूत्रकृच्छ्रस्य संप्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

मूत्रवाहिषु शल्येन क्षतेष्वभिहतेषु वा ।
मूत्रकृच्छ्रे तदाघाताज्जायते भृशदारुणम् ॥५॥
वातकृच्छ्रेण तुल्यानि तस्य लिङ्गानि निर्दिशेत् ।

शकृद्विघातमूत्रकृच्छ्रस्य लक्षणमाह—

शकृतस्तु प्रतीघाताद्वायुर्विगुणतां गतः ॥६॥
आध्मानं वातशूलं च मूत्रसङ्गं करोति च ।

अश्मरीजन्यमूत्रकृच्छ्रं लक्षयति—

अश्मरीहेतु तत्पूर्वं मूत्रकृच्छ्रमुदाहरेत् ॥७॥

शुक्रजमूत्रकृच्छ्रस्य लक्षणमाह—

शुक्रे दोषैरुपहते मूत्रमार्गे विधाविते ।
सशुक्रं मूत्रयेत् कृच्छ्राद्बस्तिमेहनशूलवान् ॥८॥

ऊरु, वृषण और लिङ्ग इनकी सन्धियों में अतितीव्रपीड़ा और बार २ थोड़ा २ मूत्र आना वात के कारण से होता है। पित्त के कारण मनुष्य पीतवर्ण और रक्तवर्ण वाले, रुजा और दाह से युक्त मूत्र को कठिनता से छोड़ता है अर्थात् ये लक्षण पैत्तिक मूत्रकृच्छ्र में होते हैं । श्लैष्मिक मूत्रकृच्छ्र में लिङ्ग सहित मूत्राशय में गौरव और शोथ होता है, एवं इसमें मूत्र पिच्छान्वित वा पिच्छिल आता है। सन्निपात से होने वाले मूत्रकृच्छ्र में सम्पूर्ण रूप होते हैं और यहां मूत्रकृच्छ्र कष्टसाध्य है। शल्य से मूत्रवाही स्रोतों के क्षत वा अभिहत होने से अतिदारुण मूत्रकृच्छ्र हो जाता है। इसमें वातिक मूत्रकृच्छ्र के समान लक्षण होते हैं। पुरीष के रोकने से दूषित वायु आध्मान, वातशूल और मूत्र-नाश कर देता है, जिससे मूत्रकृच्छ्र रोग हो जाता है (यह पुरीषज मूत्रकृच्छ्र है)। अश्मरीहेतुक मूत्रकृच्छ्र अश्मरी के कारण से होता है । दोषों से उपहत शुक्र के मूत्रमार्ग में चले जाने पर मूत्राशय और लिङ्ग में शूलान्वित मनुष्य कठिनता से शुक्रमिश्रित मूत्र त्यागता है। इसे शुक्रज मूत्रकृच्छ्र कहते हैं।

मधु०—मूत्रकृच्छ्रस्य वातजादिभेदेन लक्षणान्याह—तीव्रेत्यादि । सलिङ्गस्य समेढ्रस्य । सपिच्छं पिच्छिलम् । कृच्छ्रतमं कष्टसाध्यम् । कृच्छ्रं मूत्रकृच्छ्रम् । मूत्रवाहिष्विति मूत्रवहस्रोतःसु । अश्मरीहेतु तत्पूर्वमिति अश्मरीहेत्विति लक्ष्यपदं, तत्पूर्वमिति लक्षणपदं, तत्पूर्वमश्मरीपूर्वकम् ॥३–८॥

मूत्रकृच्छ्रजनकत्वोक्तयोरश्मरीशर्करयोः समानतां विरूपताञ्चावतारयति—

अश्मरी शर्करा चैव तुल्यसंभवलक्षणे ।
विशेषणं शर्करायाः शृणु कीर्तयतो मम ॥९॥ [सु० ६।५६]
पच्यमानाऽश्मरी पित्ताच्छोष्यमाणा च वायुना ।
विमुक्तकफसन्धाना क्षरन्ती शर्करा मता ॥१०॥

मूत्रशर्करायाः उपद्रवानाह—

हृत्पीडा वेपथुः शूलं कुक्षावग्निश्च दुर्बलः ।
तया भवति मूर्च्छा च मूत्रकृच्छ्रं च दारुणम् ॥११॥ [सु० ६।५६]

तद्वेगप्रशान्तौ वेदनोपशमं दर्शयति—

मूत्रवेगनिरस्ताभिः प्रशमं याति वेदना ।
यावदस्याः पुनर्नैति गुडिका स्रोतसो मुखम् ॥१२॥ [सु० ६।५६]

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने मूत्रकृच्छ्रनिदानं समाप्तम् ॥३०॥

अश्मरी और शर्करा तुल्य निदान और तुल्य लक्षणों वाली हैं। परन्तु शर्करा में विशेषता यह है कि (मुझ से सुनो) पित्त से पच्यमान होती हुई, वायु से सूखती हुई, कफज सन्धान के पृथक् होने पर मूत्रमार्ग से निकलती अश्मरी ही शर्करा कहलाती है । उसी के कारण हृदय में पीड़ा, वेपथु, कुक्षिशूल, दुर्बलाग्निता, मूर्च्छा और मूत्रकृच्छ्र होता है । जब वह मूत्रवेग के साथ निकल जाती है, तो तब तक पीड़ा शान्त हो जाती है, जब तक कि पुनः गुडिका मूत्रस्रोत के मुख में नहीं आती ।

मधु०—मूत्रकृच्छ्रहेतुत्वेनोक्तयोरश्मरीशर्करयोः समानतामवान्तरभेदं चाह—अश्मरीत्यादि अश्मरी शर्करा चैवेत्यनन्तरम् 'एते' इत्यध्याहार्यं तुल्यसंभवलक्षणे इत्यनेन द्विवचनान्तेन संबन्धनीयं, यथा—"तयोर्जगृहतुः पादान् राजा राज्ञी च मागधी" इत्यादिवत् । तुल्यः संभव उत्पत्तिकारणं लक्षणं च ययोस्ते तथा, 'तुल्ये संभवलक्षणैः' इति पाठान्तरे तुल्ये सदृशे, कैरित्यत उक्तं–संभवलक्षणैरिति; 'तुल्या संभवलक्षणैः' इति पाठान्तरे स एवार्थः । विशेषणं विशेषः । तमेव विवृणोति—पच्यमानेत्यादि । कफसंधानं कफेनावयवसंश्लेषः, कफ एव वा संधानं कफसंधानं, संधीयतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या । तेन पित्तपाकवातशोषौ संधानविमोक्षहेतुत्वेनोक्तौ । क्षरन्तीति वस्तितः । चरके हि–"स्याच्छर्करा मूत्रपथात् क्षरन्ती ॥" (च. चि. स्था. अ. २६) इत्येवं पठितम् । कुक्षौ शूलमिति संबन्धः । तया शर्करयेति ॥९–१२॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां मूत्रकृच्छ्रनिदानं समाप्तम् ॥३०॥

अथ मूत्राघातनिदानम् ।

मूत्राघातस्य सामान्येन समुत्थानमाह—

जायन्ते कुपितैर्दोषैर्मूत्राघातास्त्रयोदश ।
प्रायो मूत्रविघाताद्यैर्वातकुण्डलिकादयः ॥१॥

प्रायः मूत्रविघात आदि कारणों द्वारा प्रकुपित दोषों से वातकुण्डलिका आदि १३ मूत्राघात होते हैं ।

मधु०—मूत्रविकारसाधर्म्यान्मूत्राघातानाह—जायन्त इत्यादि । मूत्रकृच्छ्रमूत्राघातयोश्चायं विशेषः,-मूत्रकृच्छ्रे कृच्छ्रत्वमतिशयितम्, ईषद्विबन्धः; मूत्राघाते तु विबन्धो बलवान्, कृच्छ्रत्वमल्पमिति । मूत्रविघाताद्यैर्मूत्रवेगविधारणादिभिः, आद्यशब्देन पुरीषशुक्रवेगविघातादीनां रूक्षाशनादीनां च ग्रहणम् । वातकुण्डलिकादयस्त्रयोदशेति संबन्धः ॥१॥

मूत्रकृच्छ्र और मूत्राघात इनमें परस्पर यह भेद है कि मूत्रकृच्छ्र में कृच्छ्रता अधिक और विबन्ध न्यून होता है, एवं मूत्राघात में विबन्ध अधिक और कृच्छ्रता न्यून होती है ।

वातकुण्डलिकाया निदानसंप्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

रौक्ष्याद्वेगविघाताद्वा वायुर्बस्तौ सवेदनः ।
मूत्रमाविश्य चरति विगुणः कुण्डलीकृतः ॥२॥ [सु० ६।५८]
मूत्रमल्पाल्पमथवा सरुजं संप्रवर्तते ।
वातकुण्डलिकां तां तु व्याधिं विद्यात्सुदारुणम् ॥३॥ [सु० ६।५८]

रूक्षता वा वेगावरोध के कारण बस्ति में विकृत वायु मूत्र में प्रविष्ट होकर पीड़ा करता हुआ कुण्डलीभूत होकर चलता है, जिससे मूत्र थोड़ा २ वा पीड़ा से आता है । इसी दारुण व्याधि को वातकुण्डलिका जानना चाहिए ।

मधु०—वातकुण्डलिकामाह—रौक्ष्यादित्यादि । आविश्येत्याव्रत्य; 'आविष्य' इति पाठान्तरे स एवार्थः । चरति गच्छति । विगुणः कुपितः । कुण्डलीकृत इति वात्यावद्वस्तावेव भ्रमंस्तिष्ठतीति ॥२-३॥

अष्ठीलायाः स्वरूपमाह—

आध्मापयन्बस्तिगुदं रुद्ध्वा वायुश्चलोन्नताम् ।
कुर्यात्तीव्रार्तिमष्ठीलाँ मूत्रविण्मार्गरोधिनीम् ॥४॥

वस्ति और गुदा में आध्मान एवं अवरोध करता हुआ वायु चल, उन्नत, तीव्रपीड़ावाली एवं मलमूत्र के मार्ग को रोकने वाली अष्ठीला को करता है ।

मधु०—अष्ठीलामाह—आध्मापयन्नित्यादि । रुद्ध्वेति वस्तिगुदमेव । अष्ठीलातुल्यत्वादष्ठीला, सा च वातव्याधावुक्ता ॥४॥

---

१ नाम—सं० मूत्राघात; अ० एहतेबास उल बौल, ऑब्स्ट्रक्टेड् मिक्च्युरिशन् (Obstructed micturition). २ स्पॅस्मॉडिक् स्ट्रिक्चर (Spasmodic stricture). ३ एनलार्जमेन्ट आफ प्रास्टेट (Enlargement of prostate).

वातवस्तिः समुत्थानसंप्राप्तिपूर्वकं स्वरूपमाह—

वेगं विधारयेद्यस्तु मूत्रस्याकुशलो नरः ।
निरुणद्धि मुखं तस्य वस्तेर्वस्तिगतोऽनिलः ॥५॥ [सु० ६।५८]
मूत्रसङ्गो भवेत्तेन वस्तिकुक्षिनिपीडितः ।
वातवस्तिः स विज्ञेयो व्याधिः कृच्छ्रप्रसाधनः ॥६॥ [सु० ६।५८

जो मूर्ख मनुष्य मूत्र के वेग को रोक लेता है, उसके मूत्राशय का मु मूत्राशयस्थ वायु रोक देता है, जिससे कि वस्ति और कुक्षि को पीड़ित क वाला मूत्रसङ्ग हो जाता है। इसी रोग को कठिनसाध्य वातवस्ति नाम जानना चाहिए ।

मधु०—वातवस्तिमाह—वेगमित्यादि । वस्तिकुक्षिनिपीडित इति वस्तौ कुक्षौ निपीडितः संपिण्डितो वायुरिति संवन्धः; 'वस्तिकुक्षी निपीडयन्' इति पाठान्तरे वस्तिकुक्ष रुजाकर इति ॥५–६॥

मूत्रातीतस्य निदानपूर्वकं लक्षणमाह—

चिरं धारयतो मूत्रं त्वरया न प्रवर्तते ।
मेहमानस्य मन्दं वा मूत्रातीतः स उच्यते ॥७॥

चिरकाल तक मूत्र को रोक रखने वाले मनुष्य का मूत्र मूत्रोत्सर्जन समय वेग से नहीं आता और यदि आता भी है तो शनैः २ आता है। य रोग मूत्रातीत कहलाता है ।

मधु०—मूत्रातीतमाह—चिरमित्यादि । त्वरया न प्रवर्तत इति मूत्रमित्यर्थः । मेह मानस्य मूत्रं त्यजतः । 'वहमानस्य' इति पाठान्तरं सुगमम् ॥७॥

मूत्रजठरस्य निदानसंप्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

मूत्रस्य वेगेऽभिहते तदुदावर्तहेतुकः ।
अपानः कुपितो वायुरुदरं पूरयेद् भृशम् ॥८॥ [सु० ६।५८]
नाभेरधस्तादाध्मानं जनयेत् तीव्रवेदनम् ।
तन्मूत्रजठरं विद्यादधोवस्तिनिरोधनम् ॥९॥ [सु० ६।५८]

मूत्र का वेग रोकने से उसके उदावर्तन में कारणरूप अपानवायु प्रकुपित हुआ २ उदर को अत्यन्त पूर्ण कर देता है और नाभि के नीचे तीव्र वेदना वाले आध्मान को कर देता है। इस अधोवस्ति को रोकने वाले रोग को मूत्रजठर नाम से जानना चाहिए ।

मधु०—मूत्रजठरमाह—मूत्रस्य वेग इत्यादि । तदुदावर्तहेतुक इति मूत्रवेगधारणजनितोदावर्तनिमित्तः । अधोवस्तिनिरोधनमिति वस्तेरधोभागे विवन्धकारकम् ॥८–९॥

१ रिटन्शन् आफ यूरिन (Retention of urine). २ अ० इस्तिरखाए उल मसाना, इं० इन्कोन्टिनन्स (Incontinence). ३ अ० इन्तिफाखउलमसाना, इं० डिस्टेन्डेड ब्लैडर (Distended bladdar).

मूत्रोत्सङ्गस्य लक्षणमाह—

बस्तौ वाऽप्यथवा नाले मणौ वा यस्य देहिनः।
मूत्रं प्रवृत्तं सज्जेत सरक्तं वा प्रवाहतः ॥१०॥ [सु० ६।५८]
स्रवेच्छनैरल्पमल्पं सरुजं वाऽथ नीरुजम्।
विगुणानिलजो व्याधिः स मूत्रोत्सङ्गसंज्ञितः ॥११॥ [सु० ६।६०]

प्रवाहण करते (मूत्र त्यागते) हुए जिस मनुष्य का आया हुआ मूत्र बस्ति में, मूत्रनाल में वा मणि में रुक जाता है; वा शनैः २ थोड़ा २ पीड़ा वा अपीड़ा से रक्तसहित आता है, (उसे) वह विगुण वात से उत्पन्न मूत्रोत्सङ्ग[1] नामक व्याधि जाननी चाहिए।

मधु०—मूत्रोत्सङ्गमाह—बस्तावित्यादि। नाले मेढ्रे, मणौ मेढ्राग्रे। प्रवृत्तं सज्जेतेति संसक्तं सन्न प्रवर्तते। सरक्तं वा प्रवाहत इति प्रवाहणकुपितवायुना बस्त्यादिभेदनानितरक्तयुक्तं मूत्रं प्रवर्तते ॥१०–११॥

मूत्रक्षयं लक्षयति—

रूक्षस्य क्लान्तदेहस्य बस्तिस्थौ पित्तमारुतौ।
मूत्रक्षयं सरुग्दाहं जनयेतां तदाह्वयम् ॥१२॥ [सु० ६।५८]

रूक्ष एवं क्लान्त देह वाले मनुष्य के मूत्राशय में स्थित पित्त और वात, पीड़ा और दाह से युक्त मूत्रक्षय कर देते हैं। इस रोग को इसी (मूत्रक्षय[2]) नाम से पुकारा जाता है।

मधु०—तदाह्वयमिति मूत्रक्षयाख्यं, कारणे कार्योपचारात् ॥१२॥

मूत्रग्रन्थेः स्वरूपमाह—

अन्तर्बस्तिमुखे वृत्तः स्थिरोऽल्पः सहसा भवेत्।
अश्मरीतुल्यरुग्ग्रन्थिर्मूत्रग्रन्थिः स उच्यते ॥१३॥

बस्तिमुख के अभ्यन्तर वर्तुल, अचल एवं लघु अश्मरी के समान पीड़ाप्रद ग्रन्थि मूत्रग्रन्थि[3] कहलाती है।

मधु०—मूत्रग्रन्थिमाह—अन्तरित्यादि। अन्तर्बस्तिमुखे बस्तिमुखस्याभ्यन्तरे। ग्रन्थि-र्गुडकाकारः। ननु, स्थानवेदनाकारणानामभिन्नत्वादश्मर्या सह को भेदः ? उच्यते, अश्मर्यां पित्तादिकं संहन्यते, अत्र तु रक्तमेव। उक्तं हि तन्त्रान्तरे—"रक्तं वातकफाद्दुष्टं बस्तिद्वारे सुदारुणम्। ग्रन्थिं कुर्यात् स कृच्छ्रेण सृजेन्मूत्रं तदावृतम् ॥ अश्मरीसमशूलं तं रक्तग्रन्थिं प्रचक्षते" इति। विशेषज्ञानं तु कुत इति चेत् ? अश्मरीपूर्वरूपोक्तस्य मूत्रे बस्तसगन्धत्वादेर्भावा-भावाभ्याम् ॥१३॥

---

१ स्ट्रिक्चर ऑफ यूरेथ्रा (Stricture of Urethra). २ सप्रेशन ऑफ यूरिन (Suppression of urine). ३ ट्यूमर ऑफ दि ब्लैडर (Tumour of the bladder).

जब कि मूत्रग्रन्थि और अश्मरी के स्थान, वेदना और कारण एक ही हैं, तो इनका परस्पर भेद क्या है ? इसका उत्तर यह है कि अश्मरी को पित्त पकाता है, वायु सुखाता है और कफ बाँधता है, परन्तु इसमें रक्त ही सब कुछ करता है। तन्त्रान्तर में कहा भी है कि—वात और कफ से दुष्ट रक्त वस्तिद्वार में दारुणग्रन्थि कर देता है। तब ग्रन्थि से अवरोध होने के कारण मूत्र कठिनता से आता है। आचार्य इसे अश्मरी के तुल्य शूल वाली ग्रन्थि को रक्तग्रन्थि कहते हैं। यह इनका परस्पर भेद है। यदि कहा जावे कि यह भेद होने पर भी विशेष ज्ञान कैसे होगा; तो इसका उत्तर यह है कि अश्मरी की पूर्वरूपावस्था में मूत्र से बकरे के मूत्र की सी गन्ध आती है, यही इसके विशेष ज्ञान में हेतु है, यदि गन्ध आवे तो अश्मरी अन्यथा मूत्रग्रन्थि जाननी चाहिये।

मूत्रशुक्रस्य निदानसंप्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

मूत्रितस्य स्त्रियं यातो वायुना शुक्रमुद्धतम्।
स्थानाच्च्युतं मूत्रयतः प्राक् पश्चाद्वा प्रवर्तते ॥१४॥
भस्मोदकप्रतीकाशं मूत्रशुक्रं तदुच्यते।

मूत्र के वेग को रोक कर जो मनुष्य स्त्री के पास जाता है उसका वायु से उद्धत और अपने स्थान से च्युत शुक्र राख मिश्रित जल के से वर्ण वाला शुक्र मूत्र के पूर्व वा पश्चात् आता है। इस रोग को मूत्रशुक्र कहते हैं।

मधु०—मूत्रशुक्रमाह—मूत्रितस्येत्यादि। मूत्रितस्य मूत्रवेगितस्य। स्थानाच्च्युतं स्वस्थानाद्भ्रष्टं शुक्रम् ॥१४॥

उष्णवातस्य निदानसंप्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

व्यायामाध्वातपैः पित्तं बस्तिं प्राप्यानिलान्वितम् ॥१५॥ [सु० ६।५८]
वस्तिं मेढ्रं गुदं चैव प्रदहेत्स्रावयेदधः।
मूत्रं हारिद्रमथवा सरक्तं रक्तमेव वा ॥१६॥ [सु० ६।५८]
कृच्छ्रात्पुनः पुनर्जन्तोरुष्णवातं ब्रुवन्ति तम्।

व्यायाम, मार्गगमन एवं आतप से बढ़ा हुआ वातान्वित पित्त मूत्राशय में पहुँच कर मूत्राशय, लिङ्ग और गुदा में दाह करता है; तथा मनुष्य के हारिद्रवर्ण वा रक्तान्वित मूत्र को अथवा केवल रक्त को पुनः २ कृच्छ्रता से बहाता है। इस रोग को आयुर्वेदज्ञ उष्णवात कहते हैं।

मधु०—उष्णवातमाह—व्यायामेत्यादि।—व्यायामाद्विरोधिसौम्यधातुक्षयात्तेजोवृद्ध्या पित्तवृद्धिः। अनिलान्वितमनिलसंयुतम्। 'अनिलावृतम्' इति पाठान्तरं सुगमम्। सरक्तमीषल्लोहितम् ॥१५-१६॥

निदानसंप्राप्तिपूर्वकं मूत्रसादं लक्षयति—

पित्तं कफो द्वावपि वा संहन्येतेऽनिलेन चेत् ॥१७॥
कृच्छ्रान्मूत्रं तदा पीतं श्वेतं रक्तं घनं सृजेत्।

१ सिस्टायटिस् (Cystitis).

सदाहं रोचनाशङ्खचूर्णवर्णं भवेत्तु तत् ॥१८॥
शुष्कं समस्तवर्णं वा मूत्रसादं वदन्ति तम् ।

जब पित्त अथवा कफ वा दोनों को ही वायु घन कर देती है, तब मनुष्य पीतवर्ण, श्वेतवर्ण, रक्तवर्ण, गोरोचना के से वर्ण, शङ्खचूर्ण के से वर्ण वा समस्त वर्ण वाले, जलरहित, घन तथा अल्प मूत्र को त्यागता है ।

मधु०—मूत्रसादमाह—पित्तमित्यादि । संहन्येते स्त्यानीक्रियेते । शुष्कमल्पं, तन्मूत्रं पित्तेन रोचनाभं, कफेन शङ्खचूर्णाभं, समस्तवर्णमुक्तसकलवर्णं सन्निपातात् ॥१७-१८॥

निदानसंप्राप्तिपूर्वकं विड्विघातं लक्षयति—

रूक्षदुर्बलयोर्वातेनोदावृत्तं शकृद्यदा ॥१९॥
मूत्रस्रोतोऽनुपद्येत विट्संसृष्टं तदा नरः ।
विड्गन्धं मूत्रयेत्कृच्छ्राद्विड्विघातं विनिर्दिशेत् ॥२०॥

रूक्ष और दुर्बल मनुष्य का शकृत् (मल) जब वायु से उदावर्तित किया जाता है, तो वह मूत्रवह स्रोतों को प्राप्त हो जाता है, जिससे कि मनुष्य विष्ठा-युक्त वा विड्गन्ध वाले मूत्र को कठिनता से त्यागता है । इसी विकार को विड्विघात कहना चाहिए ।

मधु०—विड्विघातमाह—रूक्षेत्यादि । अनुपद्येत प्राप्नुयात् । विड्गन्धमित्यत्र वाशब्दो द्रष्टव्यः ॥१९-२०॥

निदानसंप्राप्तिपूर्वकं वस्तिकुण्डलस्य लक्षणमवतारयति—

द्रुताध्वलङ्घनायासैरभिघातात् प्रपीडनात् ।
स्वस्थानाद्वस्तिरुद्वृत्तः स्थूलस्तिष्ठति गर्भवत् ॥२१॥
शूलस्पन्दनदाहार्तो बिन्दुं बिन्दुं स्रवत्यपि ।
पीडितस्तु सृजेद्धारां संस्तम्भोद्वेष्टनार्तिमान् ॥२२॥
वस्तिकुण्डलमाहुस्तं घोरं शस्त्रविषोपमम् ।
पवनप्रबलं प्रायो दुर्निवारमबुद्धिभिः ।

जल्दी २ रास्ते में चलने से, किसी स्थान पर वस्तु को लांघने से, उल्लङ्घन से, आयास से, अभिघात से वा दब जाने से अपने स्थान से ऊपर गई हुई वस्ति गर्भ की तरह स्थूल हो जाती है । इसमें मनुष्य शूल, स्पन्दन और दाह इनसे पीड़ित होता है एवं उसे मूत्र बूँद २ करके आता है, परन्तु यदि नाभि के नीचे पीड़न किया जावे तब वह संस्तम्भरूप और उद्वेष्टनरूप अति पीड़ा से युक्त मूत्रधारा को छोड़ता है । इस घोर शस्त्र के समान वा घोर गर विष के समान (घोर) रोग को वैद्य वातकुण्डल कहते हैं । प्रायः यह रोग वातप्रधान तथा अल्पबुद्धि वैद्यों से दुर्निवार्य्य होता है ।

---

१ वेसायको-इन्टेस्टायनल फिस्चुला (Vesico-Intestinal Fistula). २ एटनी ऑफ ब्लडर (Atony of bladder).

मधु०—बस्तिकुण्डलमाह—द्रुतेत्यादि । लङ्घनमुत्पतनम् । उद्वृत्तः स्वस्थानादूर्ध्वं गतः । गर्भवदिति गर्भिण्या उदरान्तर्गतापत्यवत्; एतेन बस्तिपुटस्य पार्श्वगमनं दर्शितम् । पीडित इति नाभेरधः । उद्वेष्टनार्तिरुद्वेष्टनरूपाऽऽर्तिः । शस्त्रविषोपमं शस्त्रविषसदृशामिति विभिन्नार्थसूचनार्थं प्रसिद्धानुभवोपदर्शनार्थम् ॥२१-२२॥

दोषान्तरानुबन्धितया तस्यैव विशेषलक्षणमाह—

तस्मिन्पित्तान्विते दाहः शूलं मूत्रविवर्णता ॥२३॥
श्लेष्मणा गौरवं शोथः स्निग्धं मूत्रं घनं सितम् ।

जब बस्तिकुण्डल रोग पित्तान्वित होगा तो दाह, शूल और मूत्र विवर्णता और जब कफान्वित होगा तो गौरव, शोथ, स्निग्धमूत्रता, गाढ़मूत्रता एवं श्वेतमूत्रता होती है ।

मधु०—वातस्यैव दोषान्तरानुवन्धिनो लक्षणमाह—तस्मिन्नित्यादि । श्लेष्मणा अन्विते तस्मिन्निति बोद्धव्यम् ॥२३॥—

तस्यैव प्रत्याख्येयत्वादिकमाह—

श्लेष्मरुद्धबिलो बस्तिः पित्तोदीर्णो न सिध्यति ॥२४॥
अविभ्रान्तबिलः साध्यो न तु यः कुण्डलीकृतः ।

श्लेष्मा से अवरुद्ध मुख वाली पित्ताधिक बस्ति साध्य नहीं होती, श्लेष्मा से अनवरुद्ध मुख वाली पित्ताधिक बस्ति साध्य होती है और कफ से कुण्डलीभूत बस्ति असाध्य होती है ।

मधु०—तस्यैव साध्यत्वासाध्यत्वमाह—श्लेष्मरुद्धविल इत्यादि । विलं वस्तिमुखशुषिरम् । पित्तोदीर्णं उपचितपित्तः, स एवाविभ्रान्तविलोऽनावृतबिलः । कफेन कुण्डलीकृतोऽसाध्य इति वोध्यम् । अकुण्डलीकृतस्तु साध्यत्वेनोक्तः ॥२४॥

कुण्डलीभूतस्य वस्तेर्लक्षणमाह—

स्याद्बस्तौ कुण्डलीभूते तृण्मोहः श्वास एव च ॥२५॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने मूत्राघातनिदानं समाप्तम् ॥३१॥

कुण्डलीभूत बस्ति में पिपासा, मोह और श्वास होता है ।

मधु०—कुण्डलीभूतस्यैव लिङ्गमाह—स्यादित्यादि । एतौ विड्विघातवस्तिकुण्डलं सुश्रुतेन न पठितौ, तेन हि मूत्रोदकसादमेव द्विधा पठित्वा द्वादश मूत्राघाता इत्युक्तं, सर्वानभिधानं तु पराधिकारत्वेनेति मन्तव्यम् ॥२५॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां मूत्राघातनिदानं समाप्तम् ॥३१॥

अथाश्मरीनिदानम्।

अश्मर्याः[1] समुत्थानमाह—

वातपित्तकफैस्तिस्रश्चतुर्थी शुक्रजाऽपरा।
प्रायः श्लेष्माश्रयाः सर्वा अश्मर्यः स्युर्यमोपमाः ॥१॥

तस्याः संप्राप्तिमाह—

विशोषयेद्बस्तिगतं सशुक्रं
मूत्रं सपित्तं पवनः कफं वा।
यदा तदाऽश्मर्युपजायते तु
क्रमेण पित्तेष्विव रोचना गोः ॥२॥ [च० ६।२६]
नैकदोषाश्रयाः सर्वाः,

वात, पित्त और कफ से तीन; शुक्र से एक; एवं चार अश्मरियाँ (पथरीरोग) होती हैं। परन्तु ये सब प्रायः कफ का आश्रय करके होती हैं। यदि इनका प्रतिकार न किया जावे तो ये मारक होने से यमसदृश होती हैं। वायु मूत्राशयगत सशुक्र मूत्र को वा सपित्त कफ को जब शुष्क कर देता है, तब गोपित्त में रोचना की तरह (मूत्राशय में) क्रमशः अश्मरी उपचित हो जाती है। ये सब अश्मरियाँ एक दोष के आश्रय पर नहीं होतीं (त्रिदोषज होती हैं)।

मधु०—मूत्ररोधित्वसाधर्म्यादश्मरीमाह—वातेत्यादि। श्लेष्माश्रया इति श्लेष्मसमवायिकारणाः, शुक्रजां विना; तत्र शुक्रस्यैव समवायिकारणत्वात्। तथाच दृढबलः—"विशोषयेद्बस्तिगतं सशुक्रम्" (च. चि. स्था. अ. २६)–इत्यादि, एतच्च सामान्योक्तमपि विशेषेण संबध्यते। यथा—हल्ङ्यादिसूत्रे 'दीर्घात्' इति विशेषणं ङ्याभ्यां संबध्यते, नतु हला। अत एवात्र प्रायोग्रहणं कृतवान्। अन्ये तु शुक्राश्मर्यामपि कफकारणत्वमिच्छन्त्येव, विरोधाभावात्। प्रायःशब्दश्चात्र विशेषार्थः। यमोपमा इति असति चिकित्सितेऽवश्यमेव मारकत्वात्। पित्तेष्विवेति वातशोषितेषु। नैकदोषाश्रया इति त्रिदोषजाः, उद्धतदोषेण व्यपदेशः ॥१–२॥

अश्मरीणां पूर्वरूपमाह—

अथासां पूर्वलक्षणम्।
बस्त्याध्मानं तदासन्नदेशेषु परितोऽतिरुक् ॥३॥ [वा० ३।६]
मूत्रे बस्तसगन्धत्वं मूत्रकृच्छ्रं ज्वरोऽरुचिः।

अश्मरी की पूर्वरूपावस्था में मूत्राशय में आध्मान, बस्ति के समीपवर्ति प्रदेश में पीड़ा, मूत्र में से बकरे के मूत्र की सी गन्ध, मूत्रकृच्छ्र, ज्वर और अरुचि होती है।

मधु०—पूर्वरूपमाह—अथेत्यादि। बस्तसगन्धत्वं बस्तसमानगन्धत्वम् ॥३॥

---

१ नाम—सं० अश्मरी; अ० हीसआत, इं० क्यॅल्क्युलस (Calculus).

अश्मरीणां सामान्यस्वरूपमाह—

सामान्यलिङ्गं रुङ्नाभिसेवनीवस्तिमूर्धसु ॥४॥ [वा० ३।६]
विशीर्णधारं मूत्रं स्यात्तथा मार्गे निरोधिते।
तद्व्यपायात्सुखं मेहेदच्छं गोमेदकोपमम् ॥५॥ [वा० ३।६]
तत्संक्षोभात्क्षते सास्रमायासाच्चातिरुग्भवेत्।

अश्मरी का सामान्य लक्षण यह है कि उसमें नाभि, सेवनी, वस्ति के सिर में (नाभि से नीचे) पीड़ा होती है। जब वह मूत्रमार्ग को रोक लेती है, तो मूत्र विशीर्णधारा वाला आता है; एवं जब वह मार्ग से हट जाती है, तो गोमेद की तरह लाल मूत्र आता है। उस अश्मरी के क्षोभ से यदि क्षत हो जावे तो रक्तमिश्रित मूत्र आता है और यदि अश्मरी के होने पर अधिक प्रवाहणादि किया जावे तो पीड़ा अत्यधिक होती है।

मधु०—तासां सामान्यलक्षणमाह—सामान्येत्यादि । रुक् शूलं, वस्तिमूर्धा नाभेरधोदेशः। विशीर्णधारं सविच्छेदधारम्। तया अश्मर्या। मार्गो मूत्रवाहिस्रोतः। तद्व्यपायाद्वायुना कदाचिदश्मरीकृतमार्गरोधव्यपगमात्। मेहेत् मूत्रयेत्। अच्छमनाविलम्। गोमेदकोपममिति गोमेदको लोहितमणिस्तद्वर्णम्। तत्संक्षोभान्निरुद्धमार्गमूत्रेण पीडनादश्मरीसंघट्टनाद्वा क्षते जाते मूत्रवहादौ, सास्रं सरक्तं मूत्रं प्रवर्तते। आयासात् प्रवाहणादिजनितक्लमात् ॥४-५॥

वातिकाश्मरीं लक्षयति—

तत्र वाताद् भृशं चार्तो दन्तान् खादति वेपते ॥६॥ [वा० ३।६]
गृह्णाति मेहनं नाभिं पीडयत्यनिशं क्वणन्।
सानिलं मुञ्चति शकृन्मुहुर्मेहति विन्दुशः ॥७॥ [वा० ३।६]
श्यावारुणाऽश्मरी चास्य स्याच्चिता कण्टकैरिव।

वातिक अश्मरी का रोगी अत्यन्त आर्त हुआ २ दांतों को चबाता है और काँपता है, एवं रोता हुआ वह शिश्न को पकड़ता है और नाभि को पीड़ित करता है। वह रोगी अधोवायु के साथ मल त्यागता है और बूँद २ करके मूत्र त्यागता है, एवं उसकी अश्मरी कण्टकाचित, श्याव और अरुण होती है।[1]

मधु०—वातजामाह—तत्रेत्यादि। क्वणन् आर्तनादं सानिलं कुर्वन्। सशब्दं, मूत्रप्रवृत्यर्थं कृतातिकुन्थनात्। मेहति विन्दुश इति विन्दुं विन्दुं मूत्रयति, "बह्वल्पार्थाच्छस् कारकादन्यतरस्याम्"-इति अल्पार्थे शस्प्रत्ययः। श्यावेत्यादि।—अश्मर्या आकारकथनम्; एतच्चाकृष्टाः प्रत्यक्षसंवादेन शास्त्रप्रामाण्यख्यापनार्थमित्याहुः, आकृष्टासु दोषोचितचिकित्सार्थमित्यन्ये ॥६-७॥

पैत्तिकाश्मर्याः स्वरूपमाह—

पित्तेन दह्यते वस्तिः पच्यमान इवोष्मवान् ॥८॥ [वा० ३।६]
भल्लातकास्थिसंस्थाना रक्तपीताऽसिताऽश्मरी।[2]

१ युरिक एसिड कॅल्क्युलस (Uric acid calculus). २ मिक्सड् कॅ. (Mixed calculus)

पैत्तिक अश्मरी में मूत्रकोष पच्यमान की तरह जलता है और उष्ण स्पर्श वाला होता है। इसमें अश्मरी रक्तवर्ण की, पीतवर्ण की, श्याववर्ण की और भिलावे की गुठली के बराबर होती है।

मधु०—पित्तजामाह—पित्तेनेत्यादि। पच्यमानः क्षारेणेव। ऊष्मवान् उष्णस्पर्शः। असिता कृष्णा ॥८॥

श्लैष्मिकाश्मर्याः स्वरूपमाह—

बस्तिर्निस्तुद्यत इव श्लेष्मणा शीतलो गुरुः ॥९॥ [वा० ३।६]
अश्मरी महती श्लक्ष्णा मधुवर्णाऽथवा सिता।

श्लैष्मिक अश्मरी में मूत्राशय में पीड़ा, शीतलता और गुरुता होती है। अश्मरी की आकृति बड़ी (कुक्कुटाण्डोप्रम), श्लक्ष्ण, ईषत्पिङ्गल, शुक्ल वा श्वेत होती है।

मधु०—श्लेष्मजामाह—बस्तिरित्यादि। श्लक्ष्णा मसृणा। मधुवर्णा ईषत् पिङ्गलशुक्ला॥९॥

पूर्वोक्ताश्मरीणां सुखसाध्यतामाह—

एता भवन्ति बालानां तेषामेव च भूयसा ॥१०॥ [वा० ३।६]
आश्रयोपचयाल्पत्वाद्ग्रहणाऽऽहरणे सुखाः।

ये अश्मरियां बालकों में ही होती हैं और आश्रय तथा स्थूलता के अल्प होने से इनका ग्रहण और आहरण प्रायः उन्हीं में सुखपूर्वक हो सकता है।

मधु०—एता इति त्रिदोषजा बालानां स्युः; तेषां तन्निदानाभ्यासात्। भूयसा प्रायेण, तेन महतामपि त्रिदोषजा भवन्ति। तेषामेव बालानां ग्रहणाहरणे सुखा इति संबन्धः। आश्रयोपचयाल्पत्वादिति आश्रयो बस्तिः, उपचयः स्थौल्यं, तयोरल्पत्वं; तच्च तद्देहाल्पत्वात्। आहरणं पाटनादिपूर्वकमाकर्षणं, ग्रहणं तदर्थमेवाङ्गुलिभ्यां धारणम्। उक्तं हि सुश्रुते—"प्रायेणैतास्तिस्रोऽश्मर्यो दिवास्वप्नसमशनाध्यशनशीतस्निग्धमधुराहारप्रियत्वाद्विशेषेण बालानां भवन्ति, तेषामेवाल्पबस्तिकायत्वादल्पमांसोपचयाच्च बस्तेः सुखग्रहणाहरणा भवन्ति ॥" (सु. नि. स्था. अ. ३) इति ॥१०॥

निदानसंप्राप्तिपूर्वकं शुक्राश्मर्याः स्वरूपमवतारयति—

शुक्राश्मरी तु महतां जायते शुक्रधारणात् ॥११॥ [वा० ३।६]
स्थानाच्च्युतममुक्तं हि मुष्कयोरन्तरेऽनिलः।
शोषयत्युपसंगृह्य शुक्रं तच्छुक्रमश्मरी ॥१२॥ [वा० ३।६]
बस्तिरुङ्मूत्रकृच्छ्रत्वमुष्कश्वयथुकारिणी।
तस्यामुत्पन्नमात्रायां शुक्रमेति विलीयते ॥१३॥
पीडिते त्ववकाशेऽस्मिन्

१ स्टोन ऑफ फॉस्फेट्स (Stone of Phosphates).

शुक्राश्मरी शुक्र को धारण करने से बड़े मनुष्यों में ही होती है। वायु अपने स्थान (शुक्राशय) से च्युत और बाहर न आए हुए शुक्र को अण्डकोषों के बीच में पकड़ कर सुखा देता है, जिससे यही शुक्राश्मरी होती है जो कि मूत्राशय में पीड़ा, मूत्रकृच्छ्र और अण्डशोथ को कर देती है। जब कि शुक्राश्मरी अभी २ उत्पन्न हुई होती है तो उस स्थान (फल कोषों के मध्य) का पीड़न करने से अश्मरी विलीन हो जाती है और शुक्र मूत्रमार्ग से आ जाता है।

मधु०—शुक्राश्मरीमाह—शुक्रेत्यादि। तुशब्दोऽवधारणे; तेन महतामेव नतु बालानां तेषां वक्ष्यमाणसंप्राप्तेरभावात्, नतु शुक्राभावात्; अन्यथा षड्धातुकत्वं स्यात्। शुक्रधारणादुपस्थितशुक्रवेगस्य मैथुनाकरणात्। मुष्कयोरन्तरे 'मेढ्रेण सह' इति शेषः। सुश्रुते हि-'मेढ्रवृषणयोरन्तरे' (सु. नि. स्था. अ. ३) इत्येवोक्तम्। मेढ्रवृषणमध्यगतवस्तिमुख इत्यर्थः, तत्रैव शुक्रवहस्रोतसो वस्तिमुखेन सह संबन्धात्। तथाभूतं शुक्रमेवाश्मरीति। वस्तिरुग्वस्तिशूलं मुष्कश्वयथुकारिणी वृषणयोः शोथकारिणी। तस्यां शुक्राश्मर्याम्। एति वर्तते। तुशब्दोऽवधारणे। अवकाशेऽस्मिन्निति मेढ्रवृषणयोरन्तरे। अस्मिन्नेव पीडिते सति विलीयते प्रविलयमापद्यत इत्यर्थः। अत एव सुश्रुतः—"पीडितमात्रे च तस्मिन्नेवावकाशे प्रविलयमापद्यते॥" (सु. नि. स्था. अ. ३) इति ॥११-१३॥

अश्मर्यवस्थान्तरस्वरूपां शर्करां दर्शयति—

अश्मर्येव च शर्करा।

अश्मरी ही शर्करा होती है।

मधु०—सैवावस्थाभेदादश्मरी शर्करा, पञ्चमी न भवतीत्याह—अश्मर्येव चेति। चकारात् सिकताऽपि भवतीति मन्तव्यम्। अत एव 'शर्करा सिकतान्विता' इति वक्ष्यति। शर्करासिकतयोश्च महत्त्वाल्पत्वाभ्यां भेदः ॥—

सैवेत्यादि की भाषा स्पष्ट है।

सा शर्करात्वं कथं प्रतिपद्यत इत्याह—

अणुशो वायुना भिन्ना सा तस्मिन्ननुलोमगे ॥१४॥ [वा० ३।६
निरेति सह मूत्रेण प्रतिलोमे निरुध्यते।

तस्या उपद्रवानाह—

मूत्रस्रोतःप्रवृत्ता सा सक्ता कुर्यादुपद्रवान् ॥१५॥
दौर्बल्यं सदनं कार्श्यं कुक्षिशूलमथारुचिम्।
पाण्डुत्वमुष्णवातं च तृष्णां हृत्पीडनं वमिम् ॥१६॥ [सु० २।३

वही अश्मरी वायु द्वारा कण २ की हुई शर्करा होती है; या वही अश्मरी वायु द्वारा कण २ की हुई उसी वायु के अनुलोम होने पर मूत्र के साथ २ निकल आती है और वायु के प्रतिलोम होने पर रुक जाती है। मूत्रस्रोत में आक

१ अयमेव रोगो युनानीवैद्यके 'रमल' नाम्ना आङ्ग्लभाषायाञ्च 'ग्रॅवल' (Gravel ...) ...ना प्रसिद्धः.

अटकी हुई वह (अश्मरी) दुर्बलता, सदन (पीड़ा), कृशता, कुक्षिशूल, अरुचि, पाण्डु, उष्णवात, तृष्णा, हृत्पीडन और वमन (इन उपद्रवों) को करती है।

मधु०—कथमश्मरी शर्करा भवतीत्याह—अणुश इत्यादि। अणुशोऽल्पशः। अत्रार्थे सुश्रुतः—"पवनेऽनुगुखे सा तु निरेत्यल्पा विशेषतः। सा भिन्नमूर्तिर्वातेन शर्करेत्यभिधीयते॥" (सु. नि. स्था. अ. ३) इति। मूत्रस्रोतःप्रवृत्ता सा सक्तेति मूत्रमार्गगा सती सक्तेत्यर्थः॥१४-१६॥

तस्याः प्रत्याख्येयतालक्षणमाह—

प्रशूननाभिवृषणं बद्धमूत्रं रुजातुरम्।
अश्मरी क्षपयत्याशु सिकता शर्करान्विता॥१७॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदानेऽश्मरीनिदानं समाप्तम्॥३२॥

सिकता और शर्करा से अन्वित अश्मरी नाभि में शोथ वाले, शोथयुक्त वृषण वाले, मूत्र की रुकावट वाले और पीड़ायुक्त मनुष्य को नष्ट कर देती है।

मधु०—असाध्यलक्षणमाह—प्रशूनेत्यादि। रुजातुरं शूलपीडितमित्यर्थः॥१७॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामश्मरीनिदानं समाप्तम्॥३२॥

इति पूर्वार्द्धं समाप्तम्।